प्राक्कथन

लगभग चार वर्ष के घोर परिश्रम के पश्चात मैं अपनी इस रचना को पूर्ण करने में समर्थ हुई हूँ। इससे पहिले कि इस रचना के सम्बन्ध में कुछ लिखूँ मैं थोड़ा सा संकेत उस प्रेरणा का कर देना चाहती हूँ जिससे अनुप्रेरित होकर बौद्ध धर्म के विशाल रत्नाकर में डुबकियाँ लगाकर कुछ रत्न खोज निकालने में समर्थ हुई हूँ और साथ ही उन रत्नों के प्रकाश से प्रकाशित मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के अंग उपांगों की झांकी संजो सकी हूँ। आज से लगभग ६-७ वर्ष पहले की बात है जब मैं एम०डी० गर्ल्स इण्टर कालेज नजीबाबाद में, प्रधान अध्यापिका के पद पर कार्य कर रही थी उस समय बौद्ध धर्म के एक महापण्डित ने कालेज में पधारने की कृपा की थी। उस अवसर पर मुझे उनके परिचय के साथ साथ बौद्ध धर्म के महत्व पर दो चार शब्द कहने का अवसर मिला था। मेरे टूटे फूटे शब्दों से वह महापण्डित इतना अधिक प्रभावित हुए थे कि उन्होंने मुझे उस समय बौद्ध धर्म का विशेषज्ञ होने का आशीर्वाद दिया था। उन्होंने मुझे बौद्ध धर्म के प्रकाश में हिन्दी साहित्य के अध्ययन करने की प्रेरणा भी दी थी। उसी दिन से मेरी सोई हुई रुचि अध्ययन की इस दिशा में जग उठी। तभी से मैं बौद्ध धर्म और दर्शन का अध्ययन कर रही हूँ। अपने इस अध्ययन को एक निश्चित दिशा देने की कामना से मैंने 'बौद्ध धर्म तथा मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव' विषय पर आगरा विश्वविद्यालय से अनुसंधान करने का निश्चय किया। इस निश्चय को साकार रूप में परिणत कराने का श्रेय परम आदरणीय गुरुवर डा० गोपीनाथ तिवारी को है उन्होंने निर्देशक बनकर मुझे कृत कृत्य किया है। उनके अगाध पाण्डित्य से मैंने यथाशक्ति लाभ उठाने की चेष्टा की है। वास्तविकता तो यह है कि उनकी कृपा और प्रोत्साहन के बिना यह रचना कदापि पूर्ण नहीं हो सकती थी। इसी प्रसंग से मैं पूज्य पण्डित अयोध्यानाथ जी शर्मा के प्रति भी अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती हूँ जिन्होंने सदैव ही अपनी लड़की के सदृश मेरे ऊपर कृपा दृष्टि रक्खी है।

उपर्युक्त दोनों विद्वानों के अतिरिक्त और भी कई विद्वानों ने समय समय पर मेरी सहायता की है। इनमे मेरी परम श्रद्धा और भक्ति के अधिकारी परमपूज्य पतिदेव डा० गोविन्द त्रिगुणायत एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट् है। उनके पांडित्य और प्रोत्साहन ने मुझे प्रतिपल बल

प्रदान किया है। मैं उनसे कभी उऋण नहीं हो सकती। यहाँ पर मैं दर्शन-शास्त्र के महापण्डित डा० बी० एल० आत्रेय के प्रति भी अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती हूँ जिन्होंने सदैव ही मुझे अपनी पुत्री के सदृश समझ कर मेरी इस दिशा में सहायता की है। मैं आदरणीय भाई हरवंशलाल जी एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्, अध्यक्ष हिन्दी संस्कृत विभाग अलीगढ़ विश्वविद्यालय की भी ऋणी हूँ जिन्होंने मुझे समय समय पर प्रोत्साहन के साथ साथ सहायता भी दी है। इसी प्रसंग में उन अनेकानेक देश-विदेश के विद्वानों के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करना अपना परम कर्तव्य समझती हूँ। जिनकी रचनाओं का उपयोग सदैव निस्संकोच भाव से किया है। गुरुजनों की कृपा और आशीर्वाद से मैं अपना कार्य निभा चुकी हूँ आगे उस परमपिता परमात्मा की कृपा की भिखारिणी हूँ जिसने मुझे इतना कठिनतर कार्य करने का साहस और बल दिया।

बौद्ध धर्म और दर्शन से सम्बन्धित एक विशाल साहित्य उपलब्ध है। पहले मेरी इच्छा हुई कि मैं मूल ग्रन्थों की ही टीकाओं की सहायता से अध्ययन करूं। कुछ हस्तलिखित ग्रन्थों को भी खोज निकालने की इच्छा जाग्रत हुई। इस इच्छा से प्रेरित होकर मैं सारनाथ, कुशीनगर, आदि बौद्ध तीर्थ स्थानों में भी गई तथा बहुत से पुस्तकालयों का निरीक्षण भी किया। कुछ बौद्ध धर्म के बौद्ध विद्वानों से भी मिली। उन सब के सम्पर्क में आने पर मुझे बौद्ध धर्म और दर्शन के एक विशाल साहित्य का परिचय मिला। उस विशाल ज्ञान राशि के विस्तार को देखकर पहले तो कुछ प्रसन्नता हुई किन्तु बाद में मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मैं दो जन्म में भी इस मूल सामग्री का अध्ययन नहीं कर सकती। इस विचार से हताश होकर एक बार तो मैं बीच में ही अनुसंधान कार्य छोड़ने की सोचने लगी किन्तु परम आदरणीय राहुल सांकृत्यायन तथा कुछ अन्य विद्वानों ने मेरे धैर्य के टूटते हुए बांध को फिर से बांध दिया और मुझे बौद्ध धर्म पर लिखे गए हिन्दी और अंग्रेजी के सहायक ग्रन्थों से उसका अध्ययन करने का आदेश दिया। इसीलिए मेरा अध्ययन अधिकतर बौद्ध धर्म के प्रामाणिक सहायक ग्रन्थों पर ही आधारित है। इतना होते हुए भी मैंने यथाशक्ति प्रसिद्ध मूल ग्रन्थों को भी देखा है।

हमने मध्यकाल को बहुत संकुचित अर्थ में ग्रहण किया है। मध्य काल से हमारा तात्पर्य हिन्दी साहित्य के भक्तियुग से है। मध्ययुग को

इतने संकुचित अर्थ में ग्रहण करने के कई कारण हैं। पहला कारण सांस्कृतिक है। शंकराचार्य के द्वारा बौद्ध धर्म का मूलोच्छेदन किये जाने पर बौद्ध संस्कृति को गहरा धक्का पहुंचा था। बौद्ध धर्म विविध शैव शाक्त तांत्रिक मतों से सामञ्जस्य स्थापित कर अपने नए तांत्रिक रूप में विकसित हुआ। शैव-शाक्तधाराएँ भी किसी न किसी रूप बहती रहीं। इस युग में व्यक्ति-वादिता का प्राधान्य था। 'अपनी अपनी डफली अपना अपना राग' वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी। इस सांस्कृतिक प्रवृति की प्रतिक्रिया के रूप में भक्ति-भावना का उदय हुआ। यह भक्ति भावना एक ओर तो वैष्णवों और शैवों के बहुत से तत्वों से प्रभावित थी दूसरी ओर बौद्ध धर्म और दर्शन की विविध शाखाओं और प्रशाखाओं के अनेक तत्वों ने उसे अनुप्राणित कर रखा था। हमारा लक्ष्य इसी भक्ति आन्दोलन पर पड़े हुए बौद्ध प्रभावों का उद्‌घाटन करना है।

भक्ति-युग से मध्ययुग का अर्थ लेने का एक ऐतिहासिक कारण भी है। ऐतिहासिक दृष्टि से मध्यकाल का उदय सिद्ध और नाथ युग के बाद माना जाता है। इनका समावेश सभी इतिहासकारों ने आदि युग के अन्तर्गत किया है। बात भी ठीक है। इनकी भाषा शुद्ध हिन्दी नहीं है। उसे हम अपभ्रंश मिश्रित हिन्दी कहेंगे। हिन्दी का वास्तविक रूप पहले पहल भक्तिकाल में ही देखने को मिलता है। अतएव मध्ययुग का प्रयोग भक्तियुग के लिए करना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसीलिए मैंने मध्ययुगीन शब्द का प्रयोग भक्ति युगीन के अर्थ में किया है।

भक्तियुग में हमें ४ धाराएँ दिखाई पड़ती है—दो निर्गुण और दो सगुण। निर्गुण के अन्तर्गत निर्गुण और सूफी काव्य धाराएँ हैं। सगुण के अन्तर्गत रामाश्रयी और कृष्णाश्रयी धाराएँ आती हैं। इनमें से प्रत्येक धारा से सम्बन्धित कम से कम बीस कवि ऐसे मिलते हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। चारों धाराओं के मिलाकर इस प्रकार ८० कवि हो जाते हैं। इन सबकी रचनाओं का अध्ययन करना बड़ा कठिन काम है। और यदि किसी प्रकार उनकी रचनाओं का अध्ययन करके उन पर पड़े हुए बौद्ध प्रभावों का निर्देश भी करती तो भी यह रचना एक हजार पृष्ठों से भी अधिक बड़ी हो जाती। उसे निभाना मेरी शक्ति के बाहर हो जाता। इसीलिए महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, डा० गोविन्द त्रिगुणायत तथा आदरणीय गुरुदेव श्री गोपीनाथ तिवारी आदि विद्वानों के आदेशानुसार मैंने

प्रभाव प्रदर्शन में प्रत्येक धारा के प्रतिनिधि कवियों की रचनाओं को ही आधार बनाया है।

यहाँ पर अपनी लेखन व्यवस्था के सम्बन्ध में एक बात और स्पष्ट कर देना चाहती हूँ। मैंने सर्वत्र अपने अध्ययन की दो दिशाएँ ही रखी हैं पहली दिशा सिद्धान्त विवेचन की है और दूसरी प्रभाव निर्देश की। पहले मैंने प्रत्येक सिद्धान्त का अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर स्वरूप निर्धारित किया है, उसके बाद मध्ययुगीन काव्यधाराओं पर उनका प्रभाव दिखाया है। इस प्रकार की व्यवस्था कई बातों को दृष्टि में रखकर की गई है। पहली बात बौद्ध धर्म और दर्शन की जटिलता है। यह बात स्वीकार करने में संभवतः किसी भी विद्वान को आपत्ति नहीं होगी कि बौद्ध धर्म और दर्शन का स्वरूप अत्यधिक जटिल है। उसको समझना और समझाना दोनों ही बहुत कठिन हैं। यदि प्रभाव निर्देश करने से पहले सिद्धान्त विशेष का सरलतम रूप में प्रस्तुतीकरण न किया गया होता तो प्रभाव निर्देश अस्पष्ट सा ही रहता। दूसरी बात यह है कि बौद्ध धर्म और दर्शन के स्वरूप और सिद्धान्त से भारतीय जनता बिल्कुल परिचित नहीं है। अतएव यदि प्रभाव निर्देश से पहले सिद्धान्तों के स्वरूप की विवेचना न की जाती तो बात बोधगम्य न हो पाती। यहाँ पर एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक समझती हूँ। प्रदर्शन मे प्रायः मध्ययुग की चारों धाराओं के प्रतिनिधि कवियों से उदाहरण देने की चेष्टा की है। उदाहरण उन धाराओं के अन्य कवियों से भी दिए जा सकते थे किन्तु ऐसा करने से ग्रन्थ के कलेवर का अकारण विस्तार हो जाता। प्रबन्ध के कलेवर को व्यर्थ के विस्तार से बचाने की मैंने भरसक चेष्टा की है।

एक बात और है, वह यह कि प्रत्यक्ष रूप से मध्यकालीन काव्यधाराओं के कवियों से बौद्ध धर्म की मूल प्रकृति सर्वथा भिन्न प्रतीत होती है। बौद्ध धर्म को प्रत्यक्ष रूप से लोग नास्तिक पद्धति समझते रहे हैं। जब कि मध्य कालीन भक्ति धाराएँ कट्टर आस्तिक पद्धतियाँ थीं। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि विरोधी प्रकृति की बौद्ध विचार धारा ने मध्य युगीन साहित्य को कैसे प्रभावित किया होगा ? इस प्रश्न को सुलझाने के लिए लेखिका ने भगवान् बुद्ध को प्रच्छन्न आस्तिक सिद्ध करने की चेष्टा की है। वह इस दृष्टि से भगवान् बुद्ध के आधुनिक अवतार महात्मा गांधी से सहमत है और उन्हीं के सदृश वह भगवान् बुद्ध और उनके धर्म को नास्तिक मानने को तैयार नहीं

है।[1] यह बात अवश्य है कि भगवान् बुद्ध ने अपनी आस्तिकता का ढिंढोरा नहीं पीटा था। वह अव्याकृत बातों पर विचार करके समय नष्ट करना व्यर्थ समझते थे। इसीलिए उनकी आस्तिकता प्रगट नहीं हो पाई है। अतएव बौद्ध धर्म और मध्यकालीन साहित्य में प्रकृति गत भेद मानना ठीक नहीं है। मैं दोनों में पिता पुत्र का सम्बन्ध मानती हूं। जिस प्रकार पुत्र की प्रकृति पिता से सर्वथा भिन्न नहीं होती, उस पर पिता के आचार विचारों का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य रहता है। उसी प्रकार मध्ययुगीन साहित्य बौद्ध धर्म रूपी अपने पिता से संस्कारों में भिन्न नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि पुत्र में पिता के संस्कार अभिनव ढंग से व्यक्त हुए हैं जो सरलता से दृष्टिगोचर नहीं होते। इस सम्बन्ध में इन्हीं का निर्देश किया गया है। इस बात को अब यहीं समाप्त करके मैं विश्वविद्यालय के नियमानुसार प्रबन्ध की मौलिकता के सम्बन्ध में दो चार शब्द कह देना चाहती हूँ।

प्रबन्ध का शीर्षक 'हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव" है। इस शीर्षक पर विचार करते ही विषय के दो पक्ष स्पष्टरूपेण प्रतीत होते हैं। एक शास्त्रीय या सिद्धान्त पक्ष और दूसरा प्रभाव पक्ष। जहाँ तक सिद्धान्त पक्ष का सम्बन्ध है उसके ऊपर हमे दो प्रकार के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—मौलिक ग्रन्थ तथा सहायक ग्रन्थ। इन दोनों ही कोटि के ग्रन्थों से सम्बन्धित एक विशाल साहित्य है। जहाँ तक मौलिक ग्रन्थों का सम्बन्ध है वे पाली और संस्कृत भाषाओं में हैं। कुछ के हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद भी उपलब्ध हैं। किन्तु बहुत से ऐसे भी ग्रन्थ हैं जिनका कोई अनुवाद नहीं हुआ है। बौद्ध दर्शन के सहायक ग्रन्थ अधिकतर अंग्रेजी में मिलते हैं और अंग्रेजी विद्वानों द्वारा लिखे गए हैं। हिन्दी में लिखे गए बौद्ध धर्म और दर्शन सम्बन्धी सहायक ग्रन्थों की संख्या बहुत कम है। अंग्रेजी और और हिन्दी दोनों प्रकार के सहायक ग्रन्थों में ऐसा एक भी ग्रन्थ नहीं है जिसमें बौद्ध धर्म का सर्वांगीण विवेचन किया गया है। अतएव बौद्ध धर्म के

१—"अनगिनत बार मैं पढ़ता सुनता आया हूँ कि तथागत को ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं था। मेरा मत इससे भिन्न है। ईश्वर से अनास्था सम्बन्धी यह धारणा उनकी शिक्षा के मूल स्वर के एक दम प्रतिकूल है। उन दिनों ईश्वर के नाम पर जो दुष्कृत्य होते थे, बुद्ध ने उनका विरोध किया। इस भ्रम की उत्पत्ति का यही कारण है।" —महात्मा गांधी
हिन्दुस्तान २७ मई १९५६

सिद्धान्त पक्ष का निर्माण करने में बड़ी कठिनाई पड़ी है। इसके लिए लेखिका को मौलिक और सहायक दोनों प्रकार के ग्रन्थों में से प्रमुख सिद्धान्त का चयन करना पड़ा है। उसको यह कहने में संकोच नहीं है कि उसने अपनी इस थीसिस में पहली बार बौद्ध धर्म का सर्वांगीण, संक्षिप्त, सुबोध अध्ययन प्रस्तुत किया है। इन सिद्धान्त रत्नों के प्रस्तुतीकरण में सर्वत्र मौलिकता की मोहर लगाने की चेष्टा की है।

जहां तक मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य पर बौद्ध धर्म के प्रभाव निर्दिष्ट करने की बात है उस सम्बन्ध में लेखिका निःसंकोच कह सकती है कि हिन्दी साहित्य में इस प्रकार का प्रयास इस थीसिस के रूप में पहले पहल ही किया गया है। इस सम्बन्ध में इससे पूर्व दस पांच वाक्यों से अधिक किसी ने कुछ भी नहीं लिखा है। इस दृष्टि से उसकी रचना का द्वितीय पक्ष शत प्रतिशत मौलिक है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ सात अध्यायों में विभाजित किया गया है। पहले अध्याय का शीर्षक "विषय प्रवेश और बौद्ध धर्म की संक्षिप्त रूपरेखा" है। इस अध्याय के प्रारम्भ में सर्व प्रथम धर्म के स्वरूप की मीमांसा की गई है। इस मीमांसा के प्रसंग में लेखिका ने भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के धर्म सम्बन्धी लगभग सभी मतों का उल्लेख करते हुए धर्म की एक व्यापक परिभाषा दी है और उसके प्रमुख चार पक्ष निश्चित किए हैं—विचार पक्ष, आचार पक्ष, साधना और उपासना पक्ष तथा विश्वास और पुराण पक्ष। अगले अध्यायों का अध्ययन इन्हीं पक्षों के आधार पर किया गया है।

धर्म के स्वरूप की मीमांसा कर उसके विविध पक्षों का निर्देश कर देने के बाद संक्षेप में धर्म और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डाला गया है। पुनश्च भारत के धार्मिक इतिहास में बौद्ध धर्म के स्थान और महत्व का निर्देश किया गया है। इन दोनों शीर्षकों से सम्बन्धित विषय यद्यपि पुराने ही हैं, किन्तु उनमें प्रस्तुत की गई विवेचना प्रणाली मौलिक और नवीन है। इनके बाद ही मध्यकाल की सीमा स्पष्ट कर दी गई है। ऐसा करते समय लेखिका ने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों और विद्वानों का आश्रय लिया है।

इस अध्याय का सबसे महत्वपूर्ण अंग "प्रभाव की सम्भावनाएं" शीर्षक है। इस पर विचार करते समय लेखिका ने बहुत से नए अनुसंधानात्मक विचार बिन्दु प्रस्तुत किए हैं। उसने अनेक ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक

प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट कर दिया है कि मध्ययुगीन साहित्य को बौद्ध धर्म ने निश्चित रूप से प्रभावित किया है। मौलिकता की दृष्टि से इस अध्याय का यह अंश बहुत ही महत्वपूर्ण है।

इसी अध्याय में बौद्ध धर्म के उदय और विकास तथा शाखा-प्रशाखाओं के सिद्धान्तों आदि की संक्षिप्त एवं प्रामाणिक पृष्ठभूमि का निर्माण किया गया है। इस अंश को लिखते समय बौद्ध धर्म से सम्बन्धित समस्त मौलिक और सहायक सामग्री का उपयोग किया गया है। सर्वांगीणता की दृष्टि से यह अंश भी मौलिक है।

दूसरे अध्याय में बुद्ध धर्म के विचार पक्ष से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उनके प्रकाश में मध्ययुगीन साहित्य का अध्ययन किया गया है तथा उस पर पड़े हुए प्रभावों की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का यथास्थान निर्देश कर दिया गया है। इस अध्याय के प्रारम्भ में बौद्ध धर्म के सब से महत्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पादवाद का स्पष्टीकरण तथा मध्ययुगीन साहित्य पर उसका जो प्रभाव दिखलाई पड़ता है उसका उदाहरण सहित निर्देश किया है। प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त का प्रदर्शन करने के बाद बौद्धों के परमार्थ सम्बन्धी विचारों की मीमांसा की गई है। और युग युग से प्रचलित इस धारणा का अनेक प्रमाणों के साथ निराकरण किया गया है कि भगवान् बुद्ध और उनका धर्म और दर्शन कट्टर नास्तिक हैं। लेखिका ने दृढ़ प्रमाणों के साथ बलपूर्वक यह दिखलाने की चेष्टा की है कि भगवान् बुद्ध और उनका धर्म और दर्शन प्रच्छन्न आस्तिक था। उनके धर्म के विविध संप्रदायों में उपलब्ध परम तत्व सम्बन्धी धारणाओं के स्पष्टीकरण के साथ मध्ययुगीन साहित्य पर उनका विस्तृत प्रभाव प्रदर्शित किया गया है। यह सम्पूर्ण विवेचन शत प्रतिशत मौलिक है। इसी अध्याय में आगे बुद्ध धर्म के कर्मवादी और पुनर्जन्मवादी सिद्धान्त स्पष्ट करते हुए मध्ययुगीन साहित्य पर उनका प्रभाव दिखलाया गया है। प्रभाव प्रदर्शन का यह अंश भी पूर्ण मौलिक है इस अध्याय के अन्त में बौद्धों के निर्वाण सम्बन्धी विचारों की व्याख्या की गई है। और उन विचारों का मध्ययुगीन साहित्य पर व्यापक प्रभाव दिखलाया गया है। यह प्रभाव निर्देश भी हिन्दी साहित्य में प्रथम बार प्रस्तुत किए जाने के कारण सर्वथा मौलिक और नवीन है।

तीसरा अध्याय भी बौद्ध धर्म के विचार पक्ष से ही सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत बौद्धों के सृष्टि विचार और सृष्टि विज्ञान सम्बन्धी धारणाओं

का सब से पहले निर्देश किया गया है। साधारणतया विद्वानों की धारणा रही है कि बुद्ध धर्म में सृष्टि के उत्पत्ति और विकास आदि के सम्बन्ध में कोई मौलिक बातें नहो पाई जाती। लेखिका ने अनेक मौलिक और सहायक ग्रन्थों का मंथन करके बौद्धों के सृष्टयोत्पत्ति और विकास सम्बन्धी पौराणिक और दार्शनिक दोनों प्रकार के दृष्टिकोणो की व्याख्या की है। पुनश्च मध्ययुगीन साहित्य पर उनका प्रभाव दिखलाया गया है। इस विवेचन के सिद्धान्त निरूपण और प्रभाव निर्देश, दोनों ही पक्षों का विवेचन पूर्ण मौलिकता की छाप लिये है।

तीसरे अध्याय में ही महायानियों के प्रसिद्धतम कायवाद के सिद्धांत की मीमांसा की गई है। इन सिद्धान्तों का स्वरूप निर्देश अनेक प्रामाणिक ग्रन्थो के आधार पर किया गया है। पुनश्च इस सिद्धान्त के विविध पक्षों का मध्ययुगीन साहित्य पर प्रभाव दिखलाया गया है। इस प्रभाव निर्देश के सम्बन्ध मे लेखिका ने अनेक प्रमाणों और उदाहरणों के सहारे स्पष्ट सिद्ध किया है कि मध्ययुगीन भक्तों का सगुण निर्गुणवाद बौद्धों के द्विकायवाद तथा सगुण अवतारी रूप, सगुण देवरूप तथा निर्गुण रूप बौद्धों के त्रिकायवाद का ही परिवर्तित प्रतिरूप है। यह सब लेखिका की मौलिक अनुसंधानात्मक विवेचना है।

चतुर्थ अध्याय में बौद्ध धर्म के आचार पक्ष की मीमांसा की गई है। बुद्धधर्म का प्राण आचार पक्ष ही है। इस आचार पक्ष के प्रमुख स्तम्भ दो हैं— चार आर्यसत्य और अष्टांगिक मार्ग, तथा सैंतीस बोधिपक्षीय धर्म। बुद्धधर्म के आचार पक्ष के इन दोनों स्तम्भों का निर्माण अनेक मौलिक और सहायक ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। इनके स्वरूप को स्पष्ट करने के बाद में मध्ययुगीन साहित्य पर जो इसकी गहरी छाप दिखाई पड़ती है उसका उद्घाटन किया है। लेखिका ने अनेक प्रमाणों के आधार पर सिद्ध कर दिया है कि मध्ययुगीन भक्तों के अधिकांश आचार पक्ष का आधार-स्तम्भ बौद्धों के उपर्युक्त अष्टांगिक मार्ग और सैंतीस बोधिपक्षीय धर्म है। इस अध्याय का यह अंश बिल्कुल मौलिक है।

पंचम अध्याय के अन्तर्गत बुद्धधर्म की साधनाओं को स्पष्ट किया गया है। बुद्धधर्म मे जहा एक ओर घोर सदाचरण प्रवणता को विधेय बताया गया है वहीं योग के विविध अंगों और भक्ति के विविध पक्षों की साधना को भी अनिवार्य व्यञ्जित किया गया है। लेखिका ने बड़े प्रयत्न के साथ यह सिद्ध कर दिया है कि मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति आन्दोलन की आधार-भूमि

महायानी भक्ति भावना है। अनेक उदाहरणों के आधार पर यह भी स्पष्ट प्रमाणित कर दिया है कि मध्यकालीन भक्तों की भक्ति भावना महायानियों की भक्ति का ही परिवर्तित प्रतिरूप है। लेखिका का यह प्रस्थापन और विवेचन पूर्णतः मौलिक है। इसी अध्याय के अन्त में बौद्धों के ज्ञान वैराग्य और तप सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए मध्ययुगीन साहित्य पर उनका प्रभाव प्रदर्शित किया गया है।

छठे अध्याय में बौद्धों के विश्वास और पुराण पक्ष से सम्बन्धित बहुत सी नई खोजें प्रस्तुत की गई हैं। लेखिका ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मध्यकालीन पौराणिकता की आधारभूमि बौद्धों की पौराणिकता ही है। मध्यकालीन धार्मिक विश्वासों के मूल में अधिकतर बौद्ध धार्मिक विश्वास ही हैं। लेखिका का यह प्रस्थापन भी मौलिक है। इस अध्याय के अन्त में बौद्धों के परलोक सम्बन्धी, इहलोक सम्बन्धी, शुभाशुभ सम्बन्धी तथा शरीर और मृत्यु सम्बन्धी विचारों का स्पष्टीकरण किया गया है और मध्यकालीन साहित्य पर इन सब का प्रभाव दिखलाया गया है। इस अध्याय में ही बौद्धों की मूर्ति भावना का मध्यकालीन साहित्य पर प्रभाव दिखलाया गया है। प्रभाव निर्देशन की दृष्टि से यह अध्याय भी सर्वथा मौलिक है।

सप्तम अध्याय उपसंहारात्मक है। इस अध्याय के प्रारम्भ में पहले बौद्ध धर्म की उन विशेषताओं को लिया गया है जिनकी विवेचना अन्य किसी अध्याय के अन्तर्गत नहीं हो पाई है। ऐसी विशेषताओं में बुद्धवादिता, साम्यवाद, निवृत्ति मार्ग तथा महायानियों का लोकसंग्रहवाद आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। मध्यकालीन साहित्य पर इन सब का सम्यक् प्रभाव भी दिखला दिया गया है। इसके बाद बौद्ध धर्म के प्रभावों की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का सिंहावलोकन करते हुए अन्त में मध्ययुगीन साहित्य पर पड़े हुए बौद्ध प्रभावों के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण भी प्रकट किया है। विवेचना की दृष्टि से यह अध्याय भी मौलिक है।

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश

द्वितीय अध्याय

बौद्ध धर्म का विचार पक्ष-पूर्वार्द्ध

तृतीय अध्याय

बौद्ध धर्म का विचार पक्ष-उत्तरार्द्ध

चतुर्थ अध्याय

बौद्ध धर्म का आचार और नीति पक्ष

पंचम अध्याय

बौद्ध धर्म का साधना पक्ष

षष्ठ अध्याय

बौद्ध धर्म का विश्वास और पुराण पक्ष

सप्तम अध्याय

उपसंहार

सब्ब पापस्य अकरणं कुसलस्स उपसम्पदां ।
स चित्त परियोदपंन एतं बुद्धान सासनं ।।

धम्मपद १४।५

अर्थात् सारे पापों का न करना, पुण्यों का संचय करना, अपने चित्त को परिशुद्ध करना, यही बुद्ध के उपदेश का सार है ।

निरबैरी निःकामता साँई सैती नेह ।
विषया सु न्यारा रहै, सन्तन का अङ्ग एह ।।

कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३७

अध्याय

विषय प्रवेश :१:

(१) धर्म का स्वरूप
(२) धर्म और साहित्य का सम्बन्ध
(३) भारत के धार्मिक इतिहास में बौद्ध धर्म का स्थान और महत्व
(४) मध्य काल की सीमा और विस्तार
(५) प्रभाव की सम्भावनाएं
(६) बुद्ध वचन
(७) बुद्ध धर्म का प्रवर्तन
(८) बुद्ध धर्म के प्रचार में राजाओं का योग
(९) बौद्ध धर्म के विकास में संगीतियों का महत्व
(१०) बुद्ध धर्म और दर्शन की शाखा प्रशाखाओं के उदय विकास और
(११) सिद्धान्तों का संक्षिप्त निर्देश

(१) धर्म का स्वरूप निरूपण

धर्म का स्वरूप बड़ा व्यापक है। उसकी इस विशेषता के कारण ही बड़े-बड़े विद्वान उसका कोई ऐसा स्वरूप निर्धारित नहीं कर सके हैं जो सर्वमान्य हो। यही कारण है कि धर्म की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं उपलब्ध है। अतएव यहां पर हम पहले भारतीय विद्वानों द्वारा दी गई धर्म की परिभाषाओं पर विचार करेंगे। बाद में पाश्चात्य विचारकों के दृष्टिकोणों की समीक्षा करके सबके प्रकाश में धर्म के स्वरूप का निरूपण करने का प्रयास करेंगे।

भारतीय आचार्यों के मतानुसार धर्म की परिभाषा

यों तो भारत के सभी दर्शनों में धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है किन्तु उसकी विस्तृत व्याख्या स्मृतिकारों ने ही की है। अतएव पहले हम स्मृतिकारों की धर्म परिभाषाओं का ही उल्लेख करेंगे।

विश्वामित्र की धर्म परिभाषा :—

आचार्य विश्वामित्र ने अपनी स्मृति में धर्म की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"यमार्याः क्रियमाणन्तु शंसन्त्यागमवेदिनः सः धर्मोयं विगहन्ते तम[१] धर्म प्रचक्षते।"

अर्थात् जिन शुभ कर्मों का वर्णन वेदज्ञ लोग किया करते हैं उसी को धर्म कहते हैं इनके अतिरिक्त बातें अधर्म कहलाती हैं।

आपस्तम्म की परिभाषा:—

आचार्य आपस्तम्ब ने विश्वामित्र की धर्म परिभाषा को ही अपने ढंग पर सुबोध शैली में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। उन्होंने लिखा है—

"यत्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मः।"[२]

यद्‌गर्हन्ते सो धर्म।"

अर्थात् आर्य लोग जिस कर्म की प्रशंसा करते हैं वही धर्म है और जिसकी निन्दा करते हैं वही अधर्म है।

पराशर की परिभाषा:—

महर्षि पराशर ने धर्म की स्पष्ट परिभाषा तो नहीं दी है किन्तु एक स्थल पर उन्होंने सत्य को धर्म का प्राण बतलाकर धर्म के स्वरूप को संकेत किया है। उन्होंने लिखा है—

"नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति।[३]"

अर्थात् जहां सत्य नहीं वहां धर्म नहीं होगा सत्य ही धर्म का प्राणभूत तत्व है।

व्यास की परिभाषा:—

व्यास जी ने अपनी स्मृति में कुछ प्रमुख आचारों को ही धर्म कहा है। वे लिखते हैं—

'सत्य दम. तप शौच सन्तोषो ह्रीः क्षमार्जवम्।[४]
दान्दमो दया ध्यानमेष धर्मः सनातनः॥'

अर्थात् सत्य, दम, तप, शौच, सन्तोष, लज्जा, क्षमा, नम्रता, ज्ञान, शम, दया और ध्यान ये ही सब सनातन धर्म हैं।

१—देखिये स्मृति रत्नाकर पृ० १
२—देखिये स्मृति रत्नाकर पृ० २
३—स्मृति रत्नाकर पृ० २
४—वही

याज्ञवल्क की परिभाषाः—

याज्ञवल्क ने भी व्यास के सदृश ही कुछ सदाचरणों को धर्म का साधन कहा है। वे लिखते हैं—

"अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः [1] ।
"दानदमो दया शान्तिः सर्वेषां धर्म साधनम् ॥"

अर्थात अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह, दान, दम दया और शान्ति ये सब धर्म के साधन हैं।

मनु की धर्म सम्बन्धी परिभाषाः—

मनु ने धर्म के स्वरूप पर कई बार विचार किया है। एक स्थल पर उन्होंने आचार को ही धर्म का मूलश्रोत कह कर धर्म की आचरण प्रवणता व्यञ्जित की है। एक दूसरे स्थल पर उन्होंने याज्ञवल्क के सदृश दस उत्तम आचारों को ही धर्म कहा है। वे लिखते हैं:—

धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः [2] ।

अर्थात धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, शौच, इन्द्रियनिग्रह, लज्जा, विद्या, सत्य और क्रोध न करना धर्म के ये दस लक्षण हैं।

मनु ने एक तीसरे स्थल पर केवल सत्य वचन को ही सनातन धर्म कहा है। उन्होंने लिखा है—

'सत्यं ब्रूयात प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात सत्यमप्रियं [3] ॥
प्रियं च नानृत्तं ब्रूयात एष धर्मः सनातनः ॥

अर्थात् सत्य बोलना चाहिए, प्रिय बोलना चाहिए किन्तु अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिए। प्रिय असत्य भी नहीं बोलना चाहिए यही सनातन धर्म है।

स्मृतिकारों ने धर्म की व्याख्या धर्मप्रमाणों का उल्लेख करके भी की है। प्रायः सभी स्मृतिकारों ने वेद और स्मृतियों को धर्म में प्रमाण भूत माना है। कुछ के उद्धरण उद्धृत कर देना अनुपयुक्त न होगा।

याज्ञवल्कः—

'श्रुतिस्तु वेदो विख्यातो धर्मशास्त्रंतुवंस्मृति [4] ।'

१—स्मृतिरत्नाकर पृ० २
२—वही
३—स्मृति रत्नाकर पृ० २
४—वही पृ० ३

मनुः—

'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्[१] ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव चेति ॥'

मनु ने एक दूसरे स्थल पर वेद और स्मृतियों के अतिरिक्त आप्त पुरुष और अपने हृदय को जिसे अंग्रेजी में कोन्शंस कहते हैं, धर्म में प्रमाण-भूत माना है—

'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः[२] ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥'

व्यासः—

'धर्म मूलं श्रुतिं प्राहुर्धर्मराशिमकृत्रिमम्[३] ।
तद्विदां स्मृति शीले च साध्वाचारो मनः प्रियमिति ॥'

इस प्रकार और भी सभी स्मृतिकारों ने वेद स्मृति आदि को धर्म का प्रमाणभूत बतलाकर उनमें वर्णित विधिनिषेधों के पालन को ही धर्मरूप ध्वनित किया है।

महाभारत की परिभाषा :—

धर्म की परिभाषा करते हुए महाभारत कार ने लिखा है—

'धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः[४] ।
यस्माद् धारणं संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ।'

अर्थात् जिस तत्व से प्रजा की धारणा होती है उसे धर्म कहते हैं। यह परिभाषा वेदविदों की उपर्युक्त परिभाषा से भी अधिक व्यापक है। प्रजा की धारणा केवल आचारों से ही नहीं और भी अनेक तत्वों से होती है। अतः धर्म में वे सभी तत्व आ जाते हैं।

गीता में धर्म का स्वरूप :—

गीता से हमें धर्म का स्वरूप लक्षण तो नहीं मिलता किन्तु हमें धर्म के दो भेदों का संकेत अवश्य उपलब्ध होता है। धर्म के एक स्वरूप को उसमें शाश्वत[५] धर्म कहा गया है। भगवान ने अपने को शाश्वत धर्म का आश्रय कहा

१—स्मृतिरत्नाकर पृ० ३
२—वही पृ० ३
३—वही पृ० ३
४—महाभारत कर्णपर्व ६९, ५९
५—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
गीता १४।२७

है। धर्म का दूसरा भेद सम्भवतः अशाश्वत धर्म होगा। जिसके अन्तर्गत वर्णाश्रम धर्म आवेगा। भगवान ने अर्जुन को क्षत्रिय धर्म का उपदेश देते समय धर्म के इसी स्वरूप की ओर संकेत किया है।

मीमांसकों की धर्म परिभाषा :—

धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मीमांसकों ने लिखा है—

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः[1]।'

अर्थात् धर्म का प्रमुख लक्षण प्रेरणा है।

मीमांसकों की यह परिभाषा भी बहुत कुछ व्यापक है प्रेरणा प्रदान करने वाले समस्त धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत-अन्तर्भूत हो जाते हैं।

वैशेषिकों की परिभाषा :—

वैशेषिक दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य कणाद ने धर्म की परिभाषा इस प्रकार दी है।

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः[2]।'

अर्थात लोक परलोक दोनों में कल्याण का विधान करने वाली विशेषता को धर्म कहते हैं। धर्म की यह परिभाषा स्मृतियों की परिभाषाओं की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। स्मृतियों में आचारों को ही धर्म का प्रमुख तत्व ध्वनित किया गया है। किन्तु इस परिभाषा में उन तमाम तत्वों की ओर संकेत कर दिया गया है जिनसे लोक परलोक दोनों में सुख की प्राप्ति होती है।

धर्म सम्बन्धी समस्त मतों की आलोचना और निष्कर्ष :—

धर्म की उपर्युक्त समस्त परिभाषाओं को यदि मनोयोग के साथ विचार किया जाय तो हमें स्पष्ट हो जायगा कि भारतीय आचार्यों ने धर्म के दो पक्ष माने थे— एक शाश्वत पक्ष और दूसरा अशाश्वत पक्ष। कुछ आचार्यों ने धर्म के शाश्वत पक्ष के उद्घाटन में अपनी शक्ति का प्रयोग किया है और कुछ ने अशाश्वत पक्षों पर ही बल देने की चेष्टा की। धर्म के इन दोनों स्वरूपों को हम उसके साधारण और विशेष पक्ष भी कह सकते हैं। धर्म का साधारण पक्ष देश काल और व्यक्ति की सीमा के परे होता है। वह सार्वकालिक, सार्वभौमिक और सार्वजनीन होता है। इसके विपरीत धर्म का विशेष पक्ष देश काल और व्यक्ति की सीमाओं में बंधा रहता है। विविध

१—मीमांसा दर्शन

२—वैशेषिक दर्शन १/२

कालों, विविध जातियों और विविध देशों के धर्मों में जो अन्तर हमें दिखाई पड़ता है उसका कारण धर्म का विशेष स्वरूप ही है। सामान्य स्वरूप अपरिवर्तनीय और शाश्वत होता है। गीता के शब्दों में उसका आश्रय स्वयं भगवान् होते हैं। अब हम आगे धर्म के सम्बन्ध में बौद्धों का जो दृष्टिकोण है उसका स्पष्टीकरण करेंगे। बाद में पाश्चात्यों के मतों पर विचार करेंगे।

बुद्ध वचनों में तथा बौद्ध साहित्य में धर्म की व्याख्या :—

बौद्ध साहित्य में भी हमें धर्म की व्याख्या मिलती है। बुद्ध घोष के मतानुसार धर्म के चार अर्थ होते हैं [१]।

(१) सिद्धान्त (२) हेतु (३) गुण (४) निसत्त।

बौद्ध साहित्य में धर्म शब्द का प्रयोग और भी व्यापक अर्थ में किया गया है। वह कहीं स्वभाव का, कहीं कर्तव्य का, कहीं वस्तु का और कहीं विचार और प्रज्ञा का वाचक भी बन कर आया है। बौद्ध धर्म में धर्म शब्द का प्रयोग बोधि धर्म या ज्ञान धर्म के लिए भी कहा गया है [२]। ज्ञान को ही बौद्ध लोग सच्चा धर्म मानते थे। ज्ञान के अतिरिक्त धर्म शब्द का प्रयोग कहीं कहीं सत्य के अर्थ में भी मिलता है [३]। इस दृष्टि से बौद्ध धर्म और वैदिक धर्म में साम्य है। दोनों ही धर्मों में धर्म को सत्य का प्रतिरूप कहा गया है। इतना होते हुए भी बौद्ध दर्शन में धर्म शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में ही अधिक हुआ है। उसकी चर्चा हम आगे करेंगे। यहाँ पर हम धम्मपद में प्रयुक्त धर्म शब्द के अर्थ पर थोड़ा विचार कर लेना चाहते हैं। धम्मपद में धर्म शब्द का प्रयोग भगवान बुद्ध के उपदेशों के लिये किया गया है। उसमें लिखा है [४]—"बुद्धिमान लोग धर्म अर्थात भगवान बुद्ध के वचनों को सुनकर उसी प्रकार शुद्ध और निर्मल हो जाते हैं जिस प्रकार गम्भीर जलाशय में जल निर्मल हो जाता है।"

यथापि रहदो गम्भीरो विप्पसन्नो अनाविलो।
एवं धम्मानि सुत्वान विप्पसीदन्ति पण्डिता॥

इसी धम्मपद में फिर आगे लिखा है [५]—

ये च खो सम्मदक्खाते धम्मे धम्मानुवत्तिनो।
ते जना पारमेस्सन्ति मच्चुधेय्यं सुदुत्तरं॥

१—बौद्ध दर्शन तथा भारतीय दर्शन,—भरतसिंह, पृष्ठ १२१।
२— ,, ,, ,, पृष्ठ १२०।
३— ,, ,, ,, पृष्ठ ११९।
४—धम्मपद, पृष्ठ ३५।
५—धम्मपद, पृष्ठ ३६।

अर्थात जो अच्छी तरह उपदिष्ट धर्म में धर्मानुचरण करते हैं, वे ही दुस्तर मृत्यु के राज्य को पार करते हैं। इस प्रकार हम देखते है कि धम्मपद में धर्म शब्द का प्रयोग भगवान् बुद्ध के उपदेशों के अर्थ में ही किया गया है। बौद्ध दर्शन के क्षेत्र में धर्म शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया गया है जिस अर्थ में सांख्यों ने गुणों का प्रयोग किया है। वैभाषिकों की धर्म मीमांसा सांख्यों की मीमांसा से बहुत कुछ मिलती जुलती है। इस प्रकार बुद्ध धर्म में धर्म शब्द कई ग्रन्थों में प्रयुक्त मिलता है।

पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार धर्म का स्वरूप :—

भारतीय विद्वानों के सदृश पाश्चात्य विद्वानों में भी धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। यह बात लार्ड मारले[1] के इस कथन से कि धर्म की लगभग दस हजार परिभाषायें हैं स्पष्ट प्रमाणित है। यद्यपि मैं लार्ड मारले के कथन को अर्थवाद के रूप में ग्रहण करती हूँ किन्तु उससे इतना तो प्रकट ही होता है कि पाश्चात्य देशों में भी विद्वान लोग धर्म के स्वरूप को परिभाषाबद्ध करने के शतशत प्रयत्न करते रहे हैं। किन्तु फिर भी सम्भवत: उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सका। यही कारण है कि सी० सी० जे०[2] वेब नामक विद्वान को यह स्वीकार करना पड़ा कि धर्म का स्वरूप परिभाषाबद्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु मनुष्य की उसकी इस असमर्थता से संतोष कैसे हो सकता है, यही कारण है कि पाश्चात्य विद्वानो ने समय समय पर धर्म के स्वरूप को समझाने की चेष्टा की है। यहाँ पर हम कुछ विद्वानों के मतों की समीक्षा करेंगे।

पांचवी शताब्दी ई० पूर्व के एम० पी०[3] डोम्लीज नामक विद्वान धर्म पर विचार करना एक प्रकार का मानसिक रोग समझते थे। इनके पूर्व के हेराक्लीटोस नामक विद्वान की धारणा भी लगभग ऐसी ही थी। अन्तर केवल इतना है कि उन्होने धर्म सम्बन्धी विचारणा को पवित्र रोग कहा है जबकि एम० पी० डोम्लीज महोदय उसे केवल सामान्य मानसिक रोग मात्र मानते थे। प्रो० सरजी[5] महोदय का दृष्टिकोण तो कुछ और भी अधिक क्रांतिकारी प्रतीत होता है। उन्होने सब प्रकार के धर्मों को अन्धविश्वासपूर्ण आस्थाओं

१—१९ नाइन्टीन्थ सेन्चरी एप्रिल १९०५।
२—गुप थ्योरीज पृ० ५९
३—रिलीजन इन वैदिक लिट्रेचर से उद्धृत पृ० ५।
४—वही।
५—वही।

और पूजाओं का वह संघात माना है जो मानव उन्नति का बाधक होता है। टामस[1] होब्स महोदय धर्म को शासन द्वारा आरोपित अन्धविश्वास समझते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि पाश्चात्य देशों में विद्वानों का एक वर्ग ऐसा रहा है जो धर्म के प्रति बहुत क्रान्तिकारी और निन्दात्मक दृष्टिकोण रखता था। विद्वानों के इस वर्ग द्वारा दीगई परिभाषाएँ बहुत ही संकुचित एकांगीय अपूर्ण और अनौचित्य पूर्ण हैं।

ऊपर विद्वानों के जिस वर्ग की चर्चा की गई है वह नास्तिक है। जो ईश्वर में विश्वास नही करता उसके लिए धर्म का विचार एक प्रकार से हास्यास्पद ही होता है। नास्तिक वर्ग के अतिरिक्त हमें पाश्चात्य देशों में विद्वानों का एक आस्तिक वर्ग भी मिलता है। इस वर्ग के विद्वानों ने धर्म को परिभाषाबद्ध करने का प्रयास किया है। यहाँ पर इस वर्ग के कुछ विद्वानों की धर्म सम्बन्धी धारणाओं का उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं।

रिवाइल[2] साहब की परिभाषा :—

रिवाइल साहब के मतानुसार धर्म मानव जीवन की वह धारणा है जो मानव का सम्बन्ध उस रहस्यमय मन से निर्धारित करती है जिसने सारे विश्व को आक्रान्त कर रखा है।

हर्डर[3] साहब की परिभाषा :—

रिवाइल साहब की परिभाषा से मिलती जुलती हर्डर साहब की भी परिभाषा है। हर्डर साहब के मतानुसार धर्म वह माध्यम है जिसके द्वारा मानव का सम्बन्ध परोक्षवस्तुओं से स्थापित किया जाता है।

स्पिनोजा[4] की परिभाषा :—

स्पिनोजा के मतानुसार धर्म की कसौटी नैतिक आचरण की पूर्णता है।

कान्ट[5] की परिभाषा :—

कान्ट तो नैतिकता का ही दूसरा नाम धर्म मानता था।

१—रिलीजन इन वैदिक लिटरेचर से उद्धृत पृ० ५

२—प्रोलेग्मा आफ दी हिस्ट्री आफ रिलीजन अंग्रेजी अनुवाद १८८४ पृ० २५

३—दी स्टडी आफ रिलीजन लन्दन १९०१ याई जेस्ट्रो पृ० १४७

४—वही पृ० १३३

५—आरिजिन एण्ड ग्रोथ आफ रिलीजन भाई एफ० मेक्स लण्डन १८६८ पृ० १४

निशे[1] की परिभाषा :—

निशे के मतानुसार ज्ञान का ही दूसरा नाम धर्म है।

हीगल[2] की परिभाषा :—

हीगल ने स्वतन्त्रता को ही धर्म कहा है।

सैनेका[3] की परिभाषा :—

सेनेका के मतानुसार ईश्वर को जानना और उसकी अनुकृति करना ही धर्म है।

विशप बटलर की परिभाषा :—

विशप बटलर साहब के मतानुसार एक परमात्मा में तथा भावी विकास की अवस्था में विश्वास करना ही धर्म है।

डरवीन साहब[5] की परिभाषा:—

इनकी की हुई परिभाषा कुछ अपेक्षाकृत अधिक लम्बी है। इनके मतानुसार जब बहुत सी पवित्र वस्तुऐं इस प्रकार संगठित की जाती हैं कि उनमें या तो सम सम्बन्ध होता है या सहायक और सहाय्य सम्बन्ध रहता है और उनमें एक ऐसी व्यवस्थित एकता रहती है जो उस जाति की दूसरी वस्तुओं में नहीं पाई जाती, तब उन सम्बन्धित विश्वास और उन विश्वासों से सम्बन्धित धर्माचरण मिल कर धर्म की संज्ञा प्राप्त करते हैं।

मैरेट साहब[6] की परिभाषा :—

डा० मेरेट धर्म को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सामाजिक व्यवहार का एक स्वरूप मानते हैं।

मैक्समूलर साहब[7] की परिभाषा :—

मैक्समूलर साहब के मतानुसार परमात्मा की जिज्ञासा ही धर्म का कारण है।

१—आरिजन एण्ड ग्रोथ आफ रिलीजन वाई एफ सेवस-लण्डन १८६८

२—वही पृ० १९

३—हिस्ट्री आफ रिलीजन्स, न्यूयार्क १९१८-होप्किन्स, ३,६,

४— „ „ „ „

५—एलीमेन्ट्री फार्म्स आफ रिलीजियस लाइफ, अंग्रेजी अनुवाद-१९१५ ई० डरवीन पृ० ४१।

६—थ्रेशोल्ड आफ रिलीजन १९०९-पृ० ११।

७· आरिजिन एण्ड ग्रोथ आफ रिलीजन १८९८ लन्दन,पृ० १५,१६

टायलर[1] की परिभाषा :—

टायलर साहब आध्यात्मिक बातों मे विश्वास करना ही धर्म मानते है।

निष्कर्ष और अपना दृष्टि कोण :—

ऊपर धर्म के सम्बन्ध मे बहुत सी भारतीय और पाश्चात्य परिभाषाएँ दी गई हैं। इन परिभाषाओं का यदि मनोयोग के साथ अध्ययन किया जाय तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उनमें से अधिकांश परिभाषाएं एकांगी और एक पक्षीय है। ऐसी कोई भी परिभाषा नहीं दिखाई पड़ती जिसमे धर्म के सभी तत्व सन्निहित हों। इसका कारण दृष्टिकोण भेद है। प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी धारणाओं और भावनाओं के अनुरूप ही उसके स्वरूप की परिभाषा की है। उसके सर्वांगीण स्वरूप को देखने में बहुत कम विद्वान समर्थ हुये हैं।

यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो हमे धर्म के निम्न लिखित प्रमुख पक्ष दिखाई पड़ेंगे।

१—विचार पक्ष
२—आचार पक्ष
३—साधना और उपासना पक्ष
४—पुराण और विश्वास पक्ष

विचार पक्ष :—

इसके अन्तर्गत धर्म का दर्शन पक्ष आता है। दर्शन धर्म की आधार भूमि है। इस आधार भूमि के बिना धर्म विधि निषेधों का एक समूह मात्र रह जाता है। उसका पालन केवल भय के द्वारा ही किया जाता है। उनके पालन में अन्धानुसरण की प्रवृत्ति प्रधान रहती है। इस्लाम ऐसा ही धर्म है विचार पक्ष के अन्तर्गत धर्म के सभी दार्शनिक और आध्यात्मिक तत्व आते है। यही तत्व उस धर्म की आधारभूमि होते हैं।

आचार पक्ष :—

आचार पक्ष धर्म का व्यावहारिक पक्ष है। मानव समाज को नियन्त्रित करने वाला यही तत्व है। जिस धर्म में यह तत्व नहीं होते वह केवल पुस्तकों और थोड़े से विद्वानों तक सीमित होकर रह जाता है।

१—टाइलर प्रिमिटिव कल्चर-टायलर, पृ० २८।

साधना उपासना और पूजा पक्ष :—

मोक्ष प्राप्ति की प्रयत्न पद्धति को साधना, उस प्रयत्न पद्धति के आन्तरिक समरण को उपासना और बाह्य उपचारों को पूजा कहते हैं। यह धर्म का आवश्यक अंग है।

विश्वास और पुराण पक्ष :—

प्रत्येक धर्म का एक अंग ऐसा होता है जो सामान्य बुद्धि के लोगों को प्रभावित करने में समर्थ हो। वह पक्ष ही विश्वास और पुराण पक्ष है।

धर्म इन्हीं चारों पक्षों का समन्वयात्मक रूप है।

धर्म और साहित्य का सम्बन्ध

आस्तिकता और नैतिकता के व्यवस्थित रूप का नाम ही धर्म है। यह आस्तिकता और नैतिकता ही जीवन की सौन्दर्य विधायी कही जाती है। इन दोनों के अभाव में जीवन अव्यवस्थित अनियंत्रित और अपूर्ण रहता है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि धर्म जीवन की सफलता की कुन्जी है। मेरी इस धारणा से सम्भव है कुछ लोग सहमत न हों किन्तु इतना उन्हें भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जीवन को उदात्त बनाने में धर्म का बहुत बड़ा हाथ रहता है। यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि क्या नास्तिकों का जीवन वांछनीय नहीं होता। उसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त है कि सच्ची आस्तिकता और नैतिकता के अभाव में जीवन के पूर्ण सौन्दर्य का प्रस्फुटन कदापि नहीं हो सकता। इसका स्पष्ट प्रमाण यही है कि भारत में सैकड़ों नास्तिक मतों का प्रवर्तन किया गया किन्तु उनमें से आज एक भी जीवित नहीं है। इनमे से कुछ मतों की चर्चा प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रन्थों [1] में मिलती है। इन ग्रन्थों में वर्णित मत अधिकतर स्वछंदतावाद की कठोर भूमि पर प्रतिष्ठित किये गये थे। नैतिकता और आस्तिकता से उनका सम्बन्ध सर्वथा विच्छिन्न कर दिया गया था। इसीलिए आज उनमें से एक भी जीवित नहीं है। कुछ लोग हमारे इस कथन के विरोध में बौद्ध और जैन धर्मों का उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं। उन लोगों से हमारा नम्र निवेदन है कि वे लोग इन धर्मों को फिर से एक बार समझने की चेष्टा करें। इन दोनों की आधार भूमि उदात्त नैतिकता है। हां आस्तिकता की अभिव्यक्ति अवश्य बहुत खुले रूप में नहीं हो पाई। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ये मत कठोर भौतिकवादी थे उनमें आस्तिकता का कोई उदात्त रूप था ही नहीं।

१—देखिए उत्तराध्ययन सूत्र १८। २२ और सूत्रकृतांग २७।२९।

धर्म और साहित्य में लक्ष्य साम्य भी पाया जाता है। दोनों का लक्ष्य कल्याण विधान होता है। इस दृष्टि से भी दोनों में अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

धर्म और साहित्य में प्रतिपाद्य सम्बन्धी साम्य भी है। दोनों के प्रतिपाद्य परोक्षतत्व ही हैं। अन्तर केवल इतना है कि एक उसका विश्लेषण बुद्धि और विश्वास क्षेत्र में करता है और दूसरा उसके दर्शन भावना के मधुर प्रांगण में। किन्तु यह भेद तात्विक नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि धर्म और साहित्य में एक अविच्छिन्न सम्बन्ध है। साहित्य को धर्म से अलग करके देखना ठीक वैसा ही है जैसा शरीर को प्राण से अलग करके देखना। जिस प्रकार प्राण से रहित शरीर शव मात्र कहलाता है। उसी प्रकार धर्म से विरहित साहित्य निर्जीव कहलाएगा। सच तो यह है कि धर्म साहित्य का प्राणप्रदायक तत्व है। धर्म परायण देश भारत में धर्म और साहित्य का यह सम्बन्ध और भी अधिक गहराई और दृढ़ता के साथ स्वीकार किया गया है। यहां का किसी भी काल का साहित्य तत्कालीन धार्मिक भावनाओं से प्रभावित और अनुप्राणित हुए बिना नहीं रह सका। भारतीय साहित्य का सही अध्ययन तभी हो सकेगा जब हम उसका अध्ययन धार्मिक धारणाओं के प्रकाश में करेंगे।

भारत के धार्मिक इतिहास में बौद्धधर्म का स्थान और महत्व

भारत एक अध्यात्मप्रिय देश है। आदि काल से लेकर आज तक इसमें सहस्रों आध्यात्मिक विचारधारायें उदित होकर विकसित हुई हैं। अपूर्ण और दुर्बल विचारधाराएं समय के प्रवाह में पड़ कर लुप्त हो गई हैं। आज हमें केवल उन्हीं धर्म और दर्शनों का ज्ञान है जो परमप्रौढ़ और दिग्विजयी रहे हैं। ऐसी धर्म और विचारधाराओं में तीन का अस्तित्व बहुत स्पष्ट दिखाई पड़ता है—वैदिक, बौद्ध और जैन इनके अतिरिक्त भारत में तन्त्र मत का भी अच्छा प्रचार रहा। भारत का धार्मिक इतिहास इन्हीं चारों का इतिहास कहा जा सकता है।

भारत की प्राचीनतम विचारधारा वेदों में प्रतिष्ठित मिलती है। वेदों के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। मेक्समूलर[1] साहब के मतानुसार उनकी रचना १२०० ई० के पू० के आस पास हुई थी। हाग-आर्कविशप प्राट[2] आदि विद्वानों ने ऋग्वेद का काल २ हजार बी० सी० सिद्ध करने का प्रयास किया है। लोकमान्य[3] तिलक ने ज्योतिष सम्बन्धी खोजों के आधार पर ऋग्वेद का रचना काल आठ हजार से छः हजार के बीच में निश्चित किया है। भूगर्भशास्त्रियों[4] ने ऋग्वेद का निर्माणकाल नौ हजार ई० पू० सिद्ध करने की चेष्टा की है। कुछ सनातनी[5] विद्वान ऋग्वेद का रचनाकाल चार लाख बत्तीस हजार वर्ष पूर्व मानने के पक्ष में हैं। इन सब मतों को देखते हुये मध्यमार्गीय मत निकाला जा सकता है जिसके आधार पर वेदों का रचनाकाल सरलता से ३००० ई० पूर्व स्वीकार किया जा सकता है। वेदों का रचनाकाल चाहे हम कुछ भी स्वीकार करें पर इतना तो निर्विवाद ही है कि भारत के धार्मिक इतिहास का श्रीगणेश इन्हीं से होता है। ऋग्वेद में हमें प्रत्यक्ष रूप से बहुदेववाद की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। मैकडानल[6] के मतानुसार ऋग्वेद के अधिकांश देवता प्राकृतिक दृश्यों के मानवीकृत रूप हैं।

यद्यपि ऋग्वेद में हमें बहुदेववादी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं किन्तु उसे ऋग्वैदिक कृतियों का सिद्धान्त पक्ष नहीं कह सकते। उनका दृष्टिकोण सदैव ही अनेकता में एकता ढूंढने का प्रयास करता रहा है। इसके प्रमाण में हमें 'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति,[7] 'एकं सतं विप्र बहुधा कल्पयन्ति[8]' उक्तियां दे सकते हैं। ऋग्वैदिक सर्वात्मवादिता की प्रवृत्ति को पाश्चात्यों[9] ने भी दबी

१—इस मत के लिए घाटेजऋग्वेदिक लेक्चर्स नामक पुस्तक देखी जा सकती है।

२—देखिए वैदिक एज के० एम० मुन्शी द्वारा सम्पादित

३—'आर्कटिक होम इन दी वेदाज' नामक ग्रंथ में इस मत का प्रतिपादन किया गया है।

४—इस मत का उल्लेख रामगोबिन्द त्रिवेदी ने अपने 'वैदिक साहित्य' नामक ग्रं० के पृ० २२ पर किया है।

५—वही पृ० १३।

६—संस्कृत साहित्य का इतिहास-मैकडानल पृ० ६९।

७—ऋग्वेद ११६४।४६।

८—ऋग्वेद १०।११४।५।

९—संस्कृत साहित्य का इतिहास-मैकडानल रचित पृ० ७०-७१

मेरी अपनी दृढ धारणा है कि ये दोनों ही मत किसी न किसी रूप में आस्तिक हैं। यह बात दूसरी है कि इनकी आस्तिकता देववादी मतों की आस्तिकता से थोड़ा विलक्षण हो। इन मतों के परवर्ती स्वरूपों में तो देववादी आस्तिकता का भी समावेश हो गया था। हमारे इस मत से और भी बहुत से विद्वान[1] सहमत हैं।

जीवन और जगत की भावमयी अभिव्यक्ति का नाम साहित्य है। जीवन और जगत का सच्चा सौन्दर्य प्रकृति की क्रोड़ में ही प्रस्फुटित होता है। प्रकृति चिर सुन्दरी और चिरयौवना है। उसका कण कण एक सहज आनन्द से पुलकित है। उसकी अपनी एक विलक्षण सुषमा है। प्रकृति के इस सौन्दर्य को, उसके दिव्य आनन्द को पहचानने की शक्ति प्रत्येक हृदय में नहीं होती। कोई विरला पवित्र हृदय सहृदय ही उसके रूप की दिव्यता में प्रवेश पाने में समर्थ होता है। सच तो यह है कि जितना ही उदात्त और पवित्र हमारा हृदय होगा उतना ही अधिक हम प्रकृति के समीप पहुँच सकेंगे। और जितना ही हम प्रकृति के समीप पहुँचेंगे जीवन और जगत के भावात्मक सौंदर्य की उतनी ही सुस्पष्ट झांकी हम देख सकेंगे। जितना इस झांकी का रूप स्पष्ट होगा उतना ही हमारा साहित्य महान होगा। हमारे हृदय को पवित्र और उदात्त बनाने की सबसे बड़ी क्षमता धर्म में है। धर्म हमारे हृदय का शुद्धीकरण करता है। वह हमें जीवन जगत और प्रकृति सब के सहज सौंदर्य को पहचानने की एक सहज क्षमता प्रदान करता है। इस दृष्टि से साहित्यस्रष्टा का धार्मिक होना नितान्त आवश्यक होता है। हमारी दृढ़ धारणा है कि जो साहित्यकार जितना ही धार्मिक प्रवृत्ति का होगा उसका साहित्य उतना ही उदात्त और विश्व कल्याणकारी सिद्ध होगा।

धर्म को हम समाज विशेष या जाति विशेष के आदर्शों का संघात कह सकते हैं। जिस जाति और जिस समाज का धर्म जितना उदात्त होता है वह जाति और समाज उतना ही आदर्शप्रिय होता है। साहित्य में आदर्शों का बहुत बड़ा महत्व है। साहित्य का लक्ष्य केवल जो कुछ है उसी का चित्रण करना नहीं बल्कि जो कुछ होना चाहिए उसका संकेत करना भी है। निश्चय ही साहित्य आदर्श और यथार्थ का मिलनबिन्दु है। साहित्य में प्रतिष्ठा करने योग्य आदर्शों की प्राप्ति हमें धर्म से ही होती है। इस दृष्टि से भी धर्म का साहित्य से घनिष्ट सम्बन्ध प्रकट होता है।

धर्म का एक पक्ष विश्वास भी कहा जाता है। प्रत्येक धर्म में कुछ

१—देखिए बौद्ध दर्शन बलदेव उपाध्याय पृ० ३७० से ३७३ तक।

विशेष कोटि की आस्थाएँ और विश्वास प्रतिष्ठित रहते हैं। ये विश्वास और आस्थाएँ ही साहित्यकार की दृष्टि का विस्तार करती हैं। उसे जड़ में चेतन के दर्शन कराती हैं। उसे एक विचित्र कल्पना शक्ति प्रदान करती हैं जिनके प्रभाव से साहित्य का स्वरूप भव्य और महान बन जाता है। जिस जाति का कोइ धर्म नहीं होता उसके विश्वास और आस्थाएँ निम्नकोटि की होती हैं। इसलिए उसका साहित्य भी निर्जीव और निम्नस्तर का होता है।

धर्म और साहित्य के सम्बन्ध का पता हमें इस बात से भी चलता है कि धर्म के विकसित होने पर साहित्य उदात्त होता है और धर्म के ह्रास होने पर साहित्य भी पतनोन्मुख होने लगता है। इस कथन के प्रमाण में हम भारत के धार्मिक और साहित्यिक इतिहास को ले सकते हैं। भारत में जब बौद्ध धर्म अपने विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच रहा था उसके समय हमारे साहित्य में अश्वघोष और कालिदास जैसे महान् साहित्यकार भी अपनी पीयूष वर्षिणी वाणी की पयस्वनी प्रवाहित कर रहे थे। इसी प्रकार मध्ययुग में जब देश में शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बकाचार्य, माधवाचार्य आदि विविध आचार्यों का धार्मिक सिंहनाद हो रहा था तभी हमारे साहित्य में कबीर, तुलसी और सूर की प्राणप्रदायनी वाणी समाज में नई चेतना का संचार कर रही थी। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि साहित्य की गतिविधि धर्म की गतिविधि पर आश्रित रहती है।

साहित्य और धर्म का स्वरूप जाति की स्वतन्त्रता और परतन्त्रता पर भी आधारित रहता है। परतन्त्रजाति के धर्म का स्वरूप कुछ शिथिल पड़ चलता है। परतन्त्रकाल की धार्मिक भावनाएँ याचनाएँ लेकर खड़ी रहती है। प्रतिभाशाली कवि इन याचनाओं का अपनी वाणी में साकार स्वरूप दिया करते हैं। ऐसे समय का साहित्य भी चाहे साहित्यकता से अभिषिक्त न हो किन्तु उदात्त अवश्य होता है। उसमें मानव जाति के उद्धार का संदेश अवश्य रहता है।

धर्म को हम जाति विशेष का सांस्कृतिक इतिहास भी कह सकते हैं। उसका पौराणिक पक्ष इस इतिहास को आत्मसात किये रहता है। साहित्य जाति विशेष की संस्कृति का दर्पण होता है। उसे सांस्कृतिक चेतनाओं की झांकी धर्म के पौराणिक पक्ष से ही मिलती है।

साहित्य और धर्म को हम एक दृष्टि से सहोदर भी मान सकते हैं। दोनों के विधाता और प्रवर्तक प्रतिभाशाली महापुरुष ही हुआ करते है। इस दृष्टि से भी धर्म और साहित्य में घनिष्ट सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ेगा।

जुबान से स्वीकार करने की चेष्टा की है। वैदिक धर्म की सबसे प्रमुख विशेषता आशावादिता थी। वैदिक ऋषि देवताओं की पूजा भय से नहीं श्रद्धा से करते थे। उनकी उस श्रद्धा में एक विचित्र आशावादिता[१] भरी रहती थी। वैदिक धर्म की यह आशावादिता ही उसकी प्राणभूत विशेषता है।

संहिता युग के बाद ब्राह्मण युग आता है। इस युग में कर्मकाण्ड की प्रधानता बढ़ी। अनेक यज्ञयागादिकों का वर्णन किया गया जिससे संहिताओं में वर्णित धर्म का सरल स्वरूप जटिल हो चला। उपनिषदों में इस ब्राह्मण-कालीन जटिलस्वरूप के प्रति प्रतिक्रिया जाग्रत हुई और शुद्ध दर्शन का विकास हुआ। उपर्युक्त बात को संक्षेप में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि संहिताकालीन धर्म मे विश्वासों की प्रधानता थी, ब्राह्मणकालीन धर्म में आचारों की प्रधानता बढ़ी और उपनिषदों में धर्म का विचार पक्ष विकसित हुआ। आरण्यक भी वेद का एक अंग माने जाते हैं। आरण्यकों में वैदिक धर्म के साधना और उपासना धर्म की झांकी मिलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक धर्म का विकास सर्वांगीण रूप से हुआ।

वैदिक धर्म में जहां धर्म के समस्त अंगों का सम्यक प्रस्फुटन हुआ वहां उसमें समय के प्रभाव से उसके विविध अंगों के रूढ़िग्रस्त हो जाने पर कुछ विकारों का भी उदय हो चला। वैदिक धर्म के इन विकारों की प्रतिक्रिया के रूप मे कुछ कम आस्तिक तथा नास्तिक धर्म-सम्प्रदायों का उदय हुआ। इनमे से ३६४ मतों की चर्चा हमें प्राचीन जैन[२] ग्रंथों में मिलती है और ६२ धर्मों का उल्लेख बौद्धो के दीर्घनिकाय[३] मे पाया जाता है। बौद्ध और जैन मतों का उदय ऐसे ही समय में हुआ था।

इन दोनो मतो के प्रवर्तकों ने अपने समय की विविध प्रतिक्रियात्मक विचारधाराओं को सुव्यवस्थित रूप से समन्वित करके अभिनव रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की। इन दोनों मतों मे भी बौद्ध धर्म का विकास अधिक हुआ इसका कारण सम्भवतः उसकी शुद्धबुद्धिवादिता और सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक सिद्धान्तो की प्रतिपादना थी।

भारत के धार्मिक इतिहास में बौद्ध धर्म का महत्व कई दृष्टियों से अनुलनीय है। जिस समय बौद्ध धर्म का उदय हुआ था। उस समय की

१—संस्कृत साहित्य का इतिहास मेक्डानल रचित पृ०
२—उत्तराध्ययन सूत्र १८।२३ और सूत्रकृतांग २।२।७९
३—दीर्घनिकाय हिन्दी अनुवाद।

धार्मिक स्थिति बड़ी विशृंखल थी। वैदिक धर्म रूढ़िग्रस्त हो गया था। पुरोहितवाद की प्रवृति ने उसको सर्वथा पंगु बना दिया था। श्रद्धा ने वर्णाश्रम धर्म में विकृत रूप धारण करना आरम्भ कर दिया था। श्रद्धा के नाम पर अनाचार की वृद्धि होने लगी थी। पण्डितों और पुरोहितों ने तर्क करने का अधिकार किसी को नहीं दिया था। बौद्ध धर्म में बुद्धिवादिता की प्रतिष्ठा की गई। बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तकों ने वैदिक सिद्धान्तों को उस बुद्धिवादिता की दृढ़ भूमि पर अपनी प्रतिभा की पुट देकर नास्तिक मतों में सामञ्जस्य स्थापित करते हुए एक मौलिक रूप दिया जो आगे चल कर विश्व-ग्राह्य हो सका। अपनी इसी विशेषता के कारण उसे विश्वधर्म बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। विश्व के धार्मिक इतिहास में भारत का गौरव पूर्ण स्थान दिलाने का श्रेय इसी धर्म की कुछ निम्नलिखित विशेषताओं को भी हैं।

बुद्धिवादिता:—

भगवान् बुद्ध की विचारधारा की प्राणभूत विशेषता बुद्धिवादिता थी। ब्राह्मण धर्म में पुरोहितवाद [1] बलवान पड़ जाने पर बुद्धिवादिता का अभाव हो गया था। अन्धानुसरण की प्रवृत्ति दिन पर दिन बलवती होती जा रही थी, धर्म और श्रद्धा के नाम पर अनाचार की वृद्धि हो चली थी। अतएव भगवान् बुद्ध को इस अन्धानुसरण की प्रवृत्ति का विरोध करना पड़ा। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की है कि साधक को युक्ति शरण होना चाहिए पुद्गल शरण नहीं। [2] युक्ति शरण का अर्थ है कि बुद्धिवादी बात को ग्रहण करना चाहिए पुद्गल शरण से उनका अभिप्राय किसी मनुष्य के वचन का अन्धानुसरण करना था। उनकी तो धारणा यहाँ तक थी कि मनुष्य के रूप में चाहे स्वयं वह ही क्यों न हो उनकी भी बात यदि युक्ति युक्त न हो तो स्वीकार न की जानी चाहिए। ज्ञानसमुच्चयसार में इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण निम्नलिखित शब्दों में किया गया है।

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यंमद्वचो न तु गौरवात्

अर्थात् भिक्षुओं को मेरे वचन उसी प्रकार परीक्षित करके ग्रहण करने चाहिए जिस प्रकार स्वर्ण को पण्डित लोग अग्नि और कसौटी पर परीक्षित करके ग्रहण करते हैं। इसी से मिलती जुलती उक्ति हरिभद्र की भी है।

पक्षपातो न वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

१—देखिए इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स
२—बौद्ध दर्शन मीमांसा-बलदेवउपाध्याय, पृ० ५३

इस श्लोक में आचार्य ने स्पष्ट घोषणा की है कि बौद्ध साधक को किसी के प्रति पक्षपात नहीं करना चाहिए। उसे तो उसी बात को ग्रहण करना चाहिए जो तर्क संगत हो।[1] इस प्रकार की उक्तियों से बुद्ध वचन भरे पड़े हैं।

व्यावहारिकता:—

भगवान् बुद्ध ने जिस धर्म मार्ग का उपदेश दिया था वह पूर्ण व्यावहारिक है। उनकी विचारधारा को हम आदर्श और यथार्थ का मिलन विन्दु मान सकते हैं। व्यर्थ के मानसिक व्यायाम में वे विश्वास नहीं करते थे। उसके स्थान पर वे सदाचरण के पालन को अत्यधिक महत्व देते थे। उनका अपना दृढ विश्वास था कि व्यर्थ के तर्क वितर्क में न पड़ कर मनुष्य को सरल, स्वाभाविक और सदाचार पूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहिए। इसीलिए उन्होंने निवृत्ति मार्गी होते हुए भी कर्म मार्ग को महत्व दिया। कर्ममार्ग के सम्बन्ध में उनके अपने स्वतन्त्र विचार थे। मिलिन्द प्रश्न[2] मे उनके कर्म-मार्गीय सिद्धान्तों का अच्छा स्पष्टीकरण किया गया है। पुनर्जन्मवाद[3] में वे भी विश्वास करते थे और उसका कारण बहुत कुछ वह कर्म को ही मानते थे। जब मिलिन्द ने अपने गुरू से भिन्न भिन्न जीवों की विषमता का कारण पूछा तो उसके गुरू ने कहा कि इसका कारण पूर्व जन्म का कर्मभेद है। इस प्रकार कर्म-मार्ग को महत्व देकर अपने सिद्धान्त की व्यावहारिकता को अक्षुण्ण बनाए रक्खा।

अनीश्वरवाद:—

भगवान बुद्ध जिस प्रकार अहंकारात्मक आत्मा की सत्ता मे विश्वास नहीं करते थे उसी प्रकार भ्रमोत्पादक ईश्वर के अस्तित्व में भी विश्वास नहीं रखते थे। दीर्घनिकाय[4] में कई स्थलों पर ईश्वर का अच्छा उपहास किया गया है। इस उपहास के लिए उसका पाथिकसुत्त देखा जा सकता है। केवट्ट-सुत्त में भी ईश्वर की हेयता प्रतिपादित की गई है। दीर्घनिकाय के तेविज्ज-सुत्त[5] में भी ईश्वरवाद का खण्डन किया गया है। इसमें तथागत ने कहा है

१—तत्व समास पंजिका पृ० १२, बौद्ध दर्शन मीमांसा से उद्धृत पृ० ५३
२—देखिए सेक्रेड बुक आफ दी इस्ट सिरीज
३—इसी ग्रंथ का छठा अध्याय देखिए
४—दीर्घनिकाय-३।१
५—दीर्घनिकाय—केवट्टसुत्त ११

कि जब ब्राह्मण लोग ईश्वर को प्रत्यक्ष देख नहीं पाते हैं और न उसकी सही रूपरेखा ही बता पाते हैं तो फिर उनके ईश्वर के लिए क्यों भटका जाए। उनकी दृष्टि में केवल ब्राह्मणों के कहने पर ईश्वर के नाम पर अपने को भ्रमित करना सर्वथा अबौद्धिक है।

अभौतिकवादः—

भगवान बुद्ध के अनात्मवाद और अनीश्वरवाद के अध्ययन के पश्चात् साधारण धारणा यही बनती है कि बुद्ध धर्म भौतिकवादी था। किन्तु बौद्ध-ग्रंथों के अध्ययन से यह बात प्रकट नहीं होती। दीर्घनिकाय के पयासीराजन्य सुत्त [1] का अध्ययन करने पर इस भ्रान्ति का निराकरण अपने आप हो जाता है। इस सुत्त में सेताव्या नामक नगरी के राजा के भौतिक दृष्टिकोण का उल्लेख करके श्रमणकुमार काश्यप जो भगवान बुद्ध के शिष्य थे, के द्वारा उसकी पराजय वर्णित की गई है। काश्यप ने इस सुत्त में स्पष्ट घोषित किया है कि चारवाकी भौतिकवाद ब्रह्मचर्य, समाधि तथा पुण्याचरणों का घातक शत्रु है। इससे प्रकट होता है कि बौद्धधर्म अनात्मवादी और अनीश्वरवादी होते हुए भी भौतिकवादी नहीं था।

ब्राह्मणवाद और श्रुतिप्रामाण्यवाद का खण्डनः—

बौद्ध धर्म का उदय ब्राह्मणों के श्रुतिप्रामाण्यवाद की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। अतएव उसमें इन दोनों के खन्डन की प्रवृति का होना स्वाभाविक था। दीर्घनिकाय [2] में तथा कुछ अन्य बौद्धग्रंथों [3] में भी हमें इस प्रवृति के दर्शन होते हैं।

शिक्षात्रय :—

प्राचीन बौद्ध धर्म मे शिक्षात्रय को भी विशेष महत्व दिया गया है। उनका नाम प्रज्ञा, शील और समाधि हैं। अष्टांगिक मार्ग इन्ही तीनों पर आधारित है। सयुक्तनिकाय [4] में इन तीनों को महत्व देते हुए लिखा गया हैं कि जो मनुष्य शील मे प्रतिष्ठित हैं, समाधि और विपश्यना की भावना करते हैं, वे ही तृष्णा का सहार करने में समर्थ होते हैं। 'वास्तव में बौद्ध धर्म के अनुसार शील से अपाय अर्थात् पाप नष्ट होते हैं। समाधि से कामधात का

१—दीर्घनिकाय २।१०

२—दीर्घनिकाय, हिन्दी अनुवाद पृ० २०० से २०६, बौद्धदर्शन मीमांसा से उद्धृत

३—देखिए दीर्घनिकाय का तेविज्जसुत्त

४—बौद्ध धर्म दर्शन आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ० १८'१९

विनाश होता है। प्रज्ञा से सर्वभव का समतिक्रमण होता है। शील है दस प्रशीलों से बचना। प्रशील के बौद्ध ग्रंथों में दस भेद बताए गए हैं। (१) प्राणातिपात (२) अदत्तादान (३) अब्रह्मचर्य (४) मृषावाद (५) सुरामद्यमद्यादि (६) अकाल भोजन (७) नृत्यगीतवादित्र (८) माला गन्ध विलेपन (९) उच्चाशन शयन (१०) जातरूपरजत प्रतिगृह।[1] इन सब पर हम अष्टांगिक मार्ग के प्रसंग में विस्तार से विचार कर चुके हैं। इस लिए यहां पर उन पर विस्तार से विचार नहीं करेंगे।

त्रिशरणगमन :—

भगवान बुद्ध ने सामान्य उपासकों के लिए त्रिशरणगमन विधि का उल्लेख किया हैं। यह त्रिशरण इस प्रकार है—'बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।" इस त्रिशरणगमन विधि को बौद्ध ग्रंथों में त्रिरत्न[2] भी कहा गया है। भगवान बुद्ध की शिक्षा की कुछ और विशेषताएं हैं। भगवान बुद्ध ने उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त और भी कई बातों पर बल दिया था। उस युग में ऋद्धिप्रातिहारि का बड़ा बोल बोला था। बौद्ध धर्म पर भी उसका प्रभाव पड़ा है। उसी से प्रभावित होकर उन्होंने धर्मोपदेश को ही सबसे बड़ा प्रद्भुत कर्म घोषित किया था।

भगवान बुद्ध को स्वर्गादि की धारणा भी बहुत कुछ अंश में स्वीकार थी। उनकी स्वर्ग नरकादि की भावना वैदिकों की और पौराणिकों की भावना से बहुत अधिक प्रभावित मालूम पड़ती है। इस पर हम धर्म के विश्वास पक्ष का विवेचन करते समय विस्तार से विचार करेंगे।

अनात्मवाद :—

बुद्ध कट्टर अनात्मवादी थे। अपने इस अनात्मवाद का मन्डन उन्होंने बहुत से दृष्टान्तों से किया। उन्होंने एक दृष्टान्त नगर की सबसे सुन्दर स्त्री का दिया है। उन्होंने कहा कि आत्मा के गुण धर्म आदि को बिना जाने हुए जो लोग उसकी साधना में लगे रहते हैं उनकी अवस्था ठीक उसी मनुष्य की तरह होगी जो बिना जाति कुल गोत्र रूप रंग स्वभाव जाने किसी स्त्री का नाम सुन कर ही उससे प्रेम करने लगता है।[1] उनकी दृष्टि में प्रसन

१—बौद्ध दर्शन-आचार्य नरेन्द्रदेव पृ० १९

२—वही पृ० २१,२४

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा-बलदेव उपाध्याय पृ० ९९

आत्मा के लिए किसी प्रकार के प्रयत्न करना सर्वथा निरर्थक होता है। मज्झिमनिकाय [1] में एक स्थल पर लिखा है 'जो यह मेरा आत्मा अनुभव कर्त्ता अनुभव का विषय है और तहाँ तहाँ अपने बुरे भले कर्मों के विपय को अनुभव करता है। यह मेरा आत्मा नित्य ध्रुव शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील है। अनन्त वर्षों तक वैसा ही रहेगा। हे भिक्षुओं यह भावना बिल्कुल बाल धर्म है। इसी प्रकार और भी अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार से आत्म वाद का खन्डन किया गया है।

अनात्मवाद को ही बौद्ध ग्रंथों में पुंग्गलनैरात्म्यवाद, सत्काय, दृष्टिवाद आदि के अभिधान भी दिए गए हैं। [2] बौद्ध लोग सब कुछ अनात्म रूप मानते थे। उनका कहना था कि जगत के समस्त पदार्थ केवल कुछ धर्मों के समुच्चय मात्र होते हैं। उनमें किसी प्रकार की स्वयं सत्ता या आत्मा नही होती। बौद्धों का कहना है आत्मा को छोड़ कर और समस्त वस्तुओं की सत्ता है। [3] इस सत्ता का आधार धर्मतत्व होता है। धर्म का अर्थ है अत्यन्त सूक्ष्म प्रकृति तथा मन के सूक्ष्म तत्व जिनका पृथक् करण नहीं किया जा सकता। [4] जगत की रचना इन्हीं अनेक धर्मों के घात प्रतिघात से हुई है। सांख्यदर्शन में जिन्हें गुण कहा गया है बौद्ध दर्शन के धर्म लगभग वैसे ही है। किन्तु दोनों की धारणाओं में थोड़ा अन्तर है। सांख्य सत् रज तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था को प्रकृत मानते हैं और प्रकृति से ही आगे सृष्टि का विकास मानते हैं। बौद्ध लोग अवयववादी हैं।

अवयववादी नैयायिक भी होते हैं [5]। दोनों में अन्तर यह है कि नैयायिक लोग अवयव से अवयवयी को पृथक् मानते हैं। [6] उनकी दृष्टि में घट परमाणुओं का संघात होने के साथ ही साथ परमाणुओं से भिन्न एक नया पदार्थ भी है। बौद्ध लोग यह नही मानते [7] उनका कहना है कि परमाणु का समुच्चय ही घट है जो परमाणुओं से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं है। बौद्धों ने नैयायिकों के परमाणु के स्थान पर धर्मो की कल्पना की है। इनकी दृष्टि मे धर्म सूक्ष्मतम पदार्थ है। प्रत्येक पदार्थ इन्ही धर्मो का समुच्चय होता है। इसी अर्थ मे प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व माना जाता है

१—मज्झिमनिकाय १।१।२
२—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ९६
३—वही पृ० ९७
४—वही पृ०
५—भारतीय दर्शन-बलदेव-उपाध्याय
६—वही
७—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० ९८

बौद्ध ग्रंथों में हमें आत्मवाद के खन्डन के साथ ही साथ आत्मा के पर्यायवाची से लगने वाले पुदगल, जीव आत्मा और सत्ता शब्दों का प्रयोग मिलता है। किन्तु बौद्ध धर्म में इन सब का प्रयोग अपने ढंग पर किया गया है। आत्मा से उनका अभिप्राय परस्पर सम्बद्ध अनेक धर्मों के समुच्चय से होता है। यह धर्म, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान का होता है। इन्हें पंच स्कन्ध भी कहते। बौद्धों की दृष्टि में आत्मा पंचस्कन्धों के समुच्चय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है[1]। बौद्ध ग्रंथों में कहीं कहीं आत्मा के लिए सन्तान शब्द का भी प्रयोग किया गया है। उनके अनुसार अट्ठारह धातुओं से मिल कर संतान उत्पन्न होता है[2] और वह उन अठ्ठारह धातुओं में प्राप्ति नामक संस्कार के कारण सम्बद्ध रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्धों ने जहाँ पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार किया है वहाँ वे उसके व्यावहारिक पक्ष की उपेक्षा नहीं कर पाये हैं।

पंचस्कन्ध :—

इसी प्रसंग में हम पंचस्कन्धों का स्पष्टीकरण भी कर देना चाहते हैं। ऊपर हम बतला आये हैं कि बौद्ध लोग पंचस्कन्धों के समुच्चय को ही आत्मा मानते हैं। उन स्कन्धों के नाम हैं रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। यहाँ पर थोड़ा सा इनका स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है।

पहला स्कन्ध रूप है[3]। यह विषयों से सबद्ध माना जाता है। शरीर तथा इन्द्रियों का वाचक बताया जाता है। दूसरा स्कन्ध वेदना[4] नाम का है। बाह्य वस्तुओं के संसर्ग से चित्त पर जो क्रियाएँ होती हैं उन्हीं को वेदना कहते हैं। यह क्रियाएँ प्रतिक्रियाएँ तीन प्रकार की होती हैं—"सुख रूप, दुःख रूप और अनुभव रूप। तीसरा स्कन्ध[5] संज्ञा नाम का है। संसार में हम प्रत्येक वस्तु को उसके रूप गुणादि से सम्बन्धित कोई नाम दिया करते है। सविकल्पक प्रत्यक्ष में हमें इन्हीं का नाम बोध होता है। चौथे स्कन्ध का नाम संस्कार[6] है। इसके अन्तर्गत रागादिक क्लेश, मद मानादि उपक्लेश तथा धर्म आदि तत्व आते हैं। पांचवां स्कन्ध[7] विज्ञान स्कन्ध कहा गया है।

१—भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय
२—वही
३—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० १००
४—वही
५—वही
६—वही
७—वही पृ० १०१

कल्पतरु का अनुवाद करते हुये बल्देव उपाध्याय [1] ने इस स्कन्ध का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया है। "अहं इत्याकारक ज्ञान तथा इन्द्रियों से जन्य रूप रस गन्ध आदि विषयों का ज्ञान—यह दोनों प्रवाहापन्न ज्ञान विज्ञान स्कन्ध के द्वारा वाच्य हैं। इस प्रकार वाह्य वस्तुओं का ज्ञान तथा आभ्यान्तर में हूँ ऐसा ज्ञान-दोनों का ग्रहण इस स्कन्ध के द्वारा होता है।"

पुनर्जन्म का सिद्धान्त :—

पंचस्कन्धात्मक आत्मा का इतना स्वरूप विवेचन करने के पश्चात एक प्रश्न उठ खड़ा होता है। वह यह कि क्या बौद्ध लोग पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते है? यदि वे पुनर्जन्म स्वीकार करते हैं तो उनके सिद्धान्त का क्या रूप है? क्योंकि वे आत्मा में तो विश्वास करते ही नहीं। बौद्ध लोग सन्तान वादी हैं। उनका कहना है कि विज्ञान नामक स्कन्ध मृत्यु होने पर प्रातिसंधि नामक विज्ञान को जन्म देता है। प्रातिसंधिनामक विज्ञान से नया विज्ञान उत्पन्न होता है यही अन्य स्कन्धों से सगठित होकर नया रूप धारण कर लेता है।

तर्क विरोध और अव्याकृत प्रश्नों के प्रति मौनभावः—

तर्क की आधार भूमि पर प्रतिष्ठित धर्म और दर्शन प्रायः जटिल ही जाया करते हैं। क्योंकि वे तर्कातीत अव्याकृत प्रश्नों को सुलझाने में लग जाते हैं। भगवान् बुद्ध ने अन्य धर्मों की इस दुर्वलता को पहचान लिया था। इसीलिए वे अव्याकृत प्रश्नों के सम्बन्ध में तर्कवितर्क करके अपनी विचार-धारा को जटिल बनाना नहीं चाहते थे। मज्झिम्म निकाय [2] में लिखा है कि जब मालुक्य पुत्र ने भगवान् बुद्ध से जीव, देश और जगत सम्बन्धी प्रश्नों पर प्रकाश डालने का अनुरोध किया तो भगवान् बुद्ध ने उन्हें अव्याकृत कह कर उनके सम्बन्ध में विचार करने से इन्कार कर दिया। इसी प्रकार दीर्घनिकाय [3] में भी एक कथा आई है। पोठपाद परिव्राजक ने जब भगवान् बुद्ध से जीव, जगत, आत्मा और परमात्मा सम्बन्धी प्रश्न किये तब भी भगवान् बुद्ध ने उनके ऊपर अपने विचार प्रकट करना आवश्यक नहीं समझा। उनके प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा कि न यह अर्थ युक्त है, न धर्म युक्त, न आदि ब्रह्मचर्य के लिए, उपयुक्त, न निर्वेद के लिए, न विराग के लिए, न सम्बोधि के लिए, न उपशम के लिए, न अभिज्ञा के लिए, और न निर्वाण के लिए हैं। इस सम्बन्ध में

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा

२—मज्झिम्म निकाय-हिन्दी अनुवाद पृ० २५१-२५३

३—दीर्घ निकाय-हिन्दी अनुवाद पृ० ७१

उन्होंने एक सुन्दर दृष्टान्त भी प्रस्तुत किया था। उन्होंने कहा कि इन प्रश्नों पर विचार करना ठीक वैसा ही है जैसे विष से बुझे हुए बाण से विद्ध कोई मनुष्य वैद्य से यह कहे कि मैं तब तक शरीर से बाण न निकलवाऊँगा जब तक यह न जान लूँ कि प्रहर्ता ब्राह्मण है, क्षत्रिय है, वैश्य है, या शूद्र। उसके इन प्रश्नों का परिणाम यह होगा कि उसके प्राण निकल जायेंगे और इन प्रश्नों का उत्तर उसे नहीं मिल सकेगा[१]। ठीक इसी तरह से मनुष्य आत्मा परमात्मा जीव और जगत सम्बन्धी प्रश्नों पर न पहुँचने के कारण वह किसी प्रकार की साधना नहीं कर सकेगा और अपना जीवन व्यर्थ ही खो देगा। बहुत से लोग विशेष करके प्राचीन श्रुति प्रमाण्यवादी आचार्य बुद्ध के उपर्युक्त ढङ्ग के कथनों के आधार पर उन्हें कट्टर निरीश्वरवादी और नास्तिक कहते हैं किन्तु यह मत बहुत सार पूर्ण नहीं है। वस्तुतः बुद्ध प्रच्छन्न आस्तिक थे। यदि उन्होंने आत्मा परमात्मा सम्बन्धी प्रश्नों के सम्बन्ध में आस्तिकवाद का समर्थन नहीं किया है तो उन्होंने नास्तिकवाद का भी प्रस्थापन नहीं किया। वह सरल सहज मार्ग के अनुयायी थे। अस्ति और नास्ति के पचड़े में पड़ना उन्हें रुचिकर न था[२]। भगवान् बुद्ध की वाणी से, यह सही है, कि बहुत से स्थलों पर हमें ऐसा आभास मिलता है कि आत्मविषयक कोई भी कल्पना उन्हें मान्य न थी[३] किन्तु इसका कारण नास्तिकता नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक स्थल पर उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि आत्मनात्म के पचड़ों में वे केवल इसलिए नहीं पड़ना चाहते कि उसमें व्यर्थ समय नष्ट होता है[४]। कहीं कहीं पर तो हमें प्रच्छन्न रूप से उनमें स्पष्ट रूप से आस्तिकता की झलक मिल जाती है। तेविज्जसुत में स्वयं भगवान बुद्ध ने एक स्थल पर 'ब्रह्म सः व्यत्ययः' स्थिति का उल्लेख किया[५] है। सेलसुत[६] और थेर गाथा[७] में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि मैं ब्रह्मभूत हूँ। यह तो भगवान

१—दीर्घ निकाय हिन्दी अनुवाद पृ० २८

२—अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम्।
तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षणः॥—माध्यमिक कारिका १५।

३—देखिए सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट भाग १६ भूमिका।

४—सब्बासवसुत ९-१३

५—देखिए तेविज्जसुत

६—देखिए सेलसुत १४

७—थेरगाथा ८३८

बुद्ध की आस्तिकता सम्बन्धी बात हुई। परवर्ती बुद्ध धर्म विशेषकर महायान धर्म तो प्रत्यक्ष रूप से आस्तिक हो गया था। उसमें बहुदेववाद की प्रवृत्ति पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो गई थी। बौद्ध धर्म ने जटिल प्रश्नों की उपेक्षा करके मानव जाति को एक सरल सहज मार्ग दिखलाया था, जिस पर चलकर मनुष्य सरलता से अपने जीवन को सफल बना सकता था। प्राचीन धार्मिक व्यवस्थाओं की प्रतिक्रिया में उदित धर्म का यह सहज सरलीकृत रूप सर्वग्राह्य होने के कारण सरलता से विश्व में फैल गया।

भगवान बुद्ध ने जिस प्रकार चिन्तन क्षेत्र में सहज भाव का प्रवर्तन किया था, उसी प्रकार साधना क्षेत्र में भी वे सहजमार्ग के अनुयायी थे। उनके समय में ब्राह्मण जैन और आजीवक साधु लोग कठोरातिकठोर तपस्या करके अपने शरीर को व्यर्थ मे ही कष्ट देते थे। उन्हें फिर भी तत्व की प्राप्ति नहीं हो पाती थी।

भगवान बुद्ध काया-क्लेश-मय उग्र तप के विरोधी थे[1]। उनका विश्वास था कि व्यर्थ का शारीरिक कष्ट सहकर किसी को निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। भगवान बुद्ध ने व्यर्थ के भक्ष्याभक्ष्य सम्बन्धी आचारों को भी विशेष महत्व नहीं दिया है। उनका कहना था कि लोग खाने की इच्छा से जो प्राणी न मारे गये हों ऐसे जीवों का, हाथी, सिंहादि जीवों को छोड़ कर, मांस खा सकते है। इस प्रकार का मांस वे स्वयं सम्भवतः खाया करते थे। मांस और मछलियां खाने की आज्ञा बौद्ध भिक्षुओं को भी दी गई है। दिगम्बर रहना भगवान् बुद्ध को इष्टकर न[2] था। इस प्रकार की मान्यताओं ने बौद्ध धर्म को और भी अधिक व्यावहारिक और लोक-प्रिय बना दिया था।

बौद्ध धर्म की सबसे बड़ी देन समत्ववाद है। भगवान बुद्ध किसी प्रकार की वर्णाश्रम धर्मव्यवस्था में विश्वास नहीं करते थे। भगवान बुद्ध की दृष्टि में सभी मानव बराबर थे। इनके साम्यवाद पर आगे विस्तार से विचार किया जायेगा। यहां पर केवल इतना कहना ही अभिप्रेत है कि बौद्ध धर्म को लोकप्रिय बनाने वाला उसका एक प्रमुख तत्व उसका साम्यवाद भी है।

अपनी इन्हीं सब विशेषताओं के कारण भगवान बुद्ध द्वारा प्रवर्तित धर्म प्रारम्भ से ही लोकप्रिय हो गया था। उसकी व्यवहारिकता और बुद्धिवादिता और सहजवादिता पर मुग्ध होकर बड़े बड़े सम्राटों ने उसके प्रचार

१—देखिए महावग्ग ५।१।१६

२—देखिए महावग्ग ६। ३१।१६ और ८।२८।१

और विकास में योग दिया। बड़ी बड़ी चार बुद्ध सभाएँ की गई जिसमें इस धर्म को व्यवस्थित करके इसके प्रचार के प्रयत्नों पर विचार किया गया। इन सब के फलस्वरूप बौद्ध धर्म का आधिपत्य केवल भारत में ही नही ऐसी सम्पूर्ण विश्व पर स्थापित हो गया। संसार की कोई ही शायद ऐसी विचार-धारा हो जो बौद्ध धर्म से किसी न किसी रूप में प्रभावित न हुई हो। भारतीय विचारधाराएँ तो बौद्ध धर्म की उसी प्रकार ऋणी हैं जिस प्रकार वैदिक धर्म की।

मध्यकाल की सीमा और विस्तार

मध्यकाल शब्द अंग्रेजी के मैडीवल या मिडिल एजेज शब्द का अनुवाद है। हिन्दी में इसका प्रचलन अंग्रेजी के अनुकरण पर ही हुआ है। प्राचीन साहित्य में हमें इस शब्द का प्रयोग नही मिलता है। प्राचीन काल में काल का विभाजन युगों के नाम से किया जाता था। यह युग चार है—सतयुग, त्रेता, द्वापर, और कलियुग। किन्तु यह विभाजन क्रम साहित्य के विद्यार्थियों के लिए सहायक नही हुआ। क्योंकि सम्पूर्ण साहित्य चार हजार वर्ष से पहिले का नहीं मालूम होता। चार हजार वर्ष से ऊपर केवल कलयुग महराज को ही शासन करते व्यतीत हो गये हैं।[1] सम्पूर्ण ज्ञात साहित्य को कलियुगी साहित्य कहना कुछ शोभन नही प्रतीत होता इस कठिनाई को दूर करने के लिए ही भारतीय लोग भी काल विभाजन की पाश्चात्य शैली का अनुकरण करने लगे हैं। पाश्चात्य देशों में काल का विभाजन स्थूल रूप से प्राचीन काल, मध्यकाल, और आधुनिक काल के अभिधान से किया जाता है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने पाश्चात्यों के इसी काल विभाजन के आधार पर हिन्दी साहित्य के इतिहास को प्राचीन काल या आदि काल, मध्य काल और आधुनिक काल में विभाजित किया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इन तीनों युगों की सीमाएँ क्या होंगी। इस सम्बन्ध में हमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[2] तथा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी[3] के मत प्राप्त हैं। आचार्य शुक्ल ने मध्य काल को दो भागों में बाँटा है—(१) पूर्व मध्य काल और दूसरा उत्तर मध्य काल। पूर्व मध्यकाल का समय

१—कलियुग के लगभग ५००० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। इन चारों युगों के काल विस्तार का विवरण देखिए—रामचरित मानस, पण्डित ज्वाला दत्त की टीका, पृ० ४६।

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—विषय सूची।

३—मध्यकालीन धर्म साधना—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—पृ० १०

उन्होंने १३५० से लेकर १७२५ तथा उत्तर मध्यकाल का समय १७२५ से लेकर सम्वत् १९०० तक निश्चित किया है। आचार्य हजारी प्रसाद ने मध्यकाल का अर्थ पाश्चात्यों के अनुकरण पर किया है। उन्होंने लिखा है उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिमी विचारकों ने साधारणतः सन् ४७६ ई० से लेकर १५५३ ई० तक के काल को मध्ययुग कहा है।"

अब प्रश्न यह उठता है कि उपर्युक्त दोनों आचार्यों में से किसके अनुकरण पर मध्यकाल की सीमाएँ निश्चित की जाएँ। मैं इन दोनों के मतों से सहमत नहीं हूँ। मेरी अपनी धारणा है कि मध्यकाल शब्द का प्रयोग विशेष कर परिवर्तित भक्ति प्रधाना प्रवृत्तियों वाले युग के लिये किया जाना चाहिये। आचार्य हजारी प्रसाद जी भी कुछ अंश में इस दृष्टिकोण से सहमत प्रतीत होते हैं उन्होंने लिखा है कि-"असल बात यह है कि मध्य युग शब्द का प्रयोग काल के अर्थ में उतना नहीं होता जितना एक खास प्रकार की पतनोन्मुख और दबती हुई मनोवृत्ति के अर्थ में होता है। मध्ययुग का मनुष्य धीरे धीरे विशाल और असीम ज्ञान के प्रति जिज्ञासा का भाव छोड़ता जाता है तथा धार्मिक आचारों, स्वतः प्रमाण माने जाने वाले वाक्यों का अनुयायी होता जाता है। साधारणतः उन्हीं की बाल की खाल निकालने वाली व्याख्याओं पर अपनी समस्त बुद्धि सम्पत्ति खर्च कर देता है।" आचार्य जी का यह कथन योरपीय इतिहास के सम्बन्ध में अधिक लागू होता है। भारतीय साहित्य पर यह पूर्णतः लागू नहीं होता। भारतीय साहित्य में मध्यकाल शब्द का प्रयोग अधिकतर हमारी समझ में उसी काल के लिए होता है जिसमें धर्म साधनाओं का उदय विकास और ह्रास हुआ। इस दृष्टि से भक्ति युग जिसके अन्तर्गत निर्गुण ज्ञानाश्रयी धारा तथा सूफी प्रेमाश्रयी धारा, सगुण रामाश्रयी और कृष्णाश्रयी धाराएँ विशेष रूप से आती हैं। मैंने इस रचना में सर्वत्र मध्यकाल शब्द का प्रयोग भक्ति काल के ही अर्थ में किया है। यद्यपि यह अर्थ बहुत संकुचित है और कुछ अंशों में विवाद ग्रस्त भी हो सकता है, किन्तु मैंने उसे विशेष अर्थ में प्रयुक्त करके पारिभाषिक बना दिया है।

यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि जब हम भक्ति काल को मध्य युग मान लेंगे तो फिर, रीतिकाल को हम क्या अभिधान देंगे। हमारी समझ में रीति काल को मध्य युग न कह कर मध्योत्तर युग कहना अधिक समीचीन है। इसके कई कारण हैं। पहली बात तो यह है कि साहित्य के इतिहास को केवल प्राचीन, मध्य और आधुनिक युग के अभिधानों से विभाजित करना कोई आवश्यक नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि हिन्दी साहित्य के भिन्न-

भिन्न इतिहासकारों ने प्रवृत्ति साम्य के आधार पर हिन्दी साहित्य को भिन्न भिन्न युगों में विभाजित किया है। उनका नामकरण भी उन्होने अपने अपने ढंग पर किया है। भक्ति युग में और रीति युग में कोई प्रवृत्ति साम्य नही है इसलिए हम उन्हें दो भिन्न भिन्न युग मानेंगे। और उनको क्रमशः मध्य और मध्योत्तर युग के नाम देंगे। मध्य काल के लिए इसीलिए हमने कहीं कही भक्तिकाल या भक्ति युग का अभिधान भी दे दिया है। भक्ति युग या मध्य युग का उस दृष्टि से सीमा और विस्तार सम्वत १३५० से लेकर १७५० के आसपास तक माना जा सकता है।

प्रभाव की सम्भावनाएँ :—

वाह्य दृष्टि से देखने से सामान्य व्यक्ति को ऐसा लग सकता है कि हिन्दी साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव प्रदर्शित करना दुराग्रह मात्र है। जिस बौद्ध धर्म का मूलोच्छेदन आचार्य शंकर ने छठी–सातवी शताब्दी में ही कर डाला था, उस बौद्ध धर्म ने मध्यकालीन हिन्दी साहित्य को किस प्रकार प्रभावित किया होगा, यह बात सामान्य व्यक्ति की समझ मे सरलता से नही आ सकती। किन्तु सत्य यह है कि मध्यकालीन हिन्दी साहित्य बौद्ध धर्म से उतना ही अधिक प्रभावित है जितना कि वह वैष्णव धर्म से प्रभावित दिखाई पड़ता है। अन्तर केवल इतना है कि आज सामान्य जनता वैष्णव धर्म के तत्वों से परिचित है। अतएव वैष्णव धर्म के तत्वों को वह सरलता से पहचान लेती है। किन्तु बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में यह बात नही लागू होती। बौद्ध धर्म के तत्वों से आज की सामान्य जनता बिल्कुल परिचित नही हैं। अतएव उसके प्रभाव को भी वह कैसे समझ सकती है। एक बात और है, मध्यकालीन हिन्दी साहित्य को बौद्ध धर्म के तान्त्रिक रूप ने कुछ अधिक प्रभावित किया था, बौद्ध धर्म के वास्तविक रूप ने कम। वास्तविक रूप ने जो प्रभाव डाला भी था, वह बहुत कुछ अप्रत्यक्ष ही है। इस कारण से भी मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर पड़े हुये प्रभाव को पहिचानना कठिन हो जाता है।

छठी सातवी शताब्दी में भारतवर्ष में बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा थी। यह प्रतिष्ठा दसवी शताब्दी तक बनी रही। इसका प्रमाण यह है कि आठवी, नवी और दसवी शताब्दी में शासन करने वाले पालवंशीय राजा लोग सभी बौद्ध थे[1]। उन्होंने अपने राज धर्म को सब प्रकार से प्रचलित करने की चेष्टा की थी। इसके लिए उन्होंने बहुत से उद्योग भी किए थे। उनके

१—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन-पृ० १०५४

प्रयत्नों के फलस्वरूप बौद्ध धर्म को प्रगति प्राप्त हुई थी। इस प्रगति ने अबौद्ध जनता में भी बौद्ध धर्म के प्रति प्रतिष्ठा का भाव उत्पन्न कर दिया। इसीके फलस्वरूप जयदेव ने भगवान बुद्ध को विष्णु का अष्टम अवतार माना है।[1] अष्टम अवतार के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने के कारण भगवान बुद्ध की मान्यता वैष्णवों में भी बढ गई। वैष्णवों और बौद्धों में जो संघर्ष था वह समाप्त हो गया। एक दूसरे से मिल कर जीवित रहने की प्रवृति ने दोनों को मिला दिया।

बहुत से ऐतिहासिक और धार्मिक कारणों से वैष्णव धर्म का विकास होता गया और बौद्ध धर्म का ह्रास होता गया। इसका परिणाम यह हुआ कि वैष्णव धर्म ने बौद्ध धर्म को स्वायत्त करके आत्मसात करने की चेष्टा की। इसका प्रमाण यह है कि वैष्णवों के सबसे प्रसिद्ध तीर्थ जगन्नाथ जी की प्रतिष्ठा भगवान बुद्ध की मूर्ति के आधार पर ही की गई थी। इसके सम्बन्ध में कहते हैं[2] कि पहले जगन्नाथ जी के मन्दिर और मूर्ति के स्थान पर बौद्ध मूर्ति और मन्दिर थे। वैष्णवों के बढ़ते हुये प्रभाव से उनका वैष्णवीकरण हो गया और वे जगन्नाथ के रूप में पूजे जाने लगे। मूर्ति और मन्दिर के साथ साथ वैष्णव धर्म में बौद्धों के और बहुत से तत्वों को वैष्णव रूप अवश्य दे दिया होगा। सच बात तो यह है कि वैष्णवों का मूर्तिवाद, उनका अवतारवाद, उनकी भक्ति भावना, उनकी सदाचार प्रियता उनकी प्रपत्ति भावना, यह सब बौद्धों की मूल देन यदि न भी कहे जायें, तो उनसे पूर्णतः प्रभावित अवश्य माने जायेंगे। डा० हरदयाल[3] ने तो इन सब तत्वों को बौद्ध धर्म की ही देन माना है। यदि इसे हम अर्थवाद भी मानें तो भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वैष्णवों के बहुत से तत्व बौद्धों के अधिकांश तत्वों का परिवर्तित प्रतिरूप ही है। वैष्णव विचारधारा ने मध्यकालीन हिन्दी साहित्य को बहुत अधिक प्रभावित किया है। वैष्णव प्रभाव के माध्यम से ही उस पर बौद्ध प्रभाव भी पड़े हैं।

वैष्णव धर्म के साथ साथ शैव धर्म का भी विकास हुआ। बौद्ध धर्म का ह्रास होता गया। शैवों ने भी उसकी इस ह्रासावस्था का अनुचित लाभ उठाया और बहुत से बौद्ध सिद्धान्तों, मूर्तियों और मन्दिरों को शैव रूप प्रदान कर दिया। इसी के फलस्वरूप बहुत से बौद्ध मन्दिर शैव मन्दिरों में परिणत

१—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० १०५४

२—इण्डिया थ्रू दी एजेज—जदुनाथ सरकार—पृष्ठ ९

३—दी बोधिसत्व डाक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ३२-३३

हो गये। उदाहरण के लिए हम बनारस मे स्थित संघेश्वर महादेव को ले सकते हैं।[1] यह संघेश्वर महादेव किसी समय, जैसा कि नाम से ही पता चलता है, संघ में प्रतिष्ठित भगवान बुद्ध ही थे। इस प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। इससे स्पष्ट प्रकट होता हैं कि शैव धर्म ने भी बौद्धधर्म और उसके बहुत से तत्वों को आत्मसात कर लिया था। शैव धर्म के विरति और योग नामक तत्व तो बहुत कुछ बौद्धों की ही देन हैं। नाथपंथ के अधिकांश तत्व बौद्ध तत्व ही हैं। शैव धर्म और उसके नाथपंथ जैसे सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों ने हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य को कम प्रभावित नहीं किया है।

अभी हम ऊपर कह चुके हैं कि नाथ साम्प्रदाय में बहुत से बौद्ध तत्व समाविष्ठ हो गये थे। इस समावेश के दो एक कारण और भी थे। नेपाल में बौद्ध धर्म और शैव धर्म एक दूसरे के इतने अधिक निकट आ गये थे कि उनमें भेद स्थापित करना कठिन हो गया। इसका प्रमाण यह है कि बौद्धों के अवलोकितेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ के रूप में शैवों में प्रतिष्ठित हो गये। मत्स्येन्द्रनाथ को अवलोकितेश्वर का अवतार और कभी कभी तो अवलोकितेश्वर ही कहा जाता है[2]। इससे स्पष्ट प्रकट है कि मत्स्येन्द्रनाथ में शैव तत्वों की अपेक्षा बौद्ध तत्व अधिक वर्तमान थे। वास्तव में उनके व्यक्तित्व में बौद्ध तत्वों ने शैव रूप धारण कर लिया था। गोरखनाथ के सम्बन्ध में तो यह कहते ही हैं कि वह पहले बौद्ध थे और बाद में शैव हो गये।[3] यदि यह बात सही है तो गोरखनाथ भी अपने साथ बहुत से बौद्ध तत्व लाये होंगे। इसलिए हम नाथपंथ को बौद्ध धर्म का शैवीकृत रूप मानते हैं। इस नाथपंथ ने हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और हिन्दी की प्रेमाश्रयी सूफी काव्य धारा को बहुत अधिक प्रभावित किया था। इसके प्रभाव के माध्यम से हिन्दी की इन दोनों धाराओं मे बौद्ध धर्म के बहुत से तत्वों का समाविष्ठ हो जाना कोई आश्चर्य की घटना नही हैं।

आचार्य शंकर ने यद्यपि बौद्ध धर्म का मूलोच्छेदन करने का प्रयास किया था किन्तु बौद्ध दर्शन का इस सबसे अधिक प्रभाव हमें उन्हीं पर दिखाई पड़ता है। इसीलिए विद्वान लोग उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहने लगे हैं। हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य पर शंकर का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। शंकर के

१–इण्डिया थ्रू दी एजेज-पृ० ११
२–कौलज्ञान निर्णय—डा० बागची, पृ० १० भूमिका
३–गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज पृ० ११

माध्यम से निश्चय ही बौद्ध दर्शन के बहुत से तत्वों ने हिन्दी साहित्य के मध्य युग को अनुप्राणित किया होगा।

भक्ति द्राविण ऊपजी वाली लोक प्रसिद्ध उक्ति से स्पष्ट प्रकट होता है कि भक्ति का उदय दक्षिण में हुआ था। इस भक्ति का उदय अधिकतर शंकर के बाद हुआ था। क्योंकि भक्ति के प्रस्थापक आचार्य का उदय शंकर के मायावाद की प्रतिक्रिया के रूप में ही हुआ था। शंकर के प्रयत्न से जब उत्तर भारत में बौद्ध धर्म का मूलोच्छेदन कर दिया गया तब उसका अस्तित्व केवल दक्षिण भारत में ही रह गया था। दक्षिण से उत्पन्न होने वाले भक्ति आन्दोलन ने निश्चय ही दक्षिण में प्रचलित बौद्ध धर्म से बहुत से तत्व आत्मसात किये होंगे।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह पूर्णतया स्पष्ट है कि मध्यकालीन विचारधारा रूपी चित्र का निर्माण बौद्ध धर्म की भित्ति पर हुआ है।

बुद्ध वचन

विद्वानों की धारणा है कि भगवान बुद्ध के वचन त्रिपिटक ग्रन्थों में सुरक्षित हैं। विद्वानों ने यह भी निश्चित किया है कि त्रिपिटक के समस्त ग्रन्थों की प्रामाणिकता और रचना काल एक सी नहीं हैं। रायस डेविड्स ने अपनी बुद्धिस्ट इण्डिया [1] में कालानुक्रम से बुद्ध वचनों को दस भागों में विभाजित किया है। वे क्रमशः इस प्रकार हैं--

(१) वे बुद्ध वचन जो समान रूप में त्रिपिटक साहित्य में उपलब्ध होते हैं।
(२) वे कथानक जो सम्पूर्ण त्रिपिटक ग्रन्थ में समान रूप से पाये जाते है।
(३) शील पारायण, अट्ठक और पातिमोख।
(४) दीघ, मज्झिम, अंगुत्तर और संयुत।
(५) सुत्त निपात, थेर और थेरी गाथा, उदान और उद्दक पाठ।
(६) सुत्त विभङ्ग और खंदक।
(७) जातक और धम्म पद।
(८) निद्देस, इतिवुत्तक, और पटिसम्भिदा।
(९) पेत और विमान वत्थु, अपदान, चर्यापिटक और बुद्ध वंश।
(१०) अभिधम्म पिटक के ग्रंथ।

---

१ — बुद्धिस्ट इण्डिया, रायस डेविड्स, पृ० १८८।

रायस डेविड्स के मतानुसार त्रिपिटक साहित्य के रचनाकाल का प्रारम्भ बुद्ध निर्वाण काल से लेकर अशोक के समय तक है।

सामान्यतया त्रिपिटक साहित्य का विवरण इस प्रकार दिया जाता है :-

कहते हैं भगवान बुद्ध ने जो उपदेश दिये थे, उन उपदेशों का उनके शिष्यों ने जो संग्रह किया, वे ग्रन्थ ही पिटक ग्रन्थ कहलाए। यह पिटक तीन हैं।[१] विनय, सुत और अभिधम्म।

विनय पिटक[२] :—

इस ग्रन्थ में उन तमाम नियमों का संग्रह किया गया है जिसका पालन बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों के लिए भगवान बुद्ध आवश्यक समझते थे। इस विनय पिटक के भी तीन भाग हैं। जिनके नाम क्रमशः सुत्तविभंग, खंदक, और परिवार हैं। सुत्तविभंग के अन्तर्गत उन नियमों का उल्लेख किया गया है जिनका पालन बौद्ध भिक्षुओं के लिए प्रत्येक मास की कृष्णा चतुर्दशी और पूर्णिमा के लिए आवश्यक होता है। इन नियमों को पातिमोख भी कहते हैं। इन पातिमोख के भी दो भाग बताए जाते हैं। भिक्षुपातिमोख और भिक्षुणी पातिमोख। खंदक के भी दो भाग बताए जाते हैं। एक महावग्ग और दूसरा चुल्लवग्ग।

सुत्तपिटक[३] :—

इस पिटक मे बौद्ध धर्म की शिक्षाओं का उल्लेख मिलता है। भगवान बुद्ध के जीवन वृत और उनकी शिक्षाओं का सही सही ज्ञान हमें इसी ग्रंथ से हो सकता है। यह ग्रंथ पाँच निकायों मे विभक्त है।

दीर्घनिकाय :—

इसमें ३४ सुत्त संग्रहीत हैं। इसका ब्रह्मजाल सुत्त बहुत महत्वपूर्ण सुत्त है। इसके सामान्यफलसुत्त का भी एक दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। इस सुत्त में बुद्ध के सामयिक और पूर्ववर्ती प्रतिक्रियावादी नास्तिक आचार्यों का विवरण मिलता है। इसी निकाय का तेविज्जसुत्त भी उल्लेखनीय है। इस सुत्त में कुछ वैदिक ऋषियों का वर्णन मिलता है। २—मज्झिम निकाय—

१—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, डा० विण्टरनिट्स। भाग दो पृ० ३८४।

२— „ „ „ पृष्ठ ३८६

३—देखिए हिस्ट्री आफ दी इण्डियन लिट्रेचर, डा० विन्टरनिट्स भाग २; पृ० २७२

इस निकाय में १५२ सुत्त संग्रहीत हैं। इस निकाय में हमें आर्यसत्य, आत्मवाद खण्डन, ध्यान, धारणा, समाधि आदि से सम्बन्धित बहुत से ऋषियों का अच्छा उद्घाटन मिलता है। इस निकाय में कथोपकथन शैली का आश्रय लिया गया है। उपर्युक्त दो निकायों के अतिरिक्त सुत्तपिटक में संयुत्त-निकाय और अंगुत्तर निकाय और खुद्दक निकाय भी संग्रहीत हैं। इनमे खुद्दक निकाय अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है। इस निकाय में १५ ग्रन्थ संग्रहीत हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं :—

(१) खुद्दक पाठ, (२) धम्मपद, (३) उदान, (४) इतिवुत्तक, (५) सुत्तनिपात, (६) विमान वत्थु (७) प्रेत वत्थु, (८) थेरगाथा, (९) थेरीगाथा, (१०) जातक, (११) निद्देस, (१२) पटिसम्भिदामग्ग, (१३) अवदान, (१४) बुद्ध वंश, (१५) चरियापिटक।

इस प्रकार खुद्दक निकाय स्वयं एक वृहत् साहित्य है।

अभिधम्म पिटक[1] :—

इस पिटक में सत्य, सम्बोधि, विमोक्ष, सुख आदि से सम्बन्धित उपदेश संकलित हैं। इस पिटक में सात विभाग हैं। उनके नाम क्रमशः (१) धम्मसंगणि, (२) विभंग, (३) धातु कथा, (४) पुग्गल, (५) पंजति, (६) कथावत्थु, (७) यमक और सातवां पट्ठान।

इस प्रकार बुद्ध वचनों से संबद्ध एक विस्तृत साहित्य है। यह साहित्य त्रिपिटक के नाम से प्रसिद्ध है। अगले पृष्ठ पर दी जाने वाली तालिका इस विवरण को और स्पष्ट करती है।

बुद्ध धर्म का उदय विकास और विस्तार :—

बौद्ध धर्म के आदि प्रवर्तक भगवान बुद्ध माने जाते है। भगवान बुद्ध के उदय काल का अनुमान उनकी निर्वाण तिथि के आधार पर लगाया जाता है। उनकी निर्वाण तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों मे मतभेद है। महावंश और दीपवंश नामक प्राचीन पाली ग्रन्थों में भगवान बुद्ध के परवर्ती राजाओं और बौद्ध प्रचारकों को जो परम्पराएँ दी गई हैं उनके आधार पर कुछ विद्वानों ने भगवान बुद्ध का निर्वाण काल ५४३ ई० पू०[2] निश्चिय किया है। बोध गया के एक शिलालेख के आधार पर डा० राधाकृष्णन्[3] इनका निर्वाण काल

१—देखिए हिस्ट्री आफ दी इण्डियन लिट्रेचर डा०-विन्टरनिट्स पृ० २७२, २७०, २९०

२—देखिए गीतारहस्य भूमिका पृ० ५७२, सं० १९७४ संस्करण।

३—बुद्ध धर्म के २५०० साल शीर्षक रचना भूमिका लेखक डा० राधाकृष्णन् १९५६ की भूमिका पृ० १ देखिए।

रायस डेविड्स के मतानुसार त्रिपिटक साहित्य के रचनाकाल का प्रारम्भ बुद्ध निर्वाण काल से लेकर अशोक के समय तक है।

सामान्यतया त्रिपिटक साहित्य का विवरण इस प्रकार दिया जाता है :—

कहते हैं भगवान बुद्ध ने जो उपदेश दिये थे, उन उपदेशों का उनके शिष्यों ने जो संग्रह किया, वे ग्रन्थ ही पिटक ग्रन्थ कहलाए। यह पिटक तीन हैं।[1] विनय, सुत और अभिधम्म।

विनय पिटक[2] :—

इस ग्रन्थ में उन तमाम नियमों का संग्रह किया गया है जिसका पालन बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों के लिए भगवान बुद्ध आवश्यक समझते थे। इस विनय पिटक के भी तीन भाग हैं। जिनके नाम क्रमशः सुतविभंग, खंदक, और परिवार हैं। सुतविभंग के अन्तर्गत उन नियमों का उल्लेख किया गया है जिनका पालन बौद्ध भिक्षुओं के लिए प्रत्येक मास की कृष्णा चतुर्दशी और पूर्णिमा के लिए आवश्यक होता है। इन नियमों को पातिमोख भी कहते हैं। इन पातिमोख के भी दो भाग बताए जाते हैं। भिक्षुपातिमोख और भिक्षुणी पातिमोख। खंदक के भी दो भाग बताए जाते हैं। एक महावग्ग और दूसरा चुल्लवग्ग।

सुत्तपिटक[3] :—

इस पिटक में बौद्ध धर्म की शिक्षाओं का उल्लेख मिलता है। भगवान बुद्ध के जीवन वृत और उनकी शिक्षाओं का सही सही ज्ञान हमें इसी ग्रंथ से हो सकता है। यह ग्रंथ पांच निकायों में विभक्त है।

दीर्घनिकाय :—

इसमें ३४ सुत्त संग्रहीत हैं। इसका ब्रह्मजाल सुत्त बहुत महत्वपूर्ण सुत्त है। इसके सामान्यफलसुत्त का भी एक दृष्टि से बड़ा महत्व है। इस सुत्त में बुद्ध के सामयिक और पूर्ववर्ती प्रतिक्रियावादी नास्तिक आचार्यों का विवरण मिलता है। इसी निकाय का तेविज्जसुत्त भी उल्लेखनीय है। इस सुत्त में कुछ वैदिक ऋषियों का वर्णन मिलता है। २—मज्झिम निकाय—

१—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, डा० विन्टरनिट्स। भाग दो पृ० ३८४।

२— " " " पृष्ठ १८६

३—देखिए हिस्ट्री आफ दी इण्डियन लिट्रेचर, डा० विन्टरनिट्स भाग २: पृ० ९७२

इस निकाय में १५२ सुत्त संग्रहीत हैं। इस निकाय में हमें आर्यसत्य, आत्म-वाद खण्डन, ध्यान, धारणा, समाधि आदि से सम्बन्धित बहुत से अ्रुपियों का अच्छा उद्घाटन मिलता है। इस निकाय में कथोपकथन शैली का आश्रय लिया गया है। उपर्युक्त दो निकायों के अतिरिक्त सुत्तपिटक में सजुत्त-निकाय और अंगुत्तर निकाय और खुद्द निकाय भी संग्रहीत हैं। इनमें खुद्दक निकाय अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है। इस निकाय में १५ ग्रन्थ संग्रहीत हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं :—

(१) खुद्दक पाठ, (२) धम्मपद, (३) उदान, (४) इतिवुत्तक, (५) सुत्तनिपात, (६) विमान वत्थु (७) प्रेत वत्थु, (८) थेरगाथा, (९) थेरीगाथा, (१०) जातक, (११) निद्दस, (१२) पटिसम्भिदामग्ग, (१३) अवदान, (१४) बुद्ध वंश, (१५) चरियापिटक।

इस प्रकार खुद्दक निकाय स्वयं एक वृहत् साहित्य है।

अभिधम्म पिटक[१] :—

इस पिटक में सत्य, सम्बोधि, विमोक्ष, सुख आदि से सम्बन्धित उपदेश संकलित हैं। इस पिटक में सात विभाग हैं। उनके नाम क्रमशः (१) धम्मसंगणि, (२) विभंग, (३) धातु कथा, (४) पुग्गल, (५) पंजति, (६) कथावत्थु, (७) यमक और सातवां पठ्ठान।

इस प्रकार बुद्ध वचनों से संबद्ध एक विस्तृत साहित्य है। यह साहित्य त्रिपिटक के नाम से प्रसिद्ध है। अगले पृष्ठ पर दी जाने वाली तालिका इस विवरण को और स्पष्ट करती है।

बुद्ध धर्म का उदय विकास और विस्तार :—

बौद्ध धर्म के आदि प्रवर्तक भगवान बुद्ध माने जाते है। भगवान बुद्ध के उदय काल का अनुमान उनकी निर्वाण तिथि के आधार पर लगाया जाता है। उनकी निर्वाण तिथि के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। महावंश और दीपवंश नामक प्राचीन पाली ग्रन्थों में भगवान बुद्ध के परवर्ती राजाओं और बौद्ध प्रचारकों की जो परम्पराएँ दी गई हैं उनके आधार पर कुछ विद्वानों ने भगवान बुद्ध का निर्वाण काल ५४३ ई० पू०[२] निश्चिय किया है। बोध गया के एक शिलालेख के आधार पर डा० राधाकृष्णन्[३] इनका निर्वाण काल

१—देखिए हिस्ट्री आफ दी इण्डियन लिट्रेचर डा०-विन्टरनिट्स पृ० २७२, २७०, २९०

२—देखिए गीतारहस्य भूमिका पृ० ५७२, सं० १९७४ संस्करण।

३—बुद्ध धर्म के २५०० साल शीर्षक रचना भूमिका लेखक डा० राधाकृष्णन् १९५६ की भूमिका पृ० १ देखिए।

त्रिपिटक

1. १. सुत्तपिटक
   - १–दीघनिकाय
   - २–मज्झिम निकाय
   - ३–संयुत्त निकाय
   - ४–अंगुत्तर निकाय
   - ५–खुद्दक निकाय
     - (१) खुद्दक पाठ
     - (२) धम्मपद
     - (३) उदान
     - (४) इतिवुत्तक
     - (५) सुत्तनिपात
     - (६) विमान वत्थु
     - (७) पेतवत्थु
     - (८) थेर गाथा
     - (९) थेरी गाथा
     - (१०) जातक
     - (११) निद्देश
     - (१२) पटिसम्भिदा मग्ग
     - (१३) अवदान
     - (१४) बुद्ध वंस
     - (१५) चरिया पिटक
2. २. विनय पिटक
   - १–पाराजिक
   - २–पाचित्तिय
   - ३–महावग्ग
   - ४–चुल्लवग्ग
   - ५–परिवार
3. ३. अभिधम्मपिटक
   - १–धम्मसंगणि
   - २–विभङ्ग
   - ३–धातुकथा
   - ४–पुग्गल पंञति
   - ५–कथावत्थु
   - ६–यमक
   - ७–पट्ठान

५४४ बी० सी० मानते हैं। डा० मूलर और प्रो० मैक्समूलर[1] का मत इनसे भिन्न है। इन दोनों विद्वानों ने भगवान बुद्ध का निर्वाण काल ४७३ ई० पू० निश्चित किया है। प्रो० विट्स डे विड्स और डा० केर्न इनका निर्वाण काल ५७३ से लेकर ५४८ ई० पू० के बीच मे स्वीकार करते[2] है। डा० गायगर[3] ने बहुत तर्क वितर्क के बाद भगवान बुद्ध का निर्वाणकाल ४८३ ई० पू० निश्चित किया है। भगवान बुद्ध की आयु ८० वर्ष की मानी जाती है।[4] उपर्युक्त तिथियों में ८० वर्ष जोड़ देने से उनका उदय काल भिन्न-भिन्न विद्वानों के निर्णयों के अनुसार पता लग सकता है। अधिकांश विद्वान ५४४ ई० पू० को ही उनकी निर्वाण तिथि स्वीकार करते हैं। इसका प्रमाण यही है कि १९५६ मे सभी विद्वान एक मत होकर भगवान बुद्ध की २५ सौवीं जयन्ती अर्थात निर्वाण तिथि मानने के पक्ष में रहे है।[5] भारत में इस जयन्ती का बड़े समारोह के साथ आयोजन हुआ था। यदि हम ५४४ में ८० और जोड़ दे तो भगवान बुद्ध की जन्म तिथि ६२४ ई० पू० निश्चित होगी। मैं भी इसी तिथि को भगवान बुद्ध की उदय तिथि मानने के पक्ष मे हूं।

भगवान बुद्ध का जन्म कोशल जनपद की राजधानी कपिलवस्तु में शाक्यवंश मे हुआ था। इनके पिता का नाम शुद्धोधन और माता का नाम महामाया था। परम्परा के अनुसार इनका उदय सन् ६२४ ई० पू० वैशाखी पूर्णिमा को लुम्बनी नामक उद्यान मे हुआ था।[6] कहते हैं कि महामाया देवी इनको प्रसव करने के पाँच छ दिन के बाद ही स्वर्गगामिनी हो गई थीं। इनका लालन पालन इनकी विमाता महारानी प्रजावती ने किया था। इनका पहला नाम सिद्धार्थ था। इनका विवाह देवदह की राजकुमारी यशोधरा, जो गोपा के नाम से भी प्रसिद्ध थी, से यौवन के पदार्पण होने से पूर्व ही हो गया था। इनकी चित्तवृति स्वभावत: बचपन से ही वैराग्य की ओर थी। एक दिन इन्होने भ्रमण करते हुये वृद्ध पुरुष 'रोगी' शव और सन्यासी को देखा।

१—सैक्रेड बुक्स आफ दी इस्ट भा० १० की भूमिका देखिए।

२—इनके मतों का उल्लेख डा० गायगर द्वारा सम्पादित महावंश की भूमिका में देखिए।

३—वही भूमिका।

४—गीता रहस्य पृ० ५७२ भूमिका।

५—बौद्ध धर्म के २५ सौ वर्ष शीर्षक अंग्रेजी रचना की भूमिका।

६—देखिए बुद्ध धर्म के २५ सौ वर्ष शीर्षक अंग्रेजी रचना की भूमिका डा० राधाकृष्णन् लिखित।

इनको देख कर उनका हृदय बहुत द्रवीभूत हुआ और संसार की नश्वरता इनके हृदय के कण कण में हाहाकार करने लगी। उसने इन्हें २९ वर्ष की आयु[1] में इतना अधिक अभिभूत कर दिया कि एक दिन रात्रि को चुपचाप पुत्र पत्नी आदि सबका मोह बन्धन तोड़कर, संसार के राजसिक वैभव पर लात मार कर शान्ति की खोज में निकल पड़े। यह घटना महाभिनिष्क्रमण के नाम से प्रसिद्ध है। महाभिनिष्क्रमण के पश्चात बहुत दिनो तक यह गुरु की खोज में इधर उधर भटकते रहे। कुछ दिनों बाद इन्होंने आराणकलाम नामक गुरु से दीक्षा लेली। उनकी आज्ञानुसार छ साल तक कठिन तपस्या की किन्तु इस कठोर तपस्या से इन्हें सम्बोधि नही प्राप्त हुई। उन्होने उस मार्ग को त्याग कर अपनी स्वतन्त्र साधना प्रारम्भ की। इस साधना के फल-स्वरूप उन्होंने उरुवेला नामक[3] स्थान में चार आर्यसत्यों का साक्षत्कार किया। इन चार आर्यसत्यों के साक्षात्कार होने से उन्हें सम्बोधि प्राप्त हो गई और बुद्ध कहलाए। भारतीय धर्मों के इतिहास की यह महत्वपूर्ण घटना ४७१ विक्रमी पूर्व वैसाखी पूर्णिमा को घटी[4] थी। उस समय इनकी आयु केवल ३५ वर्ष की थी।[5]

इसी वर्ष में आषाढी पूर्णिमा के दिन काशी के पास इसिपत्तन जो आजकल सारनाथ के नाम से प्रसिद्ध है नामक स्थान मे उन्होंने कोण्डिन्य आदि पंचवर्गीय भिक्षुओं के सामने अपने धर्म का प्रथम उपदेश किया था। यह घटना धर्मचक्र प्रवर्तन के नाम से प्रसिद्ध है[6]। उनके पहले उपदेश का सारभूत अंश इस प्रकार है-भिक्षुओं की दो प्रकार की चरम सीमाएं या अतियां हैं, प्रव्रजितो को उनका सेवन नही करना चाहिये। पहली अति हीन पथभ्रांत लोगों के योग्य अनार्य सेवित अनर्थयुक्त कामवासनाओ मे लिप्त होना है। दूसरी अति दुखःमय अनार्यसेवित अनर्थ से युक्त कायक्लेश में लगना। एक कायसुख की अति है और दूसरी कृच्छ की। इन दोनों ही अतियों के चक्कर मे न पड़ कर मध्यमा प्रतिपदा को ग्रहण करना चाहिये।[7] इन मध्यमा प्रतिपदा को उन्होंने

१—बौद्ध दर्शन पृ० ४ और ५
२—बौद्ध दर्शन पृ० ४ और ५
३—वही
४—वही
५—वही
६—बौद्ध दर्शन मीमांसा प्रो० बल्देव उपाध्याय पृ० ५
७—देखिये साप्ताहिक हिन्दुस्तान वर्ष ६ के अंक ३६ में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखित भगवान बुद्ध का धर्म चक्र प्रवर्तन, लेख।

अपने वचनों में अनेक प्रकार से समझाने की चेष्टा की है। [यहाँ पर इतना ही कहना अभिप्रेत है कि भगवान बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार ४७१ विक्रमी पूर्व आषाढ़ी पूर्णिमा से इसिपतन नामक स्थान से प्रारम्भ किया था[1] इसके पश्चात वे बराबर अनेक प्रकार से अपने धर्म का प्रचार करते रहे।

बौद्ध धर्म का प्रारम्भिक प्रचार क्षेत्र अधिकतर भारत का पूर्वी भाग और मध्यदेश था। इन स्थानों में सम्भवतः ब्राह्मण धर्म उतना अधिक बलवान नहीं था जितनी कि उसकी प्रभुता उत्तर और पश्चिम में थी। पाली ग्रन्थों में मज्झिम्म देश की सीमाओं का निर्देश करते हुए लिखा है कि इसकी पूर्वी सीमा भागलपुर से लगभग ४०० मील पूर्व में स्थित काजंगल नामक स्थान था। दक्षिण पूर्व में इसकी सीमा सारवती या सालवती नदी निर्धारित करती थी। दक्षिण में शतकन्निका इसकी अन्तिम सीमा थी। पश्चिम में इसका विस्तार थूण जिसे डा० मजूमदार थानेश्वर मानते हैं तक था। उत्तर में इसकी सीमा उशीरध्वज पर्वत तक निश्चित की गई। यह उशीरध्वज पर्वत हरद्वार के पास है।[2]

भगवान बुद्ध ने जिन जिन स्थानों में जाकर अपने धर्म का प्रचार किया था। उनका उल्लेख हमें प्राचीन बौद्ध धर्म ग्रन्थों में मिलता है। निकाय[3] ग्रन्थों के आधार पर विद्वानों ने यह निश्चित किया है कि भगवान बुद्ध ने उत्तर में कामस्स धाम थुलक कोठिता जो कि कुरु प्रदेश में है तक, जाकर अपने धर्म का प्रचार किया था। महापरिनिब्बानसुत्त में भी हमे कुछ उन स्थलों का संकेत मिलता है जहां जाकर बुद्ध भगवान ने अपने विचारों का प्रचार किया था। उनके शिष्य आनन्द ने इससुत में चम्पा, राजग्रह,-सवार्थी साकेत, कोशांबी और बनारस में से किसी स्थान में जाकर महापारिनिब्बान प्राप्त करने का आग्रह किया था। इसी सुत्त[4] में हमें एक स्थल पर राज्यों का भी वर्णन मिलता हैं जिन्होंने भगवान बुद्ध के भग्नावशेषों की पूजार्थ याचना की थी। इन राज्यों के नाम वैशाली के लिच्छिव, कपिलवस्तु के शाक्य, अलकप्पा के बूलिस, रामगाँव के कोइला, वेथदीप के ब्राह्मण, पावा के मल्ल,

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा-प्रो० बल्देव उपाध्याय पृ० ५

२—ज्योग्राफी आफ अर्ली बुद्धिज्म-बी० सी० ला पृ० २
तथा लाइफ आफ बुद्ध-थामस पृ० १३

३—देखिए अर्ली मोनास्टिक बुद्धिस्म-नलिनाक्षदत्त १९४१ संस्करण पृ० ३

४—महापरिनिब्बान सुत्त पृ० १४६

५—महापरिनिब्बान सुत्त पृ० १६७

कुशीनार के मल्ल, और पिप्पलीवन के मौर्य हैं। इस प्रकार बौद्ध धर्म प्रारंभ उदय की पहली शताब्दी में उत्तर में श्रावस्ती, पूर्व में चम्पा, पश्चिम में कोशांबी तक ही फैल सका था। इसकी ख्याति अवश्य सम्पूर्ण उत्तर और पश्चिम प्रदेशों में फैल गई थी।[1]

भगवान बुद्ध के प्रमुख शिष्य दस थे। उनको उन्होंने पृथक पृथक साधुवर्गों का मुखिया नियुक्त कर दिया। उनके नाम क्रमश: इस प्रकार हैं:--

१-शारिपुत्र-यह बुद्धिमानों के मुखिया थे।

२-अनिरुद्ध-यह दैवी दृष्टि सम्पन्न संतों के मुखिया थे।

३-महाकश्यप--यह धुतमतावलंबी संतों के मुखिया थे।

४-पुन्नमन्तानिपुत्त-- यह धर्मोपदेशक साधुओं के मुखिया थे।

५-महाकच्चायन-यह बुद्ध वचनों की व्याख्या करने वाले भिक्षुओं के मुखिया थे।

६--राहुल--यह विद्यार्थी भिक्षुओं के मुखिया थे।

७—पुन्नमन्तानिपुत्त--यह वनवासी भिक्षुओं के नेता थे

८—आनन्द-यह विद्वान भिक्षुओं के नेता थे।

९—उपल-यह विनय प्रधान भिक्षुओं के नेता थे।

१०—महामोग्गलायन--यह चमत्कारवादी भिक्षुओं के नेता थे।

इनके अतिरिक्त अंगुत्तर निकाय के अनुसार निम्नलिखित शिष्याएँ भी प्रसिद्ध थी। :—'भिक्षुणी श्राविकाओं में महाप्रज्ञाओं में खेमा, विनयधरों में पटाचारा, आरब्ध वीर्यों में सोणा, रुक्ष चीवर धारिणियों में कृशा गौतमी, ऋद्धिमतियों में उत्पलवर्णा, श्रद्धायुक्तों में शृगाल माता। उपासक श्रावकों में, प्रथम शरण आने वालों में तपस्सु और मल्लिक वणिक् अग्र थे, दायकों में अनाथपिण्डिक, मत के सेवकों में उद्गत, और उपासिका श्राविकाओं में प्रथम शरण में आनेवालियों में सेनानी दुहिता सुजाता अग्र थी, दायिकाओं में विशाखा मृगार माता, बहुश्रुतों में खुज्जुत्तरा, मैत्री विहार प्राप्तों में सामावती ध्यानियों में उत्तरा नन्दमाता, प्रणीत दायिकाओं में सुप्रवासा कोलिय दुहिता, रोगी शुश्रूषिकाओं में सुप्रिया उपासिका, और अतीव प्रसन्नों में कात्यायनी मुख्य थी।[2]

१—अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म पृ० ५

२—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन—भरतसिंह उपाध्याय पृष्ठ २८०।

उपर्युक्त जिन दश थेरों की चर्चा की गई है, संजुत्त निकाय[1] में उनके भी अनेक शिष्य प्रशिष्य गिनाए गए हैं।

भगवान बुद्ध के शिष्य प्रशिष्यों को विद्वानों ने चार भागों में बांटा है।

१—भिक्षु
२—भिक्षुणी
३—गृहस्थ उपासक
४—गृहस्थ उपासिकाएँ

इनमें से बहुतों के जीवन वृत्त का पता हमें त्रिपिटक ग्रन्थों से चलता है। स्थानाभाव के कारण यहाँ पर उनकी चर्चा नहीं कर रहे हैं।

बुद्ध धर्म के प्रचार में राजाओं का योग :—

भगवान बुद्ध का उदय जिस समय हुआ था उस समय भारतवर्ष में एक छत्र राज्य का अभाव था। वह बहुत से स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त था। इनमें मगध, कौशल, वत्स, और अवन्ती अधिक शक्तिशाली थे। उस समय के धर्म प्रचारक अपने धर्म के लिए इन राजाओं का आश्रय खोजा करते थे। भगवान बुद्ध भी अपने धर्म के प्रचार में राजाओं का योग चाहते थे। इस बात का पता हमें विनय महावग्ग[3] के मल्लराजा के बौद्ध धर्म के परिवर्तन की कथा से लगता है। भगवान बुद्ध के सबोधि प्राप्त कर लेने पर उनका हृदय से अभिनन्दन करने वाला सर्व प्रथम सम्राट बिम्बसार था[4]। उसके सहयोग से इन्हें मगध में अच्छी प्रतिष्ठा मिली।[5] और इनका धर्म सर्वसामान्य[6] के द्वारा स्वीकार कर लिया गया। बुद्ध धर्म के विकास और उदय, म उसने अच्छा योग दिया गया। बिम्बसार के बाद कोशल का पसेनादि राजा बौद्ध धर्म के अभिभावकों में विशेष उल्लेखनीय है। उसने आनन्द[7] को, जो भगवान बुद्ध का प्रिय शिष्य था, अच्छा दान दिया था। उसे भगवान बुद्ध का समकालीन, समजातीय और समीपवर्ती राज्य का अधिपति होने का बड़ा गर्व

१—अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म--एन० दत्त०, पृ० १२७।
२—अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म, दत्त
३—विनय महावग्ग, ६।३६। १,४।
४—महावस्तु ३ पृ० ४१९।
५—विनयपिटक, १।४२।१ तथा १।४०।४
६—विनयपिटक, १।४०।४
७—मज्झिम निकाय २, पृ० ११६।

था।[1] इससे उसकी बौद्ध धर्म के प्रति निष्ठा प्रकट होती है। निकायों से यह भी[2] पता लगता है कि वह भगवान बुद्ध का सच्चा शिष्य हो गया था और बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। भगवान बुद्ध के प्रमुख शिष्य श्री महाकच्चायन के प्रयत्न से अवन्तिराज प्रद्योत भी बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये थे[3]। संयुत्तनिकाय के प्रमाण से यह प्रकट होता है कि कौशाम्बी के राजा उदयन ने भी इस नए धर्म को स्वीकार कर लिया था।[4] निश्चय ही इन राजाओं ने भी बुद्ध धर्म के प्रचार में योग दिया होगा। इसके अतिरिक्त शाक्य लिच्छिवी और मल्ल जातियों के बड़े बड़े सामन्त लोग भी भगवान बुद्ध के अनुयायी हो गए थे[5]। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से छोटे मोटे राजाओं और सामन्तों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार करके उसके प्रचार में पूरा पूरा योग दिया था।[6] ये तो हुई भगवान बुद्ध के समय के राज्याश्रय की बात। अब उनके निर्वाणोत्तर कालीन राज्याश्रयों के योगदान का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है।

भगवान बुद्ध के निर्वाण के पश्चात भी बुद्ध धर्म को बराबर राज्याश्रय मिलता रहा। निर्वाणोत्तरकालीन आश्रयदाताओं में महाराज अशोक का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा है। अशोक पहले सम्राट थे जिन्होंने बौद्ध धर्म को विश्वधर्म में परिणत करने का प्रयास किया था। इसके लिए उसने सीरिया के सम्राट एण्टीयोकस द्वितीय तथा ईजिप्ट के तुर्मई मैसीडोनिया के एन्टीगोनस और ग्रीक मे एलेक्जेन्डर, उत्तरी अफ्रीका में मैगस नामक राजाओं के पास धर्म प्रचारक भेजे थे। इस बात का पता हमे तेरहवें शिलालेख लगता है[7]। उसने लंका में भी अपने धर्म प्रचारक भेजे थे।

अशोक के बाद बौद्ध धर्म के प्रचारक सम्राटों में कनिष्क[8] का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसने मध्य एशिया, चीन, जापान, तिब्बत, बर्मा,

१—मज्झिम निकाय २, पृ० ११४।
२—देखिए दिव्यावदान, पृ० ,४५।
३—देखिए लाइफ आफ दी बुद्ध-रॉकहिल पृ० ७४।
४—साम्स आफ ब्रदरेन पृ० १३८।
५—अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म डा० दत्त, पृ० ११३ और ११४ देखिए तथा इसी लेखक की अर्ली हिस्ट्री आफ दी स्प्रेड आफ बुद्धिज्म एण्ड दी बुद्धिस्ट स्कूल्स भी देखिए।
६—अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म, डा० दत्त, पृ० ११४।
७—देखिए ट्वेन्टी फाइव हन्ड्रेड ईयर्स आफ बुद्धिज्म पृ० ६१।
८— " " " "

थाइलैन्ड, कम्बोडिया आदि विविध देशों में बौद्धधर्म के प्रचारक भेजे थे। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप बौद्ध धर्म विश्व धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। इनके पश्चात् भी गुप्त सम्राटों के समय में भी बौद्ध धर्म को राजकीय सहायता प्राप्त होती रही। यद्यपि गुप्त सम्राट स्वयं बौद्ध नहीं थे।[1] किन्तु बुद्ध धर्म के प्रति उनकी अच्छी सद्भावना थी।

बौद्धधर्म के विकास में संगीतियों का महत्व—

बौद्ध साहित्य से हमें पता चलता है कि भगवान बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् समय समय पर बुद्ध धर्म को दृढ़ और व्यवस्थित करने के लिए संगीतियों को योजना की गई थी। भारत में इस प्रकार की आठ संगीतियों की चर्चा मिलती है। उनमें चार का विशेष महत्व बताया जाता है। इनके अतिरिक्त बहुत सी संगीतियों की योजना अन्य देशों में भी की गई थी जिससे पहली संगीति भगवान बुद्ध के निर्वाण के कुछ ही दिन पश्चात् हुई थी। इसकी योजना मगध राज्य की राजधानी राजग्रह में की गई थी। पहली संगीति के बाद महासंघिकों ने वैशाली में एक सहायक संगीति की योजना की। तीसरीं संगीति की योजना अशोक के समय में आयोजित की गई थी। कुछ लोग अशोक कालीन संगीति को दूसरी और कनिष्क कालीन संगीति को तीसरी कहते हैं। वह वसुमित्र की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई थी। महाकवि अश्वघोष उसके उपाध्यक्ष थे।[2] इनके अतिरिक्त दो संगीतियों की चर्चा और मिलती है। तीन संगीतियों की योजना सिंहल देश में की गई थी। इन संगीतियो के उद्देश्य परिणामादि पर मिनेस[3], ओल्डेनवर्ग[4], राखिल[5], बील[6] सूझको[7] कोसीन[8] आदि विद्वानों ने विवध प्रकार से अपने मत प्रकट किए। यहां पर विस्तार भय से हम उनके मतों की समीक्षा नही करना चाहते। केवल संगीतियों की संक्षिप्त चर्चा मात्र करेंगे।

१-बौद्ध दर्शन मीमांसा—वल्देव उपाध्याय
२-अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म पृ० ३२४
३-रिसर्चेज सर ले बुद्धिज्म रशियन का फ्रांसिसी अनुवाद देखा जा सकता है।
४-इन्ट्रोडक्शन टु विनय पिटक पृ० ४५ से ४९ तक
५-इनके मत की चर्चा अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म पृ० २५ पर की गई है।
६-इनका मत भी उसी ग्रन्थ में देखा जा सकता है।
७-इनका भी मत उसी ग्रन्थ में देखिये।
८-इण्डियन एन्टीक्वेरी १९०८

प्रथम संगीति[1]—

इस संगीति में सुत्तपिटक और विनयपिटक का पाठ शुद्ध किया गया था।

इसकी योजना भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के कुछ ही दिन बाद राजगढ में की गई थी। इस संगीति के अध्यक्ष महाकस्यप चुने गये थे। उपाली और आनन्द ने भी इस सभा में महत्वपूर्ण भाग लिया था। इस संगीति की योजना के प्रमुख लक्ष्य चार थे। १- धम्म और विनय के पाठों को निश्चित करना। २- आनन्द के अभियोग पर विचार करना और छंद के लिए दण्ड निश्चित करना। इस संगीति में यह तीनों लक्ष्य सफलतापूर्वक पूर्ण किए गये। ३-बौद्ध धर्म के प्रचार प्रसार और स्वरूप निर्धारण में इस संगीति का विशेष महत्व माना जाता है।[2]

द्वितीय संगीति —

द्वितीय संगीति की योजना भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग सौ वर्ष बाद की गई थी। चुल्ल वग्ग के अनुसार बज्जि देश के भिक्षु विनय के कठोर नियमों के अक्षरश: पालन में विश्वास नही करते थे। उन्होने दसवस्थुनी नाम के दस ऐसे नियम निकाले थे जो विनय के नियमों के अनुकूल नहीं थे। उस समय के प्रकाण्ड पण्डित और विनय के आचार्य यश ने इन भिक्षुओं पर धर्मोलंघन का दोषारोपण किया। इनके विरोध की शान्ति के लिए वैशाली में ३२९ ई० पूर्व में यह संगीति की गई थी। इस संगीति में वाज्जं देश के भिक्षु दोषी ठहराए गये। इसका परिणाम यह हुआ कि वज्जि देश के भिक्षुओं में मूल बौद्धधर्म के प्रति घोर प्रतिक्रिया की भावना जाग्रत हो गई। इस प्रतिक्रिया की भावना को मूर्तरूप में परिणत करने के लिए उन्होंने कौशाम्बी में एक अपनी अलग विराट संगीति की। इस संगीति में लगभग दस हजार भिक्षुओं ने भाग लिया था। इतने बड़े महासंघ की योजना इसमे पूर्व नही हुई थी। इसी आधार पर इस महासंघ में भाग लेने वाले प्रगतिवादी भिक्षुओं को महासंघिक कहा जाने लगा। रूढ़िवादी विचारधारा के बौद्ध इनके विरोध में स्थविरवादी कहे जाने लगे। इस द्वितीय सभा का महत्व बौद्धधर्म के

१-इसका विस्तृत और अनुसंधान पूर्ण विवरण देखिये--अर्लीमोनास्टिक बुद्धिज्म २० वां अध्याय।

२-टूवन्टी फाइव हंड्रेड इयर्स आफ बुद्धिज्म,-प्रो० बापट द्वारा सम्पादित, पृ० ३६ से ४० तक।

प्रचार में पहली संगीति की अपेक्षा भी अधिक है। 'बौद्धधर्म' में प्रगतिवादी विचारधारा को जन्म देने का श्रेय इसी को है। इन प्रगतिवादी विचारों के समावेश के फलस्वरूप बौद्धधर्म की दिनदूनी रातचौगुनी उन्नति हुई। आगे चलकर उसकी अनेक शाखाएँ प्रशाखाएँ प्रस्फुटित हुई जिसने सारे विश्व को अपनी वरद छाया के सुख और शान्ति से अनुग्रहीत किया।

तृतीय संगीति :—

इस संगीति को योजना प्रियदर्शी अशोक के प्रयत्नों से उसके शासन काल में पाटलिपुत्र नगर में की गई थी। इस संगीति के आयोजन का प्रमुख लक्ष्य बौद्ध धर्म की नवोद्‌भूत विविध शाखाओं प्रशाखाओं में सामञ्जस्य स्थापित करना था। इस संगीत में अभिधम्म की रूपरेखा निश्चित की गई थी। इस दृष्टि से इसका महत्व बहुत अधिक है। इसका महत्व एक दृष्टि से और भी अधिक माना जाता है। इस संगीति के पश्चात् सम्राट अशोक ने सारे विश्व में धर्मप्रचारक भेज कर बुद्ध धर्म को विश्वधर्म बनाने का सफल प्रयास किया था।[२]

चतुर्थ संगीति :—

इस संगीति का आयोजन महाराज कनिष्क के समय में किया गया था। यह संगीति काश्मीर की राजधानी के पास कुण्डलवन बिहार में की गई थी। कुछ लोगों के मतानुसार इसका योजना स्थल जालन्धर नगर माना जाता है। इस संगीति के अध्यक्ष वसुमित्र और उपाध्यक्ष महाकवि अश्वघोष थे। इस संगीति में अधिकतर सर्वास्तिवादी भिक्षुओं ने ही भाग लिया था। इस संगीति में त्रिपिटकों पर महाविभाषा नामक विस्तृत व्याख्या लिखी गई थी। इस संगीति का समय पहली शताब्दी ई० माना जाता है। बौद्ध धर्म को व्यवस्थित करके प्रचारित करने के लक्ष्य से भारत वर्ष में आयोजित इन संगीतियों के अतिरिक्त कुछ संगीतियों की योजना विदेशों में भी की गई थी।

१—ट्वन्टी फाइव हण्डरेड इयर्स आफ बुद्धिज्म, प्रो० बापत्य द्वारा सम्पादित।

पृ० ४१ से ४४ तक। ४४ से ४७ तक।

२-वही पृ० ४७ से ५० तक।

लंका में आयोजित संगीतियां :—

महावंश और अन्य सिंहलीय परम्पराओं के अनुसार सिंहल देश में तीन बौद्ध सभाएँ की गई थीं। पहली की योजना २४७ से २०७ ई० में अरिष्य थेर की अध्यक्षता मे की गई थी[1]। ये अरिष्य थेर महाराज अशोक के पुत्र महिंद के पहले शिष्य थे। इस संगीति की योजना से बौद्धधर्म का सिंहल देश मे अच्छा प्रचार हुआ। सिंहल में द्वितीय संगीति की योजना महाराज अभय के समय में जो पहली शताब्दी ई० पूर्व में माना जाता है की गई थी[2]। इस संगीति में सिंहलीय बौद्ध ग्रंथों का रूप निर्धारण किया गया था। तीसरी सिंहलीय संगीति की योजना १८३५ ई० मे सिंहल में रत्नपुरा नामक स्थान में सम्पन्न हुई थी।

सिंहल के अतिरिक्त स्याम, बर्मा आदि अन्य देशों में भी बौद्ध संगीतियों की योजना की गई थी। यहाँ पर विस्तार भय से उन सब की चर्चा नही की जा रही। साथ में ही उनके विवेचन की कोई विशेष आवश्यकता भी नहीं दिखाई पड़ती।

संगीतियों के फल और परिणाम :—

उपर्युक्त विविध संगीतियों की योजना से बौद्ध धर्म का बहुत बड़ा हित हुआ। देश के कोने कोने मे उसका प्रचार और प्रसार हो गया। उसकी अनेक शाखाएँ प्रशाखाएँ प्रस्फुटित हुईं। जिनमें से सुदृढ़, सुव्यवस्थित और लोकप्रिय शाखाएँ ही जीवित रह सकीं। बौद्ध धर्म के सिद्धान्त सुस्पष्ट हो गए, देश की सम्पूर्ण संस्कृति और विचारधारा बौद्ध संस्कृति और विचारधारा से अभिभूत हो गई। इन संगीतियों का एक परिणाम अच्छा नहीं हुआ। इन संगीतियों मे बहुत से भिक्षुक किसी न किसी दोष के कारण संघ से निर्वासित किये जाते थे, ये भिक्षु प्रतिक्रिया की भावना लेकर उस संघ से अलग होते थे और अपने छोटे छोटे स्वतन्त्र सम्प्रदायों को जन्म देते थे। कभी कभी वे किसी अन्य भारतीय अथवा वैदिक सम्प्रदायों से सामञ्जस्य भी स्थापित कर लेते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि मध्य युग में आते आते अपनी अपनी डफली अपना अपना राग वाली कहावत चरितार्थ हो उठी। सैकड़ों साधु पंथ और दर्शन सम्प्रदाय उठ पड़े हुए।

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० ४३ से ५१ तक।

२—वही

बौद्ध धर्म और दर्शन की शाखा प्रशाखाओं का उदय व विकास :—

ऊपर संगीतियों की चर्चा में हम संकेत कर चुके हैं कि भगवान बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् कुछ ही दिनों बाद से संघ में भेद होना प्रारम्भ हो गया जिसके फलस्वरूप अशोक के समय १८ निकायों का उदय हो गया। द्वितीय संगीति में महासांघिक और स्थविर के जो भेद हुए थे उन्हीं से आगे चल कर बहुत से उपसम्प्रदाय निकले। 'कथावत्थु'[1] की अट्ठ कथा के अनुसार महासांघिक के सात उपसम्प्रदाय थे और स्थविरवादियों के ग्यारह उपसम्प्रदाय थे। चीनी भाषा के अष्टादश निकाय[2] नामक ग्रन्थ के अनुसार महासांघिक पाँच उपसम्प्रदायों में विभक्त थे और स्थविरवादी ग्यारह उपसम्प्रदायों में। इन उपसम्प्रदायों को हम आचार्य बलदेव उपाध्याय[3] के अनुसरण पर चार्ट द्वारा इस प्रकार दिखला सकते है :—
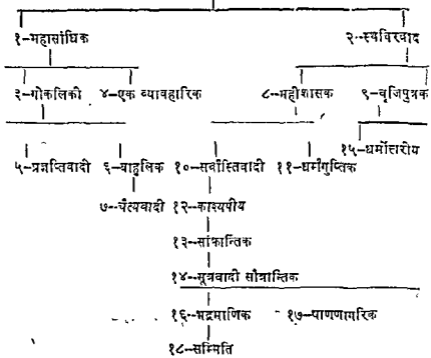
१—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ११३, और भी देखिए बौद्ध दर्शन आचार्य नरेन्द्रदेव प० ३५
२—बौद्ध दर्शन मीमांसा बलदेव उपाध्याय पृ० ११४
३—वही पृ० ११५
४—वही अष्टम् परिच्छेद देखिए।

चीनी भाषा में अनुवादित भदन्त वसुमित्र-प्रणीत 'अष्टादशनिकाय' ग्रंथ के अनुसार यह अठारह शाखा भेद इस प्रकार है :—[1]

बुद्ध धर्म

१—स्थविरवादी
१३—महासंघिक

२ हैमवत
३ वात्सीपुत्रीय
४—धर्मोत्तरीय
५—भद्रयाणीय
६—सम्मितीय,
७—षाण्णागरिक
८—सर्वास्तिवादी
१४ शि०चि०लुन
प्रज्ञप्तिवादी
१५ चैतीय

९—महीशाखा
१०—धर्मगुप्त
११—काश्यपीय
१२—सौत्रान्तिक

१६ लोकोत्तरवादी
१७ एक व्यावहारिक
१८ गोकुलिक
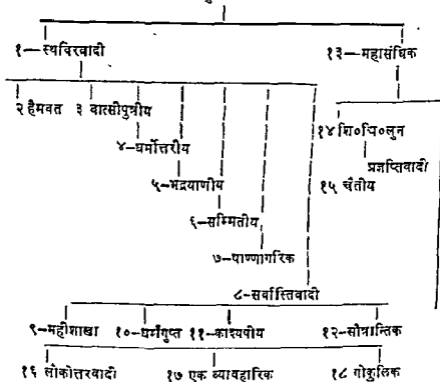
चीनी यात्री इत्सिंग[2] ने भी अठारह निकायों की चर्चा की थी। यह भारत में ६९२ ई० मे आया था। इसने लिखा है कि अठारह निकाय चार प्रधान निकायों में विभक्त थे। उनके नाम क्रमशः आर्य महासांघिक, आर्य स्थविर, आर्यमूलसर्वास्तिवादिन, और आर्य सम्मितीय। इनमें उसने महासांघिक के सात, स्थविर के तीन, मूलसर्वास्तिवादियो के चार, तथा आर्य सम्मितियो के भी चार उपसम्प्रदाय बताए हैं। प्रमुख सम्प्रदायों की चर्चा यहां की जा रही है।

प्रमुख निकायों के मत और सिद्धान्त

महासांघिक:—

रूढ़िवादी बौद्धों की प्रतिक्रिया के रूप मे उदय होने वाला सबसे पहला प्रगतिवादी सम्प्रदाय यही था। वैशाली की द्वितीय संगीति में ही इन लोगो ने अपना पार्थक्य कर दिया था[3]। महासंघिकों के सिद्धान्त और

---

१ – देखिए बौद्ध दर्शन मीमांसा बल्देव उपाध्याय पृ० ११५
२—देखिए बौद्धधर्म दर्शन-आचार्य नरेन्द्र देव पृ० ३६
३–देखिये टूवेन्टी फाइव हंड्रेड इयर्स आफ बुद्धिज्म नामक रचना प०१०४

मान्यताएँ स्थविरवादियों से थोड़ा भिन्न थीं। इन लोगों ने सबसे पहले भगवान बुद्ध के व्यक्तित्व में लोकोत्तरता की स्थापना की थी[1]। वे भगवान बुद्ध को मानव न मान करके लोकोत्तर व्यक्ति मानते थे। इनके मतानुसार उनका विग्रह धर्म रचित था। वे अपनी इच्छानुसार भौतिक शरीर धारण कर सकते थे। उनका बल अपरिमित था। उनकी आयु असीम थी। इनके मतानुसार उनकी सम्पूर्ण शिक्षा परमार्थ सत्य के विषय में ही थी, व्यावहारिक सत्य से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। परमार्थ सत्य वर्णनातीत है। वह शब्दों में नहीं बांधा जा सकता। उनकी धारणा थी कि त्रिपिटिकों में संकलित शिक्षा केवल व्यावहारिक सत्य से ही सम्बन्धित है पारिमार्थिक सत्य से नहीं। उन लोगों के मतानुसार भगवान् बुद्ध दस प्रकार के बलों से समन्वित हैं। वे बल क्रमशः इस प्रकार हैं।

(१) उन्हें उचित और अनुचित स्थानों का ज्ञान रहता है।
(२) वे सर्वत्र गामिनी प्रतिपदा मार्ग के ज्ञाता हैं।
(३) वे नाना धातु वाले लोकों के रहस्य को समझने वाले हैं।
(४) वे मुक्ति के सम्पूर्ण रहस्य को जानते हैं।
(५) वे उन लोगों के रहस्य को भी जानते हैं, जो दूसरों के आचरणों को जानने में कुशल हैं।
(६) वे कर्मों के शुभाशुभ के भी ज्ञाता है।
(७) वे क्लेश के व्यवदान और ध्यान समापत्ति के भी ज्ञाता हैं।
(८) वे पूर्व निवास के भी जानने वाले हैं।
(९) वे परिशुद्ध दिव्य नयन वाले भी हैं।
(१०) वे सब प्रकार के क्लेशों को नष्ट करने वाले भी हैं।

भगवान् बुद्ध के इन दसों बलों का वर्णन महावस्तु[2] और कथावस्तु[3] दोनों में किया गया है।

महां सांघिकों की दूसरी महत्वपूर्ण कल्पना बोधिसत्व सम्बन्धी है[4]। उसका स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है। बोधिसत्व भगवान के उन ऐच्छिक अवतारी स्वरूपों को कहा गया है जो वे समय समय पर लोक कल्याणार्थ इस संसार मे धारण करते रहे हैं। जातक कथाओं में इन अवतारों की अच्छी

१–बौद्ध दर्शन मीमांसा बल्देव उपाध्याय पृ० ११९
२–देखिये महावस्तु पृ० १४९ और १६०
३–देखिये कथावथ्थु ४।८, १२।५, १३।४
४—देखिये इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ऐथिक्स: हैस्टिंग्स भाग १, पृ०

झाँकी मिलती हैं। बोधिसत्व को माता के गर्भ में कष्ट नहीं सहन करने पड़ते हैं। वे माता को केवल निमित्त मात्र बनाते हैं।

महासांघिक लोग स्थविरवादियों के अरहत्[1] सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कहना है अरहत् होकर भी मनुष्य अज्ञान का शिकार बन सकता है। अतएव उसको अकारण महत्व देना व्यर्थ है। महासांघिकों के उपर्युक्त सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन-डा० दत्त[2] ने 'हिस्टारिकल क्वाटरली' में सुन्दर ढंग से किया है। उन्हीं के आधार पर बलदेव उपाध्याय ने अपने 'बौद्ध दर्शन मीमांसा' में उनका स्वरूप निर्देश किया है। "ट्वन्टी फाइव हन्ड्रेड ईयर्स आफ बुद्धिज्म"[3] नामक ग्रन्थ में भी इन पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

सम्मितीय सम्प्रदाय

सम्मितीय अथवा सम्मिति सम्प्रदाय भी बौद्धों के १८ निकायों में से एक है।[4] इस निकाय की चर्चा कथावत्थु[5] तथा कुछ तिब्बतीय ग्रन्थों[6] में की गई है। इन विवरणों में परस्पर अन्तर दिखाई पड़ता है। किन्तु दो बातें सभी विवरणों में समान रूप से दिखाई देती हैं। पहली बात यह है कि सम्मितीय लोग वत्सपुत्रीय सम्प्रदाय से ही सम्बन्धित थे।[7] जिसके कारण कभी कभी उन्हें वत्सपुत्रीय सम्मितीय कहा जाता था।[8] ह्वेनसांग के[9] समय में बौद्ध संघ में इस सम्प्रदाय के लोगों की प्रधानता थी। इस सम्प्रदाय के लोगों के अपने अलग सिद्धान्त, विचार, और व्यवस्थाएँ थीं। उनकी कुछ प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार हैं :—

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा—बलदेव उपाध्याय, पृ० १२१

२—देखिए इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटरली, भाग १३ व १४।

३—ट्वेण्टी फाइव हण्ड्रेड ईयर्स आफ बुद्धिज्म—सम्पादक पी० वी० बापत पृ० १०२।

४—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग ११ पृष्ठ १६८।

५—देखिए अंग्रेजी अनुवाद लन्दन १९१५।

६—देखिए लाइफ आफ बुद्ध—राकहिल, १८८४ संस्करण।

७—अभिधर्म कोष व्याख्या, एम० एल० बर्नोफ, पृ० ४७३।

८—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग १, पृ० १६८।

९—आनच्वांग्स ट्रैवल्स इन इण्डिया, वाटर्स, १९०५ लन्दन।

यह लोग अरहत के महत्व में बहुत अधिक विश्वास नहीं करते थे।[1] उनकी धारणा थी कि अरहत लोगों का भी पतन हो सकता है। इन लोगों ने अरहत के सिद्धान्त को बहुत सामान्य ढंग से ग्रहण किया है।

इस सम्प्रदाय वालों की एक दूसरी धारणा थी कि मृत पुरुष की एक अन्तर्भाव की अवस्था होती है, जो चिरस्थाई नहीं होती। उसकी अभिव्यक्ति पुनर्जन्म में होती है।[2]

यह लोग कर्मवाद के सिद्धान्त में भी विश्वास करते थे। इनका कहना था कि जिस प्रकार त्याग में पुण्य है उसी प्रकार भोग में भी एक प्रकार का पुण्य है। अहिंसा आदि में यह विशेष विश्वास करते थे। इनकी धारणा थी कि 'यथाशक्ति पाप करना ही नहीं चाहिये और यदि पाप हो जाय तो उनको सहर्ष भोग करना चाहिये।[3]

इनका सबसे प्रसिद्ध सिद्धान्त पुद्गलवाद का है। पुद्गल से इनका अभिप्राय एक विशेष प्रकार के व्यक्ति या जीव से है। यह सिद्धान्त श्रुतियों के आत्मवाद से मिलता जुलता है। यही कारण है कि दूसरे सम्प्रदायवालों ने इस सिद्धान्त की घोर निन्दा की। पुद्गल को कुछ ग्रन्थों में वाहक भी कहा गया है। पाँच स्कन्ध उसके वाह्य कहे गये हैं। तृष्णा वाहकता की माध्यम होती है। तृष्णा का परित्याग कर देना भार से मुक्त होना है। यह पुद्गल ही जन्मजन्मान्तर ग्रहण करता है।

इसके सम्बन्ध में सम्मितियों का कहना है कि वह पाँच स्कन्धों से बिलक्षण होते हुए भी उन से भिन्न[4] नहीं कहा जा सकता। वह वास्तव में अनिर्वचनीय तत्व है।[5] पुद्गल के सिद्धान्त का अध्ययन करने के पश्चात् यह स्वीकार किए बिना नही रहा जा सकता कि अनात्मवादी बौद्धों को भी जीव के सदृश किसी तत्व की कल्पना अनिवार्य प्रतीत होने लगी जिसके फलस्वरूप पुद्गलवाद का जन्म हुआ। स्कन्धों और पुद्गल के भेद को यदि स्पष्ट किया जाय तो यों कह सकते हैं कि स्कन्ध केवल तत्व मात्र होते हैं उनमें कोई व्यक्तित्व नहीं होता, इन तत्वों का संघात जब व्यक्तित्व के रूप

---

१ – ई० रि० ए०, भाग ११, पृ० १६८।

२ – „ „ „ पृ० १६९।

३ – „ „ „ पृ० १६९।

४ – माध्यमिक वृत्ति पृ० ६४ तथा लाइफ आफ बुद्ध बाई राखिल पृ० ९४

५ – इनसाईक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ११, पृ० १६९

में विकसित हो जाता है तभी उसे पुद्गल कहते हैं। इस व्यक्तित्व की प्रधान विधायिका तृष्णा होती है। जब तक तृष्णा का क्षय नहीं होता तबतक पुद्गल का विनाश नहीं होता। पुद्गल जब तक तृष्णा से प्रेरित रहता है तब तक जन्म जन्मान्तर ग्रहण करके दुख सुख का भागी बना रहता है। पुद्गल को स्कन्धों की तरह न तो अनित्य कह सकते है क्योंकि यह अनित्य स्कन्धों का त्याग करके पुनर्जन्म धारण करता है। इसे नित्य भी नहीं कह सकते क्योंकि यह अनित्य तत्वों से बना हुआ है।[1] वास्तव में यह नित्य और अनित्य दोनों के मध्य की वस्तु है। संक्षेप में सम्मितियों का पुद्गल सम्बन्धी सिद्धान्त यही है।

सम्मितियों के पुद्गलवाद के उपर्युक्त विवेचन से हमें कई निष्कर्ष निकालने का अवसर मिलता है :–

(१) पुद्गल की धारणा वास्तव में वेदान्तियों के जीववाद का बौद्धिक संस्करण है।

(२) उसके पुद्गलवाद पर वेदान्तियों के अनिर्वचनीय मायावाद की भी छाया दिखाई पड़ती है। जिस प्रकार वेदान्तियों ने अज्ञान अथवा माया को सदासदभ्यां अनिर्वचनीय कहा है उसी प्रकार सम्मितीय लोग भी पुद्गल को नित्य अनित्य दोनों से विलक्षण और अनिर्वचनीय मानते हैं।

सर्वास्तिवाद :—

सर्वास्तिवाद भी बौद्धों के अठारह निकायों में से एक है। किसी समय इस सम्प्रदाय का बहुत अधिक प्रचार और प्रतिष्ठा थी। इस सम्प्रदाय का उदय स्थविरवादियों की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। पहले यह सम्प्रदाय महासांघिक सम्प्रदाय में ही अन्तर्गत था बाद में उससे अलग हो गया। बाद में इसका इतना प्रभुत्व बढ़ा कि कुछ विद्वान महासांघिकों और धर्मगुप्तों को इसी की शाखाएँ मानने लगे।[2] इस सम्प्रदाय के इतिहास का श्रीगणेश २४० बी० सी० में पाटलीपुत्र में होने वाली अशोककालीन बौद्ध संगीति से होता है।[4] इस सम्प्रदाय के साहित्य का अध्ययन सर्व प्रथम चीनी यात्री इत्सिंग ने

१—इनसाईक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ११ पृ०१६९

२—इनसाईक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ११ पृ०१९८

३—ए रिकार्ड आफ दी बुद्धिस्ट रिलीजन एज प्रेक्टिस्ड इन इण्डिया एण्ड मलाया आर्चीपिलेगो, बाई इत्सिंग १८९६ पृ० २४

४—प्वाइन्ट्स आफ कन्ट्रोवर्सी रायस डेविड्स कृत अनुवाद, १९२५

किया था।[1] फाहियान के समय में इस सम्प्रदाय का प्रचार भारत और चीन दोनों देशों में समान रूप से था।[2] ह्वेनसांग के समय में इस सम्प्रदाय का प्रचार काशगढ़, उद्यान आदि स्थानों तक में था। इस सम्प्रदाय का सांग वर्णन इत्सिंग ने किया है।

इस सम्प्रदाय के तीन उपसम्प्रदाय बताए जाते हैं।[3] धर्मगुप्तीय, महीशासक और काश्यपीय। तिब्बतीय बौद्ध धर्म[4] भी इसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित बताया जाता है। इत्सिंग के कथनानुसार इस सम्प्रदाय का ३ लाख श्लोकों का एक त्रिपटिक था।[5]

सर्वास्तिवादियों के प्रमुख सिद्धान्त क्या थे इनका निर्णय करना बड़ा कठिन है। कथावत्थु[6] के आधार पर उनकी तीन मान्यताएँ स्पष्ट हैं— पहली मान्यता तो नास्तिवाद की प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुई थी और वह उसके नाम से ही प्रकट है। जैसा कि इस सम्प्रदाय के नाम से ही प्रकट है कि इस सम्प्रदाय के लोग प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व में विश्वास करते थे। इन लोगों की दूसरी धारणा यह थी कि अरहत् अवस्था अपरिवर्तनीय नहीं होती, अरहत् होने पर भी मनुष्य उस अवस्था से गिर सकता है। यह लोग समाधिवाद में विश्वासकरते थे। यह विचार की एकतानता-को ही समाधि मानते थे।[1] आगे चलकर इस सम्प्रदाय के दर्शन का विकास वैभाषिक दर्शन पद्धति केरूप में हुआ। इसका वर्णन आगे करेंगे।

कुछ अन्य उपसम्प्रदाय :—

उपर्युक्त अष्टादश उपनिकायों के अतिरिक्त आगे चलकर और भी बहुत से उपसम्प्रदायों का विकास हुआ। कथावत्थु में इस प्रकार के कुछ नवीन उपसम्प्रदायों[7] की चर्चा मिलती है उसी आधार पर आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपने बौद्धदर्शन में कुछ सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। इनके मतानुसार चैत्यवादी सम्प्रदाय से आन्ध्रभृत्य राजाओं के राज्य में अन्धक सम्प्रदाय का विकास हुआ। इस अन्धक सम्प्रदाय से आगे चल कर चार अन्य

१—इनसाईक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स पृ० १९८ भाग ११
२—वही
३—वही
४—वही
५—वही ६—वही
७—बौद्ध दर्शन मीमांसा बलदेव उपाध्याय पृ० ११६

उपसम्प्रदायों का विकास और हुआ। उनके नाम क्रमशः पूर्वशैलीय, अपरशैलीय, राजगिरिक तथा सिद्धार्थक हैं। इनके अतिरिक्त भी यदि खोज की जाय तो बहुत से प्राचीन बौद्धों के उपसम्प्रदायों का पता लग सकता है। उपर्युक्त निकायों का उदय और विकास किन आधारों पर हुआ था यह *निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता किन्तु हमारी धारणा यही है कि इन* सम्प्रदायों में आचार सम्बन्धी भेद ही प्रधान था।

बौद्ध धर्म के हीन यान और महायान नामक दो स्थूल विभागः—

जिस प्रकार आचारों को लेकर बौद्ध धर्म अनेक निकायों में विभक्त हो गया था। उसी प्रकार आचार और विचार दोनों को दृष्टि में रख कर उसके स्थूल रूप से दो विभाग किए जाते है—(१) हीनयान (२) महायान। *यह ध्यान देने की बात है कि महायान और हीनयान नामक भेद बहुत बाद में* निर्दिष्ट किए गए हैं। जब प्रगतिवादी बौद्धों ने रूढ़िवादी बौद्धों से अपने को अलग किया तो उन्होंने अपने को गौरव देते हुए अपने धर्म को[1] महायान और रूढ़िवादियों के धर्म का अपने धर्म की अपेक्षा हेय व्यंजित करते हुए हीनयान की संज्ञा दी। महायान की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की धारणा है *कि उसका विकास महासांघिकों से हुआ था।*[2] *जबकि कुछ दूसरे विद्वान*[3] उसका उदय महासांघिक और सर्वास्तिवादी दोनों के सम्मिश्रण से मानने के पक्ष में हैं। मेरी अपनी धारणा यह है कि जब स्थविरवाद और महासंघिकों के अनेक सम्प्रदाय और और उपसम्प्रदाय उत्पन्न हो गए, तो महासंघिकों ने जो प्रगतिवादी थे, अपने सम्प्रदाय का पुनर्निर्माण किया और उसे महायान का अभिधान दे दिया। इनकी विचारधारा प्रगतिवादी थी। अपनी प्रगतिवादी विचार धारा के विरोध में होने के कारण इन्होंने रूढ़िवादी प्राचीन धारा को हीनयान का नाम दिया। इन दोनों *को क्रमशः दो स्वतन्त्र धाराएँ समझा* जाने लगा। धीरे धीरे इन दोनों का भेदीकरण बहुत स्पष्ट हो गया।

बौद्ध धर्म के दार्शनिक सम्प्रदाय :—

बौद्ध धर्म के उपर्युक्त महायान और हीनयान नामक भेदों के अतिरिक्त उसके कुछ दार्शनिक सम्प्रदाय भी हैं। मूलसत्ता पर विविध स्वतन्त्र दृष्टियों से विचार करने के कारण ब्राह्मण दार्शनिकों ने बौद्ध दर्शन को चार भागों में विभाजित कर दिया। उन सम्प्रदायों के नाम क्रमशः निम्न-

---

१—आस्पैक्टस आफ महायान बुद्धिज्म—एन० दत्त— अध्याय १

२—बौद्ध दर्शन मीमांसा-बलदेव उपाध्याय पृ० ११७

३—आस्पैक्टस आफ महायान बुद्धिज्म— एन० दत्त, पृ० ९८

लिखित हैं—

(१) वैभाषिक, (२) सौत्रान्तिक, (३) योगचार, (४) माध्यमिक।

इन चारों मतों में सत्ता की मीमांसा चार भिन्न भिन्न ढंगों से की गई है। वैभाषिक लोग समस्त धर्मों की बाह्य और आभ्यान्तर दोनों प्रकार की सत्ता स्वीकार करते हैं। वाह्यार्थ को तो यह सर्वथा सत्य ही मानते हैं। इसीलिए इनके मत को वाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद भी कहते हैं।

दूसरा सम्प्रदाय सौत्रान्तिकों का है। इन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वाह्य वस्तुओं का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, इसका करण यह है कि समस्त पदार्थ क्षणिक है। क्षणिक पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। अतएव वाह्य सत्ता का केवल अनुमान मात्र किया जा सकता है। इसीलिए इस सम्प्रदाय को वाह्यार्थानुमेयवाद भी कहते हैं।

उपर्युक्त दो मतों में वाह्यार्थ की सत्ता क्रमशः प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा स्वीकार की गई है किन्तु तीसरे सम्प्रदाय वाले वाह्यार्थ सत्ता को स्वीकार ही नहीं करते। उनका कहना है कि वाह्य भौतिक जगत सर्वथा निराधार और मिथ्या है। विज्ञान के अतिरिक्त कोई तत्व नहीं है। भौतिक संसार उसी का विजृम्भण मात्र है।

चौथा मत शून्यवादियों का है। यह लोग न तो वाह्यार्थ की सत्ता स्वीकार करते हैं और न विज्ञान की ही। यह लोग केवल शून्य की सत्ता स्वीकार करते हैं। अतएव यह मत समस्त मतों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म प्रतीत होता है।

प्राचीन सर्वास्तिवाद नामक सम्प्रदाय बिक्रमी पहली शताब्दी के बाद दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ।[1] उसी को वैभाषिक मत कहा जाता है। इसके प्रधान प्रचारक महाराज कनिष्क[2] बताये जाते हैं।

इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य वसुबन्धु, संघभद्र आदि विद्वान बताये जाते हैं। इस सम्प्रदाय का बहुत बड़ा साहित्य चीनी भाषा में उपलब्ध है।

इस सम्प्रदाय के लोग वाह्यार्थ को प्रत्यक्ष रूप से सत्य मानते रहे हैं। इनका कहना है जिन पदार्थों से हमारा जीवन बना है उनकी सत्यता स्वयं प्रमाणित है। यह लोग वाह्यार्थ पदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हुए भी उन्हें अन्य बौद्धों की भाँति मानते क्षणिक ही है। कहा भी है 'प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च

१—देखिये शांकर भाष्य, २।२।१८

२—बौद्ध दर्शन मीमांसा, बलदेव उपाध्याय, पृ० १९९।

सकलं वैभाषिको भाषते"[1]

वैभाषिकों ने बाह्य पदार्थों की सत्-सत्ता सिद्ध करने के लिए धर्मों के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वे भूत और चित्त के सूक्ष्म तत्वों को धर्म की संज्ञा देते हैं। इन तत्वों का पृथक् करण नहीं हो सकता है। इनकी धारणा है कि जगत की उत्पत्ति इन्हीं धर्मों के घात प्रतिघात से हुई है। इस धर्म तत्व[2] का विवेचन इस मत में बड़े विस्तार से किया गया है।

चित्त की महत्ता इस सिद्धान्त वालों को भी मान्य है।[3] यह लोग चित्त का प्रयोग विज्ञानवादियों के ढंग पर नहीं करते। विज्ञानवादियों ने इस का निरूपण परमार्थ तत्व के रूप में किया है, किन्तु इस सम्प्रदाय में इसकी परिकल्पना जीव के पर्याय के रूप में की हुई जान पड़ती है। दोनों की चित्त सम्बन्धी धारणा में यही अन्तर है।

सौत्रान्तिक सम्प्रदाय :—

सौत्रान्तिक सम्प्रदाय का सम्बन्ध प्राचीन हीनयान से माना जाता है।[4] यह शब्द सूत्रान्त से बना है।[5] यशोमित्र[6] ने सौत्रान्तिक की स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सौत्रान्तिक उन्हें कहते है कि जो सूत्र को ही बुद्ध मत की समीक्षा के लिए प्रामाणिक मानते हैं। इनके मतानुसार भगवान बुद्ध ने अपने मत की प्रतिष्ठा सूत्रों में की थी। सूत्र से अभिप्राय सूत्रपिटक से है। यह लोग अभिधम्म ग्रंथों को जो संख्या में सात हैं मनुष्यकृत शास्त्र मात्र मानते हैं। ये सूत्र ग्रंथ ही उनके मतानुसार सच्चे अभिधम्म कोष हैं। इन सूत्र ग्रंथों में ही आस्था रखने के कारण इन्हें सौत्रान्तिक कहा जाने लगा।[7]

उदयकाल :—

इस सम्प्रदाय का बीजारोपण विभाषा ग्रंथों में ही हो चला था,

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा, बल्देव उपाध्याय, पृ० १९३।
२—बौद्ध दर्शन मीमांसा, बल्देव उपाध्याय, पृ० २१६ से २९ तक।
३—बौद्ध दर्शन मीमांसा, बल्देव उपाध्याय पृ० २३१।
४—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ऐथिक्स भाग ११ पृ० २१३
५—बौद्ध दर्शन मीमांसा, बल्देव उपाध्याय पृ० २४६
६—बौद्ध दर्शन मीमांसा, बल्देव उपाध्याय पृ० २४७
७—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ऐथिक्स, भाग ११ पृ० २१३।

किन्तु इसका उदय वैभाषिक सम्प्रदाय के बाद में हुआ था। ऐतिहासिक दृष्टि से वैभासिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदाय हीनयान के दो दार्शनिक सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य कुमारलात, श्रीलाभ, धर्मत्रात, यशोमित्र आदि बताए जाते हैं।

सिद्धान्त :—

सौत्रान्तिक लोग दार्शनिक दृष्टि से सर्वास्तिवादी कहे जा सकते हैं। यह लोग केवल विज्ञान की ही सत्ता नहीं मानते, बाह्य पदार्थों के अस्तित्व में भी विश्वास करते हैं[1]। इनकी धारणा है विज्ञान तथा वाह्यवस्तु की समकालिक प्रतीति होती है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए वे घट का उदाहरण देते है। जिस प्रकार घट की प्रतीति वाह्यपदार्थ के रूप में होती है उसका विज्ञान अन्तर रूप में अनुभव होता है उसी प्रकार संसार की अन्य वस्तुओं की प्रतीति वाह्य और अन्तररूपिणी होती है। वाह्यार्थ प्रतीति के सम्बन्ध में इनका मत वैभाषिकों से थोड़ा भिन्न है। वैभाषिक लोग वाह्य अर्थ की प्रतीति उसी रूप मे मानते हैं जिस रूप में वह हमें दिखाई पड़ती है।[2] किन्तु सौत्रान्तिकों का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। उनके मतानुसार प्रत्येक वस्तु इतनी क्षणिक है कि उसके सही स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण नही किया जा सकता। अतएव हमे जो वाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है वह तद्जन्य-समवेदन के रूप मे ही होता है।[3] यह समवेदन ही दृष्टा को वाह्यपदार्थ के साक्षात्कार करने में सामर्थ्य करता हैं।

सौत्रान्तिकों का दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त स्वसंविति का है।[4] इनके मतानुसार ज्ञान स्वसंवेदन रूप है। इनका कहना है कि जिस प्रकार दीपक अपने को स्वयं प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान भी अपने को स्वयं प्रकाशित करता है। सौत्रान्तिको का यह सिद्धान्त विज्ञानवादियों के मेल में है। सौत्रान्तिकों का वाह्यवस्तुओं के आकार के सम्बन्ध में भी अपना दृष्टिकोण अलग है। कुछ सौत्रान्तिकों की धारणा है कि वाह्यवस्तुओं का अस्तित्व अवश्य होता है किन्तु उनका कोई आकार नही होता। उसके विपरीत कुछ सौत्रान्तिको का कहना है कि वाह्यवस्तुओं का आकार तो होता है किन्तु

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० २५४

२—वही पृ० २५१

३—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० २५३-५४

४—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ११ पृ० २१४–१५

वह बुद्धि विनिर्मित होता है। कुछ लोग सामान्यसत्यवादी होते हैं उनका कहना है कि वस्तुओं में आकार होता है बुद्धि उसको स्पष्ट कर देती है।[1]

सौत्रान्तिकों को परमाणुवाद का सिद्धान्त भी अपने ढंग पर स्वीकार है।[2] उनके मतानुसार निरमवयाय पदार्थों में परस्पर स्पर्श नहीं होता, परमाणु निरवयव पदार्थ है अतएव इनमे परस्पर स्पर्श नही होता।

इनका क्षणिकवाद[3] का सिद्धान्त भी अपना अलग है। इनके मतानुसार विनाश का कोई कारण नहीं होता। प्रत्येक वस्तु स्वयं विनश्वरशील है, नश्वर हैं, इसीलिए उसका विनाश होता है। यह लोग वस्तु को अनित्य न मान कर क्षणिक भर मानते हैं। इनके मत में पुद्गल अर्थात् आत्मा एक सत्ताहीन पदार्थ है। यह लोग भूत और भविष्य की सत्ता भी नही स्वीकार करते।

इनका दर्शन दुखवादी दर्शन[4] है। इन लोगों का कहना हैं संसार की प्रत्येक वस्तु दुखोत्पादक है। यहाँ तक कि यह लोग सुख में भी दुःख की ही अनुभूति करते है।

विज्ञानवाद अथवा योगाचार

दार्शनिक चिन्तन की दृष्टि से जो सम्प्रदाय विज्ञानवाद के नाम से प्रसिद्ध है, धार्मिक दृष्टि से उसी को योगाचार का अभिधान देते हैं।[5] इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति माध्यमिकों की प्रतिक्रिया के रूप में बताई जाती है। माध्यमिकों की दृष्टि में सम्पूर्ण जगत शून्य रूप है। किन्तु इस सम्प्रदाय में इस मत का निराकरण करके विज्ञान मात्र की सत्ता स्थापित की है।

इस सम्प्रदाय के आचार्यों में मैत्रेयी नाथ, आचार्य असंग, आचार्य वसबन्धु, धर्मपाल, और धर्मकीर्ति आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

विज्ञानवादी सत्ता को शून्य-रूप न मानकर विज्ञान रूप मानते हैं। विज्ञान के पर्यायवाची चित्त, मन तथा विज्ञप्ति हैं। लंकावतार सूत्र में इस

१—बौद्धदर्शन मीमांसा पृ० २५५,२५६

२—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ऐथिक्स भाग ११ पृ० २१४–१५

३—बौद्ध दर्शन मीमांसा —बलदेव उपाध्याय पृ० २५४ से २५७ तक

४—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ऐथिक्स भाग ११ पृ० २४८

५—बौद्ध दर्शन मीमांसा —बलदेव उपाध्याय पृ० २७८

इस विज्ञान की प्रतिष्ठा करते हुए लिखा है "चित्त ही एक मात्र सत्ता है। उसीकी प्रवृत्ति होती है। उसी की निवृत्ति होती है। चित्त के अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु की न तो उत्पत्ति ही होती है और न विनाश ही होता है।"[1] अब प्रश्न यह उठता है कि इस चित्त या विज्ञान का स्वरूप क्या है। लंकावतार सूत्र[3] में इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा है "चेतन क्रिया से सम्बद्ध होने के कारण इसे चित्त कहते हैं। और मनन क्रिया करने से मन कहते है, तथा ग्रहण करने में कारण रूप होने से यह विज्ञान कहलाता है।" यह लोग सम्पूर्ण जगत को विज्ञान का ही विवर्त मानते हैं। लंकावतार सूत्र में लिखा है "बाहरी दृश्य संसार कोई अस्तित्व नहीं रखता। यह सब चित्त रूप ही है। किन्तु वही सब इस जगत में विचित्र रूप में दीख पड़ता है। वह कभी देह के रूप में और कभी भोग के रूप में प्रतिष्ठित रहता है।" विज्ञानवाद का प्राणभूत सिद्धान्त यही है। शेष सिद्धान्तों की चर्चा दूसरे प्रसंग में करेंगे।

माध्यमिक या शून्यवाद

बौद्ध धर्म के दार्शनिक सम्प्रदायों में इस सम्प्रदाय की सर्वाधिक प्रतिष्ठा है। प्रज्ञापारमिता सूत्रों[1] में इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के बीजाणु विद्यमान थे। उनको व्यवस्थित दार्शनिक पद्धति के रूप में विकसित करने का श्रेय आचार्य नागार्जुन[4] को दिया जाता है। इन्होंने अपनी माध्यमिक कारिका नामक रचना में इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का निरूपण किया है। नागार्जुन के अतिरिक्त आचार्य आर्यदेव[5] ने भी इस मत की दृढ़ भूमिका पर प्रतिष्ठा की है। आठवीं शताब्दी के आचार्य शान्तरक्षित[6] भी इसी सम्प्रदाय के पोषक थे। इन्होंने तिब्बत में इस सम्प्रदाय का प्रचार किया था।

शून्यवादी आचार्यों ने वास्तविक सत्ता को शून्य रूप में कल्पित किया है। यहाँ पर उनके मतानुसार शून्य की थोड़ी सी व्याख्या कर देना अनुपयुक्त

१—चित्तं वर्तते चित्तं चित्तमेव विमुच्यते।
चित्तं हि जायते नान्यच्चित्तमेव निरुध्यते।—लंकावतार गाथा पृ० १०२।

२—दृश्यते न विद्यते, बाह्यं चित्तं चित्तं हि दृश्यते।
देह भोग प्रतिष्ठानं चित्तमात्रंवदाम्यहम्। लंकावतार सूत्र ३।३३

३—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ३१३

४—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ३५६

५—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ३१६ तथा सिस्टम आफ बुद्धिस्टिक थाट पृ० १८६

६—हिस्ट्री आफ बुद्धिज्म भाग ३, पृ० १६१ से १६६ तक

न होगा। इनका कहना है कि पारमार्थिक सत्ता न तो पूर्ण रूप से सदरूप है और न असद् रूप ही। वास्तव में वह शून्य रूप है नागार्जुन ने उसकी परिभाषा देते हुए लिखा है कि —

न सन् नासन् न सद् सन्नचाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः।

अर्थात वह परमार्थ तत्त्व न सद् रूप है न असद् रूप है, और न सद असद् ही है। तथा न सद् असद् दोनों से विलक्षण ही है। यह चतुष्कोटि अर्थात् अस्ति नास्ति तद्भय नोभय आदि सबसे परे है। ऐसा ही विलक्षण शून्य तत्व माध्यमिकों का प्रतिपाद्य है। इसकी विस्तृत व्याख्या हम बौद्धों के दार्शनिक चिन्तन के प्रसंग में करेंगे। यहाँ पर हम केवल माध्यमिक सम्प्रदाय का परिचयात्मक उल्लेख मात्र कर रहे हैं।

यहाँ पर इस सम्प्रदाय के विषय में एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़ा होता है। वह यह है कि यह सम्प्रदाय आस्तिक था अथवा नास्तिक। इस सम्बन्ध में विद्वानोंमें बड़ा मतभेद है। प्राचीन आचार्य जिनमें कुमारिल[1], शंकर[2] आदि प्रमुख हैं, तथा आधुनिक विद्वान जिनमें बलदेव उपाध्याय[3] विशेष उल्लेखनीय हैं, उन्हें आस्तिक मानते हैं। मेरी धारणा है कि यह शून्यवादी आस्तिक सम्प्रदाय है, जिसमें वेदान्त पुरुष की व्याख्या शून्य के अभिधान से की गई है।

तांत्रिक बौद्ध धर्म.—

मध्य-युग में शैव शाक्त तंत्रों की प्रेरणा से तथा शंकराचार्य के द्वारा शुद्ध बुद्ध धर्म के पराजित किए जाने के कारण बुद्ध धर्म तांत्रिकता का बाना पहन कर अवतरित हुआ। बौद्ध लोग तंत्र के अर्थ में बहुत स्पष्ट नहीं थे। वे सूत्र ग्रन्थों तक को तन्त्र कह डालते थे।[4] किन्तु सामान्यतया विद्वानों की ऐसी धारणा है कि तन्त्र मत का समावेश महायान सम्प्रदाय में सबसे पहले दिखाई दिया। महायान सूत्रों के अन्तर्गत कुछ तन्त्र ग्रन्थ भी सम्मिलित किए गए। यों तो तांत्रिक तत्वों का समावेश प्राचीन बौद्ध धर्म में ही हो चला था[5]

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० ३७०
२—शांकर भाष्य २।२।३१
३—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ३६८
४— „ „ „
५— „ „

किन्तु उनका सम्यक स्फुरण महायान मत में ही दिखाई पड़ा। महायान मत में जहाँ एक ओर भक्ति की प्रतिष्ठा की गई, वहीं योग का बीजारोपण भी किया गया। यह योग शैव शाक्त तांत्रिक योगों से बहुत अधिक प्रभावित हुआ। जिसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म में तांत्रिकता प्रवर्तित हुई। शैव शाक्त तन्त्रों का प्राणभूत सिद्धान्त मन्त्रचैतन्य का था। उनके इस सिद्धान्त को लेकर बौद्धों ने अपने ढंग पर विकसित किया जिसके कारण एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय का उदय हो गया। वह सम्प्रदाय मंत्रयान कहा जाने लगा। मंत्रयान में मुद्रा मण्डल आदि को विशेष महत्व दिया गया है। इस सम्प्रदाय का आधारभूत ग्रन्थ मंजुश्रीमूलकल्प है। इस सम्प्रदाय का उदय तीसरी चौथी शताब्दी के आस पास हो चला था। किन्तु मन्त्रों के गूढ़ रहस्यों का प्रचार समाज में नहीं हो सका। यही कारण है कि मन्त्रयान के पैर दृढ़ता से नहीं जम सके। मन्त्रयान को युग और परिस्थितियों के अनुरूप न पाकर बौद्ध तांत्रिकों ने वज्रयान की प्रतिष्ठा की। वज्रयान मे वज्र शब्द का प्रयोग शस्त्र विशेष के अर्थ में न होकर कहीं पर रहस्यात्मक विज्ञान का और कहीं उसका प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में पुरुष सिद्धान्त के अर्थ में किया गया है।[1] वज्रयान मत भी कई शाखा प्रशाखाओं में विकसित हुआ। काजी दवा समदृप ने अपने श्री चक्र सम्भारतन्त्र की भूमिका मे इसके छः भेद बताए हैं जिनके नाम क्रमशः क्रियायान, उपायतन्त्रयान, योगतन्त्रयान, योगतंत्रयान के फिर तीन भेद किये गए जिनके नाम महातंत्रयान, अनुत्तर तंत्रयान, अतितन्त्र योगयान है।

कुछ दूसरे विद्वान वज्रयान के क्रियातंत्र, चर्यातंत्र, योगतंत्र और अनुत्तर-तंत्र, आदि चार विभाग मानते हैं।[2] कुछ दूसरे विद्वान मंत्रयान सहजयान और कालचक्रयान को वज्रयान की ही उपशाखाएं मानते हैं।[3] जो भी हो इतना तो निश्चित है कि बौद्ध तंत्रों का विकास चार धाराओं मे हुआ था।

१ – मंत्रयान, वज्रयान, सहयान, कालचक्रयान।

मंत्रयान और उसके प्रमुख सिद्धान्तः—

कुछ आचार्यों ने महायान के दो स्थूल विभाग बताएँ हैं – परमिति

१— इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग १२ पृ० १९५
२—इन्ट्रोडक्शन टू तांत्रिक बुद्धिज्म—डा० दास गुप्ता पृ० ७१ का फुटनोट
३—वही

नय, मन्त्रनय ।[1] यह मन्त्रनय ही विकसित होकर मन्त्रयान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस मन्त्रयान के सिद्धान्तों की चर्चा हमें मंजुमूलकल्प, गुह्यसमाज तंत्र आदि ग्रन्थों में मिलती है।

मन्त्रयान की सबसे प्रमुख विशेषता उसका मन्त्रतत्व[2] है। इस सम्प्रदाय में विविध प्रकार के मन्त्रों का विकास हुआ जैसे धरणी बीज मन्त्र आदि। ये मन्त्र किसी देवता के प्रतीक समझे जाते थे। जैसे वह्रा आ वैरोचन का प्रतीक मानते हैं श को अक्षोभ्य देवता का प्रतीक और त को अमोघ शक्ति का प्रतीक कहते हैं। इनका कहना है कि बीजमन्त्र की भावना करते करते शून्यता मे देवता उत्पन्न हो जाता है। अद्वयवज्र के महासुख प्रकाश नामक ग्रन्थ में लिखा है कि शून्यता से बीजमन्त्र निकलते है और बीजमन्त्रों से देवता के स्वरूप का का विकास होता है। मन्त्रयान का दूसरा प्रसिद्ध तत्व मुद्रा बताया जाता है। मुद्रा का सामान्य अर्थ है शरीर की विशेष स्थिति। जिस प्रकार मन्त्रतत्व शब्द शक्ति के रहस्यो से परिपूर्ण रहता है उसी प्रकार मुद्रा साधनास्पर्श के विविध रहस्यों से परिपूर्ण बताई जाती है। विविध प्रकार की मुद्राओं से विविध प्रकार की सिद्धियों का लाभ होता है। मन्त्रयान का तीसरा प्रमुखतत्व मण्डल है। ये लोग विविध प्रकार के मण्डलों से विविध प्रकार की शक्तियों का सम्बन्ध स्थापित करते हैं इस प्रकार मन्त्र मुद्रा और मण्डल मन्त्रयान के प्रमुख तत्व सिद्ध होते हैं।

वज्रयान:— मन्त्रयान का विकास आगे चल कर वज्रयान में हुआ। वज्रयान में वज्रतत्व को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। वज्र का अर्थ है शून्यता।[3] वज्रयान में सब कुछ शून्य रूप माना जाता है। इस साधना पद्धति मे साध्य और साधक तथा पूजा मन्त्र सभी को वज्र कहते है।[4] साधना विधि भी वज्र ही कहलाती है। सबको वज्र का अभिधान देने के कारण ही इस सम्प्रदाय को भी वज्रयान कहते हैं।

वज्रयान के प्रमुख उपास्य देवता का नाम वज्र सत्व है।[5] इस वज्रसत्व का वर्णन इस सम्प्रदाय में लगभग उसी ढंग पर किया गया है, जिस ढंग पर

१—अद्वय वज्र संग्रह पृ० २१
२—हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि अप्रकाशित थीसिस पृ० २२५
३—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ३६८ ४—अद्वय वज्र संग्रह पृ० ३३
४—एन इन्ट्रोडक्सन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म, दास गुप्त पृ० ८०, ८१
५—,, ,, ,, ,, ८७

उपनिषदों में आत्मा या ब्रह्म का विवेचन किया गया है।[१] महायानियों की बोधिचित्त की धारणा का वज्रयान पर पूरा पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। बोधिचित्त शून्यता और महाकरुणा के एकाकार की व्यवस्था है। शून्यता और करुणा के इस तादात्म्य ने वज्रयान में स्त्री और पुरुष के मिलन भाव का रूप धारण किया। महायानियों की शून्यता इस सम्प्रदाय में प्रज्ञा और महाकरुणा उपाय के रूप में विकसित हुई।[२] प्रज्ञा और उपाय क्रमशः स्त्री और पुरुष के प्रतीक माने जाते हैं। महायानियों के प्रज्ञा और उपाय का इस प्रकार का विकृत होना बहुत कुछ शैव शाक्त तान्त्रिकों के कारण प्रकट होता है। शैव शाक्त तन्त्रों में शिव और शक्ति की साम्यावस्था को महत्व दिया गया है। उसी के वाम मार्ग में स्त्री और पुरुष के मिलन की अवस्था को शिव और शक्ति के मिलन की अवस्था के समकक्ष बताया गया हैं। योगक्षेत्र में प्रज्ञा और उपाय का नाड़ी परक अर्थ भी लिया जाता है।[३] प्रज्ञा इड़ा का और उपाय पिंगला का प्र तीक है। इन दोनों की एकाकार की अवस्था का प्रतीक सुषुम्ना नाड़ी है। वाममार्गी वज्रयानी यौगिक अर्थों में अधिक विश्वास न करके वासनात्मक प्रतीकों में ही अधिक आस्था रखते है। यह लोग स्त्री और पुरुष के युगनद्ध भाव से महासुख की स्थिति का उदय मानते है इसकी प्राप्ति ही इनका चरम लक्ष्य है। प्राचीन बौद्ध धर्म के दुःखवाद के बिल्कुल विपरीत रूप में इस महासुखवाद का प्रवर्तन करके बौद्ध तान्त्रिको ने जैसे बौद्ध धर्म की एक बहुत बड़ी कमी पूरी करने की चेष्टा की थी।

सहजयानः— जब वज्रयान की साधना जटिल हो चली, तो कुछ सतोगुणी उपासकों ने उसका परिष्कार कर सहजयान का प्रवर्तन किया। जिस प्रकार वज्रयानी लोग उपास्य, उपासक, साधना पद्धति आदि सभी को वज्र कहते थे उसी प्रकार सहजयानी लोग समस्त वस्तुओं को सहजरूप मानते थे।[४] वज्रतन्त्र में लिखा है, समस्त संसार सहजरूप है। इसी प्रकार तिल्लोपाद ने भी एक स्थल पर लिखा है,[५] संसार की वस्तुओं का स्वरूप सहज है। यह

१—इन्ट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म—डा० गुप्त पृ० ९१
२—,, ,, ,, ,, १२५
३—,, ,, ,, ,, ११८
४—हे वज्रतंत्र—हस्तलिखित प्रतिलिपि, पृष्ठ ३९ बी
५—दोहाकोष, पी० सी० बागची, पृष्ठ ३ पर तिल्लोपाद का दोहा देखिये :—

"सहज स्वभावेन सकलानि वस्तूनि... ...."

सहज तत्व अनिर्वचनीय है। शरीर में होते हुए भी उसे शरीरज नहीं कहते।[1] वज्रयानी जिसे महासुख कहते हैं, उसी को सहजयानी सहजानन्द रूप मानते हैं। सहज की धारणा पर जहाँ बौद्ध विज्ञानवाद, योगाचार, शून्यवाद आदि सिद्धान्तों का प्रभाव है, वहीं उपनिषदों की आत्म धारणा की भी छाया है। सहज तत्व की अनिर्वचनीयता का वर्णन करते हुये वज्रतन्त्र में लिखा है[2] कि सहज का न तो कोई स्वरूप है और न कोई उसका वर्णन कर सकता है और न किसी वाणी में उसकी अभिव्यञ्जना की जा सकती है। इस सहज तत्व का अनुभव कोई विरला साधक गुरु की कृपा से ही कर पाता है। सहज तत्व केवल अनुभवगम्य मात्र है। अतएव सहजयानी लोग व्यर्थ के धर्म और दर्शन ग्रन्थों में विश्वास नहीं करते।

महायानियों ने जिसे बोधिचित्त और वज्रयानियों ने जिसे महासुख की अवस्था कहा है, सहजयानी उसी को सहज शून्य कहते हैं। यह सहज शून्य चित्त और शून्य का समन्वित रूप माना जाता है। यह पूर्ण अद्वततत्व है। सरहपाद ने इस बात को स्पष्ट करते हुए एक स्थल पर लिखा है[3] सहज में द्वैतता की भावना नहीं हो सकती यह आकाश की तरह अखण्ड तत्व है किन्तु यह अद्वैतता वेदान्तियों की अद्वैतता से भिन्न है इतना अद्वैतभाव द्वैताद्वैत विलक्षण के रूप में प्रकट हुआ है इसकी द्वैताद्वैत विलक्षणता बहुत कुछ उपनिषदों के ढंग पर व्यक्त की गई है। जिस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म का वर्णन करते हुए लिखा मिलता है कि न वह बाहर है, न भीतर है, न ऊपर है, न नीचे है, फिर भी सर्वव्यापक है, उसी प्रकार सरहपाद ने लिखा है कि सहज न तो आता हुआ कहा जा सकता है, न वह जाता हुआ कहा जा सकता है, न बाहर कहा जा सकता है, और न भीतर कहा जा सकता है वह इन सबसे परे है। यह द्वैताद्वैत विलक्षणता सहजयान की प्रमुख विशेषता है।[4]

सहजयानी लोग साधना क्षेत्र में नाड़ी शोधन और नाड़ी साधन को भी आवश्यक समझते हैं।[5] इनके अनुसार शरीर में ३२ नाड़ियां प्रधान हैं।[6]

१—हे वज्रतंत्र, पृष्ठ ३ अ।

२— „ „ २२ बी।

३—दोहाकोष, पी० सी० बाग्ची, पृष्ठ १२, दोहा १६-१७।

४—आब्सक्योर रिलीजियस कल्ट्स, पृष्ठ ९७।

५— आब्सक्योर रिलीजियस कल्ट्स— दास गुप्ता, पृष्ठ १०६—७।

६— हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा— डा० गोविन्द त्रिगुणायत, डी० लिट० की अप्रकाशित थीसिस से, पृ० २३७।

इनमें भी ३ विशेष उल्लेखनीय हैं।[१] मेरुदण्ड के बीच में जो नाड़ी है, उसे सुषुम्ना कहते हैं। यही सहज मार्ग का प्रतीक है। मेरुदण्ड के बाईं ओर इडा नाड़ी है जो प्रज्ञा का प्रतीक मानी जाती है। तथा दाहिनी ओर पिंगला नाड़ी है जो उपाय का प्रतीक कही जाती है। इनकी साधना करना यह लोग आवश्यक समझते थे। कहीं कहीं मन्त्रयानियों के अनुकरण पर इन लोगों ने भी नाड़ियों को वासना परक अर्थ दे डाले हैं। कमल और कुलिश ऐसे ही वासनापरक अर्थ के द्योतक है। सहजयानियों की हठयौगिक साधना का प्रमुख लक्ष्य प्रज्ञा और उपाय के योग से मणिपूर चक्र में बोधि चित्त को उत्पन्न करना बताया गया है। इस बोधिचित्त को वे धर्म चक्र, सम्भोग चक्र और अन्त में उष्णीश चक्र में ले जाकर सहज सुख का अनुभव करते हैं। यहीं पर आकर महासुख की अनुभूति होती है। यह अद्वैत रूप कहा गया है। यहाँ पर आकर किसी प्रकार के द्वन्द्व शेष नहीं रह पाते हैं।[२]

सहजयान में मध्यमा प्रतिपदा का सिद्धान्त भी अपने ढंग पर मान्य है। इसका विशेष प्रभाव हमें सहजयानी योगसाधना में दिखलाई पड़ता है। यह लोग मध्य नाड़ी की उपासना जिसे अवधूतिका या सहज मार्ग भी कहते हैं, करना, अपने सम्प्रदाय का प्रमुख लक्ष्य मानते हैं। इस मध्य नाड़ी की साधना से साधक बोधिचित्त को ऊर्ध्वोन्मुख करता है। इसके लिए वह प्राण साधता है। प्राणायाम के अतिरिक्त इस मत में मुद्रा साधना को भी महत्व दिया गया है।

सहजयानी लोग सहज सुख की प्राप्ति मे मुद्रा साधना का बहुत बड़ा उपयोग मानते हैं। इन्होने चार प्रकार की मुद्राएँ मानी हैं।[३] कर्म मुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा तथा समायमुद्रा। यह मुद्राएँ मन के विकास की चार विशेष अवस्थाएँ हैं। ज्यो ज्यो इनकी प्राप्ति होती जाती है, त्यों त्यों साधक क्रमशः आनन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द की अनुभूति करता जाता है।[४] प्रथम प्रकार के आनन्द की प्राप्ति उस समय होती है जब बोधिचित्त निर्माण चक्र[५] में पहुँचता है। इसी प्रकार जब बोधिचित्त धर्मचक्र[६] में

१— हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा पृ० २३८
२— " " ,, २३९
३— " " ,, २३९
४— " " ,, २४०
५—वही
६—वही

पहुँचती है तब परमानन्द की अनुभूति होती है, उसके सम्भोगचक्र[1] में पहुँचने पर विरमानन्द की अनुभूति होती है। महाचक्र[2] में उसका प्रवेश होते ही सहजानन्द की उपलब्धि हो जाती है। इस सहजानन्द की प्राप्ति करना ही सहजयानियों का प्रमुख लक्ष्य रहा है।

सहजयानियों की भाषा और अभिव्यक्ति भी अपनी अलग विशेषताएँ रखती हैं। इनकी भाषा अधिकतर प्रतीकात्मक है और शैली उलटवासी है। रूपकों का, अन्योक्तियों का तथा अन्य अभिव्यंजना के सहायक साधना का सहज भाव से उपयोग किया गया है। ढेंढणपाद का एक दोहा है "मेरा घड़ा एक ऊँची जगह पर स्थित है, हमारा कोई पड़ोसी भी नहीं हैं, घड़े में चावल भी नहीं हैं किन्तु अतिथि लोग दिन प्रतिदिन आते रहते हैं।" यह रूपकात्मक शैली का भी अच्छा उदाहरण है। इसी गीत के अन्त में हमें उलटवासी शैली का भी एक उदाहरण मिलता हैं। उसका अर्थ है "बैल बियाता है, गाय बाँझ रहती है" इत्यादि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सहजयानी बौद्ध सम्प्रदाय अपनी कुछ अलग विशेषताएँ रखता है। यह सम्प्रदाय जहाँ एक ओर बौद्ध धर्म की अनेक शाखाओं प्रशाखाओं के मूल्यवान सिद्धान्तों और तत्वों से अनुप्राणित है, वहीं वह शैव शाक्त तान्त्रिकों, अद्वैत वेदान्तियों तथा नाथ पंथियों आदि से भी प्रभावित है। हिन्दी साहित्य पर बौद्ध तांत्रिक संप्रदायों में सबसे अधिक प्रभाव इसी सम्प्रदाय का दिखाई पड़ता है। इस सम्प्रदाय का, खेद है, अभी तक कोई महत्वपूर्ण अध्ययन प्रकाशित नहीं हो पाया है। इस पर धर्म वीर भारती की थीसिस 'सिद्ध साहित्य' वैसे एक उच्चकोटि की रचना है किन्तु उसका दृष्टिकोण हमारे दृष्टिकोण से थोड़ा भिन्न है। उस थीसिस की रचना शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से की गई जान पड़ती है। हमारा दृष्टिकोण साहित्यिक के साथ साथ धार्मिक भी है।

सहजयान की एक प्रवृत्ति और विशेष उल्लेखनीय है, वह है खण्डन-मण्डन की। यह लोग कट्टर बुद्धिवादी थे। मिथ्या धार्मिक विधि विधानों और आडम्बरों में आस्था नहीं रखते थे। इसीलिए उन्होंने उनकी जी खोलकर निन्दा की है। रूढिवादिता ब्राह्मण धर्म के तो ये कट्टर विरोधी थे। सरहपाद[3]

१— हिन्दी में निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि अप्रकाशित थीसिस, पृ० २४०

२— उपरोक्त

३— „

अनेक स्थलों पर खन्डन मन्डन की प्रवृत्ति का परिचय दिया है। कहीं कही पर तो उन्होंने बहुत तर्क पूर्ण कथन साम्य रखे हैं। उन्होंने एक स्थल पर लिखा है कि यदि बड़ी बड़ी वाल और जटाओं के रखने से मुक्ति प्राप्त होती, तो मयूर को मुक्ति प्राप्त हो गई होती, क्योंकि उसके भी बहुत बड़ी शिखा होती है। इसी प्रकार कान्हपाद[1] ने एक स्थल पर लिखा है कि पान्डित्य और तर्क में उलझे हुए विद्वान धर्म के सच्चे मार्ग से दूर रहते हैं।

सहजयान में जीवन की सहजावस्था पर विशेष बल दिया गया है। उनके मतानुसार साधक का लक्ष्य सहज आचरण के द्वारा, सहज मार्ग से सहज परमात्मा का अनुभव करना है। उनकी धारणा है कि यह सहज-सत्ता जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त है उसी प्रकार पिण्ड में भी परिव्याप्त है। अतएव उसकी प्राप्ति ब्रह्माण्ड में न करके पिण्ड में सरलता से की जा सकती हैं। इसके लिए साधक को योग का आश्रय लेना पड़ता है, इस साधना पद्धति में योग की बड़ी प्रतिष्ठा है।

सहजयान में वैराग्य को विशेष महत्व नहीं दिया गया है। उनकी धारणा थी कि जीवन का सहज रूप सहज राग[1] में ही दिखाई पड़ता है, वैराग्य में नहीं। यही कारण है कि सहजयान में हमें त्याग और तपस्या की उतनी महिमा नहीं मिलती जितनी कि सहजाचरण की और सहज राग की। लुई पाद[1] ने एक स्थल पर लिखा है कि देह रूपी वृक्ष के चित्त रूपी अहंकार विशुद्ध विषय रूपी रस के द्वारा सिक्त करने पर देह रूपी वृक्ष कल्पवृक्ष बन जाता है। उसमें निरंजन फल फलता है और महासुख की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार अनंग बज्र[1]ने एकस्थल पर लिखा है कि जिस समय चित्त में विविध प्रकार के संकल्प मँडराते रहते हैं, वह तडित के सदृश चंचल रहता है और रागादि दोष उसे सताते रहते हैं, तभी उसे संसार कहते है। इसी प्रकार जब चित्त सब पकार के दोषों से मुक्त हो जाता है, राग तत्व पवित्र हो जाता है, *तभी उसे निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।*[5] इस प्रकार हम देखते हैं कि इस मत में राग तत्व के सदुपयोग पर विशेष बल दिया गया है। राग के सदु-

१— अप्रकाशित हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि नामक थीसिस–पृष्ठ २३४

२— उपरोक्त, पृष्ठ २३५

३— बौद्ध दर्शन मीमांसा,– बलदेव उपाध्याय, पृ० ४४६

४— प्रज्ञोपाय विनश्चय सिद्धि, ४।२२,हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा पृष्ठ २३५

५—इन्ट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म– दास गुप्ता, पृ० १७४

पयोग से ही मनुष्य मुक्त होता है और उसके दुरुपयोग से ही आबद्ध होता है। राग तत्व का यह सदुपयोग गुरु से प्राप्त होता है। सहजयान मत में गुरु को बहुत महत्व दिया गया है।[1] यह लोग दो प्रकार के गुरु मानते हैं, एक लौकिक और दूसरे आध्यात्मिक। वे आध्यात्मिक क्षेत्र में सहज तत्व को ही गुरु के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं[2]।

सहजयानियों की दृष्टि में शरीर का भी बड़ा महत्व है।[3] सरहपाद[4] ने शरीर के महत्व को व्यंजित करते हुए एक स्थल पर लिखा है कि शरीर में ही गंगा, यमुना, गंगासागर, प्रयाग, वाराणसी, सूर्य चन्द्र आदि सभी वर्तमान हैं। यही सब सुखों का केन्द्र है। इसी में परमात्मा की प्राप्ति होती है। लोग व्यर्थ में जप, तप में लगे रहते हैं। वे यह नहीं जानते कि हमारा आराध्य हमारे हृदय में ही निराकार रूप में व्याप्त है। इसी प्रकार कन्हपाद[5] ने भी नगर के रूपक से शरीर के महत्व का प्रतिपादन किया है। अन्य सहजयानी सिद्धों ने भी अनेक प्रकार से शरीर की महिमा व्यंजित की है।

शरीर के उपर्युक्त महत्व से स्पष्ट प्रकट होता है कि सहजयानी लोग सम्भवतः इसलिए उसको इतना श्रेय देते थे कि उसी के सहारे वे पिण्ड में ही योग साधना के द्वारा अपने आराध्य को सरलता से प्राप्त कर लेते थे। योग क्षेत्र में सहजयानी बौद्धों से अधिक प्रभावित हैं। हठयोगियों से कम। बौद्धों का त्रिकायवाद का सिद्धान्त लोक प्रसिद्ध है। सम्भवतः इसी से प्रभावित होकर सहजयानियों ने शरीर में केवल तीन चक्रों की कल्पना की है— नाभिकंवल, हृदयकंवल और उष्णीय कंवल।

सहजयान में शून्य की भावना को भी प्रश्रय दिया गया है। इनकी शून्य सम्बन्धी धारणा का नागार्जुन पर स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पड़ता है।[6] नागार्जुन ने ४ प्रकार के शून्य बतलाये हैं— शून्य, अतिशून्य, महाशून्य और सर्वशून्य। शून्य[7] आलोकमय अवस्था को कहा गया है। यह एक प्रकार

१— हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि— पृष्ठ २३६

२— „ „ „ पृष्ठ २३६

३— „ „ „ „ २३६

४— दोहाकोष,— दोहा नम्बर ४७—४८

५.... चर्यापद ११।

६—आबस्क्योर रिलीजियस कल्ट्स—दास गुप्त, पृ० ५१।

७—ललित विस्तार—डा० स्लीफमैन द्वारा सम्पादित—पृ० ४१७-४१८

से परतंत्रावस्था है। इसे प्रज्ञा रूप बतलाया जाता है। अतिशून्य[1] आलोकाभास रूप कहा गया है। वज्रयानियों की उपाय यही है। महाशून्य[1] की अवस्था उपर्युक्त दोनों शून्यों के एकाकार की अवस्था कही जा सकती है। इसे अविद्या भी कहते हैं। चौथी अवस्था सर्वशून्य[1] की है। इस अवस्था को परात्पर ज्ञान रूप मानते हैं। यही महासुख की अवस्था है। सहजयानियों को नागार्जुन की उपर्युक्त ४ शून्यों की धारणा मान्य है। सहजयानियों में इसी लिए शून्य तत्व की बड़ी प्रतिष्ठा है।

सहजयानी लोग नाद और बिन्दु की धारणा में भी विश्वास करते हैं।[4] उनकी नाद बिन्दु धारणा बौद्धों के विज्ञानवाद से प्रभावित है। इन्होंने अपनी इस धारणा का विकास बौद्धों के शून्य सिद्धान्त और हिन्दू तान्त्रिकों के नाद बिन्दु धारणा के आधार पर किया है।

सहजयानियों ने संसार के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रकट किए हैं। इनके ऊपर विज्ञानवाद की छाया अधिक है। यह लोग संसार को अधिकतर मन की सृष्टिमात्र मानते हैं। कहीं कहीं यह शंकराचार्य के ढंग पर उसकी नश्वरता का वर्णन करते हैं। मायावाद की धारणा का समावेश भी इनमें पाया जाता है। भूसुकपाद[5] ने अपने एक गीत में लिखा है— यह संसार आदि से ही मिथ्या रूप है। यह अज्ञान या माया के कारण नाम रूपों में दिखाई पड़ता है। यह ठीक रज्जु सर्पवत है। जिस प्रकार रज्जु सर्प हमें काट नहीं सकता उसी प्रकार संसार के दुःख सुख सारहीन हैं। संसार की इस नश्वरता को प्रकट करने के लिए सहजयानी संतों ने कभी तो मृगमरीचिका का, कहीं गन्धर्व नगर का और कहीं बन्ध्या के पुत्र का दृष्टान्त दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सहजयान की संसार सम्बन्धी धारणा जहाँ शून्यवाद और विज्ञानवाद से प्रभावित है वहीं शंकर के मिथ्यावाद से भी अनुप्राणित है।

कालचक्रयानः---- बौद्धों का अन्तिम तान्त्रिक सम्प्रदाय कालचक्रयान है। इस सम्प्रदाय की धारणाएँ और सिद्धान्त शैव शाक्त तान्त्रिकों से बहुत

१—आबसक्योर रिलीजियस कल्ट्स—पृ० ५२
२— ,, ,, ,,
३— ,, ,, पृ० ५२-५३
४— ,, ,, पृ० ४९
५—चर्यापद—पृ० ४१

अधिक प्रभावित प्रतीत होते हैं। इस सम्प्रदाय का साहित्य अभी तक अप्रकाशित है। प्रकाशित ग्रन्थों में केवल सेकोद्देश्य टीका ही एक ऐसा ग्रन्थ है जो महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का परिचय हमें इसी ग्रन्थ से मिलता है। इसके लेखक नरोपा नामक सिद्ध बतलाए जाते हैं। इस ग्रन्थ में स्थान स्थान पर वज्रयानी आचार्यों के प्रति मान्यता प्रकट की गई है। इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ के सिद्धान्त और साधना पद्धति उस मत से बहुत अधिक प्रभावित है। इस सम्प्रदाय का दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ आचार्य अभिनव गुप्त प्रणीत तन्त्रालोक है।

जिस प्रकार वज्रयान में वज्र तत्व को और सहजयान में सहज तत्व को आत्यान्तिक सत्ता के रूप में निरूपित किया गया है उसी प्रकार इस सम्प्रदाय में कालचक्र को आत्यान्तिक सत्ता के रूप में प्रकट किया गया है।[1] जिस प्रकार वज्रयानी वज्र तत्व की और सहजयानी सहज तत्व की उत्पत्ति प्रज्ञा और उपाय के योग से मानते हैं, उसी प्रकार ये लोग कालचक्र की उत्पत्ति प्रज्ञा और उपाय के समरस सुहाग से ही उद्‌भूत मानते हैं।[2] कालचक्र में काल शब्द प्रज्ञा का और चक्र शब्द उपाय का वाचक माना जाता है।

यह लोग भी योग साधना को ही सर्वाधिक महत्व देते हैं। काया शोधन और चक्रभेदन के प्रति इन्होंने भी मान्यता प्रकट की है। काया शोधन के अतिरिक्त यह लोग चित्त शुद्धि और प्राण शुद्धि में भी विश्वास करते हैं।[3] यह बयोन्मुखी सिद्धि का सिद्धान्त नाथपन्थी साधना पद्धति से मिलता जुलता है। नाथ पन्थ मे सदाचरण मन परिष्करण और प्राणायाम को साधना के तीन प्रमुख अंग माने हैं। यहां पर सदाचार के स्थान पर काया शुद्धि का उल्लेख किया गया हैं। वास्तव में जिस प्रकार वाह्य रूप से कायाशुद्धि स्नानादि से होती है, उसी प्रकार उसकी आन्तरिक शुद्धि सदाचरण से होती है। अतएव हम कायाशुद्धि को नाथपंथियों का ही तत्व मान सकते हैं। चित्त शुद्धि और प्राण शुद्धि को क्रमशः नाथपन्थी साधना का मनसाधना और प्राणसाधना का प्रतिरूप मान सकते हैं।

१—इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म-दास गुप्ता, पृ० ७४-७९।
२—,, ,, ,, ,, ,,
३—बौद्ध दर्शन मीमांसा—बलदेव उपाध्याय, पृ० ४५५

अध्याय

बौद्ध धर्म का विचार पक्ष-पूर्वार्ध : २ :

प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त और मध्यकालीन साहित्य पर उसका प्रभाव

परम तत्व के सम्बन्ध में बौद्ध विचार

परम तत्व के सम्वन्ध में भगवान बुद्ध का मौन भाव

परमार्थ के सम्बन्ध में अन्य बौद्ध मत

(क) विज्ञानवादी मत

(ख) शून्यवादी मत

(ग) क्षणिकवादी दृष्टिकोण

(घ) सहज तत्व

(च) वज्र तत्व

(छ) काल चक्र तत्व

मध्यकालीन साहित्य पर भगवान बुद्ध के मौन भाव का प्रभाव

बौद्ध विज्ञानवाद का मध्यकालीन साहित्य पर प्रभाव

शून्यवाद तथा मध्यकालीन साहित्य पर उसका प्रभाव

बौद्ध क्षणिकवाद, मध्यकालीन साहित्य पर उसका प्रभाव

सहजवाद, मध्यकालीन साहित्य पर उसका प्रभाव

आत्मा के प्रति बौद्धों का दृष्टिकोण

अनात्मवाद : मध्यकालीन कवियों पर उसका प्रभाव

बौद्ध धर्म का कर्मवादी सिद्धान्त तथा पुनर्जन्मवाद

मध्यकालीन साहित्य पर उसका प्रभाव

बौद्ध निर्वाण का स्वरूप

बुद्ध वचनों में निर्वाण

मध्यकालीन साहित्य पर उसका प्रभाव

दार्शनिक सम्प्रदायों में निर्वाण का रूप

मध्यकालीन साहित्य पर उसका प्रभाव

प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त

भगवान बुद्ध के उपदेशों की एक दृढ़-दार्शनिक आधार भूमि भी है।

उस आधार भूमि का सबसे दृढ़ स्तम्भ प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त है। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है सापेक्ष कारणतावाद। भगवान बुद्ध के मतानुसार जगत की समस्त घटनाओं और वस्तुओं में सर्वत्र कार्य कारण का नियम क्रियमाण है। इस सिद्धान्त की खोज भगवान बुद्ध ने दुःख की कारणरूपा तृष्णा का निराकरण करने वाले यथार्थ ज्ञान के रूप में की है। बुद्ध की देशना में इसका बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है।

इस सिद्धान्त की प्रतिपादना के कई लक्ष्य थे। सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य ईश्वरवाद और आत्मवाद का खण्डन करना था। ईश्वरवादी दर्शनों में प्रत्येक विनाश और उत्पत्ति का कारण ईश्वर बताया गया है। किन्तु बौद्ध लोग प्रत्येक विनाश और उत्पत्ति को एक चिरन्तन नियम का अंग मानते थे। इस नियम को स्वीकार कर लेने पर आत्मा ऐसी वस्तु को मानने की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि पुनर्जन्म का प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त से एक निश्चित रूप सिद्ध हो जाता है। इसके लिए आत्मा जैसी वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती।

पाली निकायों में इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में अधिक कुछ नहीं दिया है। उनमें केवल "अस्मिनसति इदं भवति" भर मिलता है। इस सिद्धान्त को दार्शनिक और शास्त्रीय स्वरूप की मीमांसावाद में हुई है। आगे मैं उसके स्वरूप पर प्रकाश डालूँगी।

यह नियम बुद्ध धर्म के सभी सम्प्रदायों में समान रूप से मान्य है। इस नियम के अनुसार ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं रहती इसीलिए बहुत से बौद्ध लोग इस नियम को ही ईश्वर का प्रति रूप मानते हैं। ईश्वरवाद के खण्डन के लिए यह कुठार रूप है। इस नियम की कल्पना करके बौद्धों ने विश्व दर्शन को एक नवीन और मौलिक सिद्धान्त दिया। यह सिद्धान्त सार्वभौमिक सार्वकालिक और चिरन्तन है।

मध्य कालीन हिन्दी साहित्य में प्रतीत्य समुत्पादवाद की अभिव्यक्ति :—

भगवान बुद्ध की सबसे बड़ी देन मध्यमाप्रतिपदा का सिद्धान्त है। इसके प्रमुख पक्ष दो हैं। एक अष्टांगिक मार्ग और दूसरा प्रतीत्यसमुत्पादवाद। इस प्रतीत समुत्पादवाद के सैद्धांतिक पक्ष का स्पष्टीकरण हम ऊपर कर आए हैं। यहां पर यह दिखाना चाहते हैं कि मध्ययुग के कवियों पर उसका प्रभाव कितना और किस रूप में पड़ा था। प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है 'इसके होने से यह उत्पन्न होता है।' दूसरे शब्दों में हम प्रत्ययों से उत्पत्ति का नियम कह सकते हैं। यही बौद्ध दर्शन की कार्य कारण शृंखला का सिद्धान्त

है। इस सिद्धान्त को भगवान् बुद्ध ने उतना ही महत्व दिया है जितना वह धर्म को देते थे। एक स्थल पर उन्होंने लिखा भी है कि जो कोई धर्म को देखता है वह प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है। उन्होंने इस सिद्धान्त क्रम से मनुष्य किस प्रकार संसार के दुख जाल में फँसता है और किस प्रकार उससे मुक्त हो सकता है, इसका अच्छा विवेचन किया है। इसके अनुसार संसार के समस्त दुखों की शृंखला का कारण अविद्या है। संयुक्त निकाय में उससे बन्धन और मोक्ष का क्रम इस प्रकार दिया हुआ है।

१-२ अविद्या के प्रत्यय से संस्कार
२-३ संस्कारों के प्रत्यय से विज्ञान
३-४ विज्ञान के प्रत्यय से नाम रूप
४-५ नाम रूप के प्रत्यय से षडायतन
५-६ षडायतन के प्रत्यय से स्पर्श
६-७ स्पर्श के प्रत्यय से वेदना
७-८ वेदना के प्रत्यय से तृष्णा
८-९ तृष्णा के प्रत्यय से उपादान
९-१० उपादान के प्रत्यय से भव
१०-११ भव के प्रत्यय से जाति
११-१२ जाति के प्रत्यय से जरा मरण शोक परिदेव—दुख

दौर्मनस्य और हैरानी और परेशानी का समुदय होता है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण दुख स्कन्ध का समुदय होता है। यही कहा जाता है 'प्रतीत्यसमुत्पाद'।

पुनः

अविद्या के रुक जाने से संस्कार रुक जाते हैं।
संस्कारों के रुक जाने से विज्ञान रुक जाता है।
विज्ञान के रुक जाने से नाम रूप रुक जाते है।
नाम रूप के रुक जाने से षडायतन रुक जाने जाते है।
षडायतन के रुक जाने से स्पर्श रुक जाती है।
स्पर्श के रुक जाने से वेदना रुक जाती है।
वेदना के रुक जाने से तृष्णा रुक जाती है।
तृष्णा के रुक जाने से उत्पादन रुक जाता है।
उत्पादन के रुक जाने से भव चक्र रुक जाता है।
भव के रुक जाने से जाति रुक जाती है।

जाति के रुक जाने से जरा मरण शोक रुक जाते हैं।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण दुःख स्कन्ध रुक जाता है। यही प्रतीत्य समुत्पादवाद है[१]।

उपर्युक्त विवेचन में एक शास्त्रीय व्यवस्था दिखाई पड़ती है। यदि शास्त्रीय व्यवस्था के क्रम को हटाकर देखें तो समस्त भवचक्र का कारण तृष्णा ही लगेगी। बौद्ध दर्शन मे इसी लिए सबसे अधिक बल तृष्णा के निरोध पर ही दिया गया है। धम्म पद में एक स्थल पर लिखा है 'अनेक जन्मों तक में संसार में लगातार भटकता रहा-गृह निर्माण करने वाले की खोज में। बार बार का जन्म दुःख मय हुआ। हे गृह के निर्माण करने वाले मैंने तुम्हें देख लिया अब तुम फिर घर नही बना सकते तुम्हारी कड़िया सब टूट गई है। गृह का शिखर गिर गया तृष्णाओं का क्षय हो गया है[२]।' इस अवतरण में स्पष्ट व्यञ्जित किया गया है कि तृष्णा के क्षीण हो जाने पर मनुष्य भव चक्र से मुक्त हो जाता है इसी ग्रन्थ में एक दूसरे स्थल पर तृष्णा को विष रूप कहा गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रतीत्य समुत्पाद की मूल प्रेरिका तृष्णा[३] है। यहाँ पर एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि तृष्णा का क्या कारण है। इस सम्बन्ध मे भगवान बुद्ध का कहना है 'भिक्षुओं अविद्या और तृष्णा से संचालित भटकते फिरते प्राणियों की पूर्व कोटि का पता नही चलता[४]।' अब मैं प्रतीत्य समुत्पाद के प्रसंग में आए हुए पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण करूंगी।

ऊपर अनुलोम और प्रतिलोम के क्रम से प्रतीत्य समुत्पाद का स्वरूप निर्दिष्ट किया है। १२ प्रत्ययों का उपर्युक्त क्रम सर्वत्र पिटक ग्रन्थो मे उपलब्ध नही होता। दीर्घनिकाय मे यह क्रम भी उपलब्ध नहीं होता इसी प्रकार और भी ग्रन्थो में विविध प्रत्ययो के क्रम की यह व्यवस्था नही मिलती।[५] किन्तु इससे इतना अवश्य स्पष्ट होता है कि बौद्ध दर्शन एक विकार से दूसरे विकार और दूसरे से तीसरे विकार की उत्पत्ति बताता है। अन्त में वे सब विकार भव चक्कर का कारण बन जाते हैं। यदि मूल विकार का मूलोच्छेदन कर डाला जाय तो भव चक्कर समाप्त हो सकता है और निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। यहाँ पर हम समुत्पाद की जिन १२

१—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन – भरतसिंह उपाध्याय पृ० ३९८

२—धम्म पद पृ० ६५

३—धम्म पद, बुद्धवग्गपद २

४—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन

५—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन भाग १ पृ० ३९१से३९१तक

कड़ियों का उल्लेख ऊपर कर आए उनका संक्षिप्त विवेचन करना आवश्यक समझते हैं।

पहले क्रम में अविद्या से संस्कार की उत्पत्ति बतलाई गई है। यहाँ पर बौद्ध अविद्या के रूप का स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। बौद्ध अविद्या का अर्थ है चार आर्य सत्यों की उपेक्षा या अज्ञानता। यह बात दीर्घनिकाय के महापरिनिर्वाण सुत्त के निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट है– "भिक्षुओ चार आर्य सत्यों के प्रतिवेद न होने से इस प्रकार से दीर्घ काल से मेरा और तुम्हारा यहाँ आगमन या ससरण हो रहा है '''''' '' जब यह देख लिये जाते तो भव नेत्री नष्ट हो जाती है, जड़ कट जाती है, फिर आवागमन नहीं रहता।[1] "इस उद्धरण से स्पष्ट प्रकट है कि अविद्या से भगवान् का तात्पर्य चार आर्य सत्यों के अज्ञान से था। इसी प्रकार सस्कार शब्द भी अपने ढंग पर प्रयुक्त हुआ है। संस्कार का अर्थ अनित्य विकार लिया गया है।

दूसरी कड़ी के अन्तर्गत संस्कारों से विज्ञान की उत्पति बताई गई है। विज्ञान शब्द भी यहां अपने स्वतन्त्र अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। विज्ञान का अर्थ पूर्वजन्म के कुशल और अकुशल कर्मों के फल स्वरुप उद्भूत चित्तधाराओ के लिए प्रयुक्त हुआ है। पुनर्जन्म का कारण यही विज्ञान है।

तीसरी कड़ी के अन्तर्गत विज्ञान से नाम रूप की उत्पत्ति बताई गई है। नाम शब्द भी बौद्ध दर्शन में अपना स्वतत्र रूप रखते हैं।

बौद्ध दर्शन में नामरूप शब्द का प्रयोग भी अपने ही ढंग पर किया गया है। बौद्ध दर्शन में पाँच स्कन्धो की चर्चा बराबर करती आई हूँ। इन पाँच स्कन्धों के दो विभाग किए गए हैं। एक नाम और दूसरा रूप। नाम के अन्तर्गत वेदना संज्ञा, संस्कार और विज्ञान नामक स्कन्ध आते है। रूप नामक स्कन्ध रूप के अन्तर्गत आता हैं। बौद्ध दर्शन मे नाम रूप की यही व्याख्या मिलती है।[2]

चौथी कड़ी के अन्तर्गत नाम रूप से षडायतन की उत्पत्ति बतलाई गई है। षडायतन के अन्तर्गत पाँच ज्ञानेन्द्रियों और छठा मन का सम्मिलित रूप आता है। षडायतन से फिर स्पर्श की उत्पत्ति होती है। इन्द्रियों और विषय का सुयोग ही स्पर्श है। ऊपर जिन षड़ायतनो का उल्लेख किया गया है उन्ही के विषय स्पर्श कहलाते है। पुनश्च स्पर्श से वेदना की उत्पत्ति होती है। इन्द्रियों का विषय से जो सम्बन्ध होता है तो मन का जो पहला प्रभाव पड़ता है उसे वेदना कहते है। यह वेदना सुखरूप, दुखरूप, सुख दुख

१—दीर्घनिकाय २।३

२—मज्झिम निकाय १।१।९

उभयात्मक और सुखदुःख अनुभयात्मक हो सकती है[1]।

वेदना के प्रत्यय से तृष्णा की उत्पत्ति बतलाई जाती है। ६ प्रकार के विषयों के सदृश ही ६ प्रकार की तृष्णा होती है। इनमें से किसी पदार्थ के प्रति काम वासना को लेकर तृष्णा का उदय होता है तब वह काम तृष्णा कहलाती है। इसी प्रकार मूढ़ व्यक्ति में शाश्वत जीवन के प्रति लालसा उत्पन्न होती है। तब उसे भव तृष्णा कहते है। इसी प्रकार जब व्यक्तिगत जीवन के विनाश के भाव को लेकर तृष्णा उत्पन्न होती है तब उसे विभव तृष्णा कहते हैं। इस प्रकार बौद्ध दर्शन में ३ प्रकार की तृष्णाओं का उल्लेख किया गया है[2]। इसी त्रिविध तृष्णा से भव चक्र की उत्पत्ति होती है। यही समस्त दुःखों का कारण है।

हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा के कवियों पर प्रतीत्य समुत्पाद का प्रभाव :—

हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा में प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त के शास्त्रीय पक्ष के दर्शन नहीं होते। किन्तु तृष्णा ही प्रतीत्य समुत्पाद या भव चक्र का कारण है इस सिद्धान्त की अभिव्यक्ति उसमें अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार से मिलती है। तृष्णा की निन्दा संत कबीर ने बहुत की है। वे लिखते हैं 'कबीर कहते हैं तृष्णा बड़ी पापनी है, उससे प्रेम नहीं करना चाहिये। वह बुरी तरह से पीछे पड़ जाती है और जिसके फल स्वरूप मनुष्य को अनेक पापों का भागी होना पड़ता है'। इस तृष्णा की यह विशेषता है कि जितना इसको सन्तुष्ट करने की चेष्टा की जाती है उतनी ही यह बढ़ती जाती है। किन्तु जब जब इसे भक्ति जल से सींचा जाता है तब यह जवासे की तरह कुम्हलाने लगती है।[4] तृष्णा किस प्रकार सारे संसार को आक्रान्त किए हुए है इसका वर्णन कबीर ने सुन्दर ढंग से किया है। वे लिखते है 'तृष्णा अग्नि के सदृश हैं। वह प्रलय कर देती है। कभी तृप्त नहीं होती।

१—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ३९६-९८

२　,,　　　,,　　　,, ३९८।

३—कबीर त्रिस्ना पापिनी ता से प्रीति न जोरि।
　पैंड पैंड पाछे पड़ै। लागै मोटी खोरि॥ क० सा० सं० पृ० १४१

४—त्रिस्ना सींचो न बुझै दिन दिन बढ़ती जाय।
　ज्वासा का रुख ज्यों, घन मेहाँ कुम्हिलाय॥
　　　　　　　　कबीर साखी संग्रह पृ० १४१

वह सुर नर मुनि राजा रंक सब को भस्म कर देती है।[1] यह तृष्णा शरीर के नष्ट होने पर जीवित रहती है। कबीर कहते हैं देह नष्ट हो जाती है इन्द्रियाँ नष्ट हो जाती हैं किन्तु तृष्णा नही मरती है।[2] इस प्रकार मैं कह सकती हूँ कि संत लोग भी तृष्णा की भयंकरता से परिचित थे। उन्होंने ने भी उसे भव का कारण रूप व्यञ्जित किया है।

सूफी काव्य धारा और प्रतीत्य समुत्पादवाद :—

हमें प्रतीत्य समुत्पादवाद का अधिक प्रभाव सूफी काव्य धारा पर भी दिखाई पड़ता है। केवल इतनी ही छाया मिलती है कि बौद्धों की भाँति इन्होंने भी तृष्णा को ही समस्त दुखों का कारण व्यंजित किया है और न उस तृष्णा के निराकरण के लिए वैराग्य भाव अपेक्षित माना है। जायसी ने अपने पद्मावत मे दिखलाया है कि तृष्णा ही मनुष्य में भोग की कामना उत्पन्न करती है और यह भोग-कामना लोभ आदि विकारो को जन्म देती है जिससे भव का बंधन दृढ़ हो जाता है[3]।

तादिन व्याध भए जिउलेवा। उठे पाँख, भा नाव परेवा ।।
मैं बियाधि तिसना संग साधू। सूझे भुगुति न सूझ वियाधू ।।
हमहि लोभाये मेला चारा। हमहि गर्बवे चाहे मारा ।।
हम निचित वह आव छिपाना। कौन बियाधहि दोष अपाना ।।
सौ औगुन कित कीजिये जिउ दीजे जेहि काज।
अब कहना है किछे नहिं,मस्ट भली, पखिराज।

इसी महाकवि ने एक दूसरे स्थल पर लिखा हैं जब तक मनुष्य के साथ नश्वरता की खाक नही लगती तब तक तृष्णा नही मरती।
"जो लहि ऊपर घार न यो तो लहि यह तिस्ना नहिं मरे"[4]

प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ उत्पत्ति और विनाश भी लिया जाता हैं। प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त के अनुसार प्रतिक्षण एक वस्तु नष्ट होती है। और दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है। उत्पत्ति और विनाश का यह क्रम अविरल

१—तृष्ना अग्नि प्रलय किया तृप्त न कबहु होय।
सुर नर मुनि और रंक सब भस्म करत है सोय ।।
का० सा० पृ० १४६

२—देह मरै इन्द्री मरै तृस्ना मरिन न निदान।
तृस्ना केर विशेषता कह लगि करौं बखान ।। वही पृ० १४३

३—पदमावत पृ० २८

४—पदमावत

गति से चला करता है। इसका संकेत जायसी ने अखरावट की निम्नलिखित पंक्तियों में किया है।[१]

पानी महं जस बुल्ला, तस यह जग उतिराइ।
एकहि आवत देखिए, एकहि जगत बिलाय।

उपर्युक्त पंक्तियों में जायसी ने जगत को प्रतीत्य समुत्पाद रूप ही व्यंजित किया है। यह कहने में मुझे संकोच नहीं है कि जायसी बौद्धों के प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त से व्यावहारिक रूप से परिचित थे।

रामकाव्यधारा पर प्रतीत्य समुत्पादवाद का प्रभाव-- प्रतीत्य समुत्पाद वाद का जो रूप ऊपर निर्दिष्ट किया गया है वह शास्त्रीय है और अपनी सम्पूर्णता में किसी भी कवि में प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु इसका प्रभाव प्रत्येक कवि पर दिखलाई पड़ता है। किस प्रकार अविद्या या तृष्णा के कारण विकारों की शृंखला उदय होती जाती है और भव चक्र का निर्माण करती है। इस बात का प्रभाव मध्यकालीन सभी कवियों पर दिखलाई पड़ता है राम काव्यधारा के कवि तुलसी ने मानस रोगों का जो उल्लेख किया है वह भी प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त से ही प्रभावित है। यह बात निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट है।

सुनहु तात अब मानस रोगा। जेहिते दुख पावहिं सब लोगा।
मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु शूला।
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा।
प्रीत करहिं जो तीनिउ भाई। उपजहि सन्निपात दुखदाई।
विषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना।
ममता दादु कडु इरषाई। हरष विषाद गरहु बहुताई।
पर सुख देखि जरनि सोई छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई।
अहंकार अति दुखद डहरुआ। दंभ कपट मद मान नेहरुआ।
तृष्ना उदर वृद्धि अति भारी। त्रिविधि ईषना तरुन तिजारी।
जुगविधि ज्वर मत्सर अविवेका। कहँ लग कहउँ कुरोग अनेका।
एक व्याधि बस नर मरहिं, ए असाधि बहु व्याधि।
पीड़हिं सन्तत जीव कहुँ, सो किमि लहइ समाधि।
नेम धरम आचार तप, ग्यान जग्य जप दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं, रोग जाहि हरिनाम।
एहि विधि सकल जीव जग रोगी। सोक हरष भय प्रीति वियोगी।

१—जा० ग्र० पृ० ३२७-अखरावट

मानस रोग कछुक मैं गाये। हहि सबके लखि बिरले न्हि पाये।

मानस के उपर्युक्त अवतरण में मोह को समस्त व्याधियों इत्यादि का मूल कहा गया है जबकि बौद्ध दर्शन में तृष्णा को सब व्याधियों का मूल कहा गया है। वहाँ तृष्णा से ही समस्त बन्धनों और भव दुखों की उत्पत्ति बताई गई हैं। और यहां पर मोह से, किन्तु सिद्धान्त दोनों में एक ही लागू दिखाया गया है वह सिद्धान्त है प्रतीत्यसमुत्पाद का।

कृष्ण काव्य धारा के कवियों पर प्रतीत्य समुत्पाद का प्रभाव :—

जिस प्रकार मध्ययुग की अन्य काव्य धाराओं पर प्रतीत्यसमुत्पादवाद के सिद्धांत का प्रभाव किसी न किसी रूप में दिखाई पड़ता है। उसी प्रकार कृष्ण-काव्य धारा के कवियों पर भी उसका प्रभाव ढूँढ़ा जा सकता है। उदाहरण के लिए हम इस काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि सूर के उदाहरण ले सकते हैं। देखिए सूर के निम्नलिखित पद पर बौद्धों के प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त का प्रभाव है :—

ऐसे करत अनेक जन्म गए, मन संतोष न पायो।
दिन दिन अधिक दुराशा लाग्यों सकल लोक भ्रमि धायो
सुति सुति स्वर्ग; रसातल, भूतल तहां तहां उठि धायो,
काम क्रोध मद लोभ अगिनि तें कहूँ न जरत बुझायो।
सुत तनया बनिता विनोद रस इहि जुर जरनि जरायो,
मैं अग्यान अकुलाइ अधिक लै चरत मांझ घृत नायो।
भ्रमि भ्रमि अब हारयो हिय अपने देखि अनल जग छायों,
सूरदास प्रभु तुम्हारी कृपा बिनु कैसेउ जात न सोयो।

इसी प्रकार का एक दूसरा पद भी है जिसमें रूपक के सहारे एक विकार से दूसरे विकार की उत्पत्ति का भाव व्यंजित किया गया है। इस एक पद का भावार्थ है कि "मैं भव चक्र मे फँसा हुआ अधम जीव हूँ। मैंने आशा या तृष्णा रूपी कुमारी से विवाह कर रखा है। धर्म और सत्य जो मेरे माता पिता हैं उनका परित्याग कर दिया है।" इसी प्रकार ज्ञान विवेक और दया आदि भाई बहनों को भी छोड़ दिया है। आशा रूपी कुमारी की बहन तृष्णा से अधिक प्रेम कर लिया है आशा और तृष्णा से प्रेम करने के कारण सदैव दुख में फँसा रहता हूँ।' इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर भी उन्होंने लिखा है,

१—तुलसीदर्शन, पृ० ९७ मे उद्धृत
२—पृ० ८१, सूरसागर
३ सूरसागर पृ०९०

"अनेक प्रकार के मनोरथो में फँसकर मैं दुख झेल रहा हूँ फिर भी तृष्णा नहीं बुझती है।"[1]

सूर ने एक अन्य स्थल पर संसार का वर्णन करते हुए लिखा है कि यह संसार समुद्र के सदृश है जिसमें मोह का जल भरा हुआ है और तृष्णा की तरंगे उठती रहती हैं।[2] इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर उन्होंने वर्षा के रूप से प्रतीत्य समुत्पाद रूप भव का वर्णन किया है। वह लिखते हैं कि हे भगवान इस संसार के दुखों से हमारा उद्धार करो। यह भव जल अनेक प्रकार से हमें डुबो रहा है। ममता घटा रूप है, मोह की बूँदे बरस रही हैं, काम की नदी उमड़ रही है डूबते हुए इसमें कही थाह नही मिलती हैं, केवल गुरूजनों का आश्रय ही इससे बचने का उपाय है। क्रोध और लोभ गरज रहे हैं। कही पर किनारा नही दिखाई पड़ता है, तृष्णा रूपी बिजली क्षण क्षण मे चमक रही है, और हमारे शरीर को अनेक प्रकार से जला रही है[3] इत्यादि।

बौद्धों के सदृश सूर भी तृष्णा या कामना को ही भवचक्र का मूल मानते थे। निर्वाण प्राप्ति मे इस तृष्णा का निराकरण वह आवश्यक समझते थे। उन्होंने एक स्थल पर लिखा है[4]।

> जो लौं मन कामना न छूटै।
> तौ कहा जोग जज्ञ व्रत की हैं बिनु कन तुसको कूटै।

१—निशदिन दुखित मनोरथ करिकरि पावत तृष्णा न बुझानी
सूरसागर पृ० ९८

२—यह ससार समुद्र मोह जल तृष्णा तरंग उठत अतिभारी
—सूरसागर

३—अब मोहि मज्जत क्यो न उबारो—पृ० १११ सूरसागर
दीनबन्धु करुनानिधि स्वामी, जन के दुख निवारो।
ममता-घटा मोह की बूँदें, सरिता मैन अपारौ।
बूड़त कतहुँ थाह नहि पावत, गुरुजन ओट अधारो।
गरजत क्रोध लोभ कौनारो, सूझत कहुँ न उतारो।
तृष्णा तडित चमकि छन ही छन अह तन निसी यह तन जारो।
यह भव जल कलिमलिहि गहै है, बोरत सहस प्रकारो।
सूरदास पतितन के संगी बिरदहि नाथ सम्हारो॥
सूरसागर पृ० ११०

४—सूरसागर पृ० १९४

परम तत्व के सम्बन्ध में बौद्ध विचार

परम तत्व के सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध का मौन भाव:—

भगवान बुद्ध के सम्बन्ध में कहते हैं कि वह नास्तिक थे अर्थात् वे किसी आत्यान्तिक सत्ता में विश्वास नहीं करते थे। किन्तु यह धारणा बहुत सारपूर्ण नहीं है। जहां तक मैं समझ सकी हूँ भगवान बुद्ध प्रच्छन्न आस्तिक थे।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भगवान बुद्ध ने आत्मवाद का खण्डन किया है और आत्मवाद ही आस्तिकता की आधार भूमि है किन्तु जिस आत्मवाद का खण्डन तथागत ने किया था वह उपनिषदिक आत्मवाद से थोड़ा भिन्न है। उपनिषदों में जिस आत्मवाद का प्रतिपादन किया गया है। वह शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और नित्य तत्व है। किन्तु भगवान बुद्ध ने अहंकार मूलक आत्मवाद का खण्डन किया है। उनका लक्ष्य पुद्गल से अहंकार का उच्छेद करना था। अपने इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्हें खण्डनात्मक शैली अपनानी पड़ी है। किन्तु अहंकार मूलक आत्मवाद का खण्डन करने के कारण मैं उन्हें अनात्मवादी नहीं कह सकती। मेरी अपनी धारणा यह है कि तथागत ने परमतत्व या मूल आत्म तत्व के सम्बन्ध मे मौनावलम्बन किया था। शुद्ध बुद्ध मुक्त आत्मतत्व के सम्बन्ध में उन्होने लिखा है— 'नेतदबुद्धेन भाषितम्" अर्थात् बुद्ध ने उस आत्मतत्व की व्याख्या नहीं की है। भगवान बुद्ध ने ऐसा क्यों नहीं किया है। इसका संक्षिप्त उत्तर यही है कि वे अव्याकृत प्रश्नों पर विचार करना अनावश्यक और समय का दुरुपयोग मात्र मानते थे।

श्रावस्ती के जैतवन में विहार के अवसर पर मालकं पुत्र ने भगवान बुद्ध से आत्मजीव और ब्रह्म सम्बन्धी दस प्रश्न किये थे। किन्तु भगवान ने उन्हें अव्याकृत कह कर शान्त कर दिया था। इसी प्रकार पोट्ठपाद परिव्राजक ने जब भगवान बुद्ध से इसी प्रकार के प्रश्न किये तो भगवान बुद्ध ने उनसे स्पष्ट कह दिया।

'इस प्रकार के प्रश्नो का उत्तर देना न तो अर्थ युक्त, न धर्म युक्त है, न आदि ब्रह्मचर्य के लिए उपयुक्त है, न निर्वेद के लिए, न विराग के लिए, न निरोध के लिए, न उपशम के लिए, न अभिज्ञा के लिए, न सम्बोधि के लिए और न निर्वाणके लिए है। इसीलिए मैंने इसे अव्याकृत कहा है तथा मैंने व्याकृत किया है दुःख को, दुःख के हेतु को, दुःख के निरोध को तथा दुःख निरोध गामी

१–मज्झिम निकाय का चूलमालुंक्यसुत्त (६३), हिन्दी अनुवाद— पृ० २५१—५३

प्रतिपद मार्ग थो। अपने इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने एक सुन्दर दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। एक बार उन्होंने कहा था हे भिक्षुओं, जैसे किसी आदमी को विष से बुझा तीर लगा हो और उसके बन्धु बान्धव उसे तीर निकालने वाले वैद्य के पास ले जाय, लेकिन वह कहे मैं तब तक तीर नहीं निकालूँगा जब तक यह पता न लग जाय कि किस आदमी ने तीर मारा, वह क्षत्रिय है या ब्राह्मण, वैश्य है या शूद्र है, जब तक यह न जान लूँ कि तीर मारने वाले का अमुक नाम है, अमुक गोत्र है, अथवा वह लम्बा है, बड़ा है, या छोटे कद का है, तो हे भिक्षुओं, उस आदमी को इसका पता लगेगा ही नहीं और वह यों ही मर जायगा[1]। उपर्युक्त दृष्टान्त के सहारे तथागत ने यह व्यन्जित किया है यदि मनुष्य आत्मा, जीव, ब्रह्म आदि के अनावश्यक प्रश्नों में उलझ जाय तो इस छोटे से जीवन में भव रोगों का इलाज करना असम्भव हो जाता है।

यहां पर एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि अव्याकृत प्रश्नों के सम्बन्ध में तथागत के मौनावलम्बन का रहस्य क्या है? इस प्रश्न पर मिलिन्द प्रश्न में अच्छा प्रकाश डाला गया है। नागसेन ने मिलिन्द के इस प्रश्न का उत्तर कि भगवान बुद्ध ने मौनावलम्बन क्यों किया था, उत्तर देते हुए कहा था "महाराज भगवान ने यथार्थ में आनन्द से कहा था कि बुद्ध बिना कुछ छिपाये धर्मोपदेश करते हैं और यह भी सच्चा है कि मालंक पुत्र के प्रश्नों का उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया था किन्तु यह न तो अज्ञानवश था और न छिपाने की इच्छा के कारण। इसका एक व्यावहारिक कारण भी था।

लंकावतारसूत्र[2] के अनुसार प्रश्न चार प्रकार के होते हैं–

१—एकांश व्याकरणीय जिनका उत्तर बहुत सीधा सादा होता है जैसे जो वस्तु उत्पन्न हुई हैं क्या वह मरेगी। इसका उत्तर है हां।"

२—विभज्य व्याकरणीय- वे प्रश्न जिनका उत्तर सीधे तौर से दिया जा सकता है। जैसे क्या मृत्यु के अनन्तर प्रत्येक प्राणी जन्म लेता है उत्तर क्लेश से विमुक्त प्राणी का जन्म नहीं होता और क्लेश युक्त प्राणी का जन्म होता है।

३—प्रति पृच्छा व्याकरणीय- वे प्रश्न जिनका उत्तर एक दूसरा प्रश्न पूँछ कर दिया जाता है जैसे क्या मनुष्य उत्तम है या अधम है। इस पर पूछना पड़ेगा किसके सम्बन्ध में। यदि पशुओं के सम्बन्ध में यह प्रश्न है तो मनुष्य उससे उत्तम है यदि देवताओं के सम्बन्ध में यह प्रश्न है तो वह उनसे अधम है।

१—पोट्ठपाद सुत्त सुत्त(१।९) दीघनिकाय हिंदी अनुवाद पृ० ७१
२—लकांवतार सूत्र सू० २।१७३

४—स्थापनीय- ये प्रश्न जिनका उत्तर उन्हें बिल्कुल छोड़ देने से ही दिया जाता है। जैसे क्या पंचस्कन्ध और जीवित प्राणी एक ही है, इस प्रश्न को छोड़ देने से ही इसका उत्तर दिया जा सकता है। क्यों बुद्ध धर्म कोई तत्व नही है। नागसेन के अनुसार मालंक पुत्र के प्रश्न इसी कोटि के थे, इसी लिए उन्होने मौन रहकर ही उनका उत्तर दिया था। किन्तु इन प्रश्नों के मौनावलम्बन का यह अर्थ कदापि नहीं लगाना चाहिए कि भगवान बुद्ध किसी परम तत्व को नहीं मानते थे। मेरी तो अपनी धारणा यहां तक है कि वे आत्म तत्व तक के अस्तित्व को प्रच्छन्न रूप से स्वीकार करते थे। उन्होंने एक स्थान पर भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा था "भिक्षुओं इसी शरीर में तथागत अननुवेद्य हैं।"

आगे चल कर परमार्थ तत्व के सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध के मौनावलम्बन को लेकर और भी अधिक विस्तार किया गया। नागार्जुन ने परम तत्व को 'याच्यावाच्यम्'[१] कह कर बुद्ध के मौनावलम्बन का ही समर्थन किया है। बोधिचर्यावतार[२] का लेखक नागार्जुन से भी आगे बढ़ गया है। उसने बुद्ध धर्म को ही अनक्षर धर्म कह डाला है। लंकावतार सूत्र[३] में बात यहाँ तक बढ़ा डाली गई है कि बुद्ध ने कभी उपदेश ही नहीं दिया था। इसके फल स्वरूप 'अवचन बुद्ध वचन की बहुत दिनों तक अच्छी धूम रही। नागार्जुन ने स्पष्ट घोषणा की है "हे विभो आपने एक भी अक्षर का उच्चारण नहीं किया है, परन्तु अपने विनेय जनों को धर्म की वरषा कर शान्त कर दिया[४]।" अन्त मे चन्द्रकीर्ति को यह सिद्धान्त प्रतिपादित करना पड़ा कि "परमार्थो हि आर्याणां तुष्णी भव[५]।"

उपर्युक्त उद्धरणों और विवेचना के प्रकाश में यह निस्संकोच कह सकती हूँ कि भगवान् बुद्ध नास्तिक नही थे वरन् वे अनक्षर तत्वों के सम्बन्ध में मौनावलम्बन ही श्रेयस्कर मानते थे।

परमार्थ तत्व के सम्बन्ध में मौनावलम्बन वाली बात नई नहीं है। उपनिषदों का नेति नेति इसी का प्रतिरूप है। यहाँ तक आचार्य शंकर तक ने इसका समर्थ किया है[६]। उन्होंने अपनी बात के समर्थन में बाष्कलि की कथा उद्धृत की है। वह इस प्रकार हैः-

---

१—महायान विशक। १ लोक १।
२—बोधिचर्यावतार पृ० ३६५
३—लंकावतार सूत्र पृ० १४३-१४४
४—नागार्जुन कृत निरुपमस्तव १ लोक ७
५—माध्यमिक वृत्ति पृ० ५६
६—शांकर-भाष्य पृ० ३।२।१७

'वाष्कलि ऋषि वाध्व ऋषि के पास ब्रह्म के व्याख्यान के निमित्त गए। उन्होंने उनसे ब्रह्म विषयक प्रश्न पूछें। इस पर वाध्व बिलकुल मौन रहे। दूसरी बार पूछने पर भी वे मौन ही रहे। तीसरी बार पूछने पर भी उनकी मौन मुद्रा में कोई अन्तर नहीं आया। इस पर वाष्कलि ने पूछा महाराज आप उत्तर क्यों नहीं देते क्या मुझ से अपराध हो गया है। इस पर वाध्व ऋषि ने उत्तर दिया—हे वाष्कलि मैं आपके प्रश्नों का उत्तर बार बार दे रहा हूँ न मालुम आप क्यों नहीं समझते। इस पर वाष्कलि ने कहा महाराज आप बराबर मौन हैं। वाध्व ऋषि बोले भद्र मौन ही तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर है'[1]। इस प्रकार परमार्थ तत्व के सम्बन्ध में प्राचीन वैदिक ऋषि तक मौनावलम्बन को ही उपयुक्त समझते थे उसको यदि भगवान् बुद्ध ने अपनाया तो उन बेचारों को नास्तिक कह कर क्यों कलंकित किया जाय। सच तो यह है कि संसार के विज्ञ पुरुषों से उनका कोई मतभेद नहीं था। उन्होने कहा भी है–भिक्षुओ! जिसे संसार के विज्ञ पुरुष असत कहते हैं उसे मैं भी असत मानता हूँ और भिक्षुओ, जिसे संसार के विज्ञ पुरुष सत रूप कहते हैं उसे मैं भी सतरूप ही मानता हूँ[2]।

मध्य युगीन कवियों पर बुद्ध के तत्व विवेचन सम्बन्धी मौनावलम्बन का प्रभाव

मध्य युगीन कवियों पर बौद्धों के मौनावलम्बन के सिद्धान्त का प्रभाव विविध प्रकार से और विविध रूपों में दिखाई पड़ता है। हिन्दी की निर्गुण धारा के कवियों पर तो इस विशेषता का प्रभाव अपेक्षाकृत कुछ अधिक दिखाई पड़ता है। कबीर ने उस परमतत्व पर विचार करते हुए लिखा है 'वह तत्व परम गभीर है। मैं उसका वर्णन किस प्रकार कर सकता हूँ। यदि उसको मैं बाहर स्थित कहूँ तो सद्‌गुरू को लज्जा आवेगी क्योंकि वह बाहर नहीं है। अगर उसे भीतर रहने वाला कहा जाय तो भी ठीक नहीं है क्योंकि वह केवल भीतर रहने वाला तत्व नहीं है। वह न तो दृष्टि से देखा जा सकता है और न मुट्ठी से पकड़ा ही जाता है अर्थात् वह भी वाणी और इन्द्रियों से सर्वथा परे है। उसकी अनुभूति जिसे हो चुकी है वही उसका रहस्य जानते हैं। वर्णन नहीं किया जा सकता और यदि कोई वर्णन भी करे तो कोई विश्वास उसका नहीं कर सकता। वह परमतत्व न मालुम कैसा है। जिस प्रकार

१—शांकर भाष्य ३।२।१

२—संयुक्त निकाय तीसरी जिल्द पृ० १३८

१—कबीर ग्रन्थावली भाग १ पृ० ८६

जल में मछली चलने के मार्ग का वर्णन नहीं किया जा सकता उसी प्रकार उस परम तत्व का वर्णन नहीं किया जा सकता है। वह पुष्प की सुगन्ध से भी सूक्ष्म है। पता नहीं वह ऐसा है भी या नहीं। कबीर कहते हैं उसका वर्णन करना वैसा ही कठिन है जैसा आकाश में उड़ने वाले पक्षी के मार्ग का वर्णन करना असम्भव है।

इसी प्रकार का एक दूसरा पद है—"भाई वह अगम अगोचर तत्व न जाने कैसा है। जो दिखाई पड़ता है वह तत्व उससे सर्वथा विलक्षण है, वह गूंगे के गुड़ के सदृश है जैसे गुड़ खाकर उसके माधुर्य का स्वयं अनुभव करता है उसका वह वर्णन नहीं कर सकता उसी प्रकार उस तत्व की जिसे अनुभूति हो जाती है वह उसका वर्णन नहीं कर पाता है। वह दृष्टि और मुष्टि दोनों के परे है अर्थात् मन वाणी और इन्द्रिय सबसे परे है[1], इत्यादि इत्यादि।" इन दोनों अवतरणों में परम तत्व की अनिर्वचनीयता व्यञ्जित की गई है। एक दूसरे स्थल पर कबीर ने स्पष्ट घोषणा की है जो लोग उस साईं का वर्णन करते हैं वह उनका कोरा अनुमान और वाग्विलास मात्र है। लोग जैसा उसका वर्णन करते हैं वह वैसा है नहीं। जैसा वह है वैसा दिखाई नहीं पड़ता वास्तव में गूंगे की बोली और संकेत को गूंगा ही समझ सकता है अर्थात् मौन के द्वारा अभिव्यक्ति परमात्मा के रहस्य को कोई मौन ही जानता है[2]। कबीर आदि संतों पर भगवान बुद्ध के मौन वाद का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था उनमें हमें अधिकतर मौन का अंग नामक प्रसंग ही मिलता है। इसकी कुछ साखियां इस प्रकार है।

भारी कहूँ तो बहु डरूं, हलका कहूं तो झूठ।
मैं क्या जानूं राम कू नैनों कबहू न दीठ।
दीठ है तो कस कहूँ कहूं तो को पतिपाय॥
सांई जैसा है तैसा रहो, हरषि हरषि गुन गाय।
जो देखे सो कहे नहि कहै सो देखे नाहि।
सुने सो समझावे नही, रसना दृग स्रवन काहि॥
वाद विवाद विष घना बोले बहुत उपाय।
मौनि गहे सब की सहै सुमिरै नाम अगाध[3]॥

सूफी काव्य धारा के कवियों पर बुद्ध के मौनावलम्बन का अधिक प्रभाव नही दिखाई पड़ता। इसका कारण उनका मुसलमान होना है। इस्लाम में ईश्वर की धारणा बहुत कुछ साकार और सगुण है। साकार और सगुण

१—कबीर शब्दावली भाग १, पृ० ८६

२— ,, ,,

३—कबीर साखी संग्रह पृ० १२१

ईश्वर में विश्वास करने वाले भला तत्व के सम्बन्ध में मौन कैसे रह सकते थे। किन्तु इतना अवश्य है कि वे बौद्धों के अनिर्वचनीय वाद से थोड़ा सा अवश्य प्रभावित प्रतीत होते हैं। अनिर्वचनीय वाद की छाया जायसी के निर्गुण ब्रह्म के निम्नलिखित वर्णन पर स्पष्ट परिलक्षित होती है।

है नाहीं कोई ताकर रूपा। ना ओहि सन कोई आहि अनूपा।
ना ओहि ठाऊं न ओहि बिनठाऊं। रूपरेख बिन निर्मल नाऊं।
ना वह मिला न बेहरा, ऐस रहा भरि पूरि।
दीठित कहं नीयरे अन्ध मूरखहिं दूरि[१]॥

किन्तु इस प्रकार के वर्णन सूफी कवियों में बहुत कम मिलते हैं।

राम काव्य धारा और कृष्ण काव्य धारा के कवियों पर बौद्धों के मौनावलम्बन एवं अनिर्वचनीय वाद का कोई प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। इसका प्रमुख कारण यह है कि इन दोनों धाराओं के कवि सगुणोपासक थे। जो लोग ब्रह्म तत्व को सगुण और साकार मानते हैं उनमें हमें ब्रह्म के निर्गुण वर्णन तो मिल जाते हैं किन्तु मौनावलम्बन वाली बात नहीं मिलती।

परमार्थ के सम्बन्ध में अन्य बौद्ध मत :—

जिस परमार्थ तत्व के सम्बन्ध में भगवान बुद्ध ने मौनावलम्बन किया था आगे चल कर महायानी और तान्त्रिक बौद्धों ने उसका निरूप विज्ञान, शून्य और सहजादि के अभिधानों से किया। आगे चल कर इन शब्दों से सम्बन्धित वादों का प्रवर्तन हुआ। यहाँ पर थोड़ा परिचय उनका भी देना आवश्यक है। विज्ञानवाद और शून्यवाद क्रमशः योगाचार और माध्यमिक सम्प्रदायों के सिद्धान्त हैं। इन दोनों वादों का प्राणभूत सिद्धान्त अद्वैतवाद है। कुछ लोग शून्यवाद को प्राचीन मानते है जब कि कुछ विज्ञान वाद को प्राचीन तर सिद्ध करना चाहते है। जो भी हो इन दोनों सम्प्रदायों में पारमार्थिक सत्य के सम्बन्ध मे मत भेद है। विज्ञान वादी विज्ञान या चित्त को ही एक एक मात्र तत्व मानते है। लंकावतार सूत्र मे लिखा है चित्त की ही प्रवृति होती है और चित्त की ही विमुक्ति होती है। चित्त को छोड़कर दूसरी वस्तु उत्पन्न नहीं होती और न उसका नाश होता है चित्त ही एकमात्र तत्व हैं'। इन पंक्तियों मे चित्त को परमार्थिक सत्य के रूप में व्यञ्जित किया गया है। इस सम्प्रदाय मे सत्य के तीन भेद किए गए हैं—परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न। कल्पना के द्वारा जिसका रूप आरोपित किया जाता है उसे परिकल्पित सत्य कहते हैं, यह जगत परिकल्पित सत्य है। परतन्त्र सत्य वह है जो दूसरे पर आश्रित हो। परिनिष्पन्न सत्य ही परमार्थ सत्य है, वह चित्त है।

१—जायसी ग्रन्थावली पृ० ३

शून्य वादियों को विज्ञान वादियों का यह सिद्धान्त मान्य नहीं हुआ। उन्होंने उसका खण्डन करके परमार्थ सत्य के रूप में शून्य की प्रतिष्ठा की। बौद्ध तान्त्रिकों ने शून्य के स्थान पर सहज, वज्र और कालचक्र तत्वों का प्रतिपादन किया। यहां पर मैं इन सब के रूप स्वरूप और सिद्धान्तो को स्पष्ट करने का प्रयास करूंगी।

विज्ञानवादियों के विज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त

विज्ञानवाद बौद्धों का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। विज्ञान शब्द चित्त, मन या विज्ञप्ति के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। बौद्ध दर्शन मे चित्त और मन का बहुत बड़ा महत्व माना गया है। धम्मपद में लिखा है[1]—"अच्छी और बुरी सारी प्रवृत्तियाँ चित के अनुसार ही होती हैं। चित ही उनके स्वरूप का निर्णायक है। वे चित रूप ही होती है। यदि कोई दूषित चित्त से बोलता या करता है तो दुख उसका अनुसरण करता है। जैसे गाड़ी खीचने वाले बैल के पीछे पीछे उसका चक्का चलता है।"

इसी प्रकार लंकावतार सूत्र[2] में भी लिखा है कि "चित की ही प्रवृति होती है और चित्त की ही विमुक्ति होती है। चित्त को छोड़ कर दूसरी वस्तु न तो उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। चित्तही एक मात्र तत्व है। इसी प्रकार मज्झिम निकाय[3] में भी एक स्थल पर मन के महत्व का प्रतिपादन किया गया है।

विज्ञानवादी लोग वाह्य दृष्ट जगत की कोई सत्ता स्वीकार नही करते। लंकावतार[4] सूत्र में लिखा है कि बाहरी दृश्य जगत कोई अस्तित्व नहीं रखता। जिसको हम प्रत्यक्ष देखते हैं वह मन का ही विवर्त है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध दर्शन में मन चित्त या विज्ञान की महती महिमा प्रतिपादित की गई है। विज्ञान या चित्त को सिद्धान्त रूप मे प्रस्तुत करने का श्रेय विज्ञानवादियों को है।

चित्त के दो रूप[5]:— लंकावतार सूत्र में इस बात की बार बार घोषणा की गई है कि वाह्य दृश्य जगत कोई अस्तित्व नही रखता। वह चित्त का ही विवर्त मात्र है। इस सूत्र में चित्त के दो भेद बताये गये है। एक

१—धम्मपद,—१।१

२—लंकावतार सूत्र गाथा—१४५।

३—मज्झिम निकाय—राहुल सांकृत्यायन द्वारा अनुवादित, पृष्ठ २२२।

४—लंकावतार सूत्र—३।३३

५—लंकावतार सूत्र—३।६५

विषय रूप और दूसरा विषयी रूप। जिस प्रकार वेदान्ती लोग ज्ञाता, ज्ञेय, और ज्ञान तीनों को ही आत्मस्वरूप ही मानते हैं, उसी प्रकार विज्ञानवादी विज्ञान या चित्त को ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान, ग्राह्य, ग्राहक और ग्रहण रूप मानते हैं। चित्त के जो दो भेद किए गये हैं उनका कारण विज्ञान की यही अद्वैतता व्यञ्जित करना है।

विज्ञान के तीन परिणाम:— विज्ञानवादियों का कहना है कि आत्मा, जीवजंतु, मनुष्य, यह सब आत्मोपचार तथा स्कन्ध, धातु, आयतन यह सब धर्मोपचार विज्ञान के परिणाम मात्र हैं। परिणाम से[1] यह लोग अन्यथा भाव का अर्थ लेते हैं। अन्यथा भाव का अर्थ है कि उसके अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु का भाव नहीं है। इस प्रकार यह लोग वाह्य विज्ञेय को मिथ्या मानते हैं। उनकी दृष्टि में चित के अतिरिक्त विज्ञेय कोई दूसरी वस्तु नहीं है।

विज्ञेय की विज्ञानवाद में बड़ी सूक्ष्म मीमांसा की गई है। विज्ञेय को सामवृतिक सत्य कहा गया है सामवृतिक सत्य परिकल्पित तथा परतन्त्र स्वभाव के साथ सम्बद्ध रहता है। इन दोनों प्रकार के ज्ञानों के बाद परि-निष्पन्न ज्ञान होता है, जिससे परमार्थ सत्य का सम्बन्ध माना जाता है। परमार्थ सत्य का दूसरा नाम भूत कोटि है। समवृत्ति सत्य उसी का प्रतिबिम्बमात्र है। ऊपर जिन आत्मोपचार और धर्मोपचार की चर्चा की गई है, वे सब समवृत्ति ज्ञान के ही अन्तर्गत आते हैं। यह सब मिथ्या रूप हैं।

विज्ञान के सम्बन्ध में दृष्टिकोण:— ऊपर विज्ञेय के मिथ्या तत्व की चर्चा की गई है। कुछ लोग विज्ञेय के सदृश विज्ञान को भी सामवृतिक अथवा मिथ्या मानते हैं। किन्तु यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। इनका परिणामवाद प्रतीत्य समुत्पाद वाद का रूपान्तर है। परिणाम का अर्थ इन्होंने प्रतीत्य समुत्पन्न लिया है। जो कुछ प्रतीत्य समुत्पन्न है, वह मिथ्या नहीं है, अतएव विज्ञान भी मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

आलय विज्ञान:— विज्ञान के परिणाम को आलय विज्ञान कहते हैं। परिणाम है 'कुशल तथा अकुशल कर्म वासना के परिपाक से आक्षेपानुरूप फलाविनिवृत्ति विपाक'[2] आलय विज्ञान की प्रवृति द्विमुखी बताई गई है, एक आभ्यान्तर और दूसरी वाह्य। यह बात हुई विज्ञान के विपाक नामक परिणाम की।

१—शून्यवाद और विज्ञानवाद—गोपीनाथ कविराज, कल्याण का वेदान्तांक, पृष्ठ ५६६-६७।

२— „ पृष्ठ ५६७।

विलष्ट मन नामक विज्ञान परिणाम:--- क्लिष्ट मन[1] नामक दूसरा विज्ञान परिणाम बताया जाता है। सर्वदा मनन करना ही क्लिष्ट मन का स्वभाव है। इस क्लिष्ट मन का आश्रय उपर्युक्त आलय विज्ञान बतलाया जाता है। इस सिद्धान्त वालों का कहना है कि जिस भूमि में आलय विज्ञान अथवा विपाक का अस्तित्व रहता है, उसी में मन क्लिष्ट मन भी रहता है।[2] इसका अर्थ यह हुआ कि आलय विज्ञान क्लिष्ट मन का आलम्बन हुआ। अहं, मम् आदि के रूप में आलय विज्ञान रूपी आलम्बन के सहारे ही क्लिष्ट मन क्रियमाण रहता है। जिस आलय या चित्त से मनोविज्ञान उत्पन्न होता है, उसी चित्त को उस मनोविज्ञान का आलम्बन कहा जाता है। इतना होते हुये भी यह आलय से पृथक है। यह प्रवृत्ति विज्ञान से भी पृथक होती है। मननशीलता इसकी प्रमुख विशेषता मानी जाती है। यह विज्ञान रूप हैं। यही कारण है कि समस्त चित्तधर्मों से इसका सम्बन्ध रहता है[3]। चित्तधर्म दो प्रकार के बतलाए गए है। एक क्लेष रूप और दूसरे क्लेष भिन्न रूप। इनमें से चार प्रकार के क्लेषों के साथ मन का सम्बन्ध रहता है। यह चार प्रकार के क्लेष इस प्रकार हैं– (१) अविद्या अथवा अज्ञान, (२) आत्मदृष्टि अथवा आत्मदर्शन अथवा सत्काय दृष्टि, (३) अस्मिमान अथवा आत्ममान (४) तृष्णा अथवा आत्म स्नेह। इन चारों क्लेषों से जो कि चित्त के धर्म बतलाये गये हैं, मन का भी सम्बन्ध रहता है।

विषय विज्ञप्ति:–– विज्ञान परिणाम का यह तीसरा भेद बतलाया जाता है[4]। चक्षु विज्ञानादि जो ६ प्रकार के विज्ञान हैं, उन्ही को विषय विज्ञप्ति कहते हैं। रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य और धर्म यह ६ प्रकार की विषयोपलब्धि विषय विज्ञप्ति नामक परिणाम का भेद मानी जाती हैं। इस विज्ञान में परिणाम में दो प्रकार के धर्म रहते हैं[5]-- एक सर्वत्रग जैसे स्पर्श, मनस्कार, वित्त, संज्ञा, और चेतना आदि दूसरे विनियत धर्म। यह धर्म विशेष विषय में निश्चित रहते हैं। इनका अस्तित्व सर्वत्र नही रहता। छन्द, अधि-मोक्ष, स्मृति, समाधि, धी अथवा प्रज्ञा इसी के भेद हैं।[6]

१—बौद्धधर्म दर्शन-आ० नरेन्द्र देव, पृष्ठ ३३७।

२—शून्यवाद और विज्ञानवाद—गोपीनाथ कविराज, कल्याण का वेदान्तांक पृष्ठ ५६७।

३— ,, ,, ,,

४—बौद्ध धर्म दर्शन—आ० नरेन्द्रदेव, पृष्ठ ४३७।

५—शून्यवाद और विज्ञानवाद—गोपीनाथ कविराज, कल्याण का वेदान्तांक, पृष्ठ ५६७।

६— ,, ,, ,, ,,

लंकावतार सूत्र में वर्णित त्रिविध सत्ता मीमांसा—

ऊपर हम बतला आये हैं कि योगाचार मत में सत्ता की कल्पना दो रूपों में की गई है पारमार्थिक और व्यावहारिक। इन सत्ताओं पर लंकावतार सूत्र मे विस्तार से विचार किया गया है। लंकावतार सूत्र में व्यावहारिक सत्य के लिए समवृति सत्य का पारिभाषिक नाम दिया गया है। समवृति सत्ता के दो भेद बतलाये गये हैं—परिकल्पित तथा परतन्त्र। इन दोनों प्रकार के ज्ञान के बाद ही परिनिष्पन्न ज्ञान का उदय होता है[१]। समवृति का अर्थ बुद्धि होता है। सामवृत्तिक ज्ञान दूसरे शब्दों में बौद्धिक ज्ञान को कहते हैं। बुद्धि दो प्रकार की बतलाई गई है—प्रविचय बुद्धि तथा प्रतिष्ठापिका बुद्धि। प्रविचय बुद्धि वस्तुओं के यथार्थ रूप ग्रहण में सहायक होती है। प्रतिष्ठापिका बुद्धि से असत् पदार्थ सत् रूप मे भाषित होता है। इस लिए सारा सामवृत्तिक ज्ञान इन्ही दो प्रकार की बुद्धियो का परिणाम समझा जा सकता है[१]। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह निश्चित रूप से कह सकते है कि विज्ञानवादी लोग चित्त को ही पारमार्थिक सत्य मानते थे और चित्त से उद्भूत समस्त चराचर जगत को सामवृत्तिक ज्ञान मानते थे। पारमार्थिक ज्ञान मानने के कारण चित्त को हम नास्तिक रूप नही कह सकते। सामवृत्तिक ज्ञान अवश्य काल्पनिक और बुद्धिजन्य कहा जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विज्ञान वादियों का विज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त अद्वैतवादियों के लिए पृष्ठ भूमि तैयार कर चुका था। शंकर ने इन्ही के आधार पर तीन प्रकार के ज्ञानों की कल्पना की थी—पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक। इन लोगों ने इन तीनों को पारमार्थिक और सामवृत्तिक दो ही भेदों में समेट लिया था। दोनो मे एक दूसरा अन्तर और दिखाई पड़ता है। विज्ञानवादियों ने जिसे चित्त या विज्ञान कहा है, शंकर ने उसी के स्थान पर आत्म तत्व की प्रतिष्ठा की है। आत्म तत्व की धारणा अधिक सूक्ष्म है। दूसरे शब्दों में हम शंकराचार्य को विज्ञानवाद का ही पुनर्प्रस्थापक कह सकते हैं। योग वशिष्ठ तथा मान्डूक की कारिका मे तो हमें विज्ञानवाद का स्पष्ट उल्लेख मिलता हैं। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि बौद्धों का विज्ञानवाद अस्ति और नास्ति के प्रश्न से बचने की चेष्टा में रहा जब कि योगवशिष्ठ—कार और गौड़पाद ने उसे स्पष्ट रूप से आस्तिकता की पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया है।

---

१ बौद्ध धर्म मीमांसा, पृष्ठ २९४–९५

२—शून्यवाद और विज्ञानवाद, गोपीनाथ कविराज, वेदान्तांक पृष्ठ ५६४

३— " " " "

तान्त्रिक बौद्धों के जगत सम्बन्धी विचार

विज्ञानवादी बौद्ध परमार्थ तत्व को अद्वय बताते है। उनके मतानुसार उसमें शून्य तथा अशून्य, भाव तथा अभाव दोनों का अद्वैत भाव रहता है। विज्ञानवादी संसार को चित्त की सृष्टि मानते थे। उसकी बाह्य सत्ता में वे विश्वास नहीं करते थे। उनकी धारणा थी कि जब चित्त भ्रान्ति से मुक्त हो जाता है, तब जगत की वास्तविक सत्ता का बोध होने लगता हैं। जगत की वास्तविकता का बोध ही निर्वाण की प्राप्ति का मार्ग हैं। इसीलिए विज्ञानवाद में जगतानुबोध को तत्व दर्शन की आधार भूमि बताया गया है[1]। बौद्ध तान्त्रिकों पर विज्ञानवादियों की इस धारणा का पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। अन्तर केवल इतना हैं कि बौद्ध तान्त्रिकों में आत्मा की भावना का आरोप होने लगा था। विज्ञानवादियों मे वह बात नहीं मिलती। सिद्ध तिलोपा[2] ने एक स्थल पर लिखा हैं कि साधारणतया ऐसा प्रतीत होता है कि जो आत्मा हैं वही जगत हैं। किन्तु आत्मा का भेद भ्रान्ति भर है। इनकी धारणा थी[3] कि "समस्त जगत कतिपय धर्म समहों का स्वप्न या माया निर्मिति है। वे सभी धर्म अन्ततोगत्वा नैरात्म स्वभाव के हैं। किन्तु मोह जाल के रूप में वे चित्त को भ्रान्त कर देते है। उनका अस्तित्व बाह्य जगत में नही है, चित्त में ही हैं। सरहपाद चित्त को जहाँ निरालम्ब कहते है वहा उनका यही तात्पर्य है कि स्कन्ध, आयतन, धातु सभी चित्त की उत्पत्तियां है।" जगत के स्वरूप पर विचार करते हुये तान्त्रिक बौद्धों ने अनेक स्थलों पर आयतन, स्कन्ध, भूत तथा इन्द्रियों की भी चर्चा की हैं। इन सब की चेतना प्रवाह रूप में प्रवहमान रहती हैं। इसी को संसार सरिता कहते है। और उसे पार करने के लिए पारमिताओं की शिक्षा दीक्षा आवश्यक होती हैं। संक्षेप में बौद्ध तान्त्रिकों के संसार या जगत सम्बन्धी यही विचार है।

मध्ययुगीन कवियों पर विज्ञानवादियों के परमार्थ तत्व सम्बन्धी दृष्टिकोण का प्रभाव:—

हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा पर विज्ञान वादियो के परमार्थ तत्व सम्बन्धी दृष्टिकोण का अच्छा प्रभाव दिखाई पड़ता हैं। मन को परमार्थ तत्व और ईश्वर रूप व्यञ्जित करते हुए लिखा हैं 'मन ही गोरख हैं मन ही

१—सत्धर्म पुण्डरीक—सूत्र, पृष्ठ ४७।
२—दोहा कोष—डा० बागची, पृष्ठ ५।
३—सिद्ध साहित्य—धर्मवीर भारती, पृष्ठ १६०।

गोविन्द हैं मन ही औघड़ हैं। जो मन को यत्नपूर्वक रखता है वह स्वयं ईश्वर स्वरूप हो जाता है[1]।

जिस प्रकार विज्ञान वादी बौद्ध चित्त या विज्ञान को ही सर्वस्व मानते हैं उसी प्रकार संत कबीर ने लिखा हैं :—

जहं लगि जाल काल विस्तारा सो सब मन की बाजी।
मनै निरञ्जन धर्मराय हैं मन पंडित मन काजी[2]॥

एक स्थल पर संत दादू ने भी मन के अतिशय महत्व की ओर संकेत किया है। वे कहते है जब चित्त में समा जाता है तो फिर सब द्वैत भाव मिट जाता है[3]।

मन ही से मन लगाना चाहिये मन से ही मन मिल जाता है दादू कहते है कहीं दूसरे स्थल पर जाने की आवश्यकता नहीं है[4]।

इसी प्रकार संत दरिया साहब ने लिखा हैं 'मनहि में करता धरता अहई'[5] इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर भी उन्होंने लिखा हैं:—

यह मन काजी यह मन पाजी यह मन करता यह दरवेश।
यह मन पाण्डे यह मन पंडित, यह मन दुखिया करत नरेश॥

दरिया सागर पृ० ३८

इसी प्रकार स्पष्ट हैं कि संतों पर विज्ञान वादी दृष्टि कोण का प्रभाव पड़ा है। मध्ययुग की अन्य धाराओं पर विज्ञान वादी परमार्थ चिन्तन का प्रभाव नहीं के बराबर है।

शून्य का सिद्धान्त

बौद्ध दर्शन में शून्यवाद की बड़ी प्रतिष्ठा रही है। सर्व शून्य का सिद्धान्त बौद्ध दार्शनिकों की जिह्वा पर ही रहता था। किन्तु फिर भी सैद्धान्तिक रूप में सभी दार्शनिक एक मत नहीं हैं। हीनयानियों के दृष्टिकोण से महायानियों का शून्य सम्बन्धी दृष्टिकोण सर्वथा विलक्षण है।

१—मन गोरख मन गोविन्द मन ही औघड़ होय
जे मन राखै जतन करि, तो आपै करता होय॥ क० ग्रं० पृ० २९

२—कबीर साहब की शब्दावली, पृ०—२८ भाग ४

३—जह चितहि चित्त समाना

४—मन हंसा था थिर भया, मन ही सो मन लाई।
मन ही सो मन मिलि रह्या, दादू अनत न जाय॥
दादू बानी भाग १ पृ० ११३

५—दरियासागर—पृ० ८

हीनयानियों का शून्य सम्बन्धी सिद्धान्त:—शून्य शब्द का प्रयोग हीनयानियों में भी मिलता है। किन्तु वहां पर इसका प्रयोग किसी विशेष पारिभाषिक अर्थ में नहीं किया गया है। शून्य को स्पष्ट करते हुए हीनयानी लोग कहते हैं कि यह संसार व्यक्तित्व रहित है। इसीलिए इसे शून्य कहते हैं। दूसरे शब्दों में उनके सिद्धान्त को इस प्रकार कह सकते हैं-- इस संसार में कोई भी वस्तु नित्य और व्यक्तित्वमय नहीं है। नित्यता और व्यक्तित्व के अभाव के कारण ही शून्य कहा जाता है[1]। हीनयानियों के इस सामान्य शून्य भावना का माध्यमिक मत मे बड़ा विस्तार किया गया।

महायानियों के माध्यमिक मत के अनुरूप शून्य का सिद्धान्त:—माध्यमिक मत में शून्य शब्द का प्रयोग हीनयानी अर्थ मे नही किया गया। हीनयान कट्टर निरीश्वरवादी और अनात्मवादी मत था। किन्तु महायान में हमें हीनयानियों की वह कट्टरता कही नही दिखाई पड़ती। उनमें हमें आत्मा के सिद्धान्त की छाया भी मिलती है और परमात्मा के सिद्धान्त की झलक भी दिखाई पड़ती है। शून्य शब्द का प्रयोग माध्यमिकों ने अधिकतर परमार्थिक सत्ता के लिए किया है[2]।

माध्यमिकों के मत में शून्य का स्वरूप:—माध्यमिक लोग अपने मध्यमा प्रतिपदा के लिए प्रसिद्ध हैं। मध्यमा प्रतिपदा का सिद्धान्त धीरे धीरे द्वैताद्वैत विलक्षणवाद और चतुष्कोटि बिलक्षणवाद के रूप मे भी विकसित हो गया। चतुष्कोटि विनिर्मुक्तवाद का समर्थन करते हुए माध्यमिक कारिका में लिखा गया है कि हम शून्य को न तो सद्रूप कह सकते हैं, न असद् रूप कह सकते है, न सद् और असद् उभय रूप कह सकते हैं, न सद् और असद् का निषेध ही कह सकते हैं। वास्तव में वह चतुष्कोटि विनिर्मुक्त तत्व है। इस चतुष्कोटि विनिर्मुक्त तत्व पर माध्यमिक वृत्ति में बड़े विस्तार से विचार किया गया है। उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसमे नागार्जुन ने लिखा है:—

अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपन्चैरप्रपन्वितम्।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत्, तत्वस्य लक्षणम्॥[3]

शून्य की इस परिभाषा में आचार्य ने उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ व्यक्त की हैं[4]।

१—आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म- एन. दत्त, पृष्ठ ४७।
२—शून्यवाद-गोपीनाथ कविराज, वेदान्त का विशेषांक, कल्याण।
३—न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तम् तत्वं माध्यमिका विदुः। माध्यमिक कारिका १।७
४—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृष्ठ ३५९ से उद्धत।
५—माध्यमिक वृत्ति, पृष्ठ ३५१।

१— अपर प्रत्यय रूप: अपर प्रत्यय का अर्थ है कि दूसरी समकक्ष वस्तु के द्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यह सब प्रकार से अद्वितीय है।

२— वह शान्त है। शान्त से आचार्य का अभिप्राय स्वभावहीनता से है। शून्य का कोई स्वभाव नहीं है।

३—प्रपन्चैरप्रपन्चितम्—नागार्जुन ने शून्य को प्रपंचों से अप्रपंचित कहा है। प्रपंच का अर्थ शब्द है और प्रपन्चित का अर्थ है अर्थ देना। इसका भाव यह है कि शून्य का अर्थ किसी भी शब्द के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता।

४—निर्विकल्पत्व—विकल्प कहते हैं चित्त के विकार को। शून्यता चित्त का विकार या व्यापार नहीं कही जा सकती। इसीलिए इसे निर्विकल्प कहा गया है।

५—अनानार्थ—शून्य नाना अर्थों से विरहित है। नाना अर्थों से विरहित कहने का अभिप्राय यह है कि वह सब धर्मों से परे है।

इस प्रकार नागार्जुन ने शून्य की परिभाषा दी है। उनकी इस परिभाषा के सम्बन्ध मे विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान उसे अभाव रूप मानते हैं और कुछ केवल निषेध रूप। प्राचीन आचार्यों ने नागार्जुन के शून्य का अभाव रूप ही माना है।[१] किन्तु आधुनिक विद्वान उसे अभाव रूप न मानकर भाव रूप ही मानते हैं। माध्यमिक वृत्ति से भी उसकी भावरूपता ही प्रकट होती है। माध्यमिक वृत्ति में एक स्थल पर शून्यता को प्रत्यय समुत्पाद रूप कहा गया है और जो प्रत्यय समुत्पाद रूप है, वह अभाव रूप नहीं हो सकता। प्रत्यय समुत्पाद का अर्थ है कार्य कारण की श्रृंखला। कार्य कारण की श्रृंखला अभाव रूप किसी प्रकार नहीं कही जा सकती। अतएव शून्य भी भाव रूप ही मानना पड़ेगा।

नागार्जुन के इस शून्य की आलोचना अनेक विद्वानों ने की है। किन्तु अपने विरोधियों के समस्त तर्कों का खण्डन उन्होने अनेक युक्तियों के साथ बड़े विस्तार से कर दिया है।[१] यहाँ पर हम इस विवाद को उठाना ठीक नहीं समझते।

शून्यता के भेद—शून्य के भेदों पर बौद्ध दार्शनिकों ने बड़े विस्तार से विचार किया है। उनके मतो मे परस्पर भेद भी दिखाई पड़ता है। कुछ

१—शांकर भाष्य, २।२।३१

२—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पं० बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ३६८-३७१

३—देखिए जैन बुद्धिज्म,—डा० सूजुकी, पृष्ठ २२२ से २२७ तक।

प्रसिद्ध दार्शनिकों ने शून्य के जो भेद स्वीकार किये हैं, उनका संकेत कर देना आवश्यक है।

ह्वेनच्वांग का मत[1]—ह्वेनच्वांग ने महायान दर्शन के एक प्रसिद्ध ग्रन्थ जिसका नाम महाप्रज्ञा पारमिता है, का चीनी अनुवाद किया है। इस अनुवाद में उसने शून्य के अठारह भेद बतलाये हैं।

आचार्य हरिभद्र का मत[2]—आचार्य हरिभद्र ने अपने अभिसमयालंकारालोप में पंचविंशति सहस्रिका प्रज्ञा पारमिता के अनुकरण पर शून्य के बीस भेदों का वर्णन किया है। यहां पर हम उन बीसों भेदों का संक्षिप्त उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं। इन भेदों से शून्य का स्वरूप स्पष्ट हो जावेगा।

शून्य के बीस भेद—हरिभद्र के मतानुसार[3] शून्य के बीस भेदों की संक्षिप्त चर्चा इस प्रकार की है।

१—अध्यात्म शून्यता—अध्यात्म शून्यता का अर्थ है ६ विज्ञानों का शून्यत्व। ६ विज्ञानों को शून्य रूप बतलाकर आचार्य ने आत्मवाद का खण्डन किया है। हीनयानियों का अनात्मवाद इसी शून्यता पर आधारित है।

२—बहिर्धा शून्यता—इसका अर्थ है बाह्य वस्तुओं को शून्य रूप स्वीकार करना। इस शून्यता के आधार पर बाह्य जगत् की शून्यता प्रतिपादित की जाती है। आचार्य का कहना है कि जिस प्रकार अध्यात्म जगत या अन्तर्जगत स्वरूप शून्य होने के कारण वास्तव रूप नहीं माना जाता, उसी प्रकार बाह्य भौतिक वस्तुएँ भी मूल रूप में शून्य रूप हैं अर्थात् उनका आधार कोई तत्व जिसे वैदिक लोग आत्मा का नाम देते हैं नहीं है।

३—अध्यात्म बहिर्धा शून्यता[4]—इसका अर्थ यह है कि आन्तरिक तथा बाह्य दोनों दृष्टियों से शून्यत्व स्वीकार करना। साधारणतया हम आभ्यान्तर और बाह्य वस्तुओं में भेद स्वीकार करते हैं। किन्तु यह भेद व्यावहारिक भर है, तात्विक नहीं है। तात्विक इस लिए नहीं हैं कि बाह्य और आभ्यान्तर दोनों की सत्ता शून्य रूप ही है। अतएव दोनों में किसी प्रकार का भेद न होना ही वास्तविकता है।

४—शून्यता शून्यता[5]—बाह्य और आभ्यान्तर शून्यता सिद्ध कर देने पर एक धारणा बनी रह जाती है कि शून्यता कोई भाव पदार्थ है। इस

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृष्ठ ३६१।
२— ,, ,, पृष्ठ ३६३।
३— ,, ,, पृष्ठ ३६४-३६८।
४—बौद्ध दर्शन मीमांसा—बल्देव उपाध्याय, पृष्ठ ३६४।
५— ,, ,, ,, पृ० ३६४।

धारणा का निराकरण करने के लिए ही शून्यता शून्यता नामक भेद कल्पित किया गया है। इसका अर्थ यह है कि बाह्य और अभ्यान्तर शून्यता भाव रूप न होकर शून्य रूप ही हैं।

५—महाशून्यता[1]—दिशाओं की शून्यता को प्रकट करने के लिए महाशून्यता का प्रयोग किया जाता है।

६—परमार्थ शून्यता[2]—परमार्थ का अर्थ है निर्वाण। शून्यवादी बौद्ध लोग निर्वाण को भी शून्य रूप ही मानते हैं। परमार्थ शून्यता उसी के लिए प्रयुक्त होता है।

७—संस्कृत शून्यता[3]—संस्कृत पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है निमित्त प्रत्यय से उद्भूत पदार्थ। रूप धातुक जगत के अन्तर्गत रूप धातु अरूप धातु, और काम धातु नामक तीन जगतों की कल्पना की जाती है। इन तीनों लोकों के उद्भूत पदार्थ शून्य रूप कहे गये हैं। संस्कृत शून्यता से उन्ही की शून्यता की ओर संकेत किया गया है।

८—असंस्कृत शून्यता[4]—असंस्कृत धर्मों की शून्यता व्यंजित करने के लिए इस कोटि के शून्य की कल्पना की गई है।

९—अत्यन्त शून्यता[5]—बौद्ध लोग प्रत्येक पदार्थ के उच्छेद और शाश्वद् दो अन्त मानते हैं। उनका कहना है कि इन दोनों अन्तों के बीच में कोई ऐसी वस्तु नही अस्तित्व रखती जो इन दोनो के भेद को स्पष्ट कर सके। इसीलिए इन दोनों अन्तों को शून्य रूप कहा गया है और उसकी कल्पना अत्यन्त शून्यता के रूप में की गई है।

१०—अनवराग्र शून्यता[6]—इस शून्यता के द्वारा आरम्भ, मध्य और अन्त इन तीनो का शून्य भाव व्यञ्जित किया जाता है।

११—अनवकार शून्यता[7]—अनवकार एक पारिभाषिक शब्द है। इससे अनुपधि शेष निर्वाण का बोधहोता है। उसको शून्य रूप व्यञ्जित करने के लिए इसकी कल्पना करनी पड़ी।

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा—पृ० ३६४
२— „ „ पृ० ३६५।
३— „ „
४— „ „
५— „ „
६—बौद्ध दर्शन मीमांसा—पृ० ३६६।
७— „ „ „

१२—प्रकृति शून्यता[1]—प्रत्येक वस्तु की एक प्रकृति हुआ करती है। उस प्रकृति को शून्य रूप व्यंजित करने के लिए प्रकृति शून्यता की कल्पना की गई है।

१३—सर्व धर्म शून्यता[2]—इस शून्यता के द्वारा समस्त धर्मों की शून्यता व्यंजित की गई है।

१४—लक्षण शून्यता[3]—प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई लक्षण होता है। लक्षण वस्तु का वह स्वरूप है जिसके सहारे दूसरे लोगों का उस वस्तु का बोध कराया जाता है। वस्तु के इस प्रकार के रूप की शून्यता व्यंजित करने के लिए ही लक्षण शून्यता का उल्लेख किया गया है।

१५—उपलम्भ शून्यता[4]—भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों की शून्यता व्यञ्जित करने के लिए ही इस कोटि की शून्यता का उपादान किया गया है।

१६—अभाव स्वभाव शून्यता[5]—इसके द्वारा विविध धर्मों के संयोग से उद्भूत वस्तुओं के रूप की शून्यता प्रदर्शित की गई है।

१७—भाव शून्यता[6]—भाव पदार्थ जिन्हें हम पंच स्कंध कहते हैं वे भी शून्य रूप ही है। उस शून्यता को व्यजित करने के लिए ही भाव शून्यता की कल्पना करनी पड़ी।

१८—स्वभाव शून्यता[7]—साधारणतया लोगों की यह धारणा रहती है कि प्रत्येक वस्तु का अपना एक स्वभाव होता है। यह स्वभाव सहज होता है। किन्तु होता शून्य रूप ही है।

१९—अभाव शून्यता[8]—आकाश और प्रतिसंख्या निरोध और अप्रतिसंख्या निरोध असंस्कृत धर्मों की शून्यता व्यञ्जित करने के लिए अभाव शून्यता का वर्णन किया गया है।

---

१ बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ०—३६६
२ " " "
३ " " "
४ " " पृ० ३६७
५ " " "
६ " " "
७ " " "
८—बौद्ध दर्शन मीमांसा–बलदेव उपाध्याय, पृ० ३६७।

२०—परमाव शून्यता[1]—वस्तुओं का एक परमार्थ रूप भी हुआ करता है। उसकी शून्यता व्यंजित करने के लिए एक परभाव रूप शून्यता वर्णित की गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध माध्यमिकों ने शून्य की इतनी व्यापक व्याख्या की है और उसके इतने भेदोपभेद गिनाये हैं कि संसार का कोई भी तत्व या पदार्थ शून्यता पद से अलंकृत हुए बिना नही रह सका है।

नागार्जुन की शून्यता आस्तिक है या नास्तिक—यह बड़ा ही विवाद ग्रस्त प्रश्न है कि नागार्जुन तथा अन्य माध्यमिकों के द्वारा प्रतिपादित शून्य तथा उसके अनेक भेदोपभेद अस्ति रूप हैं या नास्ति रूप। इस सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा ही मतभेद रहा है। प्राचीन बौद्ध[2] जैन[3] और ब्राह्मण[4] विद्वान माध्यमिकों के शून्य को अभाव रूप ही मानते रहे हैं। यहां पर हम इस वाद विवाद में नही पड़ना चाहते। हमारी अपनी धारणा है कि नागार्जुन का शून्य सर्वज्ञान विलक्षण अनिर्वचनीय शून्य तत्व भाव रूप या अस्ति रूप ही था। अगर वह अस्ति रूप न होता तो उसका इतना विस्तार से वर्णन कैसे किया जा सकता था। हमारी समझ में इस अनिर्वचनीय सत्ता के निरूपण या बोध का एक रूप ही शून्य है, जो 'अवाङ्मनसागोचर' होने के कारण विविध प्रकार की अभावसूचक या नास्ति सूचक शैलियों के द्वारा ही अभिव्यञ्जित किया गया है।

माध्यमिकों का विवादग्रस्त शून्य आगे चल कर वज्रयानियों और सहजयानियों के द्वैताद्वैत विलक्षण वज्र और सहज तत्वों के रूप में विकसित हुआ। आस्तिकता की जो भावना नागार्जुन मे पूर्णतया प्रच्छन्न थी, वह बौद्ध तान्त्रिकों में आकर पूर्ण स्पष्ट हो गई।

तान्त्रिक बौद्धों की शून्य सम्बन्धी धारणाएँ

तान्त्रिक बौद्धों ने शून्य शब्द का प्रयोग तत्व रूप में करके अपनी आस्तिकता का स्पष्ट संकेत किया है।[5] उनकी दृष्टि में वह अगम, अगोचर और शान्त रूप तत्व है। उसे वे भाव अभाव दोनो से विलक्षण मानते है। वही चित्त में समाविष्ट होने पर ख अर्थात् शून्य सम अर्थात सदृश अनुभूत होता है। इसीलिए शून्य साधना करने वाला साधक शून्य तत्व को प्राप्त करके

---

१ बौद्धदर्शन मीमांसा-बलदेव उपाध्याय, पृ० ३६७
२ ,, ,, ,, पृ० ३७०
३ ,, ,, ,, ,,
४ शांकर भाष्य,
५ सिद्ध साहित्य, तृतीय अध्याय

स्वयं शून्य स्वरूप ही हो जाती है। यह शून्य तत्व बज्रयानी सिद्धों की दृष्टि में अद्वय तत्व था।[1] वह निर्गुण निरकार होते हुये भी नास्तिकों का शून्य नहीं है। वह अद्वय तत्त्व रूप है। चित्त में, जगत में, और सारे विश्व में उसी की व्याप्ति है। उसके सम भाव को ही खसम कहा गया है।[2] वही निरंजन भी कहा गया है। तान्त्रिक लोगों की दृष्टि में शून्यता की अवस्था है जिसमें चित्त का भी निषेध रहता है और अचित्त का भी निषेध रहता है। वहां न भाव का ही अस्तित्व रहता है और न अभाव का ही। ग्राह्य ग्राहक भेद भी नहीं पाया जाता। इस प्रकार सिद्धों ने शून्य ज्ञान का द्वैताद्वैत विवर्जित बतलाया है। जिस प्रकार तांत्रिक बौद्ध लोग भाव और अभाव के विरोधी थे, उसी प्रकार वे शून्य और अशून्य दोनों के भी विरोधी थे। अतएव बहुत से स्थलों पर सिद्धों ने शून्य और अशून्य दोनों के त्याग की बात कही है। उनकी धारणा थी कि प्रतीत्य समुत्पाद के कारण अशून्य तो अप्रतिष्ठित है ही, शून्य में मन को केन्द्रित करने वाला साधक भी एक दृष्टि से अप्रतिष्ठित कहा जावेगा। क्योंकि वह शून्य में ही सीमित हो जाने के कारण कभी करुणा को नहीं ग्रहण कर पाता। इसीलिए प्रज्ञोपाय साधना में उसे सिद्धि नहीं प्राप्त होती। इन तांत्रिक सिद्धों का दृष्टिकोण था कि शून्य में तथता का निषेध व्यंजित किया गया है और अशून्य में तथता का समावेश व्यंजित होता है किंतु तथता इन दोनों से विलक्षण है। इसीलिये शून्य और अशून्य दोनों ही साधक के लक्ष्य नहीं बन सकते।[3]

पंचमहाभूत—तान्त्रिक बौद्धों ने पंच महाभूतों की गणना में पृथ्वी, आप, तेज, वायु तथा आकाश का उल्लेख किया। इन पाँचों को उन्होंने संसार का बीज कहा। उनकी धारणा थी कि देहधारी सृष्टि इन्हीं पंच महाभूतों से विनिर्मित हुई। बहुत से स्थलों पर अपने पूर्ववर्ती बौद्धों का अनुसरण करते हुए तान्त्रिक बौद्धों ने भी केवल ४ तत्वों या महाभूतों को ही मान्यता प्रदान की है। प्राचीन बौद्ध लोग जिनमें वसु बन्धु[4] का नाम विशेष उल्लेखनीय है, केवल चार तत्वों में ही विश्वास करते थे। आकाश को वे तत्व नहीं मानते थे। आकाश तत्व की अवतारणा सम्भवतः पहले पहल योगाचार मत वालों[5] ने की थी। दो परम्पराओं का आधार लेकर ही

१—सिद्ध साहित्य, तृतीय अध्याय
२— ,, ,,
३— ,, ,,
४—अभिधर्म कोष-प्रथम अध्याय,
५—सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १६२।

तान्त्रिक बौद्धों ने दो प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। एक के अनुसार उन्होंने ५ तत्वों को मान्यता दी है। और दूसरे के अनुकूल उन्होंने चार तत्वों की चर्चा की है।

इन्द्रियों और उनके विषयों को तान्त्रिक बौद्ध लोग पंचमहाभूतों के आश्रित मानते थे[1]। इसलिए जहाँ पंचमहाभूतों की चर्चा आई है वहाँ इन्द्रियों और उनके विषयों का भी उल्लेख हो गया है। इन्द्रियों में सबसे अधिक बलवान मन माना जाता है। इसलिए तान्त्रिक बौद्धों ने उसकी महत्ता विशेष रूप से प्रतिपादित की है।

इन्द्रियों के साथ साथ आयतनों की भी चर्चा की गई है। यह आयतन भी ६ बताये गए हैं। आयतन का अर्थ होता है घर। इसी प्रकार स्कन्धों का भी उल्लेख मिलता है। तान्त्रिक बौद्ध लोग स्कन्धों में भी विश्वास करते थे।

तान्त्रिक बौद्ध लोग चित्त के महत्व को उसी प्रकार स्वीकार करते थे जिस प्रकार कि उसे विज्ञानवादियों ने स्वीकार किया है। उन्होंने चित्त के दो रूप बताये हैं। एक बद्ध तथा दूसरा मुक्त। वास्तव में बद्ध चित्त की संवृत्ति ही यह संसार है। और मुक्त चित्त का बोध ही निर्वाण है। इस प्रकार तान्त्रिक बौद्ध लोग निर्वाण और भव में कोई भेद नहीं मानते क्योंकि दोनों ही चित्त या मन की दो दशाएँ हैं।

करुणा और शून्य—बौद्ध तान्त्रिक शून्य से करुणा का पूर्ण तादात्म्य मानते थे।[2] उनकी धारणा थी कि करुणा विहीन शून्य साधना की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है। इसी प्रकार शून्यता के बिना करुणा की भावना भी अधूरी समझी जाती थी। सरहपाद ने एक स्थल पर लिखा है[3] जो सहज द्वारा चित्त को विशुद्ध कर-जीवन का उपभोग नहीं करता केवल शून्य में विहार करता है, वह बोहित के काग की भाँति बार बार उड़ कर अज्ञान में गिरता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध तान्त्रिकों की शून्य सम्बन्धी धारणा शुष्क, नीरस और निराधार न रह कर, करुणामय, द्रवण-शील और साधार बन गई है। नागार्जुन के शून्य में और तान्त्रिकों के शून्य में यही अन्तर है।

शून्य के चार भेद:—ऊपर हम बीस शून्यों की चर्चा कर आये हैं बीस शून्यों का सिद्धान्त बौद्ध तान्त्रिकों को मान्य नहीं था। उन्होंने केवल

१—सिद्ध साहित्य, पृ० १६२ से १६७ तक

२—सिद्ध साहित्य, पृ० १८०

३—दोहा कोष, पृष्ठ १२७

चार शून्यों की चर्चा की हैं। चार शून्यों की यह धारणा सम्भवतः उन्हें शैव शाक्त तान्त्रिकों से मिली थी[१]। नागार्जुन पाद नामक सिद्ध ने 'पंचक्रम'[२] नामक ग्रंथ में चार प्रकार के शून्यों का उल्लेख इस प्रकार किया है-'शून्य चार हैं-शून्य, अतिशून्य, महाशून्य, तथा सर्वशून्य।' इनका भेद कार्य कारण शृंखला पर आधारित हैं। पहला शून्य आलोक ज्ञान प्रज्ञा हैं। चित्त इसमें संकल्पाभिभूत रहता है और यह स्वभाव से परतन्त्र है। इस अवस्था में यह मनजात तेंतीस दोषों से आच्छादित रहता है इसकी समस्त मायाओं में सर्वश्रेष्ठ माया स्त्री है जो इस शून्य प्रज्ञा की अभिव्यक्ति है। इसी को वाम चन्द्रमण्डल का कमल या आकाश आदि बीजाक्षर भी कहते है। द्वितीय क्रम में अतिशून्य है, जो आलोक का आभास है। इसका स्वभाव परिकल्पित है। वह उपाय है, सूर्य मण्डल है, वज्र हैं पुरुष हैं और मन की पूर्व कथित चौबीस प्रकृतियों से आवेष्टित है'। तृतीय क्रम में महाशून्य आता है जो आलोक तथा आलोकाभास के युगनद्ध से उदित होता हैं। प्रज्ञोपाय, शून्यातिशून्य, के युगनद्ध से यह अवस्था आती है, जिसे आलोकोपलब्धि कहते हैं। वह परिनिष्पन्न स्वभाव की होती हैं, किन्तु वह भी अविद्या रूप ही है क्योंकि उसमें भी दोष रहते हैं। तीनों क्रमों में दोषों की कुल संख्या १०६ है। उन दोषों से भी मुक्त होने पर प्रज्ञोपाय अद्वैत का सर्वशून्य रूप उदित होता है। जो प्रज्ञोपाय के सहगमन से उद्भूत होने के कारण सहज माना जा सकता है क्योंकि यही सर्वशून्य परम तत्व है। आदि अन्त से विहीन, गुण दोष रहित, भाव अभाव से रहित तथा भावाभाव से भी रहित[३]। संक्षेप में तान्त्रिक बौद्धों की शून्य सम्बन्धी विचारधारा यही हैं।

बौद्धों की शून्य सम्बन्धी धारणाओं का यदि हम क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत करना चाहें तो हम कह सकते है कि हीनयानी मतों में शून्य शब्द नास्तिक अभाव का वाचक था[४]। महायानियो मे उसका विकास आस्तिक अभाव के रूप में दिखाई पड़ता है। नागार्जुन[५] ने उसे द्वैताद्वैत-विलक्षण और चतुष्कोटि विनिमुक्त तत्व के रूप में वर्णित किया है। तान्त्रिक बौद्धों

१—देखिए निर्गुण काव्य-धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, डा० गो० त्रिगुणायत-एम. ए, पी. एच-डी. डी. लिट्-पृ० १३८

२—सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १८१

३—सिद्ध साहित्य पृ० १८१ से उद्धृत।

४—शांकर भाष्य।२।२।३१

५—बौद्ध दर्शन मीमांसा-बलदेव उपाध्याय पृ० ३७०

में आकर शून्य की धारणा पूर्ण आस्तिक हो गई। वे लोग शून्य के करुणा सम्वन्वित परमार्थ तत्व का अर्थ लेते थे।[१]

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की भक्ति धाराओं पर शून्यवाद की उपर्युक्त सभी परम्पराओं का कुछ न कुछ प्रभाव दिखाई पड़ता है किन्तु सर्वाधिक प्रभाव बौद्ध तान्त्रिकों की शून्य सम्बन्धी धारणा का प्रतीत होता है। हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा बौद्धों की इस शून्य सम्बन्धी धारणा से बहुत अधिक प्रभावित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध तान्त्रिक परम तत्व अथवा निर्वाण तत्व अथवा सर्वशून्य तत्व की प्राप्ति के लिए प्रज्ञोपाय का समागम परमावश्यक मानते हैं। प्रज्ञोपाय का युगनद्ध रूप[२] सिद्धों की साधना का प्रधान लक्ष्य बन गया। इस युगनद्ध भावना की अभिव्यक्ति सिद्धों ने अनेक प्रतीकों से की है– जैसे भगवान वज्रधर और भगवती नैरात्मा, कुलिश और कमल, चन्द्र और सूर्य, मणि और पद्म आदि आदि। इनकी अभिव्यक्ति स्त्री और पुरुष के प्रतीकों से भी की गई हैं। प्रज्ञोपाय के इस समागम के भाव में रति भावना को प्रश्रय दिया। इस प्रज्ञा, उपाय रति भावना के भाव को प्रकट करने के लिए राग और महाराग के सिद्धान्त की कल्पना भी करनी पड़ी। तान्त्रिक बौद्धों में हम वह विशषता पाते हैं जो उनके पूर्ववर्ती बौद्धों में नहीं मिलती है। तान्त्रिक बौद्धों के पूर्ववर्ती बौद्ध निवृत्ति वादी थे। तान्त्रिक बौद्धों में इस निवृत्तिवाद की प्रतिक्रिया दिखाई दी और सच्चे राग को पहचानने का आग्रह भी परिलक्षित हुआ[३]। उन लोगों की धारणा थी कि जिस प्रकार सांसारिक राग दोषयुक्त है उसी प्रकार सांसारिक विराग भी दोषयुक्त है। इसीलिए सच्चे साधक को सांसारिक राग के साथ साथ सांसारिक विराग का भी त्याग कर देना चाहिये और उसे उस सच्चे राग या महाराग को पहचानना चाहिये जिससे मोक्ष की प्राप्ति सरलता से हो जाती है। प्रश्न उठता है कि वह राग क्या है। सम्बोधि का जो मूल लक्षण है वही महाराग रूप है[४]। उसे करुणा रूप भी मानते हैं।[५] दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि तान्त्रिक बौद्ध लोग राग से ही राग को जीतने का उपदेश देते हैं। अधिक खुले शब्दों में कहना चाहे तो यह कह

१—सिद्ध साहित्य-पृष्ठ १८०।

२—तान्त्रिक बुद्धिज्म-दास गुप्ता, पृ० १३८

३—सिद्ध साहित्य-पृष्ठ १९४

४— „ „ १९४

५— „ „ १९४

सकते हैं कि उन्होंने लौकिक राग को आध्यात्मिक राग से पराजित करने का प्रयास किया था। जिस प्रकार लौकिक राग बन्धन का कारण होता है उसी प्रकार अलौकिक राग मुक्ति का कारण बन जाता है। बौद्ध तान्त्रिकों के जीवन दर्शन का मूलाधार यही सिद्धान्त था।

उपर्युक्त जिस महाराग की चर्चा की गई है, वह शुद्ध चित में ही उदय हो सकता है। यही कारण है कि तान्त्रिक बौद्धों ने चित्त परिशोधन को विशेष महत्व दिया है। चित्त परिशोधन से सिद्धों का तात्पर्य रासायनिक परिशोधन से नहीं था, उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सरहपाद ने[1] लिखा है–

"लोग स्वतः निर्वाण और भव की रचना करते हैं। और उसमें बंध कर फिर दुखी होते हैं। जो नैरात्म्य ज्ञान को जानता है वह मरण और जन्म में कोई अन्तर नहीं समझता। अतः वह अमर हो जाता है। जो जन्म और मरण की भ्रान्ति में पड़ा रहता है वही योगी लौकिक स्वर्ण सिद्धि के लिए रसायन आदि का शोधन करता है।" वास्तव में यह तो नैरात्म्य ज्ञान के रस द्वारा चित्त के विशोधन की प्रक्रिया है। यह नैरात्म्य ज्ञान का रस बहुत रहस्यमय है। इसीलिए सरहपाद कहते हैं[2] कि "हे पुत्रो, यह तो प्रज्ञोपाय या सहज तत्व रूपी विचित्र रस है। इसका वर्णन ही नहीं हो सकता।"

सिद्धों ने विशोधन शब्द के अतिरिक्त चित के हनन की बात भी कही है। चर्यापदों में चंचल चूहे और शतरंज की गोटी के रूपक से चित्त के हनन का सिद्धान्त व्यक्त किया गया है। चित्त के हनन से तान्त्रिक बौद्धों का यह भी भाव था कि उसका हठयोग में योजन कर दिया जाय। इसके लिए खेचरी आदि मुद्राओं की साधना का उपदेश दिया जाता है।

चित्त हनन के प्रसंग में ही अमनसकार का सिद्धान्त भी विचारणीय है। अमनसकार मनसकार का विरोधी शब्द है। मनसकार दशभूमिक चैत्य धर्मों में से एक धर्म माना जाता है।[3] इसका अर्थ होता है सांसारिक क्रियाकलापों में संलग्न होना। अतएव अमनसकार का अर्थ हुआ उस मनराकार वृत्ति से मुक्ति पाना, जो पंच स्कन्ध आदि चित्त को संसार में प्रवृत्त करती है। मन को अमन करने का सिद्धान्त इसी का रूपान्तर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तान्त्रिक बौद्धों ने कुछ ऐसे सिद्धान्तों को खोज निकालने की चेष्टा की थी जो सहज जीवन से अधिक मेल खाते थे। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण वे समाज में अपनी प्रतिष्ठा स्थिर रख सके।

१—सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती–पृष्ठ १९२
२— ,, ,, पृष्ठ १९२
३— ,, ,, पृष्ठ १९३

मध्ययुगीन कवियों पर शून्यवादी परमार्थ चिन्तन का प्रभाव:—

शून्य वाद बौद्धों का प्रसिद्धतम वाद हैं। भारतीय विचारधारा पर उसका प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार का प्रभाव दिखाई पड़ता है निर्गुण काव्य धारा पर इसका प्रभाव प्रत्यक्ष पड़ता है। मध्य युग की अन्य धाराएँ भी कम प्रभावित नहीं है।

शून्य वादी लोग शून्य को परमार्थिक सत्ता मानते हैं। उसको उन्होंने चतुष्कोटि निर्विमुक्त कहा है। सन्तों ने भी उन्हीं के ढंग पर शून्य का वर्णन पारमार्थिक सत्य के रूप मे किया है।

शून्यवाद का प्रभाव नानक पर दिखाई पड़ता है। उन्होने शून्य और शब्द को एक ही माना है। उन्होने सारी सृष्टि की उत्पत्ति शून्य मे ही बताई है।

सुन्न शब्द ते उठै झंकार। सुन्न शब्द ते ओ अंकार।
सुन्न शब्द ते पवनु विचार। सुन्न शब्द ते अग्नीधारा।[1]
उलटै मनु जवि सुन्नि समावै। नानक शब्दे शब्द मिलावै।[2]
सुन्न ते सम्भु आदि गुरु रक्षणा नानक कहै उदासी लक्षण।[3]

संत कबीर ने भी परमार्थ रूप से शून्य की व्यञ्जना की है उदाहरण के लिए तरुवर का रूपक ले सकते हैं।

सहज सुनि इक विरवा उपजि धरती जलहरु सोखिया।
कहि कबीर हउ ताका सेवक जिनि इहु विरवा देखिया[4]

इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण है:—

उदक समुंद सलिल की साखिग्रा नदीतरंग समावहिंगे।
सुनहि सुनु मिलिग्रा समदरसी पवन रूप होई जावहिंगे।।[5]

शून्य तत्व जीवन मरण से परे है—कबीर कहते हैं 'जीवन मरै मर पुनि जीवै ऐसे सुनि समाइया'[6] इस प्रकार के वर्णन अन्य सन्तो में भी मिलते हैं। रैदास ने लिखा है—

पहले ज्ञान का किया चाँदना पाछे दिया बुझाई,
सुन्न सहज मे दोऊ त्यागे राम न कहु सुख दाई।[7]

१—प्राण सगली पृ० २०२
२—प्राण संगली पृ० १३७
३—प्राण संगली पृ० १६९
४—सन्त कबीर पृ० १८१
५—सन्त कबीर पृ० १९२
६—सन्त कबीर पृ० ४९
७—रैदास जी की बानी पृ० ३

इसी प्रकार दादू ने लिखा है—

सुन्नहि मारग आइया, सुन्नहि मारगजाइ।
चेतन पैंडा सुरति का दादू रहु ल्यो लाई[1]

एक दूसरे स्थल पर इन्हीं संत ने लिखा है —

ब्रह्म सुन्न तहं ब्रह्म, निराकार।

इन्हीं संत की एक युक्ति है—

सुन्न सरोवर सहज का तह मरजीवा मन।
दादू चुणि चुणि लेइगा, भीतर राम रतन ॥[2]

इस प्रकार की सैकड़ों उक्तियाँ सन्तों की वानियों में मिलती हैं जिन पर बौद्धों के शून्यवाद की स्पष्ट छाया दिखाई पड़ती है। उपर्युक्त सभी अवतरणों में सन्तों ने परम तत्व को शून्य रूप अभिव्यञ्जित किया है। जिस प्रकार बौद्धों ने शून्य को अद्वय और भावाभाव विलक्षण रूप कहा है उसी प्रकार सन्तो ने भी उसे अद्वय और भावाभाव विलक्षण रूप कहा है।

सन्तों और बौद्धो के शून्यवाद मे कुछ विद्वानों की दृष्टि में बड़ा मौलिक भेद है। बौद्ध शून्य वाद को वे लोग नास्तिक मानते हैं और सन्तों के शून्यवाद को आस्तिक किन्तु मेरी अपनी धारणा है कि बौद्धों का शून्यवाद प्रच्छन्न आस्तिकवाद था जब कि सन्तों का शून्यवाद स्पष्ट आस्तिकवाद था। मेरी समझ में दोनों के शून्यवाद में यही अन्तर है।

सूफी काव्य धारा के कवियों पर भी बौद्धो के शून्यवाद का अच्छा प्रभाव पड़ा है। जिस प्रकार बौद्ध लोग शून्य को परमतत्व मानते थे और उसी से संसार की उत्पत्ति बताते थे उसी प्रकार जायसी ने भी शून्य से संसार की उत्पत्ति कही है—

आदि किएउ आदेस, सुन्नहि ते अस्थूल भए।
आप करै सब भेषमुहम्मद चादर ओट जेउं ॥

जायसी शून्य ज्ञान को परमापेक्षित मानते थे।

मा मल सोई जो सुन्नहि जानै। सुन्नहि ते सब जग पहिचानै।
सुन्नहि ते है सुन्न उपाती। सुन्नहि ते उपजे बहु भांती।
सुन्नहि माझ चन्द्र ब्रह्माण्डा। सुन्नहि ते टीके नव खण्डा।
सुन्नहिते उपजे सब कोई,
पुनि विलाप सब सुन्नइ होई।[3]

१—दादू बानी भाग १ पृ० ८९
२—दादू बानी भाग १ पृ० ५२
३—जायसी ग्रन्थावली पृ० ३०८

सुन्न सुन्न सब उतिराई सुन्नहि महँ सब कोई रहे समाई।[1]

जायसी शून्य ज्ञान को समस्त साधनाओं का लक्ष्य मानते थे। उनकी दृष्टि में शून्य ज्ञानी ही सच्चा सिद्ध है —

इहै जगत के पुनि यह जप तप सत साधना
जानि परै जेहि सुन्न मुहमद सोई सिद्ध भा[2]।

इसी प्रकार जायसी की एक युक्ति और द्रष्टव्य है—

हेतदिष्टि उघरि तस आई। निरखि सुन्न मह सुन्न समाई।
सुन्न समुँद चख माहि जल जैसी लहरें उठहि।[3]
उठि उठि मिटि जोहि मुहमद खोजन पाइए।

इसी अखरावट की एक उक्ति है—

हुता जो सुन्न-मसुन्न, नाव ठाँव न सुर सबद।
नही पाप नहि पुन्न मुहमद आपुहि आपु मह॥[4]

सूफी काव्य धारा पर पड़े हुए शून्य वाद के जिन प्रभावों की चर्चा ऊपर मैंने की है उनके स्वरूप के सम्बन्ध में थोड़ा आलोचनात्मक दृष्टि से भी विचार कर लेना चाहती हूँ।

शून्यवाद का जायसी आदि कवियों पर इतना अधिक प्रभाव पड़ने का क्या कारण था? इस प्रश्न पर विचार करने से दो तीन बातें प्रकट होती हैं, पहली बात यह है उनके समय मे बौद्धों के महायान सम्प्रदाय का तथा उससे उद्‌भूत तान्त्रिक सम्प्रदाय का प्रचार अधिक था। इन्हीं सम्प्रदायों के समकक्ष-नाथ पंथ का प्रभुत्व भी बहुत बढ़ा हुआ था। भारत की सामान्य जनता या तो सिद्धों से प्रभावित थी या नाथ पंथियों से अनुप्रेरित थी। इन दोनों ही सम्प्रदायो ने शून्यवाद की बहुत बड़ी प्रतिष्ठा की। जायसी का लक्ष्य अपने विचारों और भावों को भारत की सामान्य जनता तक पहुँचाना था। यही कारण है उन्होने सामान्यजनता में प्रचलित सिद्धान्तों को अपने ढंग पर अपनाने की चेष्टा की थी। शून्यवाद एक ऐसा ही लोक प्रसिद्ध सिद्धान्त था। अतः उन्होंने उसे पूर्णतया व्यञ्जित करने की चेष्टा की। एक बात और है। जायसी आदि सूफी कवि योग साधना से बहुत अधिक प्रभावित थे। योग साधना में विशेष कर मध्य कालीन योग साधनाओं मे शून्य पर ध्यान केन्द्रित करने का बहुत उपदेश दिया गया है। जायसी आदि सूफी कवि इस प्रकार की योग साधनाओं से प्रभावित हैं अतः उन्ही के अनुकरण पर उन्होंने शून्य-वाद की कुछ अधिक चर्चा की है।

१—जायसी ग्रन्थावली पृ० ३२४
२—जायसी ग्रन्थावली पृ० ३२३
३—जायसी ग्रन्थावली पृ० ३१२
४—जायसी ग्रन्थावली पृ० ३०४

यहां पर एक बात स्मरण रखनी पड़ेगी। वह यह कि जायसी ने शून्यवाद की चर्चा की है उस पर थोड़ा सा प्रभाव इस्लाम का भी है---आदि किएहु आदेश सुन्नहि से अस्थूल भए--जैसी पंक्तियां स्पष्ट रूप से इस्लाम का प्रभाव प्रगट कर रही है। सूफी काव्य धारा के कवियों के शून्यवाद की यही विशेषता हैं।

राम और कृष्ण काव्य धाराओं पर शून्यवाद का प्रभाव बहुत कम पड़ा था। वास्तव में इन धाराओं की प्रवृति शून्यवाद के बिल्कुल विरोध में थी। यही कारण है इन पर बौद्ध प्रभाव अपेक्षाकृत कम दिखाई पड़ता है

खोज करने पर तुलसी पर शून्यवाद का बहुत क्षीण प्रभाव दिखाई पड़ता है। उनका प्रसिद्ध पद है।

केशव, कहि न जाइ का कहिये,

देखत तव रचना विचित्र अति, समुझि मनहि मन रहिए।
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहि, तनु बिनु लिखा चितेरे॥
धोये मिटै न भरे भीति दुःख पाइय इहि तनु हेरे[1]। इत्यादि

इस पद मे तुलसी ने ब्रह्मतत्व के स्थान पर इस जगत के अधिष्ठान के रूप में शून्य का उल्लेख किया है। यह शून्य वादियों का ही प्रभाव है। किन्तु इस प्रकारके उदाहरण बहुत कम है।

उपर्युक्त विवेचनो और उद्धरणों के आधार पर यह कह सकती हूँ कि म य युगीन कवियों पर बौद्धों के विज्ञान वाद और शून्यवाद का अच्छा प्रभाव पड़ा है।

विज्ञान वाद और शून्यवाद के प्रभाव के सम्बन्ध में मैं एक बात बता देना चाहती हूँ वह यह है कि यह प्रभाव बहुत कुछ नाथ पथियों और सिद्धों के माध्यम से आया है अतः अप्रत्यक्ष हैं और पूर्ण आस्तिकता का बाना पहन कर आया है।

राम और कृष्ण धारा के कवियों में शून्यवाद की अवतरणा केवल प्रासंगिक है। सिद्धान्त रूप से वे शून्यवाद के सिद्धान्त मे विश्वास नही करते थे। शून्यवाद की अपेक्षा उनका लगाव विज्ञानवाद से अधिक था। उन्होंने विज्ञानवाद को सम्भवतः इस लिए अपनाया था कि वे लोग वहिशुद्धि के साथ साथ मन-शुद्धि मे भी विश्वास करते थे। चित्त शुद्धि पर सबसे अधिक बल विज्ञान वाद मे ही दिया गया है, किन्तु यह प्रभाव सीधा विज्ञान वाद से

१—विनय पत्रिका पद १११

आया यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता है, हो सकता है कि वह योग-वशिष्ठ के माध्यम से आया है।

शून्यो के भेदः—

शून्यों के विविध भेदों की चर्चा मैं शून्यवाद के विवेचन के प्रसंग में कर चुकी हूँ। तान्त्रिक बौद्ध लोग अधिकतर चार शून्यों की धारणा में विश्वास करते थे। सन्तों पर उनकी इस धारणा का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

सन्तों में शून्य के भेदों का उल्लेख दादू ने विस्तार से किया है। जिन पंक्तियो मे दादू ने विविध शून्यो का उल्लेख किया है वे इस प्रकार हैं:—

तीनि सुन्नि आकार की, चौथी निरगुण नाम।
सहज सुन्नि मे रमि रहचा, जहाँ तहाँ सब ठामा[1] ॥
काया सुन्नि पंच का वासा आतम सुन्नि प्रान प्रकासा।
परम सुन्नि ब्रह्म सो मेला, आगे दादू ब्रह्म अकेला[2] ॥

उपर्युक्त पंक्तियों में चार शून्यों का उल्लेख है उनके नाम क्रमशः निम्न प्रकार है:—

१—काया सुन्नि।
२—आतम सुन्नि।
३—परम सुन्नि।
४—सहज सुन्नि।

बौद्ध तान्त्रिकों ने जिन चार शून्यों की चर्चा की उनके नाम इनसे थोड़ा भिन्न हैं। उनके नाम क्रमशः शून्य, अतिशून्य महाशून्य, और सर्वशून्य हैं। मुझे ऐसा लगता है कि दादू की चतुर विधि शून्य कल्पना पर काल-चक्र-यानियों के चार कायों का प्रभाव है। सहज शून्य सहज काय का, धर्म काय परम सुन्नि का, अतिशून्य सम्भोग का काय और काय शून्य निर्माण काय का। जो भी हो सन्तों की शून्य कल्पना बौद्धों से बहुत अधिक प्रभावित है।

सहज यान में सहज तत्व का स्वरूपः—

सहज यानियों ने परमार्थ तत्व के रूप में सहज तत्व की प्रतिष्ठा की है। शून्यवादियों का शून्य और सहजयानियों का सहज ये दोनों परस्पर पर्यायवाची

१—दादू बानी भाग १ पृ ५०
२—दादू बानी भाग १ पृ० ५१

कहे जा सकते हैं। इस सहज तत्व के सम्बन्ध में कण्हपा ने लिखा है कि 'इस सहज तत्व को बहुत से शास्त्रागम का पठन पाठन करने वाले भी नहीं जानते[1]।' उन्होंने उसके सम्बन्ध में यह भी लिखा है कि जो सहज के रहस्य को जान लेता है उसे इस भव से निर्वाण मिल जाता है[2]। इस सहज तत्व को सहजयानियों ने अनिर्वचनीय और अनिवेद्य कहा है उनके मतानुसार साधक को इस सहज तत्व से उद्भूत जिस आनन्द तत्व की उपलब्धि होती है उसका वर्णन कौन किससे कर सकता है। गुरू उसका न तो वर्णन कर सकता है और न शिष्य उसको समझ सकता है[3]।

सहजयानियों ने इस सहज तत्व को भाव अभाव विलक्षण रूप व्यंजित किया है। सहज न भव रूप है और न निर्वाण रूप है। वह भाव स्वभाव वाला भी नहीं है और अभाव स्वभाव वाला भी नहीं है। यदि भाव स्वभाव वाला होता तो भव के सदृश बन्धन कारक हो जाता और यदि अभाव रूप होता वह उच्छेद और अनस्तित्व रूप होता। जो सहज को इस रूप में जानता है उसी को मोक्ष मिलता है[4]।

सहजवाद का प्रभाव:—

मैं सहजयानियों की सहज धारणा पर ऊपर प्रकाश डाल चुकी हूँ। उसके प्रकाश में जब मैं मध्ययुगीन कवियों का अध्ययन करती हूँ। उन पर सहज यानियों की सहज धारणा का बहुत अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है।

सहज वाद का सबसे अधिक प्रभाव निर्गुण काव्य धारा पर पड़ा है। कबीर ने सहज का प्रयोग अनेक अर्थों में किया है। उनमें से एक अर्थ परमार्थ तत्व सम्बन्धी है। कबीर ने लिखा हैं 'जब सहज तत्व का प्रकाशन होता है तब जीवन की शंका शेष नहीं रह जाती है[5]।' कुछ स्थलों पर कबीर ने सहज को शून्य रूप में व्यंजित किया है। 'मैंने अपनी वृत्ति अन्तर्मुखी कर ली है। सहज शून्य में हमारी रहन हैं। जाति और वर्ण हमारे लिए कोई महत्व नहीं रखते[6]' इसी प्रकार उन्होंने दूसरे स्थल पर भी लिखा है वह सहज शून्य रूप है। वह न ज्योति रूप है न छाया रूप है। वह स्थिर है और चल

१—दोहा कोष पृ० ४६
२—दोहा कोष-बागची पृ० ४७
३—दोहा कोष-बागची पृ० ६१
४ दोहा कोष बागची पृ० ६३
५—जीवन की संका नासी, आपनरति सहज परग्रासी। क० ग्रं० पृ०३१५
६—उलटि जाति कुल दोउ बिसारी
सुन्न सहज महि रहनि हमारी। क० ग्रं० पृ० २७२

लानवित हो उठते हैं'। इन तीनों में से कोई भी शब्द बौद्धसाहित्य में उस अर्थ में कहीं भी प्रयुक्त नहीं मिलता जिस अर्थ में ब्राह्मण साहित्य में आत्मन् शब्द प्रयुक्त मिलता है। जहां कहीं बौद्धों को ब्राह्मण आत्मवाद का खण्डन करना पड़ा है वहीं पर उन्होंने अत्तन या अत्ता शब्द का प्रयोग किया है जो आत्मन का ही पाली रूप है। बाद के कुछ बौद्ध विद्वान इस शब्द का प्रयोग केवल खण्डन के लिए ही नहीं स्वीकारात्मक ढंग से भी करने लगे। मिलिन्द प्रश्न[२] में जीव शब्द का प्रयोग बहुत किया गया है। वह लगभग उसी अर्थ में है जिस अर्थ में ब्राह्मण साहित्य में उसका प्रयोग मिलता है। बौद्ध ग्रंथों में अधिकतर सत्त और पुद्गल शब्दों का ही प्रयोग मिलता है। इन शब्दों का प्रयोग सामान्यतया किसी प्राणधारी व्यक्ति के लिए ही किया गया है। सामान्यतया इसका अर्थ वही लिया जाता है जो अंग्रेजी में 'सेल्फ' से प्रकट होता है। मज्झिम निकाय[३] मे एक स्थल पर अत्तभाव का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि इसका अर्थ व्यक्तित्व से लेना ही अधिक समीचीन है। इस अत्त भाव का अर्थ केवल पांच ज्ञानेन्द्रियों के संघात मे ही लिया जाता था। कुछ लोग[४] इसे शरीर तथा और समस्त भौतिक तत्वों की एकत्रीभूत व्यक्ति के अर्थ में करते थे। धम्मपद[५] में इसका प्रयोग अधिक मिलता है। किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि वह प्रयोग उपनिषदों के आत्मवाद से प्रभावित है। कहीं कहीं पर बौद्ध ग्रंथों में आत्ता का अर्थ ठीक उसी अर्थ में किया गया है जिस अर्थ में अंग्रेजी में कान्शेन्स शब्द का प्रयोग होता है। यदि हम बौद्धों के आत्म भाव सम्बन्धी धारणाओं की तुलना उपनिषदों के आत्मतत्व सम्बन्धी धारणाओं से करें तो हमें स्पष्ट अनुभव होगा कि एक में आत्मभाव का निरूपण बहुत वाह्यात्मक और दूसरे की दृष्टि सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्व के साक्षात्कार में लगी हुई थी। इसी दृष्टि से बौद्ध अनात्मवादी थे। उन्हें

१—जीव शब्द का प्रयोग मिलिन्द प्रश्न में किया गया है देखिए सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट सिरीज १८९० का संस्करण पृ० ४, ४८ ८६ आदि सत्त का

२—प्रयोग पृ० ४५ पर अत्ता का प्रयोग पृ० ६७ पर और पुग्गल का प्रयोग पृ० ४० पर किया गया है।

३—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ऐथिक्स से उद्धृत, भाग ११ पृ० ७३१

४—मज्झिमनिकाय २।३२

५—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ११, पृ० ३५१

६—वही

आत्मा का वह सूक्ष्मतम रूप ग्राह्य नहीं था जिसकी चर्चा उपनिषदों में की गई है।

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में बौद्ध अनात्मवाद की छाया

बौद्ध अनात्मवाद को न समझ सकने के कारण लोग प्रायः उसकी निन्दा करते हैं। किन्तु अनात्मवाद का उदय भारतीय विचार धारा के परिष्करण के रूप में हुआ था। भगवान बुद्ध के समय में दो प्रकार की विचार धारायें प्रचलित थी—एक शाश्वतवादी और दूसरी उच्छेदवादी[1] यह दोनों ही विचार धारायें दोष पूर्ण थी। भगवान् बुद्ध को इसी लिए दोनों की उपेक्षा करनी पड़ी। उस समय आत्मवादी दर्शन का बहुत बोल बाला था आत्मवादी दर्शन अपने मूल रूप में बहुत महान् हैं। किन्तु उसका आधार लेकर बहुत विकृत विचार धारा फैल रही थी। भगवान बुद्ध ने अनात्मवाद का उपदेश देकर उन सब का निराकरण किया। अनात्मवाद के तीन पक्ष प्रधान हैं[2]—

१—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान आत्मा नहीं है क्योंकि ये विविध विकारों का शिकार रहते हैं।

२—रूप वेदना संज्ञा आदि अनित्य है इस लिए भी उन्हें आत्मा नहीं कह सकते।

३—रूप वेदना संज्ञा आदि विकृत और अनित्य हैं उनसे पूर्ण विकृति प्राप्त करनी चाहिये।

यहां पर एक प्रश्न उठता है भगवान बुद्ध ने अनात्मवाद का प्रतिपादन क्यों किया, हमारी समझ में इसका प्रमुख कारण यह था कि वे ममत्व और परत्व भाव से बिल्कुल मुक्त होना चाहते थे। आत्मवाद को स्वीकार करने पर ममत्व और तत्व परत्व भाव बिलकुल समाप्त नहीं हो सकता। एक दूसरा कारण और भी हो सकता हैं। वह यह कि वे लोकोत्तर की बातों के झंझटों में नहीं पड़ना चाहते थे इस लिए उन्होंने आत्मा के प्रश्न को उठाया ही नहीं।

बौद्धों ने अनात्मवाद की स्थापना विज्ञानवाद धर्मवाद और शून्यवाद के रूप में भी की है। इन सब का मूल आधार उन्होंने प्रतीत प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त माना है।

१— बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृष्ठ ४१० से ४२५ तक
२—वही, पृष्ठ ४१९

है[१]। सहज वादियों के सदृश कबीर आदि भी सहज की उपलब्धि से संतोष और सुख की प्राप्ति मानते थे[२]। 'आदि अंति जो लीन भए हैं, सहजै जानि संतोखि रहे है।'

संत दादू ने सहज को सर्वव्यापी और आनन्द रूप कहा है—

सदा लीन आनन्द में सहज रूप सब ठौर,[३]

उसका उन्होंने तत्व रूप कह कर आस्तिकता का समर्थन किया है।

अविनासी अंग तेज का, ऐसा तत्त अनूप।
सो हम देख्या नैन भरि, सुन्दर सहज सरूप[४]॥

सहज वादियों ने सहज शब्द को इतना अधिक महत्व देना प्रारम्भ कर दिया कि वे अपने सम्प्रदाय के सभी अंगो के साथ विशेषण रूप में इस शब्द का प्रयोग करने लगे। जिसके फलस्वरूप सहज राग, सहज शून्य, सहज समाधि, सहजाचरण, सहज योग, सहज ध्यान, सहज सुषुम्ना, आदि सैकड़ों पारिभाषिक शब्दों का प्रचार बढ़ गया। हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा में ऐसे बहुत से शब्द प्रयुक्त मिलते हैं।

वज्र यानियों के वज्र तत्व का स्वरूप:—

ज्ञान सिद्धि नामक ग्रन्थ में तत्व ज्ञान या वज्र तत्व की व्याख्या करते हुए लिखा है—वह वज्र तत्व न भाव रूप है और न अभाव रूप है न भावाभाव रूप है, तद्रूप ही है। यह परिभाषा ठीक वैसी ही है जैसी शून्यवादियों ने शून्य की की है[५]। प्रज्ञोपाय विनिश्चय में इस बात को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है—मूल तत्व साकार और निराकार दोनों से भिन्न है। उसके

१—अवरन बरन घाम नहिं छाम अवरन पाइए गुरु की साम।
टारो न टरै आवै न जाय, सुन सहज महिं रह्यो समाय।
क० ग्रं० पृ० २६९

२—क० ग्रं० पृ० २२७

३—दादू बानी, भाग १ पृ० ५४

४—दादू बानी भाग १ पृ० १७०

५—भावा भावौ न तौ तत्वं भवेत् ताभ्यां विवर्जितम्
न देशत्वमता युक्तं सर्वथा न भवेत्तदा।
ज्ञान सिद्धि १२।४

—न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं तत्वं माध्यमिका विदुः॥
—बौद्ध दर्शन पृ० २७१ से उद्धृत

निमित्त न तो शून्य की भावना करे न अशून्य की, न शून्य को छोड़े न अशून्य का परित्याग करे[१]। इस प्रकार वज्र का निरूपण भी द्वैताद्वैत विलक्षण शैली में ही किया गया है।

काल चक्र तत्व:–

काल चक्र यान में परमार्थ तत्व की मीमांसा काल चक्र के रूप में की गई है। विद्वानों का कहना है कि इस शब्द के चारों अक्षर परमार्थ के प्रतिपादक है। 'का' कारण का व्यञ्जक है 'ल' लय का प्रतीक माना जाता है। अब प्रश्न उठता है यह अक्षर किस वस्तु के लय का द्योतक है। लय प्राणों का बताया गया है। जब काया का व्यापार पूर्ण शान्त हो जाता है तब प्राण का लय परमावश्यक समझा जाता है। 'च' अक्षर चपल चित्त का प्रतीक कहा जाता है। चित्त सदैव जगत के विषयों में फंसा रहता है। जगत के विषयों में फंसा रहने के कारण वह चपल कहा जाता है। 'क' क्रम बन्धन का सूचक है। इस के समष्टि मूलक अर्थ को स्पष्ट करते हुये श्री बलदेव उपाध्याय ने लिखा है 'अर्थात् तृतीयावस्था में काय प्राण तथा चित्त का बंधन क्रमशः सम्पन्न होता है। प्राण तथा चित्त का परस्पर योग नितान्त घनिष्ठ रहता है। अतः पहले काय बिन्दु का निरोध करना आवश्यक है। यह ललाट में सम्पन्न होता है। अतः 'क' निर्माण कार्य का सूचक है। कण्ठ में वाग् बिन्दु के निरुद्ध होने से प्राण का लय होता है बिना अपना लय किए चंचल चित्त का बन्धन हो नही सकता। इन तीनों के बन्धन तथा लय का अनुष्ठान तुतीत दशा मे किया जाता है। अतः काल चक्र जिसमें वे चारों अक्षर क्रमशः सन्निविष्ट है उस परम सत्य रूप अक्षर आदि बुद्ध को द्योतित करते है[२]।

मध्य युगीन साहित्य पर वज्र तत्व और काल चक्र तत्व सम्बन्धी चिन्तन का प्रभाव–

मध्य कालीन साहित्य पर हमें वज्र तत्व और काल चक्र तत्व सम्बन्धी चिन्तना का प्रभाव नही के बराबर दिखाई पड़ता है। केवल द्वैताद्वैत विलक्षणवाद की ही हल्की झलक झलकती है। उसका उल्लेख दूसरे प्रसंग में किया गया है।

बौद्ध धर्म और दर्शन में आत्मन:–

बौद्ध ग्रंथों में हमे 'जीव' 'अत्तन' 'सत्ता' और 'पुद्गल' आदि कई ऐसे शब्द मिलते हैं जिन्हे बहुत से लोग आत्मा का पर्यायवाची मान लेने के लिए

१–प्रज्ञोपाय विनिश्चय–५।१६
२–बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० ४५९

विज्ञानवाद का विश्लेषण करते समय हम कह आए हैं कि चित्त, मन तथा विज्ञप्ति ये सब विज्ञान के पर्यायवाची हैं। विज्ञान वादियों ने अनात्मवाद की प्रतिष्ठा करते हुये विज्ञानवाद का प्रतिपादन किया है। जिस प्रकार आत्मवादी जीवन ब्रह्म ईश्वर जगत आदि सब कुछ को आत्मा का ही विवर्त मानते हैं उसी प्रकार विज्ञानवादी चित्त को ही सर्वस्व मानते है। चित्त के अतिरिक्त वे किसी अन्य वस्तु की सत्ता में विश्वास नही करते। यह हम पीछे दिखा आए हैं। मध्यकालीन कवियों में से आत्मवाद का खण्डन तो नहीं मिलता क्योंकि मध्यकालीन सभी संत कट्टर आस्तिक संत थे। किन्तु विज्ञानवाद का प्रभाव उन पर प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता हैं। प्रायः सभी वर्ग के संतों ने अनेक स्थलों पर मन को उतनी ही अधिक प्रतिष्ठा दी है, जितनी आत्मवादी आत्मा को देते हैं। सच तो यह है कि मध्यकालीन संतों में मन अनेक स्थानों पर आत्मा का स्थानापन्न बनाकर आया हैं। मध्यकालीन संतों के मनवाद या विज्ञानवाद के स्वरूप का स्पष्टीकरण तो मैं आगे करूँगी यहाँ पर मैं इतना ही कहना चाहती हूँ कि बौद्धों के अनात्मवाद का प्रभाव मध्यकालीन संतो पर मनवाद शून्यवाद आदि के रूपों में दिखलाई पड़ता है।

जिस प्रकार आत्मवादी लोग आत्मा को ही ईश्वर परमात्मा, आदि मानते थे, उसी प्रकार संतो ने मन को भी ईश्वर और परमात्मा रूप व्यञ्जित किया है। यह बात कबीर के निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट है।

मन ही गोरख है, मन ही गोविन्द रूप है, मन ही साधक रूपी औघड़ है जो इस मन के रहस्य को जान कर यत्न पूर्वक उसकी साधना करता है। वह साधक ही ईश्वर रूप हो जाता है। मन साधना करने वाले साधक से भिन्न कोई दूसरा ईश्वर नही होता है[1]।

भगवान बुद्ध के अनात्मवाद के प्रसंग में हम नागसेन के पुद्गल नैरात्म्यवाद की चर्चा किए बिना भी नही रह सकते। भगवान बुद्ध के अनात्मवाद को आचार्य नागसेन ने पुद्गल नैरात्म्यवाद के रूप में ग्रहण किया था। पुद्गल नैरात्म्यवाद व्यक्तित्व का निषेध करता है उन्होंने रथ का दृष्टान्त देते हुए हुए कहा हैं कि जिस प्रकार रथ के बांस, पहिए, रथ का ढांचा, पहियो के डण्डे हांकने की लकड़ी आदि भिन्न भागों के मिले हुये रूप के लिए व्यवहार की सुलभता के लिए रथ शब्द का प्रयोग करते हैं उसी प्रकार रूप, वेदना, संज्ञा

१—मन गोरख मन गोविन्दौ मन ही औघड़ होय।
जे मन राखे जतन करि तो आपै करता सोय।
क० ग्रं० पृ० २९

संस्कार, विज्ञान ये पाँचों स्कन्ध मिल कर केवल व्यवहारार्थ व्यक्ति का बोध करते है। परमार्थ रूप में व्यक्ति की उपलब्धि नहीं होती है[1]। यह अनात्मवाद का चरम रूप है।

मध्यकालीन संतों की रचनाओं में कहीं कहीं हमें इस पुद्गल नैरात्म्य-वाद की छाया भी मिल जाती है। पुदगल नैरात्म्यवाद की सबसे प्रधान विशेषता उसकी चरम निषेधात्मकता हैं संत कबीर में हमें निम्नलिखित पद्य में पुदगल नैरात्म्यवाद की पूरी छाया दिखलाई पड़तीहै।

ना तिस सबद न स्वाद न सोहा, ना तिहि मात पिता नहीं मोहा।
ना तिहि सास सुसर नहीं सारा, ना तिहि रोजन रोयन हारा॥
ना तिहि सूतिग पातिग जातिग्र, ना तिहि भाइ न देव कथा पिक।
ना तिहि बिध बधावा बाजे, ना तिहि गीत वाद नहीं साजे
ना तिहि जाति पाँत्य कुल लीका, ना तिहि छोति पविग्रनही सीचा॥

किन्तु इस प्रकार के पुद्गल नैरात्मयवाद से प्रभावित उद्धरण संतों की रचनाओं में तो ढूंढ़ने से मिल जाते है। किन्तु मध्यकालीन अन्य काव्य-धाराओं के कवियों में इससे प्रभावित उद्धरण नहीं मिलते है।

कबीर के उपर्युक्त उद्धरण में जहाँ हमें आत्मवाद के स्थानापन्न विज्ञान-वाद की झलक दिखलाई पड़ती है वही हमें अनीश्वरवाद का संकेत भी मिलता है। मेरी अपनी धारणा यह हैं कि संतों ने बौद्धधर्म के अनात्मवाद से प्रभावित होकर ही आत्मवाद के ढंग पर मनवाद की प्रतिष्ठा की है। यह बात कबीर के निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट है 'हे भाई मन के रहस्य की खोज करनी चाहिए शरीर के नष्ट हो जाने पर यह मन कहां चला जाता है। सनक, सनंदन, जय्रदेव, नामदेव आदि बड़े बड़े भक्त हुए हैं किन्तु मन के रहस्य को वे भी नही समझ सके हैं। शिव, ब्रह्मा, नारद आदि ज्ञानी लोग भी उसके रहस्य को नही जान पाए है। ध्रुव, प्रह्लाद और विभीषण जो सेवा भक्ति परायण संत है वे भी उसके रहस्य को नही जानते। गोरख, भर्तृहरि और गोपीचन्द्र योगी उस मन से मिलकर आनंदित रहते हैं' इत्यादि।

विज्ञानवादी लोग संसार को विज्ञान चित्त या मन का ही विवर्त मानते है। तुलसी ने मानस में लिखा है—

१—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ४४५

२—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २४३

३—ता मन को खोजौरे भाई तन छूटे मन कहां समाई इत्यादि
क० ग्रं० पृ० ९९

गो गोचर जहं लगि मन जाई, सो सब माया जानहु भाई[1]।

यहाँ पर तुलसी ने माया को मन का विवर्त व्यंजित किया है। सारा दृश्य जगत माया रूप ही है इसका अर्थ यह हुआ कि दृश्य जगत सब मन का ही विवर्त है।

सन्त सूरदास ने भी मन को आत्मा के स्थानापन्न के रूप में ही प्रयुक्त किया है। जिस प्रकार आत्मवादी लोग पंच तत्व विनिर्मित शरीर में आत्मा का अस्तित्व मानते हैं, उसी प्रकार सूर ने भी लिखा है—

मन सुआ तन पींजरा, तिहिं मांझ राखै चेत[2]।
काल फिरत बिलार तनुधारि, अब धरी तिहि लेत॥

बौद्धों के अनात्मवाद प्रसंग में एक प्रश्न पर और विचार कर लेना चाहती हूँ। वह यह है कि यदि भगवान् बुद्ध आत्मवाद के खण्डक थे तो फिर उन्होंने आत्मदीप होकर विहार करो, आत्म शरण अनन्यशरण का प्रयोग क्यों किया है। यहाँ पर ऐसे प्रयोगों में आत्म का क्या अर्थ है। इस सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद रहा है। कुछ विद्वान इस प्रकार के प्रयोगों को वैदिकों के आत्मतत्व से प्रभावित मानते हैं और कुछ आत्म का प्रयोग अपना लेते हैं। उसे आत्म तत्व से सम्बन्धित नहीं मानते। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि आत्म का अर्थ अपना लिया जाए तो फिर आत्म दीप और आत्मशरण जैसे कथनों का क्या सुलझाव होगा। इस प्रश्न का उत्तर स्वयं भगवान बुद्ध ने ही दे दिया है। उन्होंने लिखा है "आनन्द भिक्षु कैसे आत्मदीप होता है और कैसे आत्मशरण आनन्द भिक्षु काया में कायानुपश्यी हो विहरता है, वेदनाओं में वेदनानुपश्यी हो विहरता है। चित्त में चित्तानुपश्यी हो विहरता है धर्मों में धर्मानुपश्यी हो विहरता है ...... ऐसे आनन्द भिक्षु आत्मशरण होता है। और आत्मदीप होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चार स्मृति प्रस्थानों की कल्पना करके उन्होंने अपने अनात्मवाद का पोषण ही किया है।

कहीं कहीं पर तो आत्मशब्द का प्रयोग इस ढंग से किया गया है कि वह औपनिषदिक आत्मा का अर्थ देता ही प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए हम तीस भद्रवर्गीयों की कथा ले सकते हैं। उस कथा के अनुसार तीस आदमी वन विहार के लिए निकले। उसमें से २९ के पास अपनी अपनी

१— मानस पृ० ७०८

२—सूरसागर पृ० १६४।

स्त्रियाँ थी और एक के पास वेश्या थी। वह वेश्या सबका धन लेकर भाग गई। सब उसको ढूंढते हुए भगवान् बुद्ध के पास पहुँचे और उनसे पूछा कि महाराज आपने इस प्रकार की एक स्त्री देखी है। इस पर तथागत ने कहा तुम लोगों को स्त्री न ढूंढ कर अपने आप को ढूंढ़ना चहिए यही हितकर होगा। यहां पर भी अपने आपको ढूंढने का अभिप्राय मेरी समझ में मन के रहस्यानुभव से है।

मध्य कालीन संतों में हमें अपने आपको ढूंढने वाले तथागत के उपदेश की पूरी पूरी छाया मिलती हैं: उदाहरण के लिए हम संत कबीर की निम्नलिखित पंक्तियां ले सकते हैं।

पूज्या देव बहुरि नहीं पूजों न्हाउ उदिक न नाऊँ।
भागा भ्रुमये कही कहता, आये बहुरिन आऊँ॥
आपे में तब आया निरख्या, अपन में आपा सूझया।
आपैं कहत सुनत पुनि अपना, अपने में आपा बूझया।
अपने परचं लगि तारी, अपने पंआप समाना।
कहै कबीर जे आप विचारैं, मिटि गया आवन जाना॥[1]

इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर कबीर ने लिखा है[2]—
कहै कबीर घर ही मन माना, गूगें का गुण गूगें जाना।

इसी प्रकार उन्होंने एक दूसरे स्थल पर उपदेश दिया है[3]—
कहै कबीर घटि लेहु विचारी औघट घाट सी चलैं बयारी।

इसी प्रकार सूर से उपदेश दिया है —
रे मन आपु को पहचान[4]।

भगवान् बुद्ध ने आत्मशब्द का प्रयोग कहीं कही अहंकार के लिए भी किया है। कुछ आलोचकों की तो यह धारणा हैं कि आत्मवाद के रूप में अहंकारवाद का ही उच्छेद किया था। यह बात अंगुतर निकाय के निम्नलिखित उद्धरण से भी स्पष्ट होती है—'न ये मेरे है न मैं इनका हूं। न ये मुझमें है न मैं इनमें हूं।' इस प्रकार कहकर निर्वाण के क्षेम कुशल मंगल प्रीति गमनीय मार्ग पर लगा देते है किन्तु अत्ता (अहंकार) को नहीं खोलते[5]।

१—क० ग्रं० पृ० ९०
२—क० ग्रं० पृ० १०९
३—क० ग्रं० पृ० १५७
४—सूरसागर पृ० ३८
५—अंगुतर निकाय पृ० ३५९।

बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद के इस पक्ष का प्रभाव भी मध्यकालीन कवियों पर दिखलाई पड़ता है।

इस युग के कवियों ने 'आपा और आप' आदि शब्दों का प्रयोग अहंकार के अर्थ में करते हुए उसका निराकरण करने का उपदेश दिया है। जायसी लिखते हैं[१] —

आपुहि खोए पिउ मिलै, पिउ खोए सब जाई।
देखहु बूझि विचार मन, लेहु न हेरि हेराइ॥

इसी प्रकार कबीर ने भी लिखा हैं—

जहाँ आपा तहँ आपदा जंह संसय तंह सोग।
कह कबीर कैसे मिटे चारी दीरघ रोग[२]॥

इसी प्रकार के और भी अनेक उद्धरण मिलते हैं। विस्तारभय से उनको यहां उद्धृत नहीं करना चाहती हूँ।

ऊपर हम संकेत कर आए हैं कि अनात्मवाद का स्थानापन्न शून्यवाद भी है। आत्मवाद का खण्डन शून्यवाद के सहारे भी किया गया है। शून्यवाद की विस्तृत चर्चा तो दूसरे प्रसंग में करेंगे। यहां पर यही कहना चाहती हूँ कि अनात्मवाद को बल प्रदान करने का श्रेय शून्यवाद को भी है।

शून्य का प्रयोग मध्य कालीन कवियों ने आत्मतत्व या परमात्मतत्व में किया है। उदाहरण के लिए हम कबीर की निम्नलिखित पंक्तियाँ ले सकते हैं।

उदक समुन्द सलिल की साखिया नदी तरंग समावहिंगे[३]।
सुन्नहिं सुन्न मिलिआ समदरसी पवन रूप होइ जावहिंगे॥

इसी प्रकार जायसी ने भी लिखा है कि :—

हुआ जो सुन्न सासुन्न, नांव ठाव ना सुर सबद[४]।
तहां पाप नहिं पुन्न, मुहमद आपुहि आपु महं॥

अन्य सन्तों में भी इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं।

बौद्धों का कर्मवादी सिद्धान्त : मध्ययुगीन कवियों पर उनका प्रभाव

भगवान बुद्ध ने कहा है—'मनुष्य कर्म के ही उत्तराधिकारी हैं, कर्म ही उनका यहां अपना है, कर्म ही उनके उद्भव का कारण है और कर्म ही

१—जा० ग्रं०, पृ० ३२०, अखरावट
२—कबीर साखी संग्रह पृ० १४१
३—कबीर ग्रन्थावली
४—जायसी ग्रन्थावली पृ० ३०४

उनका अन्तिम प्रतिशरण है[1]। भगवान बुद्ध के इन वचनों मे बौद्ध धर्म का सार निहित है। बौद्ध धर्म की यह कर्मवादिता उसकी बुद्धिवादिता का परिणाम है। भगवान ने कर्म शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक रूप में किया है। उसे वह चेतना का पर्यायवाची मानते थे। यह बात उनकी निम्नलिखित उक्ति से प्रकट है--"चेतना ही, भिक्षुओं, कर्म है, मैं ऐसा कहता हूँ। चेतना द्वारा ही कर्म करता है—काया से वाणी से या मन से[2]"। भगवान बुद्ध के इस कथन में बौद्ध मनोविज्ञान से सम्बन्धित आचारवाद की पृष्ठभूमि छिपी हुई है। अनात्मवाद के प्रसंग में जिन पंच स्कन्धों की चर्चा की जा चुकी है उन्ही को नैतिक दृष्टि से धम्मसगणि[3] में कुशल अकुशल और अव्याकृत धर्मों के अभिधान से विवेचित किया गया है। अभिधम्मपिटक[4] में इनका विभाजन चित्त, चैतसिक और रूप के नाम से किया गया है। इन सबका विस्तृत उल्लेख हम वैभाषिकों की धर्म मीमांसा के प्रसग में कर चुके है। यहाँ पर केवल इतना ही कहना चाहती हूँ कि कुशल धर्म सतकर्मों की आधार भूमि हैं और अकुशल असत् कर्मो की आधार भूमि है। अव्याकृत कर्म उन्हे कहते हैं जो कुशल अकुशल के अन्तरर्गत नहीं आते है और विपाक चित्त से उद्भूत होते हैं। इस प्रकार हम देखते है कि भगवान बुद्ध ने कर्मों का सम्बन्ध चित्त से स्थापित किया है। कर्म और चित्त के इतने घनिष्ट सम्बन्ध का अध्ययन शायद ही किसी धर्म या दर्शन में किया गया हो। यदि कर्म चित्त से विप्रयुक्त कर दिया गया होता तो कर्म केवल बाह्याचार मात्र रह जाते।

भवचक्र का नियामक और प्रवर्त्तक बौद्ध दर्शन मे कर्म ही कहा गया हैं। बौद्ध दर्शन मे कर्म को इतना अधिक महत्व दिया गया है कि वह ईश्वरवादी दर्शनों के ईश्वर का स्थानापन्न हो गया है। जीवन में जो विविध भेद दिखलाई पड़ते है उनका कारण कर्म वैषम्य ही हैं। जिसका जैसा कर्म होता है वैसा ही उसका स्वरूप और परिणाम होता है। शुभ कर्मों से सुगति मिलती है और अशुभ कर्मों से दुर्गति। यही कारण है कि बौद्ध धर्म में शुभाचरण को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं से एक बार कहा था 'भिक्षुओं क्रोध को छोड़ो, लोभ को छोड़ो,

१—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ४६३

२—वही

३—वही पृ० ४६४

४—वही पृ०

.... "मैं तुम्हारा जामिन होता हूँ तुम्हें इस आवागमन में फिर से नहीं पड़ना होगा[1]।"

कर्मवाद के दार्शनिक और नैति-पक्ष के अतिरिक्त भगवान् बुद्ध उसके एक सामाजिक पक्ष में भी विश्वास करते थे। सामाजिक क्षेत्र में वह जन्म-जात वर्णव्यवस्था में बिल्कुल विश्वास नहीं करते थे। उनका कहना था कि कोई भी वर्णव्यवस्था जन्म के आधार पर ही स्थापित नहीं की जा सकती है। इसलिए मनुष्य को अधिक से अधिक शुभ कर्म करने चाहिये इसीलिए भगवान बुद्ध ने कर्म प्रतिशरण बनने का उपदेश दिया था। वे बुद्ध शरण और कर्म शरण में कोई भेद नही मानते थे। उनका कहना था कि जिसका कर्म अच्छा है वह बुद्ध के समीप है वह चाहे उनसे सौ योजना की दूरी पर भी हो। जिसका कर्म बुरा है वह बुद्ध से दूर है चाहे वह उनकी संघाटी के छोर को पकड़ कर उनके पैरों के पीछे पैर रखता हुआ ही चल रहा हो[2]। इस प्रकार हम देखते है कि कर्मवाद का सिद्धान्त बौद्ध धर्म की आधार शिला है।

मध्ययुगीन कवियों पर बौद्धों के कर्म सिद्धान्त की छाप

बौद्धों का कर्मवादी सिद्धान्त भारतीय विचार धारा में परिव्याप्त हो गया है। मध्ययुगीन कवियों पर तो उसका विशेष प्रभाव दिखलाई पड़ता है। संत कबीर ने लिखा है[3]—"जो जैसा करेगा उसे वैसा ही फल मिलेगा यही राजा राम का नियम है"। इसी प्रकार तुलसी ने भी लिखा है[4]—"कोई भी किसी को सुख दुख नही देता मनुष्य अपने कमो के अनुरूप ही सुख दुख भोगता है"। कबीर का तो यहाँ तक विश्वास था कि किए हुए कर्मों का फल मनुष्य को भुगतना ही पड़ता है। कोई भी कृत कर्मों के विपाक से मुक्ति नही दिला सकता[5]। ऐसी भाव व्यंजना तुलसी ने कई स्थलो पर कई प्रकार से की है। अयोध्याकाण्ड मे दशरथ राम से कहते है[6]—

शुभ अरु अशुभ करम अनुहारी, ईस देई फल हृदय विचारी।
करै जो करम पाव फल सोई, निगम नीति अस कह सब कोई॥

१—बौद्ध दर्शन तथा भारतीय दर्शन पृ० ४७६

२—वही

३—जो जस करिहै सो तस पैहे राजाराम नियाई। क० ग्रं० पृ० १५६

४—काहू न कोऊ सुख दुखकर दाता। निज कृत कर्म भोग सुख भ्राता।
रामचरित मानस-गीता प्रेस पृ० ४५८

५—कर्म करीम जो करि रहे मेट न सार्क कोई, क० ग्रं० पृ० २५४

६—रामचरित मानस पृ० ४४४, गीता प्रेस का बृहद संस्करण पृ ४७५

इसी प्रकार इसी काण्ड में एक दूसरे स्थल पर लिखा है :—

रामचन्द्र पति सो वैदेही, सोवत महि विधि बाम न केही।
सिय रघुवीर कि कानन जोगू करम प्रधान सत्य कह लोगू ॥

इसी प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकालीन भक्त कवियों पर बौद्धों के कर्मवाद के सिद्धान्त की पूरी छाया दिखलाई पड़ती है।

बौद्धों की कर्मवादी धारणा और मध्यकालीन संतों की धारणा में एक मौलिक भेद दिखलाई पड़ता है। वह यह है कि मध्यकालीन कवि ईश्वर वादी थे और बौद्ध लोग अनीश्वर वादी थे। बौद्धों ने जहाँ कर्म को ईश्वर रूप व्यंजित किया है। वही इन संतों ने ईश्वर को प्रधानता देते हुए उन्हें शुभ और अशुभ कर्मों के विपाकों का ज्ञाता बतलाया है तुलसी ने अयोध्याकाण्ड में कौशल्या जी से कहलवाया है—"दुख सुख हानि लाभ सब कर्म के आधीन है। कर्म की गति कठिन है उसे विधाता ही जानता है। वही शुभ और अशुभ सभी कर्मों का फल देने वाला है[1]।

बौद्ध लोग भवचक्र में भ्रमित होने का कारण कर्म श्रृंखला को भी मानते थे। इस बात का प्रभाव भी संतों पर दिखलाई पड़ता है। इसी बात की व्यंजना करते हुए कबीर ने लिखा है—"लालच में पड़कर जो कर्म मनुष्य करता है ये ही कर्म उसके गले में बन्धन रूप होकर पड़ जाते हैं[2]।" इसी प्रकार सूर ने लिखा है" कि जन्म जन्मान्तर में जो कर्म करता है उसी में जीव बंध जाता है[3]। इसी प्रकार सूर ने एक दूसरे स्थल पर भी कर्मबन्धन की चर्चा करते हुए लिखा है[4] :—

थकित होय रथ चक हीन जयो विरचि कर्म गुन फंद।

इन कर्म बन्धनों से किसी को मुक्ति नही मिल पाती। सूर लिखते हैं :—

काल कर्मवस फिरत सकल प्रभु तेऊ हमारी नाईं[5]।

१—कौसल्या का दोस न काहू, कर्म विवश दुख सुख क्षति लाभू।
कठिन करम गति जान विधाता, जो शुभ अशुभ सकल फल दाता।
रामचरित मानस पृ० ६४० गीता प्रेस

२—जो जो करम किए लालचस्यो ते फिर गरहि पर्यो ॥
क० ग्रं० पृ० २६४

३—जनम जनम बहु करम किए हैं तिनमें आपुन आप बधायो।
सूर सागर पृ० १७३

४—सूरसागर पृ० १०५

५—सूरसागर पृ० १०२

अब प्रश्न यह उठता है कि कर्म बन्धन का कारण किस प्रकार बन जाते है। इस का उत्तर कबीर ने बहुत सुन्दर दिया है[1] :—

कर्म धर्म करते बहु संजम अहं बुद्धि मन जारयो रे।

अर्थात् कर्म धर्म सदाचरण आदि करने से मनुष्य की बुद्धि मे अहंकार उत्पन्न हो जाता है। यह अहंकार ही मन को विमोहित कर लेता है विमोहित मन ही बन्धन रूप होता है। जीव और कुछ नही कर्मबद्ध मन ही है। कबीर ने लिखा है[2] :—

कर्म बद्ध तुम जीव कहत हौं कर्महि किन जीव दीनरे।

इन कर्म बन्धन से मुक्ति पाने का उपाय बौद्ध धर्म में चार आर्य सत्यों का ज्ञान बतलाया गया है और मध्यकालीन भक्तों ने भक्ति को कर्म बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने का कारण बताया है[3]।

बौद्धों के निर्वाण सम्बन्धी विचार और मध्ययुगीन कवियों पर उनका प्रभाव

भगवान बुद्ध ने जिस धर्म का प्रवर्तन किया था उसमे निर्वाण को ही सर्वस्व बताया गया है। उस धर्म में निर्वाण का वही स्थान है जो आस्तिक दर्शनों में ब्रह्म या ईश्वर का है।

निर्वाण के स्वरूप पर बौद्ध धर्म में बड़े विस्तार से विचार किया गया है। इन विचारों को मै दो भागों मे बाँट सकती हूँ—

१—भगवान बुद्ध के विचार।

२—परवर्ती विविध दार्शनिक सम्प्रदायों में विकसित विचार।

निर्वाण के सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध ने जो विचार प्रगट किये थे वे त्रिपिटक ग्रन्थो मे सुरक्षित हैं। भगवान बुद्ध के विचारों को लेकर बाद को निर्वाण पर बहुत अधिक शास्त्रीय विवेचन हुआ। वह सब विवेचन इतना जटिल है, इतना अग्राह्य है कि साधारण पढ़े लिखे सन्तो के लिए उन सब का ज्ञान सर्वथा असम्भव था। हाँ भगवान् बुद्ध के उपदेश निश्चय ही बहुत लोकप्रिय थे यही कारण है कि मध्ययुगीन कवियो पर भगवान् बुद्ध के निर्वाण सम्बन्धी विचारो की छाया अधिक पड़ी है, शास्त्रीय विवेचन करने वाले आचार्यों की कम। अतः मैं पहले भगवान् बुद्ध के निर्वाण सम्बन्धी विचारों के प्रकाश मे ही मध्ययुगीन कवियों के निर्वाण सम्बन्धी विचारों का

१—क० ग्रं० पृ० २९२

२—क० ग्रं० पृ० २९८

३—सूरदास भगवन्त भजन बिनु करम फाँस नहीं छूटे-सूरसागर पृ० १३४

अध्ययन प्रस्तुत करूंगी । बाद से थोड़ा सा परिचय विविध सम्प्रदायों के निर्वाण सम्बन्धी विचारों का भी कराया जायगा । पुनश्च यह स्पष्ट करने की चेष्टा करूंगी कि मध्ययुगीन कवि लोग कहां तक शास्त्रीय विवेचनों से प्रभावित थे । शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करते समय एक बात पर और ध्यान रखखा गया है । वह यह कि व्यर्थ का विस्तार न होने पावे । व्यर्थ के विस्तार से प्रबन्ध का कलेवर तो बढ़ जाता किन्तु उसका कोई विशेष उपयोग न होता । मध्ययुगीन कवियों पर शास्त्रीय विवेचनों का प्रभाव नहीं के बराबर है ।

निर्वाण अनुभव की एक अवस्था है उसकी प्राप्ति इस जीवन में ही सम्भव है

भगवान बुद्ध के बचनों का अध्ययन करने पर अनुभव होता है कि वे निर्वाण को अनुभव की एक अवस्था मानते थे । उन्होने निर्वाण का विवेचन उस ढंग पर कभी भी नही किया था जिस ढंग पर परवर्ती दार्शनिक सम्प्रदायों में मिलता है । वे निर्वाण को एक दृष्ट धर्म मानते थे । अनुभव की एक उच्चतम अवस्था समझते थे । इस उच्चतम अवस्था की प्राप्ति पूर्ण विशुद्धि से होती है । यही कारण कि आचार्य बुद्ध घोष ने विशुद्धि को ही निर्वाण कहा है[1] । अत. निर्वाण जीवन के बाहर की वस्तु नही हैं जीवन मे ही उसकी उपलब्धि की जा सकती है ।

भगवान् बुद्ध के निर्वाण सम्बन्धी इस दृष्टिकोण की छाया मध्ययुगीन कवियों पर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है । सन्त कबीर निर्गुण काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि हैं इन्होंने भगवान् बुद्ध की तरह सर्वत्र निर्वाण की स्थिति को अनुभव की अवस्था ही व्यंजित किया है । उसका वर्णन करते हुये उन्होंने लिखा है 'जब आत्मानुभव के रूप मे निर्वाण की उपलब्धि होती है तब हर्ष विषाद आदि के द्वन्द मिट जाते हैं । चित्त दीपक के सदृश सब प्रकार के बाद विवाद को त्याग कर शान्त हो जाता है[2] । निर्वाण के अनुभव की इस अवस्था का वर्णन नहीं किया जा सकता वह गूंगे के गुड़ के सदृश अनिर्वचनीय है जिस प्रकार रस की अनुभूति का रहस्य गूंगा ही समझता है अन्य व्यक्ति नही जानते है, उसी प्रकार निर्वाण का साक्षात्कार करने वाला साधक

---

१ — विशुद्धिमग्गा १।५

२ — आतम अनुभव जब भयो तब नहिं हर्ष विषाद ।

३ — चित दीप सम ह्वै रह्यो तजि करि वाद विवाद
कबीर साखी संग्रह पृ० ८१

उसके रहस्य को जानता है दूसरे उस अनुभव की अवस्था की सरसता का अनुभव नहीं कर सकते[1]। अनुभव की यह अवस्था द्वन्द्वातीत होती है। जो भरी हुई वस्तु है वह खाली हो जाती है और जो खाली है वह भर जाती है किन्तु अनुभव व निर्वाण की अवस्था दोनों से अतीत है उसे न तो भरी हुई कह सकते है और न खाली ही कह सकते है[2]। अतः उसके भरे हुए तथा रिक्त होने का प्रश्न नहीं उठता।

जीवन में ही किस प्रकार विमुक्ति की अवस्था की उपलब्धि होती है, इस बात का संकेत सन्तों ने समाधि की अवस्था का वर्णन करके किया है। सन्तों ने जीवन काल में ही समाधि के रूप निर्वाण की उपलब्धि की थी। इसी अवस्था के उनमें अनेक सुन्दर वर्णन मिलते है। यहां पर दो एक उद्धरण दे देना अनुचित न होगा। संत कबीर का एक रेखता है—

> छका सो थका फिर देह धारै नहीं,
> करम और कपट सब दूर किया।
> जिन स्वास-उस्वास का प्याला पिया,
> नाम दरयाव तह पैस जीया।
> चदि मतवाल और हुआ मन साबिता,
> फठिक ज्यों फेर नहीं फूट जावै।
> कहै कबीर जिन बास निभय किया,
> बहुरि संसार मे नाही आवै[3]॥

इसी प्रकार एक दूसरे रेखते मे उन्होंने इस अवस्था का वर्णन किया हैं—जीवन मे ही जिस साधक ने निर्वाण की अनुभूति कर ली है वह उसके रस मे विभोर रहता है। वह ज्ञान और वैराग्य से परिपूर्ण रहता है। वह स्वास उस्वासो में प्रेम प्याला पिए रहता है।[4] वह वहाँ रमा रहता है जहाँ

१—आतम अनुभव ज्ञान की जो कोई पूछै बात।
सो गूंगा गुड़ खाइ कर कहै कौन मुख स्वाद॥
—कबीर साखी संग्रह पृ० ८१

२—भरो होइ सो रीत, रीतो होय भराय।
रीतो भरो न पाइए अनुभव सोइ कहाय॥ —क० सा० संग्रह पृ० ८१

३—कबीर साहब की ज्ञान गुदड़ी। पृ० २५

४—छका अवधूत मस्तान माता रहै,
ज्ञान वैराग्य सुधि लिया पूरा।
स्वास उस्वास का प्रेम प्याला पिया।
गगन गर्जे तहाँ बजे तूरा।

ब्रह्मरंध्र में अनहद नाद होता रहता है । ऐसा साधक समाधि में ही निर्वाण सुख की अनुभूति करता रहता है, संसार से विरक्त रहता हैं और नाम जप में लीन रहता है । इस प्रकार के जरना जोगी का समादर बड़े बड़े गुरू और पीर तक करते है । इस प्रकार के समाधि योगी के प्राण परम सुख धाम में लीन रहते हैं[1] । यह जितने भी वर्णन हैं उन सब में समाधि वर्णन के बहाने निर्वाण का वर्णन किया गया हैं, वह निर्वाण जिसकी प्राप्ति साधक साधना के बल पर इस जीवन में ही करते है । सन्त मलूक[2] ने इसी लिए निर्वाण को अनुभव पाद की संज्ञा दी है ।

जायसी आदि सूफी कवियों ने भी इस जीवन मे ही निर्वाण की उपलब्धि व्यंजित की है । बौद्धों के सदृश वे भी निर्वाण को द्वन्द्वातीत्व अनुभव की अवस्था मानते थे। जायसी ने लिखा है[3] साधक घोर साधना करके साँतवे समुद्र में अथवा साधना की अन्तिम पराकाष्टा पर आपहुँचे । वास्तव में, निर्वाण रूपी सिद्धि की प्राप्ति यहाँ पर होती हैं । मानसरोवर रूपी साध्य का सौन्दर्य साधक को यहीं पर अनुभव होता है । साधक और साध्य का यह साक्षात्कार उल्लास के रूप में विकसित होकर सृष्टि के कण कण में फैल जाता है । अज्ञान जनित अंधकार दूर हो जाता है । ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है । उस समय साधक की दुविधा मिट जाती हैं और निर्वाण की ठोस अनुभूति होने लगती है । जिस साधक को इस जीवन में निर्वाण रूपी सिद्धि की प्राप्ति की आशा नही थी वह उसे इसी जीवन मे प्राप्त कर कृतार्थ हो उठे । उस समय साधक का रोम रोम उसी प्रकार उल्लसित हो जाता है जिस प्रकार

१—पठि संसार से नाम राता रहे,
जतन जरना लिया सदा खेले ।
कहै कबीर गुरू पीर से सुरखरू,
परम सुख धाम तहं आन बोलें ।
—क० साहब की ज्ञान गुदड़ी पृ० २४

२—संत मलूक दास की बानी पृ०

३—सतएं समुद मानसर आए । मन जो कीन्ह साहस सिधि पाए ।
देखि मानसर रूप सुहावा । हिय हुलास पुरइनिहो छावा ।
गा अंधियार रैनमसि छूटी । भा भिन सार किरन रवि फूटी ।।
अस्ति अस्ति सब साथी बोले । अंध जो अहे नैन बिधि खोले ।।
कंवल बिगस तहं बिहसी देही । भौंर दसन होइ के रस लेही ।
हंससि हस ओकारहि किरण चुनहि रतन मुक्ता हस हीरा ।।
जो असि आव साधितप जोग । पूजै आस मानस भोग ।।

कमल खिल जाता है। इत्यादि सूफी कवियों के इस प्रकार के वर्णनों पर हमें स्पष्ट रूप से बौद्ध प्रभाव परिलक्षित होता है। सूफी लोग इसी लोक में निर्वाण की प्राप्ति नही मानते हैं। उनका विश्वास है कि साधक को पूर्ण आनन्द और मोक्ष की प्राप्ति शरीर के त्याग के पश्चात् ही होती है[१]। उपर्युक्त अवतरण में साधक को मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति इसी जीवन में दिखाई गई हैं। अतः इस पर सूफी प्रभाव न मान कर बौद्ध प्रभाव ही माना जायेगा।

तुलसी आदि सगुण धारा के कवियों की मुक्ति धारणा पर बौद्धों का अधिक प्रभाव नही दिखाई पड़ता। इस का कारण यह है कि वह श्रुति प्रामाण्य वादी सन्त है। उनकी अधिकांश विचार धारा श्रुतिसम्मत है। श्रौत दर्शनो मे मुक्ति परलोक गमन की अवस्था व्यंजित की गई है। वेदान्त सूत्र में मुक्ति की अवस्था मे जीव का ब्रह्मलोक में जाना लिखा है[२]। 'वेदान्त का जोव बौद्धो के निर्वाण के समकक्ष माना जा सकता है। अन्तर केवल इतना हैं कि जीव मुक्ति से केवल जीवितावस्था की मुक्तावस्था का बोध होता किन्तु निर्वाण से जीवन्मुक्ति और मुक्ति दोनों अवस्थाओं की ध्वनि निकलती है।

निर्वाण परमसुख और शान्ति की अवस्था है:—

मज्झिम निकाय मे निर्वाण को परम सुख की अवस्था कहा गया है[३]। यह अवस्था तथागत ने प्राप्त कर ली थी। इस अवस्था को प्राप्त कर ही वे अपने को मगध के सम्राट बिंबसार से भी अधिक सुखी मानते थे[४]। भगवान बुद्ध के शिष्यों मे से बहुतो ने निर्वाण की अवस्था प्राप्त कर ली थी उदाहरण के लिए हम भद्दिय स्थविर को ले सकते हैं। उसने[५] अपने सुख की अवस्था का वर्णन किया है, इसी प्रकार और भी बहुत से सन्तो की सुख अनुभूतियों के वर्णन प्राचीन बौद्ध ग्रन्थो मे मिलते है।

बौद्धो की निर्वाण सम्बन्धी इस विशेषता की छाया भी सन्तों पर स्पष्ट दिखाई पड़ती है। सन्त लोगो ने निर्वाण के सुख-का वर्णन अनेक प्रकार से अनेक रूपो मे किया है। सन्तों ने निर्वाण की सुखमय अवस्था का

१—आइडिया आफ परसनैलिटो इन सूफीइज्म-निकलसन भूमिका

२—ब्रह्म सूत्र भाष्य ४।३।१

३—मज्झिम निकाम २।३।५

४—मज्झिम निकाय १।२।५

५—देखिए विनयपिटक चुल्लवग्ग

वर्णन कभी तो परचा के बहाने किया है, कभी 'रस को अंग' के अन्तर्गत चित्रित करने का प्रयास किया है। 'जर्णा के अंग' के अन्तर्गत भी निर्वाण सुख के अनेक सुन्दर वर्णन मिलते हैं। कुछ उदाहरण दे देना अनुपयुक्त न होगा। कबीर ने 'परचा को अंग' में एक स्थल पर लिखा है कि जब निर्वाणानुभूति हुई तो समस्त पाप स्वयमेव नष्ट हो गए और परम सुख की प्राप्ति हो गई। उस सुख से हृदय आप्लावित हो गया[1]।

इसी प्रकार एक दूसरा वर्णन है कि 'शरीर के भीतर ही निर्वाण की अनुभूति हुई। उसके आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती। निर्वाण सुख की अनुभूति होते ही त्रिविध ताप जनित ज्वाला शान्त हो गई[2]।'

बौद्ध ग्रन्थों में जिस निर्वाण रस का वर्णन किया गया है, उसी के समकक्ष सन्तों ने 'हरि रस' और 'राम रस' का वर्णन किया है। इन दोनों प्रकार के वर्णनों में केवल आस्तिकता और नास्तिकता का भेद है। बौद्ध लोग प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर वादी नहीं थे जब कि सन्तों में ईश्वर वाद की छाया पड़ गई है। इसलिए उन्होंने निर्वाण सुख को हरि रस या राम रस कहा है जिस प्रकार बौद्ध भिक्षु कौण्डन्य निर्वाण सुख की प्राप्ति होने पर आनन्दतिरेक से नाच उठते थे उसी प्रकार कबीर 'राजा राम' के आनन्द को जान कर चिल्ला उठे थे।

जानी जानी रे राजा राम की कहानी[3]

ठीक ऐसे ही शब्द कौण्डन्य के थे 'जान लिया जान उस सुख को जान लिया[4]।'

बौद्ध ग्रन्थों में निर्वाण में सुख के साथ शान्ति की उपलब्धि भी बताई गई है। थेरी गाथा में निर्वाण प्राप्त भिक्षुणी कहती है मैं निर्वाण प्राप्त कर परमशान्त हुई हूँ। निवृत होकर मैं शीतलता स्वरूप हो गई हूँ[5]।

१—सचुपाया सुख अपना अस दिल दरिया पूरि।
सकल पाप सहज गए जब सांई मिलया हजूरि॥ —क० ग्रं० पृ० १४

२—तन भीतर मन मानिया बाहर कहा न जाई।
ज्वाला ते फिरि जल भया, बुझी बलती लाई॥
—क० ग्रं० पृ० १५

३—क० ग्रं० पृ० २६५

४—संयुक्त निकाय का धम्म चक्क प्रवर्त्तन सुत
भरत सिंह के 'बौद्ध दर्शन और भारतीय दर्शन' पृ० ४८८ से उद्धृत

५—'बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन' से उद्धृत पृ० ४९०

निर्वाण में आवागमन और जरा शोक नहीं होते

निर्वाण की प्राप्ति हो जाने पर आवागमन और शोक सन्तापादि नहीं सताते। भगवान ने कहा है कि जो तृष्णा रहित राग रहित और आशा रहित होकर निर्वाण की अवस्था को प्राप्त हो जाता है तब वह सब प्रकार के दुःखों और सन्तापों से विनिर्मुक्त हो जाता है और आवागमन के इन्द्रजाल में नहीं पड़ता[१]।

बौद्धों के निर्वाण की अवस्था और विशेषता का प्रभाव भी सन्तों पर दिखाई पड़ता है। कबीर ने लिखा है 'जो राम रंग में रंग जाते हैं वे फिर आवागमन के चक्र में नहीं पड़ते। उन्हें दुःख सुख नहीं व्यापता। वे स्वयं कर्ता रूप हो जाते हैं'[२]।

निर्वाण परम सत्य रूप

भगवान बुद्ध ने निर्वाण को परम सत्य रूप कहा है। इस सत्य के अधिष्ठान का कोई पता नहीं है। भगवान बुद्ध ने संयुक्त निकाय में लिखा है 'भिक्षुओ, चक्षु श्रोत घ्राण जिह्वा और शरीर का आश्रय मन है। मन का आश्रय योनिशः मनसिकार या सम्यक स्मृति है। विमुक्ति सम्यक स्मृति का आश्रय है। विमुक्ति का आश्रय निर्वाण है। परन्तु यदि तुम पूछो कि निर्वाण का आश्रय क्या है तो यह एक प्रति प्रश्न है जिसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। यह ब्रह्मचर्य का जीवन निर्वाण में प्रवेश के लिए है निर्वाण तक लाने के लिए है। निर्वाण में परिपूर्णता प्राप्त करने के लिए है'[३]।

निर्वाण की उपर्युक्त विशेषताएँ सन्तो ने ब्रह्मानुभव की अवस्था में व्यंजित की है। कबीर ने लिखा है--"भगवान के दर्शन होने से मन शीतल हो गया है। मोह जनित ताप मिट गया है। शाश्वत आनन्द की उपलब्धि हो गई है।"[४] बौद्धों के और सन्तो के वर्णन की यदि तुलना की जाय तो केवल एक ही भेद दिखाई पड़ेगा। वह यह कि जिसे बौद्ध ग्रन्थों में निर्वाण कहा गया

१—सुत्त निपात–बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन से उद्धृत पृ० ४८

२—होय मगन राम रंगि राचै।
आवागमन मिटै धापै।
तिनहि उछाह शोक नहिं व्यापै।
कहै कबीर कर्ता आपै। कबीर ग्रं० पृ० १५०

३—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन–पृ० ५०४

४—हरि संगति सीतल भया, मिटी मोह की ताप।
निस बासरि सुख निधि लह्या, अन्तर प्रगटा आप।।
—क० ग्रं० पृ० १५

है उसी को सन्तों ने ईश्वर कहा है। आस्तिकता और नास्तिकता सम्बन्धी इस भेद को छोड़ कर सन्तों के ब्रह्मानुभूति या आत्मानुभूति के वर्णनों और बौद्धों के निर्वाण सम्बन्धी वर्णन में कोई मौलिक भेद नहीं है।

जायसी आदि सन्त भी आस्तिक थे अतः उनमें भी बौद्धों के निर्वाण की विशेषताएँ प्रियतम साक्षात्कार की अवस्था के प्रसंग में ही प्रतिध्वनित की गई हैं। उदाहरण के लिए जायसी का 'देखि मानसर रूप सुहावा' वाला उद्धरण लिया जा सकता है। यह मैं ऊपर उद्धृत कर चुकी हूँ। इस उद्धरण में भी जायसी ने परम सुख और आनन्द वाली विशेषता की अभिव्यञ्जना की है। "हिय हुलास परइन होइ छावा" वाले शब्द इसी विशेषता का द्योतन कर रहे हैं।

राम और कृष्ण का लेकर चलने वाली सगुण धारा के कवियों की वानियों पर इसका बहुत अधिक प्रभाव परिलक्षित नहीं होता क्योंकि इस धारा के कवि श्रुति प्रामाण्यवादी थे। यह मैं बता आई हूँ कि श्रुति प्रामाण्य दर्शनों में बौद्धों के निर्वाण की विशेषताओं की झलक यदि कहीं मिल सकती है तो 'जीवन मुक्त' के वर्णनों में। तुलसी सूर आदि में इस प्रकार के वर्णन सन्तों के स्वरूप वर्णन के प्रसंग में मिलते हैं। तुलसी ने सन्तों की विशेषताओं का वर्णन किया है वहाँ निर्वाण की कुछ विशेषताएँ भी प्रतिबिम्बित मिलती हैं। उदाहरण के लिए हम उत्तर काण्ड मे वर्णित सन्तों के निम्नलिखित लक्षण उद्धृत कर सकते हैं, 'सन्त विषयों में लिपटे नही होते, शील और सद्गुणों की खान होते है। उन्हे पराया दुःख देखकर दुःख और सुख देखकर सुख होता है। वे सब मे सब समय सर्वत्र समता रखते हैं कोई उनका शत्रु नही है। वे मद से रहित और वैराग्यवान होते हैं तथा लोभ, क्रोध, हर्ष और भय का त्याग किये रहते हैं। उनका चित्त बडा कोमल होता है वे दीनों पर दया करते हैं तथा मन, वचन और कर्म से ही निष्कपट भक्ति करते हैं सबको सम्मान देते हैं स्वयं मान रहित होते हैं। उनको कोई कामना नहीं होती। मेरे नाम के परायण होते हैं। शान्त वैराग्य विनय और प्रसन्नता के घर होते हैं। उनमें शीतलता, सरलता, सबके प्रति मित्र भाव और ब्राह्मण के चरणों में प्रीति होती है। जो धर्म को उत्पन्न करने वाले हैं उन्हें निन्दा और स्तुति दोनों समान हैं इत्यादि। तुलसी के इस सन्त वर्णन की तुलना यदि निर्वाण प्राप्त अर्हत से की जाय तो स्पष्ट अनुभव होगा कि दोनों में कोई

मौलिक अन्तर नहीं, कहने की आवश्यकता नहीं कि इस साम्य का कारण बौद्ध प्रभाव ही है।[1]

उपर्युक्त अवतरण में सन्तों के लक्षण के रूप में तुलसी ने उन सब विशेषताओं का उल्लेख किया है जो निर्वाण प्राप्त सन्तों में पाई जाती हैं। सुख शांति एवं तटस्थ की व्यञ्जना उपर्युक्त अवतरण के 'सांति विरति बिनती मुदितायन' शब्दों में हुई है। सूर आदि कृष्ण काव्य धारा के कवियों में इस प्रकार के वर्णन बहुत कम उपलब्ध होते हैं। अतः यहां पर उनकी चर्चा नहीं की जा रही है।

बौद्ध दर्शन में विशेषकर भगवान बुद्ध ने निर्वाण को चित्त की विमुक्ति कहा है।[2] इसी को वे ब्रह्मचर्य का अन्तिम लक्ष्य मानते थे। चार आर्य सत्य और सैंतीस बोधि पक्षीय धर्मों का लक्ष्य इसी चित्त विमुक्ति की प्राप्ति करना बताया गया है। अब प्रश्न यह है कि चित्त की विमुक्ति किसे कहते हैं। चित्त का बाह्य वस्तुओं से हटकर स्वयं में समाहित हो जाना ही चित्त की विमुक्ति है। सन्तों ने बौद्धों की इस विशेषता को भी अपनाने का प्रयास किया था। संत कबीर ने अनेक बार और अनेक स्थलों पर चित्त में चित्त के या मन में मन के समाने की बात कही हैं।[3] मन या चित्त की विमुक्ति का वर्णन कभी कभी शून्य में मन के समाने की बात कह कर भी की गई है। कबीर ने स्पष्ट लिखा है कि 'ऐ मानव ! सब प्रकार की दुविधाएँ दूर करके निर्वाण को प्राप्त करले। उस अवस्था में पाँच तत्व अपने अपने रूपों में मिल जायेंगे। और मन शून्य में समा जायगा'।[4]

१—विषय अलम्पट शील गुनाकर। पर दुख दुख-सुख-सुख देखे पर।
सम अभूत रिपु विमद विरागी। लोभ हरष हरषा भय त्यागी।
कोमल चित्त दीनन्ह पर दाया। मन वच क्रम मम भगति अमाया।
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम-मम ते प्रानी।
विगत काम मम नाम परायन। साँति विरति बिनती मुदितायन।
सीतलता सरलता मयत्री। द्विजपद प्रीतिधर्म जनयत्री।
निन्दा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कज।
ते सज्जन मम प्रान प्रिय गुन मन्दिर सुख पुंज ॥
—मानस पृ० १०६४

२—मज्झिम निकाय १।३।९

३—कहे कबीर मन मनहि मिलावा
अमर भये सुख सागर पावा ॥ —क० ग्रं० पृ० १०२

४—कबीर संसा दूरि कर जामण मरन भरम।
पंचतत्त तत्तहि मिले सुनि समाना मन ॥ क० ग्रं० पृ० ३२

में चित्त के बुझ जाने को ही निर्वाण कहा गया है।[1] इसकी उपमा दीपक की बत्ती के बुझने से दी गई है। चित्त वासनाओं का अधिष्ठान कहा जाता है। अतः चित्त का बुझ जाना वासना का बुझ जाना है। मध्य युगीन सन्तों पर बौद्धों के निर्वाण की इस विशेषता का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। सहजोबाई ने लिखा है—'जिस संत में लोक परलोक आदि किसी भी प्रकार की वासना शेष नहीं रह गई है, वह ब्रह्म स्वरूप होकर सागर सदृश अनन्त और गंभीर हो जाता है।'[2] जायसी ने तो एक स्थल पर बौद्धों के सदृश दीपक के बुझ जाने वाली बात भी कही है। वे लिखते हैं कि शरीर एक सराय के सदृश है मन उस सराय को प्रकाशित करने के लिए दीपक रूप है। आशा उसका तेल है। स्वास का आना जाना उसकी बत्ती है। उस दीपक में ईश्वर की ज्योति है। वह अपने आप जलती है। जब तृष्णा या आशा रूपी तेल क्षीण होने लगता है तब मन रूपी दीपक शांत हो जाता है। शून्यावस्था आ जाती है।[3] जायसी का उपर्युक्त उद्धरण बौद्धों की निर्वाण धारणा से बहुत अधिक प्रभावित है। सच तो यह है कि उसमें बौद्ध निर्वाण का ही स्वरूप वर्णित किया गया है।

सगुण धाराओं के कवियों में भी हमें वासना के क्षय की बात ध्वनित मिलती है। किन्तु इस प्रकार के स्थल बहुत कम है।

निर्वाण भव निरोध की अवस्था :—बौद्ध दर्शन के अनुसार भव का कारण प्रतीत्य समुत्पाद, है उसका क्रम इस प्रकार है :—

> अविद्या के प्रत्यय से संस्कार
> संस्कारों के प्रत्यय से विज्ञान
> विज्ञान के प्रत्यय से नाम रूप
> नाम रूप के प्रत्यय से षडायतन

१—मज्झिम निकाय-डा० राहुलसांकृत्यायन द्वारा अनुवादित पृ० २८२

२—सहजो लोक पर लोक की नहीं वासना जाहि।
सो वह ब्रह्म स्वरूप है सागर जहां समाय-सहजोबाई की बानी॥ पृ०४२१

३—तन सराय मन जानहु दीया। आसु तेल दम बाती कीया॥
दीपक मह विधि जोतिस मानी। आपुहि बरै बात निरबानी॥
निघटे तेल झूरि भई बाती। गा दीपक बुझि अंधियरि राती॥
जा० ग्रं० पृ० ३१२

४—बौद्ध दर्शन और भारतीय दर्शन, पृ० ४९९

षडायतन के प्रत्यय से स्पर्श
स्पर्श के प्रत्यय से वेदना
वेदना के प्रत्यय से तृष्णा
तृष्णा के प्रत्यय से उपादान
उपादान के प्रत्यय से भव

मगर भव का कारण संक्षेप में कहना चाहूँ तो कह सकती हूँ कि तृष्णा है। अतः इस तृष्णा का निराकरण कर देने से भव का निरोध स्वयमेव हो जाता है। निर्वाण में तृष्णा का निरोध हो जाता है अतः भव का निरोध हो जाना स्वाभाविक है। अतः बौद्ध लोग निर्वाण में भव का निरोध मानते थे। स्वयं भगवान बुद्ध ने कहा है भव का रुक जाना ही निर्वाण है।[2]

निर्वाण की इस विशेषता की छाया भी मध्य युगीन कवियों पर दिखाई पड़ती है। संत कबीर ने एक स्थल पर लिखा है—"मैं अब नहीं मर सकता हूँ अब तो मुझे निर्वाण की प्राप्ति हो गई है, और संसार या भव का निरोध हो रहा है।[1]

तुलसी आदि संतों में निर्वाण की अवस्था का वर्णन जीवन मुक्त या ज्ञानी संतों के वर्णन के प्रसंग में मिलता है। तुलसी ने इसी ज्ञानावस्था में 'सिया राम मय सब जग जानी, करौं प्रणाम जोरि जुग पानी' लिखा था यह भी भव निरोध की अवस्था है। इस प्रकार की उक्तियों पर स्पष्ट रूप से बौद्ध प्रभाव परिलक्षित होता है।

निर्वाण द्वेष और मोह के क्षय की अवस्था है :—

ऊपर मैं कह आई हूँ कि भगवान बुद्ध निर्वाण में सब प्रकार की वासनाओं का क्षय मानते थे। वासनाओं में राग द्वेष और मोह प्रधान हैं। अतः भगवान बुद्ध ने निर्वाण में इनका निरोध परमावश्यक माना है। बुद्ध ने अपने साथियों से निर्वाण की घोषणा करते हुए कहा था 'आवुसो यह जो राग का क्षय है, द्वेष का क्षय है और मोह का क्षय है यही कहलाता है निर्वाण।'[2] निर्वाण क्षय की यह परिभाषा बड़ी ही व्यापक है।

मध्य युगीन कवियों पर निर्वाण की इस विशेषता का प्रभाव भी

१—मैं न मरौ मरिहैं ससारा। अब मोहि मिल्यो है जियावन हारा॥
—क० ग्र० २६७

२—सुत्त निपात ५।८-बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ४९४

दिखाई पड़ता है। संतों ने सर्वत्र राग द्वेष और मोह के निरोध को परमावश्यक बताया है। कबीर ने लिखा है कि कामी पुरुष का संशय कभी नहीं जाता। वह निर्वाण स्वरूप परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।[1] काम शब्द का प्रयोग यहां पर संकुचित अर्थ में नहीं किया गया है। काम शब्द का प्रयोग वासना के अर्थ में न करके व्यापक अर्थ में किया गया है। उस अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए कबीर ने लिखा था कि काम का अर्थ लोग नहीं समझते हैं। काम वास्तव में मन के विकारों को कहते हैं।[2] जब मन इन विकारों से मुक्त हो जाता है तभी निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। कबीर ने लिखा है—'जो युक्ति पूर्वक मन को जीत लेता है उसे जीवन काल में ही निर्वाण प्राप्त हो जाता है।'[3] इसी प्रकार द्वेष के निराकरण से जीवन-काल में ही मुक्ति की प्राप्ति बताई है।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में मैं यह कहे बिना नहीं रह सकती कि मध्य युगीन कवियों की विचारधारा पर भगवान बुद्ध के निर्वाण सम्बन्धी विचारों का बहुत बड़ा प्रभाव है। निर्गुणियां सन्तों पर तो इस प्रभाव की मात्रा बहुत अधिक है उनके मोक्ष सम्बन्धी विचार जहां श्रौत दर्शन से ४० प्रतिशत प्रभावित हैं, वहीं ६० प्रतिशत भगवान बुद्ध की निर्वाण सम्बन्धी धारणा से प्रभावित है।

भगवान बुद्ध के निर्वाण सम्बन्धी जिन विचारों की संक्षिप्त चर्चा ऊपर की गई है उन्हीं को आधार बना कर भिन्न भिन्न सम्प्रदायों ने निर्वाण के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न प्रकार के मत प्रकट किये हैं।

बौद्ध दर्शन में सम्प्रदायों की संख्या सामान्यतया १८ बताई जाती हैं। मेरी अपनी धारणा है कि वे १८ से भी अधिक थे। जो भी हो यदि १८ सम्प्रदाय ही स्वीकार कर लिये जाएँ तो भी प्रत्येक के निर्वाण सम्बन्धी विचारों को यहाँ पर प्रस्तुत करना कठिन तो है ही साथ ही अनावश्यक भी है: क्योंकि मध्य युगीन कवियों पर भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के निर्वाण सम्बन्धी विचारों का प्रभाव नहीं के बराबर है। यहां पर मैं पहले तो हीन यानियों के प्रसिद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय वैभाषिक और सौत्रान्तिकों के विचारों का संक्षिप्त निर्देश

१—कबीर कामी पुरुष का संसय कबहूं न जाय।
साहिब से अलगा रहे वाके हिरदे लोय। क० सा० सं० पृ० १३९

२—काम काम सब कोइ कहै, काम न चीन्हें कोय
जेती मन की कल्पना काम कहावे सोय॥ कबीर साखी संग्रह

३—जुक्ति जतन से मन को जीते नियतो करे निबेरा॥

करूंगी। बाद में महायान के निर्वाण सम्बन्धी विचारों की मीमांसा करूंगी। महायानियों में भी नागार्जुन का मत स्वतन्त्र रूप से निर्दिष्ट किया गया है। फिर हीनयान और महायान के निर्वाण सम्बन्धी विचारों का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत कर दिया गया है। इससे निर्वाण के सम्बन्ध में साम्प्रदायिक दृष्टि कोण स्पष्ट हो जावेगा।

वैभाषिकों की निर्वाण सम्बन्धी धारणा—वैभाषिकों की निर्वाण सम्बन्धी धारणा स्थविरवादियों से बहुत कुछ मिलती जुलती है। वैभाषिक लोग प्रतिसंख्या निरोध को निर्वाण मानते हैं।[१] उनका कहना है कि विशुद्ध प्रज्ञा के सहारे जब भौतिक जगत के सास्रव संस्कारों का पूर्ण निरोध हो जाता है तभी उसे निर्वाण कहते हैं।[२] इनकी दृष्टि में निर्वाण अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। किन्तु वह अन्य स्वतन्त्र सत्ता रखने वाली वस्तुओं से पृथक है। वह असंस्कृत धर्म है। यहां पर एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि वैभाषिक लोग उसे चेतन सत्ता मानते हैं अथवा अचेतन। इस प्रश्न का उत्तर ठीक ठीक नहीं मिलता। तिब्बती परम्परा के वैभाषिक लोग निर्वाण में चेतना का पूर्ण निरोध मानते हैं। जब कि दूसरे वैभाषिक लोग उसको चेतना रूप नह स्वीकार करते।[३]

सौतान्त्रिकों का मत—इनके मतानुसार निर्वाण केवल क्लेश जन्म का अभाव है, क्लेश कर्म जन्म रूपी प्रवृत्ति की निवृत्ति मात्र है।[४] अभिधर्म कोष में तथा संयुक्त निकाय में एक स्थल पर सौतान्त्रिकों के दृष्टिकोण से निर्वाण के स्वरूप को प्रगट किया गया है।[५]

'सर्वथा प्रहाण, वैराग्य, विशुद्धि, क्षय, निरोध, दुख का अत्यन्त अनुत्पाद, अनुपादान, अप्रादुर्भाव, ही निर्वाण के लक्षण हैं। यह शान्त प्रणीत है अर्थात सर्वोपधि का प्रत्याख्यान तृष्णा क्षय ही निर्वाण है।'

दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते है कि सौतान्त्रिकों की दृष्टि में निर्वाण विशुद्ध ज्ञान से उत्पन्न होने वाला भौतिक जीवन का चरम निरोध है। इनके मतानुसार इस अवस्था में सब प्रकार की भौतिक सत्ता की अविद्यमानता

१—अभिधर्म कोष व्याख्या—यशोमित्र, पृष्ठ १६।
२—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृष्ठ १७७।
३—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृष्ठ १७७।
४—बौद्ध धर्म दर्शन,—आ० नरेन्द्र देव, पृष्ठ २९३।
५—संयुक्त निकाय, १३।५। अभिधर्म कोष पृष्ठ २८४।

रहती है। इस सम्बन्ध में इनका वैभाषिकों से मतभेद दिखाई पड़ता है। वैभाषिक लोग निर्वाण को स्वतः सत्तावान वस्तु नहीं मानते, जबकि सौतान्त्रिक लोग इस सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट नहीं हैं।

महायानियों की निर्वाण कल्पना—महायानियों की निर्वाण सम्बन्धी कल्पना हीनयानियों से सर्वथा भिन्न है। हीनयानी लोग निर्वाण में केवल क्लेशावरण का ही क्षय मानते हैं।[१] ज्ञेयावरण की सत्ता बनी ही रहती है।[२] हीनयानी लोग पुद्गल नैरात्म्य के सिद्धान्त को मानते है। पुद्गल नैरात्म्य के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य परलोक में आत्मा को सुख पहुँचाने की कामना से नाना प्रकार से कर्म करता है। जिसके फलस्वरूप अनेक क्लेशों का उदय होता है। अतएव आत्मा का निषेध करना क्लेश का नाश करना है। इस आत्मा के निषेध के द्वारा ही क्लेश के शमन करने की पद्धति को ही पुद्गल नैरात्म्य का सिद्धान्त कहते हैं। हीनयानी लोग इसी पद्धति से क्लेशावरण का निराकरण करते थे। किन्तु महायानी लोग इस पद्धति को अपूर्ण मानते हैं। उनका कहना है कि यह सही है कि आत्मा के निषेध से क्लेशावरण का निवारण हो जाता है किन्तु ज्ञेयावरण की सत्ता फिर भी बनी रहती है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्लेशावरण और ज्ञेयावरण क्या वस्तुएँ हैं। क्लेशावरण को हम ऊपर स्पष्ट कर आये हैं। उनको पुद्गल नैरात्म्य कहते है।

ज्ञेयावरण धर्म नैरात्म्य से सम्बन्धित माना जाता है। पुद्गल नैरात्म्य से प्राणी सब क्लेशों से मुक्त तो हो जाता है, किन्तु उसकी ज्ञेयावरणता बनी रहती है। ज्ञेयावरणता का अपनयन तभी सम्भव होता है जब शून्यता का ज्ञान हो। इस भेद के कारण हीनयान और महायान के लक्ष्यों में भी भेद दिखाई पड़ने लगा। हीनयान के अनुसार अर्हत पद की प्राप्ति ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है, जब कि महायानी लोग बुद्धत्व प्राप्ति को जीवन का प्रमुख उद्देश्य मानते हैं। महायानियों में सबसे अधिक विचारणीय निर्वाण सम्बन्धी मत नागार्जुन का है। उसकी संक्षिप्त चर्चा यहां पर की जाती है।[३]

निर्वाण के सम्बन्ध में नागार्जुन का मत—माध्यमिक कारिका के २५वें परिच्छेद में नागार्जुन का निर्वाण सम्बन्धी मत स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित मिलता है। उसमें लिखा है कि निर्वाण ऐसी वस्तु है जिसको न तो छोड़ा जा

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृष्ठ १८०।

२—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृष्ठ १८१

३—आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म,—एन० दत्त०, पृष्ठ

सकता है और न प्राप्त किया जा सकता है।[1] यह न तो उच्छिन्न पदार्थ है न शाश्वत पदार्थ है। जो वस्तु उत्पन्न होती है उसका नाश होता है। किन्तु यह उत्पत्ति और विनाश दोनों से परे है। जो लोग निर्वाण को भाव पदार्थ अथवा अभाव पदार्थ मानते हैं, उनकी नागार्जुन ने कटु आलोचना की है। उनकी दृष्टि में निर्वाण भाव और अभाव दोनो से परे या विलक्षण वस्तु है। वे निर्वाण को ही परम तत्व मानते थे। उसी को वे भूत कोटि या धर्म धातु भी कहते थे। इस प्रकार निर्वाण के सम्बन्ध में नागार्जुन ने द्वैताद्वैत विलक्षण-वाद अथवा भाव अभाव विलक्षणवाद के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की थी।[2]

हीनयानियों और महायानियों की निर्वाण सम्बन्धी धारणाओं में अन्तर--आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपने बौद्ध दर्शन मीमांसा नामक महत्व-पूर्ण ग्रन्थ में दोनों के निर्वाण सम्बन्धी सिद्धान्तों की सुन्दर तुलना प्रस्तुत की है। यहाँ पर उन्ही के शब्दो मे उसका उल्लेख कर रही हूँ।[1]

महायान और हीनयान की निर्वाण सम्बन्धी कल्पना में प्राप्त सामान्य सिद्धान्त:—हीनयान तथा महायान के ग्रन्थों के अनुशीलन से निर्वाण विषयक सामान्य कल्पना इस प्रकार है:—

१—यह शब्दों के द्वारा प्रकट नही किया जा सकता। निष्प्रपंच यह असंस्कृत धर्म है। अतः न तो इसकी उत्पत्ति है, न विनाश है और न परि-वर्तन है।

२—इसकी अनुभूति अपने ही अन्दर स्वतः की जा सकती है। इसी को योगाचारी लोग 'प्रत्यात्मवेद्य' कहते है और हीनयानी लोग 'पच्चत्तं वेदि-तव्व' शब्द के द्वारा कहते है।

३—यह भूत, वर्तमान और भविष्य तीनो कालों के बुद्धों के लिए एक है और सम है।

४—मार्ग के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है।

५—निर्वाण में व्यक्तित्व का सर्वथा निरोध हो जाता है।

६—दोनो मत वाले बुद्ध के ज्ञान तथा शक्ति को लोकोत्तर, अर्हत के ज्ञान से बहुत ही उन्नत, मानते हैं। महायानी लोग अर्हत के निर्वाण को निम्नकोटि का तथा असिद्धावस्था का सूचक मानते हैं। इस बात को हीनयानी लोग भी मानते हैं।

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा,—डा० बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ १८२।

२—बौद्ध दर्शन मीमांसा,—डा० बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ १८३।

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा,—डा० बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ १८३।

निर्वाण की कल्पना के सम्बन्ध में दोनों सम्प्रदायों में मतभेद--
१--हीनयानियो की दृष्टि मे निर्वाण सत्य, नित्य और दुखाभाव रूप मात्र है। महा यानियों के कुछ सम्प्रदाय इसे दुखाभाव रूप ही न मान कर सुख रूप भी मानते है और कुछ सम्प्रदाय जिनमें नागार्जुन का माध्यमिक मत विशेष उल्लेखनीय है, इसे न तो दुख रूप मानते हैं और न सुख रूप ही। वे नित्य और अनित्य की कल्पना भी इसके सम्बन्ध में उचित नही समझते। उनकी समझ मे निर्वाण अनिर्वचनीय वस्तु है।[1]

२--हीनयानी लोग इसे प्राप्त करने योग्य वस्तु मानते है। किन्तु महायानियों की दृष्टि में यह अप्राप्य वस्तु है।[1]

३--हीनयानियों की दृष्टि में निर्वाण भिक्षुओं के ज्ञान और आलंबन के हेतु होता है इसके विपरीत महायानी लोग निर्वाण को किसी प्रकार का आलम्बन नही मानते। वे उसमें ज्ञाता, ज्ञेय, विषयी और विषय, निर्वाण और भिक्षु इनमें पूर्ण अद्वैत भाव स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से हम हीनयानियों की निर्वाण सम्बन्धी धारणा को पूर्ण अद्वैतावस्था नही मान सकते। महायानियों की निर्वाण सम्बन्धी धारणा ही पूर्ण अद्वैत रूप कही जा सकती है।[1]

४--हीनयानी लोग निर्वाण को केवल लोकोत्तर दशा भर मानते है। किन्तु महायानियों ने इसे लोकोत्तरतम दशा कहा है।[8]

५--हीनयानी लोग निर्वाण से संसार की धर्म समता स्वीकार नहीं करते किन्तु महायानी लोग विशेषकर माध्यमिक लोग निर्वाण को ही केवल एक परमार्थ तत्व मानते हैं। शेष पदार्थों को तो वे केवल चित्त का विकल्प भर बताते है। इसी अर्थ में वे संसार और निर्वाण की धर्म समता सिद्ध करते हैं। इस धर्म समता को व्यजित करने के लिए उन्होंने समुद्र और लहरों का दृष्टान्त दिया है।

६--हीनयानी लोग जगत के पदार्थों की भी सत्ता मानत हैं। उनके मतानुसार जगत उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार निर्वाण। किन्तु महायानी

१--बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृष्ठ १८४।

२--आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म, एन० दत्त पृष्ठ १३५-४७।

३--आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म, डाक्ट्रिन आफ निर्वाण शीर्षक अध्याय

४--आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म, डाक्ट्रिन आफ निर्वाण शीर्षक अध्याय

सकता है और न प्राप्त किया जा सकता है।' यह न तो उच्छिन्न पदार्थ है न शाश्वत पदार्थ है। जो वस्तु उत्पन्न होती है उसका नाश होता है। किन्तु यह उत्पत्ति और विनाश दोनों से परे है। जो लोग निर्वाण को भाव पदार्थ अथवा अभाव पदार्थ मानते है, उनकी नागार्जुन ने कटु आलोचना की है। उनकी दृष्टि में निर्वाण भाव और अभाव दोनों से परे या विलक्षण वस्तु है। वे निर्वाण को ही परम तत्व मानते थे। उसी को वे भूत कोटि या धर्म धातु भी कहते थे। इस प्रकार निर्वाण के सम्बन्ध में नागार्जुन ने द्वैताद्वैत विलक्षणवाद अथवा भाव अभाव विलक्षणवाद के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की थी।[२]

हीनयानियों और महायानियों की निर्वाण सम्बन्धी धारणाओं में अन्तर--आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपने बौद्ध दर्शन मीमांसा नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ में दोनो के निर्वाण सम्बन्धी सिद्धान्तों की सुन्दर तुलना प्रस्तुत की है। यहाँ पर उन्ही के शब्दो मे उसका उल्लेख कर रही हूँ।[३]

महायान और हीनयान की निर्वाण सम्बन्धी कल्पना में प्राप्त सामान्य सिद्धान्त:—हीनयान तथा महायान के ग्रन्थों के अनुशीलन से निर्वाण विषयक सामान्य कल्पना इस प्रकार हैं:—

१—यह शब्दों के द्वारा प्रकट नही किया जा सकता। निष्प्रपंच यह असंस्कृत धर्म है। अतः न तो इसकी उत्पत्ति है, न विनाश है और न परिवर्तन है।

२—इसकी अनुभूति अपने ही अन्दर स्वतः की जा सकती है। इसी को योगाचारी लोग 'प्रत्यात्मवेद्य' कहते है और हीनयानी लोग 'पच्चत्तं वेदितव्वं' शब्द के द्वारा कहते हैं।

३—यह भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों के बुद्धों के लिए एक है और सम है।

४—मार्ग के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है।

५—निर्वाण मे व्यक्तित्व का सर्वथा निरोध हो जाता है।

६—दोनो मत वाले बुद्ध के ज्ञान तथा शक्ति को लोकोत्तर, अर्हत के ज्ञान से बहुत ही उन्नत, मानते हैं। महायानी लोग अर्हत के निर्वाण को निम्नकोटि का तथा असिद्धावस्था का सूचक मानते हैं। इस बात को हीनयानी लोग भी मानते हैं।

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा,—डा० बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ १८२।

२—बौद्ध दर्शन मीमांसा,—डा० बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ १८३।

३—बौद्ध दर्शन मीमांसा,—डा० बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ १८३।

निर्वाण की कल्पना के सम्बन्ध में दोनों सम्प्रदायों में मतभेद—
१—हीनयानियों की दृष्टि में निर्वाण सत्य, नित्य और दुखाभाव रूप मात्र है। महायानियों के कुछ सम्प्रदाय इसे दुखाभाव रूप ही न मान कर सुख रूप भी मानते हैं और कुछ सम्प्रदाय जिनमें नागार्जुन का माध्यमिक मत विशेष उल्लेखनीय है, इसे न तो दुख रूप मानते हैं और न सुख रूप ही। वे नित्य और अनित्य की कल्पना भी इसके सम्बन्ध में उचित नहीं समझते। उनकी समझ मे निर्वाण अनिर्वचनीय वस्तु है।[१]

२—हीनयानी लोग इसे प्राप्य करने योग्य वस्तु मानते है। किन्तु महायानियों की दृष्टि में यह अप्राप्य वस्तु है।[२]

३—हीनयानियों की दृष्टि में निर्वाण भिक्षुओं के ज्ञान और आलंबन के हेतु होता है इसके विपरीत महायानी लोग निर्वाण को किसी प्रकार का आलम्बन नहीं मानते। वे उसमें ज्ञाता, ज्ञेय, विषयी और विषय, निर्वाण और भिक्षु इनमें पूर्ण अद्वैत भाव स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से हम हीनयानियों की निर्वाण सम्बन्धी धारणा को पूर्ण अद्वैतावस्था नहीं मान सकते। महायानियों की निर्वाण सम्बन्धी धारणा ही पूर्ण अद्वैत रूप कही जा सकती है।[३]

४—हीनयानी लोग निर्वाण को केवल लोकोत्तर दशा भर मानते है। किन्तु महायानियों ने इसे लोकोत्तरतम दशा कहा है।[४]

५—हीनयानी लोग निर्वाण से संसार की धर्म समता स्वीकार नहीं करते किन्तु महायानी लोग विशेषकर माध्यमिक लोग निर्वाण को ही केवल एक परमार्थ तत्व मानते हैं। शेष पदार्थों को तो वे केवल चित्त का विकल्प भर बताते है। इसी अर्थ में वे संसार और निर्वाण की धर्म समता सिद्ध करते हैं। इस धर्म समता को व्यंजित करने के लिए उन्होंने समुद्र और लहरों का दृष्टान्त दिया है।

६—हीनयानी लोग जगत के पदार्थों की भी सत्ता मानत है। उनके मतानुसार जगत उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार निर्वाण। किन्तु महायानी

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृष्ठ १८४।

२—आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म, एन० दत्त पृष्ठ १३५-४७।

३—आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म, डाक्ट्रिन आफ निर्वाण शीर्षक अध्याय

४—आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म, डाक्ट्रिन आफ निर्वाण शीर्षक अध्याय

तो जगत को सत्य नहीं मानते। वे उसे मन या चित्त की उद्भावना भर कहते हैं। और मिथ्या एवं क्षणिक मानते हैं।[1]

७—हीनयान में केवल क्लेशावरण के निराकरण पर ही बल दिया गया है। किन्तु महायान में क्लेशावरण के साथ साथ ज्ञेयावरण के निराकरण को भी आवश्यक ठहराया गया है।[2]

संक्षेप में हीनयानियों और महायानियों की निर्वाण सम्बन्धी धारणाओं में यही अन्तर है।

निष्कर्ष—निर्वाण की उपर्युक्त आलोचना के आधार पर हम सरलता से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि बौद्धों की निर्वाण सम्बन्धी धारणा ब्राह्मण ग्रन्थों की मुक्ति सम्बन्धी धारणा से सर्वथा विलक्षण है। सांख्य मत वाले द्वैत वादी हैं। इनका कहना है कि अज्ञान का कारण पुरुष और प्रकृति को एक मानना है। समाधि में उदय होने वाली अस्मिता की अवस्था में समस्त भेदभावों का निराकरण हो जाता है, तभी मुक्ति प्राप्त हो जाती है। वेदान्ती लोग अद्वैतवादी हैं। वे भ्रम का कारण अद्वैत में नानात्व की धारणा को मानते हैं। बौद्ध लोगों का हीनयानी सम्प्रदाय यद्यपि द्वैतवादी प्रतीत होता है किन्तु वह सांख्यों से सर्वथा पृथक है। द्वैतवादी वह इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि उसमें ज्ञेयावरण बना रहता है अर्थात विषय और विषयी का भेद नष्ट नहीं हो पाता। महायानी सम्प्रदाय पूर्ण अद्वैतवादी है और उस अद्वैतवादिता का आधार यही है कि उसमें विषय विषयी, तथा ज्ञाता और ज्ञेय का पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। इतना स्वीकार करते हुए भी वे वेदान्तवादियों के आत्मवाद को नहीं मानते। आत्मा के सिद्धान्त को तो वे क्लेश का कारण मानते हैं। संक्षेप में यही बौद्धों की द्वैती और अद्वैती निर्वाण भावना और ब्राह्मण दर्शनों की द्वैती और अद्वैती भावना में अन्तर है।

निर्वाण के भेद—निर्वाण के भेदों के सम्बन्ध में भी मतभेद है। हीनयानी लोग निर्वाण के केवल दो ही भेद मानते हैं।[3] एक सोपधि शेष और दूसरा निरुपधि शेष। इन्हीं को प्रति सद्यानिरोध और अप्रतिसंख्या

१—देखिए—आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म, डाक्ट्रिन आफ निर्वाण शीर्षक अध्याय।

२—देखिए—आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म, डाक्ट्रिन आफ निर्वाण शीर्षक अध्याय।

३—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृष्ठ १८५।

निरोध भी कहते हैं। महायानियों के योगाचार सम्प्रदाय में निर्वाण के प्रकृति-शुद्ध और अप्रतिष्ठत नामक दो भेद माने गये हैं। इन दोनों का स्वरूप निर्देश सूत्रालंकार में किया गया है। यहाँ पर हम निर्वाणों के इन भेदों पर विस्तार से विचार नहीं करना चाहते क्योंकि मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के किसी भी कवि ने इन भेदों की चर्चा कहीं पर भी नहीं की है।[1]

निर्वाण के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टिकोण—आचार्य नरेन्द्र देव जी ने निर्वाण के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टिकोणों की अच्छी विवेचना की है। यहां पर उनका निम्नलिखित उद्धरण दे देना अनुपयुक्त न होगा।[2]

'बर्थलेमी, सेन्ट हिलेरी, चाइल्ड, रीज डेविड्स और पिशल का कहना है कि बुद्ध तथा उनके अनुयाइयों ने अपने सिद्धान्तों के इस अनिवार्य निष्कर्ष को विचार कोटि में लिया है, और वे निर्वाण का स्वरूप अभावमात्र ठहराते हैं। किन्तु रीज डेविड्स साथ साथ यह भी कहते हैं कि बुद्ध वचन के अनुसार निर्वाण 'श्रामण्य' भी हैं। बर्थ और ओल्डनवर्ग का मत है कि यद्यपि बौद्ध जानते हैं कि उनके सिद्धान्तों का झुकाव किस ओर है, तथापि उनको स्पष्ट शब्दों में इस विनिश्चय के कहने में विचिकित्सा होती है। इसके अनुसार उन्होंने निर्वाण के स्वरूप का वर्णन या तो कवि की आलंकारिक भाषा में किया है, और उसे 'द्वीप' 'शरण' 'अमृत' की आख्याएँ प्रदान की हैं या उन्होंने यह स्वीकार किया हैं कि निर्वाण के स्वरूप का व्याकरण बुद्ध ने नहीं किया है। बुद्ध ने अपने श्रावकों को चेतावनी दी है कि, यह प्रश्न कि निर्वाण के अनन्तर तथागत कहां जाते है,अर्थोपसंहित नहीं हैं, और इसका विसर्जन विराग दुखनिरोध और निर्वाण के अधिगम मे सहायक नहीं है। अतः इन प्रश्नों की उलझन में पड़ना निरर्थक और निष्प्रयोजन है। किन्तु यह सब विद्वान समान रूप से मानते है कि बौद्ध उपासको की दृष्टि में निर्वाण एक प्रकार का स्वर्ग है।'

विविध दार्शनिक सम्प्रदायों में विवेचित विशेषताओं का मध्य युगीन साहित्य पर प्रभाव—निर्वाण स्वरूप की विविध बौद्ध सम्प्रदायों के अनुरूप जो व्याख्या ऊपर की गई है उसके प्रकाश मे यदि मध्य युगीन साहित्य का अध्ययन किया जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि मध्य युगीन साहित्य पर किसी एक सम्प्रदाय का सारा प्रभाव नहीं पड़ा है। मध्य युगीन सन्त लोग विशेष कर निर्गुणियां सन्त लोग सार ग्राही महात्मा थे। उन्होंने किसी एक धर्म या एक दर्शन के अनुरूप अपने विचारों को व्यवस्थित करने का प्रयास नहीं किया

१—सूत्रालंकार, पृष्ठ १२६–२७।
२—बौद्ध धर्म और दर्शन, पृष्ठ २७८।

था। उन्होंने अपने समय के सभी धर्मों और सभी सम्प्रदायों के सार तत्वों को ग्रहण करने की चेष्टा की थी। उनकी इस प्रवृत्ति ने निर्वाण सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तों में से कुछ रत्नभूत सिद्धान्तों को ही ग्रहण किया है। वे रत्नभूत सिद्धान्त जिनका प्रभाव सन्तों पर दिखाई पड़ता है संक्षेप में निम्नलिखित है:–

१– वैभाषिकों का प्रज्ञा के सहारे भौतिक संस्कारों के निरोध का सिद्धान्त।

२—पूर्ण तृष्णा का क्षय वाला सौतान्त्रिकों का सिद्धान्त।

३—नागार्जुन का द्वैताद्वैत भावाभाव विलक्षण वाद।

४—हीनयानियों के ढंग पर निर्वाण को दुखाभाव रूप वाला सिद्धान्त।

५—हीनयानियों के अनुरूप निर्वाण को सुख रूप कहना।

६—महायानियों का निर्वाण को परमार्थ रूप मानना।

प्रज्ञा के सहारे भौतिक संस्कारों के निरोध का सिद्धान्त :—

सन्तों ने प्रज्ञा या उसके तज्जन्य विचार के सहारे पाप और पुण्य दोनों से उदासीन रहने का उपदेश दिया है। विचार के सहारे जब द्वैतभाव नष्ट हो जाता है तब एकत्व का ही आभास होता है। इस एकत्वाभास को ही निर्वाण कहते हैं। कबीर कहते है—

जो कुछ करै विचारि कै, पाप पुन्य ते न्यार।[1]
कह कबीर इक जग मिला, विचारि मिला न कोय।

कबीर आदि सन्तों ने बुद्धि को आवश्यकता से अधिक महत्व देकर यही व्यञ्जित करने की चेष्टा की है कि निर्वाण की प्राप्ति प्रज्ञा या बुद्धि से ही होगी उसके अभाव से मनुष्य बन्धन मे पड़ता है।

बुद्धि विहूना आदमी जानै नहीं गँवार।
जैसे कपि बसरा परयो, नाचै घर घर बाट।
बुद्धि विहूना मंध गज, परयो फन्द में आय।
ऐसे ही सब जग बंधा रहा रहो समझाय।[2]

ब्राह्मणों का 'नहि ज्ञानात् ऋते मुक्ति' वाला सिद्धान्त इसके मूल में है। जिसे ब्राह्मणों ने ज्ञान कहा है उसी को वैभाषिकों ने प्रज्ञा कहा है। प्रज्ञा

१—कबीर साखी सं० भाग १ व २ पृ० १५२।
२—वही पृ० १५५।

या ज्ञान की पराकाष्ठा सर्वत्र एकत्व के दर्शन करने में है। गीता में 'वासुदेवः सर्वमिति' की भावना को सात्विक ज्ञान की पराकाष्ठा कहा गया है, तुलसी ने इसी भावना की अभिव्यक्ति इस प्रकार की है:—

सियाराम मय सब जग जानी।
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी।

यह अवस्था वास्तव में निर्वाण की ही अवस्था है जो प्रज्ञा के सहारे प्राप्त होती है। इस दृष्टि से हमें मध्य युगीन सन्त वैभाषिकों के उपर्युक्त निर्वाण सम्बन्धी धारणा से प्रभावित प्रतीत होते हैं।

पूर्ण तृष्णा के क्षय वाला सौत्रान्त्रिकों का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त का सर्व प्रथम प्रतिपादन भगवान बुद्ध ने दीपक के दृष्टान्त से किया था। उसी को सौत्रान्त्रिकों ने दार्शनिक और शास्त्रीय शैली में विकसित किया। मध्य युगीन सन्तों पर इस सिद्धान्त का पूरा पूरा प्रभाव पड़ा था यह मैं दिखा चुकी हूँ अतः यहां पृष्ठ पेषण नहीं करना चाहती।

नागार्जुन का द्वैताद्वैत विलक्षणवाद:—

नागार्जुन परमार्थ सत्ता के सदृश निर्वाण को भावाभाव विलक्षण रूप मानते है।

सन्तों ने निर्वाण की अवस्था का वर्णन 'अनुभौ' के अभिधान से भी किया है। निर्वाण के अनुभौ का वर्णन करते हुए कबीर कहते है—

पाया कहै ते बावरे, खाया कहै ते कूर।[1]
पाया खोया कछु नहीं, ज्यो का त्यो भर पूर।

इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर उन्होने अनुभौ के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा हैं—

भरो होय सो रीतई, रीतो होय भराय।
रीतो भरो न पाइये, अनुभव सोइ कहाय।[2]

१—कबीर साखी संग्रह भाग १ व २ पृ० ७९।
२—कबीर साखी संग्रह भाग १ व २ पृ० ८१।

हीनयानियों का दुःखाभाव का सिद्धान्त--निर्वाण को हीनयानी लोग दुखाभाव रूप भी मानते थे। हीनयानियों के निर्वाण सम्बन्धी इस सिद्धान्त का प्रभाव भी मध्य युगीन कवियों पर दिखाई पड़ता है। कबीर आदि सन्तों ने जहाँ मिलन या साक्षात्कार की अवस्था का वर्णन किया है वहीं उन्होंने दुःखों से मुक्ति की बात कही है कबीर कहते हैं—

संसय करौं न मैं डरौं, सब दुख दिए निवार।
सहज सुन्न में घर किया, पाया नाम अधार।[1]

इसी प्रकार अन्य सन्तों से उदाहरण दिए जा सकते हैं। विस्तार भय से अधिक उदाहरणों से बचने की चेष्टा कर रही हूँ।

महायानियों का सुखवाद—महायानी निर्वाण को ये महासुख की अवस्था मानते हैं। सन्तों पर उनके इस सिद्धान्त का भी पूरा पूरा प्रभाव पड़ा है। कबीर कहते हैं—

हरि संगत सीतल भया, मिटी माहे की ताप।
निस बासर सुख निधि लहा, अन्तर प्रकटा आप।[1]

इसी प्रकार जायसी ने भी साक्षात्कार की अवस्था में हर्ष और आह्लाद की चर्चा की है।

देखि मानसर रूप सुहावा, हिय हुलास पुरयन हुइ छावा[2]।

पिछले पृष्ठों में इस विशेषता पर प्रकाश डाल चुकी हूँ इसलिए यहां अधिक कुछ नहीं लिख रही हूँ।

निर्वाण परमार्थ तत्व है—महायानी लोग निर्वाण को ही परमार्थ तत्व मानते हैं। इस सिद्धान्त की छाया मध्य युगीन सन्तों पर भी दिखाई देती है। सन्तों ने निर्वाण के लिए परम पद-चौथा पद-इस पद की प्राप्ति एकत्व ज्ञान से होती है, द्वैत ज्ञान नरक का कारण है।

दुर्मती जीव की दुविधि छूटै नहीं, जन्म जन्मान्तर पड़े नर्क खानी[3]।

इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है—

१—क० ग्र० पृ० १७।
२—जायसी ग्रन्थावली पृ० ६९।
३—कबीर साहब की ज्ञान गुदड़ी पृ० १९।

भेद ज्ञान तो लौं भला, जौं लौ मेल न होय ।
परम ज्योति प्रगट जहाँ,, तहँ विकल नहीं कोय ।[1]

इन पंक्तियों में स्पष्ट व्यञ्जित किया गया है कि अद्वैत तत्व ही निर्वाण और परमार्थ रूप है । इस प्रकार अत्यन्त संक्षेप में मैं कह सकती हूँ कि बौद्ध दर्शन की शाखाओं प्रशाखाओं में पाई जाने वाली कुछ विशेषताओं ने भी मध्य युगीन कवियों को थोड़ा बहुत प्रभावित किया था ।

१—संतबानी संग्रह भा० १ पृ० ४१ ।

बुद्ध धर्म का विचार पक्ष उत्तरार्ध : ३ :

बौद्धो का सृष्टि विज्ञान और सृष्टि विचार,
सृष्टि निर्वाण सम्बन्धी पौराणिक विवरण,
संसार के सम्बन्ध मे बौद्धों के आध्यात्मिक दृष्टि कोण,
वैभाषिकों की धर्म मीमांसा, मध्य कालीन साहित्य पर उसका प्रभाव
सौत्रान्तिको का प्रतिबिम्बवाद, मध्य युगीन कवियों पर उसका प्रभाव
मध्य युगीन कवियों पर बौद्धो की विज्ञानवादी संसार सम्बन्धी कल्पनाओं का प्रभाव
मध्य युगीन कवियों की जगत सम्बन्धी धारणा पर शून्यवादी बौद्धो का प्रभाव
मध्य कालीन कवियों पर विज्ञानवादी जगत धारणाओं का प्रभाव,
काय वाद का सिद्धान्त और मध्य कालीन साहित्य पर उसका प्रभाव,
थेरवादियों का काय वाद का सिद्धान्त
सर्वास्तिवादियों का दृष्टि कोण,
सत्य सिद्धि सम्प्रदाय मे कायवाद
महा संघिको का मत
महायानियो का त्रिकाय वाद
निर्माण काय
सम्भोग काय
धर्म काय
द्विकाय वाद और मध्य कालीन सन्तों पर उसका प्रभाव
त्रिकाय वाद का मध्य कलीन सन्तों पर प्रभाव
धर्म काय का विस्तृत स्वरूप विवेचन

मध्य कालीन साहित्य पर उसका प्रभाव
सम्भोग काय और मध्य कालीन साहित्य पर उसका प्रभाव
निर्माण काय और मध्य कालीन साहित्य पर उसका प्रभाव ।

बौद्धों का सृष्टिविज्ञान और सृष्टि विचार :—

सृष्टिविज्ञान सम्बन्धी प्रश्नो पर विचार करना भगवान बुद्ध केवल समय नष्ट करना मानते थे। किन्तु उन्हें भी कुछ स्थलों पर तत्सम्बन्धी विचार प्रकट ही करने पड़े हैं। एक बार आनन्द ने भगवान से पूछा महाराज यह पृथ्वी क्यों कम्पायमान होती है। इस पर भगवान ने उत्तर दिया है आनन्द यह विशाल पृथ्वी जल पर स्थित है जल वायु पर और वायु आकाश पर अवलम्बित है। जब भयंकर वायु प्रवाहित होती है तो जल प्रकम्पित होता है जल के प्रकम्पित होने पर पृथ्वी भी काँपती है।[1] इसी प्रकार कश्यप[2] ने भी भगवान से एक बार प्रश्न किया था महाराज यह बताइये कि पृथ्वी किस पर आधारित है। इस पर भगवान ने उत्तर दिया—हे ब्राह्मण पृथ्वी जल मण्डल पर टिकी हुई है, जल मण्डल वायु मण्डल पर और वायु मण्डल आकाश मण्डल पर स्थित है। कश्यप ने उनसे फिर प्रश्न किया महाराज यह आकाश किस पर आधारित है। इस पर भगवान ने कहा-'हे ब्राह्मण तुम बहुत आगे बढ़ रहे हो आकाश किसी पर भी आधारित नहीं है वह निराधार है।' इस प्रकार हम देखते हैं कि सृष्टि सम्बन्धी प्रश्नों की उपेक्षा करने पर भी भगवान बुद्ध को उसके संबन्ध मे थोड़े बहुत विचार प्रकट ही करने पड़ गए हैं।

बुद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय मे आस्तिकता के समावेश के साथ ही साथ सृष्टि विज्ञान और सृष्टिविचार जैसे विषयों का प्रतिपादन भी हुआ। यहां पर उन सब की थोड़ी सी चर्चा कर देना अनुचित न होगा। बौद्धों में हमें सृष्टि सम्बन्धी विचारों की अभिव्यक्ति दो रूपों मे मिलती है एक पौराणिक रूप में दूसरे आध्यात्मिक विवेचन के रूप में।

सृष्टि निर्माण सम्बन्धी पौराणिक विवरण

बौद्ध पौराणिक कथाओं के अनुसार प्रलय के बाद जब सृष्टि विकास का समय आया तो स्वर्ग का सृजन सर्व प्रथम हुआ। उस स्वर्ग में देवताओं

१—दीर्घनिकाय २।१०७।
२—सेक्रेड बुक आफ ईस्ट सिरीज-भाग ३५ पृ० १०६।

की प्रतिष्ठा हुई। स्वर्ग की रचना के बाद वायमण्डल की उत्पत्ति हुई। वायु-मण्डल के बाद आकाश का सृजन हुआ। वायु मण्डल पर स्वर्णिम रंग के समुद्र की वर्षा हुई और जल मण्डल का उदय हुआ। पुनश्च कंचनमई भूमि का निर्माण हुआ। बादलों ने फिर इस स्वर्णमई भूमि पर मूल्यवान उपलों की वर्षा की, जिससे मध्य मे मेरु पर्वत का निर्माण हुआ। मेरु पर्वत के अतिरिक्त आठ पर्वत श्रेणियां और उत्पन्न हुई। इनमें सात जो स्वर्णमयी हैं वे मेरु के पास ही हैं। दूसरी अयसमई उससे दूर किनारे पर हैं। श्रेणियों के मध्य से सागर प्रवहमान है। समुद्रो मे चार महाद्वीप वसे रहते हैं। पूर्व में विदेश, दक्षिण में जम्बूद्वीप, पश्चिम में अपरगोय और उत्तर में उत्तर कुरु नामक द्वीपों की स्थिति बताई गई है। अविधम्म कोष और उसकी टीकाओं में इन सब पौराणिक कथाओं का बड़े विस्तार मे वर्णन किया गया है।[1]

बौद्ध ग्रन्थों में हमें दो प्रकार के संसारों की चर्चा मिलती है। एक भूतात्मक जगत और दूसरा ओकास या अवकाश जगत। भूतात्मक जगत को सत्वालोक भी कहते हैं। ओकास या अवकाश लोक में देवता लोग रहते हैं और सत्वालोक मे अन्य प्राणी निवास करते हैं।[2]

महाभूतः— सृष्टि की रचना महाभूतों से हुई है यह बात बौद्धों को भी मान्य है। हिन्दुओं से उनका मतभेद केवल इसी बात में है कि ये लोग केवल चार महाभूत मानते हैं और हिन्दू लोग पंच महाभूतों में विश्वास करते हैं। बुद्धों मे जिन चार महाभूतों की मान्यता है वे क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु तत्व हैं। आकाश तत्व के प्रति ये मान्यता नही रखते हैं। भूतात्मक जगत की रचना इन्हीं चार महाभूतों मे बताई जाती है।[1]

मध्य युगीन कवियों पर बौद्ध सम्बन्धी पौराणिकता का प्रभाव

जहाँ तक सृष्टि सम्बन्धी पौराणिक विवरणों की बात है मध्य-युगीन कवियों पर उनका अधिक प्रभाव नहीं है। पन्थी भाइयों ने संसारोत्पत्ति की जो कथाएँ कल्पित की हैं उन पर इनकी छाया देखी जा सकती है किन्तु सन्तो और कवियों की वाणियों मे उसकी विशेष छाया नहीं दिखाई देती।

१—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ऐथिक्स, भाग ६ पृ० १२९ से १३४।

२—देखिए सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट सरीज-भाग ३५, पृ० १०६ और बुद्धिस्टिक साइक्लोजी बाई रायस डेविड पृ० २४१।

३—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ६ पृ० १३०।

मध्य युगीन कवियों पर कहीं कहीं बौद्धों के चतुर्भूतवाद की छाया अवश्य दिखाई पड़ती है। मैं अभी ऊपर बता आई हूँ कि बौद्ध लोग पञ्च-तत्ववाद के स्थान पर चतुर्तत्व वाद में विश्वास करते थे। पञ्च-तत्वों में से आकाश तत्व को उन्होंने सृष्टि रचना के लिए आवश्यक नहीं माना है।

चतुर्भूत वाद का प्रत्यक्ष प्रभाव सूफी कवि जायसी पर दिखाई पड़ता है। पद्मावत में प्रारम्भ में जहाँ उन्होंने ईश्वर की वंदना की है वहीं चार तत्वों का भी साथ ही उल्लेख किया है। वह लिखते हैं— मैं आदि एक परमात्मा का स्मरण करता हूं, उसी ने मुझे जीवन प्रदान किया है, संसार की रचना भी उसी ने की है। उसने सबसे पहले ज्योति का प्रकाश किया, बाद में उसके लिए कैलाश रूपी स्वर्ग की रचना की। फिर उसने अग्नि, पवन जल-तत्व और पृथ्वी नामक चार तत्वों की रचना की। इन चारों तत्वों से विविध रंगी सृष्टि का निर्माण किया। जायसी आदि सूफी धारा के कवियों को छोड़ कर चतुर्तत्व का प्रभाव मध्य युग की अन्य धाराओं पर नहीं दिखाई पड़ती है।

संसार के सम्बन्ध मे बौद्धों के आध्यात्मिक दृष्टि कोण :—

बौद्धों ने जगत के सम्बन्ध में केवल पौराणिक दृष्टिकोण से ही विचार नहीं किया है। उन्होंने उसके सम्बन्ध में बहुत से दार्शनिक दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किये हैं। उन दार्शनिक दृष्टिकोणों का विकास आगे चल कर विविध वादों के रूप मे हुआ। सच तो यह है कि बौद्ध दर्शन में सत्ता की मीमांसा जगत सम्बन्धी विचारों को लेकर ही खड़ी हुई है। सत्ता की मीमांसा से सम्बन्धित बौद्ध धर्म से चार दार्शनिक वाद उदय हुए थे उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं:—

१— वैभाषिक मत या बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद
२— *सौतान्त्रिक या बाह्यार्थनुमेयवाद*
३— योगाचार या विज्ञान वाद
४— माध्यमिक या शून्यवाद

वैभाषिक मत वाले बाह्यार्थ या संसार को प्रत्यक्षरूपेण सत्य मानते

सुमिरौं आदि एक करतारू। जहि जिय दीन्ह कीन्ह संसारू
कीन्हेसि प्रथम ज्योति परकासू। कीन्हेसि तेहिपिरति कैलासू॥
कीन्हेसि अगिनि पवन जल खेहा। कीन्हेसि बहुतै रंग उरेहा॥

जा० ग्र० पृ० १

है। इनका कहना है कि जिन धर्मों से हमारा जीवन जगत बना हुआ है वे सर्वथा सत्य हैं। इस मत वालों ने इन सत्य धर्मों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्याख्या की है। इन धर्मों का संक्षिप्त विभाजन क्रम और स्वरूप निर्देशन आगे करूंगी। इनकी धर्म मीमांसा बहुत कुछ सांख्यों की शैली पर हुई है। किन्तु दोनों में मौलिक सैद्धान्तिक भेद है।

दूसरा सम्प्रदाय सौत्रान्तिकों का है उनकी धारणा है कि बाह्य जगत का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। इनका मत है कि प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। जब प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है तो फिर उनका प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे सम्भव हो सकता है। अब प्रश्न उठता है कि फिर हमें उनका ज्ञान कैसे होता है। इसके लिए उन्होंने प्रतिबिम्बवाद की कल्पना की है। इनकी धारणा है कि भिन्न-भिन्न पदार्थ प्रत्यक्ष होते ही चित्त पर अपना प्रतिबिम्ब अंकित कर देते हैं। इन्हीं प्रतिबिम्बों से ही हम अनुमा नकरते हैं कि बाह्यार्थ की भी सत्ता है। यह अनुमान ठीक वैसा ही है जैसा हम दर्पण में प्रतिबिम्ब देख कर बिम्ब की सत्ता का अनुमान कर लिया करते हैं। प्रमाण की दृष्टि से वैभाषिक प्रत्यक्षवादी हैं और सौत्रान्तिक अनुमानवादी कहे जा सकते हैं।

तीसरा सम्प्रदाय और भी अधिक सूक्ष्मदर्शी और आदर्शवादी है इस सम्प्रदाय को योगाचार या विज्ञानवाद भी कहते हैं यह लोग प्रतिबिम्ब के सहारे बिम्ब रूपी सत्ता का अनुमान करना अनुचित मानते हैं। इनके मतानुसार बाह्य भौतिक जगत सर्वथा मिथ्या है। यह लोग चित्त या विज्ञान को ही एक मात्र सत्ता मानते हैं। इनके मतानुसार चित्त के नाना प्रकार के आभास जगत के रूप में प्रतिभासित होते हैं। जगत का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यह लोग केवल निर्वाण को ही सत्य मानते हैं।

विज्ञान वादियों ने विज्ञान चित्त या मन को आत्यान्तिक सत्ता नहीं माना है। इनका कहना है कि चित्त का अस्तित्व तभी तक है जब तक कि इन्द्रिय तथा बाह्य विषयों के घात प्रतिघात का अस्तित्व रहता है। ज्यों ही इन्द्रियों तथा विषयों के परस्पर घात प्रतिघात का अन्त हो जाता है त्यों चित्त की समाप्ति हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि चित्त को नित्य या शाश्वत पदार्थ नहीं माना जा सकता। उसकी समता औत दर्शन के जीव से हो सकती है ब्रह्म से नहीं। जो लोग चित्त को ब्रह्म या समवस्थ समझते हैं वे भूल करते हैं इसे परम तत्व केवल इसी अर्थ में कहा जाता है कि वह संसार का कारण है वास्तव में चित्त भी परिवर्तन शील है। प्रत्येक चित्त प्रतिक्षण

परिवर्तित होता रहता है प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त के अनुसार वह नया रूप धारण करता रहता है उसकी अपनी वास्तविक सत्ता नहीं है।

चौथा मत माध्यमिक या शून्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इन लोगों ने चित्त को भी असत सिद्ध किया है। इन लोगों ने शून्य को परमार्थ तत्व माना है जगत की सत्ता ये लोग केवल व्यावहारिक भर मानते हैं। तत्वतः संसार असत्य और मिथ्या है। इस प्रकार बौद्धों ने जगत के सम्बन्ध में चार प्रकार के दार्शनिक विचार प्रकट किए है।

वैभाषिकों का मत— संसार सत्य है

सौत्रान्तिकों का मत— संसार प्रतिबिम्ब के सदृश अनुमान सिद्ध है।

विज्ञानवादी मत— संसार को विज्ञान का आभास मात्र मानते है

शून्य वादी मत— संसार को केवल व्यावहारिक-सत्ता भर

अब मैं इन चारो मतों पर थोड़ा विस्तार से विचार करूंगी और उनके प्रकाश में मध्य युगीन कवियों के जगत सम्बन्धी विचारों की मीमांसा करूंगी।

<u>वैभाषिकों की धर्म मीमांसा :</u> बौद्धों के वैभाषिक सम्प्रदाय मे धर्म शब्द का प्रयोग एक पारिभाषिक अर्थ में किया गया है। यह अर्थ धर्म के प्रचलित अर्थ से सर्वथा भिन्न है। वैभाषिक लोग धर्म का अर्थ भूत और चित्त के उन सूक्ष्म तत्वों से लेते है, जिनका विच्छेदीकरण नही किया जा सकता।[1] जगत की उत्पत्ति इन्हीं धर्मों के घात प्रतिघात से मानी गई है। इन धर्मों का अस्तित्व सौतान्त्रिक और योगाचार सम्प्रदायों को भी मान्य है।

<u>धर्म स्वरूप व्याख्या :</u> वैभाषिक सम्प्रदाय में धर्म की स्वरूप व्याख्या बड़े विस्तार से की गई है। धर्म के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए वैभाषिक सम्प्रदाय के एक प्रसिद्ध ग्रन्थ मे लिखा है,[2] इस जगत में जितने धर्म हैं उनकी उत्पत्ति हेतु से होती है। हेतु को तथागत ही जानते हैं और वे ही उसका कथन करते हैं। इन धर्मो का निरोध भी किया जा सकता है।

१— बौद्ध धर्म और दर्शन—आचार्य नरेन्द्र देव, पृष्ठ ३१४।

२—बौद्ध दर्शन मीमांसा-बलदेव उपाध्याय, पृ० २१३ पर निम्नलिखित उद्धरण देखिये—

ये धम्मा हेतु प्रभवा हेतु तेषां तथागता ह्यवदत्
अवदच्च यो निरोधो एवंवादी महाश्रमणः।

महाश्रमण के द्वारा इसके निरोध की प्रतिक्रिया का भी वर्णन किया गया है। आचार्य बलदेव उपाध्याय[1] ने धर्मों के स्वरूप का विवेचन वैभाषिक धर्मों के आधार पर किया है। उनके मतानुसार धर्म की कल्पना से सम्बन्धित निम्नलिखित बातें हैं—

१— प्रत्येक धर्म शक्ति रूप है। और अपनी पृथक सत्ता रखता है।

२— एक धर्म का दूसरे धर्म से कोई संबन्ध नहीं है। प्रत्येक धर्म अपने आप में निरपेक्ष है।

३— प्रत्येक धर्म क्षणिक होता है। एक क्षण में एक धर्म रहता है। दूसरे क्षण में दूसरा धर्म उत्पन्न हो जाता है। इनकी दृष्टि में चैतन्य भी क्षणिक है। उसका अस्तित्व भी एक क्षण से अधिक नहीं रहता। उनके मतानुसार गतिशील शरीरों की वस्तुतः कोई स्थिति नहीं होती। वे वास्तव में सन्तान रूप से अविर्भूत होते रहते हैं।

४— विविध धर्म मिल कर नई वस्तु को उत्पन्न करते हैं। एक धर्म किसी एक वस्तु का उपादान नहीं हो सकता।

५— इस संसार में समस्त धर्म कार्य कारण रूप से संबन्धित हैं। इसी कार्य कारण संबन्ध भाव को प्रतीत्य समुत्पाद कहते हैं।

६— यह धर्म ७२ प्रकार के हैं। यह जगत इन्हीं धर्मों का सघात है। यह हेतु प्रभाव होते हैं। और स्वतः निरोध या विनाश की ओर अग्रसर रहते हैं।[2]

७— यह धर्म स्थूल रूप से दो प्रकार के हैं। एक अविद्या रूप और दूसरे प्रज्ञा रूप।[1] अविद्या के कारण जगत प्रवाह रूप में गतिशील रहता है। प्रज्ञा रूप से यह जगत धीरे धीरे शान्ति की ओर उन्मुख होता है।

८— अविद्या धर्म साधारण व्यक्ति को जन्म देते हैं। और प्रज्ञा धर्म अर्हत मे परिव्याप्त रहते हैं।

९— सम्पूर्ण धर्म चार भागों मे बांटे जा सकते हैं। १— चंचल धर्म, इस अवस्था में धर्म दुःख का कारण रहते हैं। २- चपलावस्था का कारण रूप

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० २१७

२—बौद्ध धर्म और दर्शन—आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ० ३१४-३४५।

३—बौद्ध दर्शन मीमांसा—बलदेव उपाध्याय, पृ० २१७।

धर्म। इन्हें हम समुदय रूप कह सकते हैं। ३- निरोध की ओर उन्मुख धर्म। यह शान्ति की ओर ले जाते हैं। ४- शान्ति का उपाय रूप धर्म। यह मार्ग आर्य सत्य का रूप है।[1]

१०— यह जगत निरोध की अवस्था में लीन हो जाता है और पूर्ण निर्विकार शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

<u>धर्मो का वर्गीकरण :</u> वैभाषिक लोग धर्मों के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। संसार को वे इन धर्मों से बना हुआ मानते हैं। इसलिए वे नानात्मक जगत को भी सत्य कहते हैं। इस जगत की अनुभूति उन्हें प्रत्यक्ष ज्ञान से प्रतिक्षण होती रहती है।[2] ये लोग धर्मों को वाह्य रूप और आभ्यंतर रूप दोनों ही प्रकार का स्वीकार करते हैं। इसी आधार पर उन्होंने धर्मों के विषयगत और विषयीगत दो भेद माने हैं।[3]

<u>विषयीगत विभाजनः</u> वैभाषिक लोग विषयीगत विभाजन तीन प्रकार से करते हैं। १-पञ्चस्कंध, २— द्वादश आयतन, ३- अष्टादश धातु।

१— पंचस्कन्धः उपनिषदों के समान वैभाषिक लोग भी इस जगत को नाम रूपात्मक मानते हैं। इस नाम रूपात्मकता की व्याख्या उन्होंने अपने ढग पर की है। रूप से वे जगत के समस्त भूतों का अर्थ लेते हैं। और नाम से वे मन तथा मानसिक प्रवृत्तियों की व्यंजना समझते हैं।

२—द्वादश आयतन : यह विभाजन अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है। आयतन का अर्थ है ज्ञानोत्पत्ति के द्वारा भूत इन्द्रियां तथा उनसे सम्बन्धित ऐन्द्रिक विषय। इनका क्रमपूर्वक उल्लेख करते हुए बलदेव उपाध्याय ने निम्नलिखित ढग से व्यक्त किया है—

१- चक्षुरिन्द्रिय आयतन
२- श्रोत्र इन्द्रिय „
३- घ्राण इन्द्रिय „
४- जिह्वा „ „
५- स्पर्श इन्द्रिय „
[कार्येन्द्रिय आयतन]

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा—बलदेव उपाध्याय, पृ० २१७।
२—बौद्ध धर्म और दर्शन—आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ० ३१४–३४५।
३—बौद्ध दर्शन मीमांसा—बलदेव उपाध्याय, पृ० २१९।

६- बुद्धि इन्द्रिय [मन इन्द्रिय आयतन]
७- रूप आयतन [स्वरूप तथा वर्ण]
८- शब्द आयतन
९- गन्ध „
१०- रस „
११- स्प्रष्टव्य „
१२- बाह्येन्द्रिय से अग्राह्य विषय [धर्मायतन या धर्माः]

द्वादश आयतनों का यह सिद्धान्त सर्वास्तिवादियों को भी मान्य है। उनका कहना है कि द्वादश आयतन ही सदैव विद्यमान रहते हैं। शेष वस्तुएँ नहीं रहती। इनके कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक वस्तु या तो इन्द्रिय रूप होगी या इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य रूप होगी।[1]

३—अष्टादश धातु : धर्मों का अष्टादश[2] धातुओं में भी विभाजन किया गया है। बौद्ध धर्म जगत में अनेक धातुओं की सत्ता स्वीकार करता है। धातु का पारिभाषिक अर्थ इस धर्म में सन्तान रूप जगत के भिन्न भिन्न उपकरणों के लिए किया जाता है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि जिन शक्तियों के संघात से सन्तान रूप जगत का प्रवाह चलता रहता है उन्हीं को धातु कहते हैं। इन धातुओं के १८ भेद बताए गए हैं। ६ इन्द्रियाँ हैं और ६ उनके विषय है और ६ विज्ञान हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

इन्द्रियाँ: १– चक्षु धातु, २– श्रोत्र धातु, ३– घ्राण धातु, ४– जिह्वा धातु, ५– काय धातु, ६– मनो धातु

विषय : इनके नाम क्रमशः १- रूप धातु, २- शब्द धातु, ३- गंध धातु, ४- रस धातु, ५- स्प्रष्ट धातु, और ६- धर्म धातु हैं।

षड्विज्ञान: ६ विज्ञानों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं। १ चाक्षुष ज्ञान, या चक्षुर्विज्ञान, २- श्रोत्र विज्ञान, ३- घ्राण विज्ञान, ४- जिह्वा विज्ञान, ५- काय विज्ञान तथा ६- मनोविज्ञान।

बौद्ध दर्शन में धातु का दूसरे अर्थ में प्रयोग : धातु विज्ञान के प्रसंग

१—बौद्ध धर्म और दर्शन—आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ० ३३८-३४०।
२—बौद्ध दर्शन मीमांसा—बलदेव उपाध्याय, पृ० २२२।

में ही हम बौद्ध दर्शन में धातु का प्रयोग जो दूसरे अर्थ में मिलता है, उसका भी संकेत कर देना चाहते हैं। इसका प्रयोग हमें तीन प्रकार के जगत की कल्पनाओं में मिलता है। बौद्ध धर्म में तीन प्रकार के लोकों की कल्पना की गई है।[१] उनके नाम क्रमशः १- रूप धातु, २- अरूप धातु, ३- और काम धातु हैं। रूप धातु भौतिक जगत को कहते है। अरूप धातु अभौतिक जगत के लिए प्रयुक्त होता है। काम धातु इन दोनों से स्थूल जगत है। इससे प्रकट है कि बौद्ध धर्म मे धातु शब्द का प्रयोग एक तो जगत के अर्थ में किया गया है और दूसरे वैभाषिक धर्म के अर्थ में।

विषयगत वर्गीकरणः-- वैभाषिकों ने धर्म का विषयगत भेद भी स्वीकार किया है। विषयगत धर्मों का स्पष्टीकरण करने से पहले हम संस्कृत और असंस्कृत धर्मों के भेद को स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

धर्मों के संस्कृत और असंस्कृत रूप.-- धर्मों पर स्थविरवाद, सर्वास्तिवाद और योगाचार इन तीनों मतों में विचार किया गया है।[२] स्थविरवाद में १७० धर्म बताए गए है। सर्वास्तिवाद में ७५ धर्मों की चर्चा की गई है और योगाचार मत में १०० धर्मों का उल्लेख किया गया है।[३] इन सब को तीनों ही सम्प्रदायों ने संस्कृत और असंस्कृत नामक भेदों मे विभाजित किया है। इनमें असंस्कृत के कोई भेदोपभेद नहीं बताये गये हैं किन्तु संस्कृत धर्म के ४ भेद बताए गए हैं। उनके नाम क्रमशः रूप, चित्त, चेतसिक और चित्त विप्रयुक्त हैं।

रूप धर्मः-- सर्वास्तिवादियों ने ११ रूप धर्मों का उल्लेख किया है। उनके नाम क्रमशः चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, कायेन्द्रिय, जिह्वा-इन्द्रिय, रूपेन्द्रिय, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य तथा अविज्ञप्ति हैं।

रूप उस धर्म को कहते हैं जो रूप धारण करता है। इस सम्प्रदाय में रूप विषयों की भी चर्चा की गई है।[४] विस्तार भय से यहां पर इन सबकी चर्चा नहीं कर रहे हैं।

१—एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एन्ड एथिक्स, भाग ४, पृष्ठ १२९।

२—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० २२४।

३—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० २२५।

४—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० २२८।

चित्त धर्म :—बौद्ध दर्शन मे चित्त, मन, तथा विज्ञान पर्यायवाची माने गये हैं। साधारण रूप से जिसे वैदिक दर्शन मे जीव कहते हैं, उसके लिए बौद्ध दर्शन में चित्त शब्द का प्रयोग किया गया है[१]। मन शब्द 'मो' धातु से व्युत्पन्न हुआ है। जब चित्त के निर्णयात्मक अंश पर बल देने की कामना होती है, तब मौन शब्द[२] का प्रयोग किया जाता है। विज्ञान शब्द इन दोनों की अपेक्षा अधिक प्राचीन माना जाता है। इस शब्द का प्रयोग पाली सुत्तों मे बहुत बार हुआ है। विज्ञान का अर्थ है 'विशेषेण ज्ञायते अनेन इति विज्ञानम्।' अर्थात जिसके द्वारा वस्तुओ का विशेष ज्ञान होता है, उसे विज्ञान कहते हैं।[३]

२–चित्त धर्म—के सात भेद बताये गये हैं।[४] उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं— १-मन, यह छटी इन्द्रिय के रूप में विज्ञान का रूपान्तर है। इसके द्वारा हम वाह्य इन्द्रियों से अगोचर पदार्थो का ग्रहण करते हैं। २-चक्षुविज्ञान वह ज्ञान है जो चक्षु के द्वारा प्राप्त होता है। ३-श्रोत्र विज्ञान—कानो के द्वारा जिन वातों का विशेष ज्ञान होता है, उन्हें चक्षुविज्ञान कहते हैं। ४-घ्राण विज्ञान— जो ज्ञान घ्राणेन्द्रिय के द्वारा होता है, उसे घ्राण विज्ञान कहते हैं। ५-जिह्वा विज्ञान— जो आलोचन ज्ञान जिह्वा के द्वारा होता है, उसे जिह्वा विज्ञान कहते हैं। ६-काय विज्ञान— जो ज्ञान काय के द्वारा प्राप्त होता है उसे काय विज्ञान कहते हैं। ७-मनोविज्ञान—बिना इन्द्रियो की सहायता के ही अमूर्त पदार्थों का जो आलोचन ज्ञान होता है, उसी को मनोविज्ञान कहते हैं।

३–चैत धर्म—कुछ धर्म ऐसे होते हैं, जो चित्त से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित रहते हैं, इन्हे चित्तसम्प्रयुक्त धर्म कहते हैं[५]। इन्ही को चैत्त धर्म भी कहते हैं। यह धर्म संख्या में ४६ बतलाये गये हैं। जिनमे ६ विभाग स्थूल रूप से किये जा सकते हैं। वे इस प्रकार हैं— १-चित्त महाभूमिक धर्म। यह संख्या में दस होते है। इनके नाम क्रमशः वेदना, संज्ञा, चेतना, छन्द, स्पर्श, प्रज्ञा, स्मृति, मनसिकार, अधिमोक्ष और समाधि हैं।

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० २३९।
२—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० २२१।
३—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० २३१-२३२।
४—बौद्ध धर्म और दर्शन, आचार्य नरेन्द्र देव, पृ० ३४४।
५—बौद्ध धर्म और दर्शन, आचार्य नरेन्द्र देव, पृ० ३११-३५०।

२—कुशल महाभूमिक धर्म: यह भी संख्या में दस बताये जाते है। वे नैतिक आचरण और संस्कार हैं जिनके पालन से चित्त का उत्थान होता है। इनके नाम क्रमशः श्रद्धा, अप्रमाद, जागरूकता, प्रश्रब्धि, उपेक्षा, ह्री, अपत्रपा, अलोभ, अद्वेष, अहिंसा, और वीर्य है[१]।

३—क्लेश महाभूमिक धर्म:[२] यह धर्म असत् कार्यों के विज्ञान से सम्बन्धित माने जाते हैं। इनके नाम क्रमशः [क] अविद्या, मोह, अज्ञान आदि है। [ख] प्रमाद [ग] कौशीद्य अर्थात् कुशल कार्य में अनुत्साह, [घ] आलस्य, [च] अश्राद्धय अर्थात् श्रद्धा का अभाव, [छ] स्त्यान्य अर्थात् अकर्मण्यता, [ज] औधत्य अर्थात दुख और पीड़ा में संलग्न रहना।

४—अकुशल महाभूमिक धर्म:[३] यह संख्या में २ होते है। यह भी अनुचित फल उत्पन्न करने वाले अकुशल कर्म ही होते हैं। इनमें से एक का नाम आहरीक्य अर्थात अपने कुकर्मों पर लज्जा न करना है, तथा दूसरे का नाम अनपत्रता अर्थात निन्दनीय कर्मों से भय न करना, है।

५—उपक्लेश भूमिका धर्म;[४] यह भी क्लेश उत्पन्न करने वाले अकुशल कर्म होते है। ये संख्या में १० बताये गये हैं। उनके नाम क्रमशः क्रोध, मृक्ष या छल, मात्सर्य, ईर्ष्या, प्रदास अर्थात बुरी वस्तुओं को ग्राह्य मानना, विहिंसा अर्थात दूसरों को कष्ट पहुँचाना, उपनाह अर्थात मैत्री को तोड़ना, माया, शाठ्य और मद हैं। यह दसों उपक्लेशिक धर्म शुद्ध मानस बताये जाते हैं। इनका सम्बन्ध अविद्या से स्थापित किया जाता है। इनका निराकरण केवल ज्ञान से ही सम्भव है। समाधि से इन पर विजय नही प्राप्त की जा सकती।

६ अनियमित भूमिक धर्म.[५] इन धर्मों की घटना भूमि निश्चय नही रहती। यह पूर्ववर्ती धर्मों से सर्वथा भिन्न प्रतीत होते हैं। ये संख्या में ८ बताये गये हैं। इनके नाम क्रमशः कौकृत्य अर्थात् पश्चाताप, मिद्ध अर्थात् विस्मृति परक चित्त, वितर्क अर्थात् कल्पना परक चित्त, विचार अर्थात निश्चय, राग अर्थात् प्रेम, वेश अर्थात् घृणा, मान अर्थात् अपने गुणों के

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० ३३४।
२—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० २३२-२३६।
३— " " "
४— " " "
५— " " "

विषय में अभिमान, विचिकित्सा अर्थात् संदेहपूर्ण विचार। इन धर्मों में प्रथम चार को छोड़ कर शेष चार में यदि हम मोह को मिला दें तो यह बौद्ध दर्शन के प्रसिद्ध ५ क्लेश हो जाते हैं।

३—चित्त विप्रयुक्त धर्मः—इन धर्मों का एक पृथक वर्ग है। यह भौतिक और चैत्य दोनों प्रकार के धर्मों से भिन्न भिन्न होते हैं। इसीलिए इन्हें रूप चित्त विप्रयुक्त धर्म कहा जाता है।

रूप और चित्त विप्रयुक्त धर्म[1] संख्या में १४ बतलाये गये हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं— १. प्राप्ति, अर्थात् धर्मों को प्रवाह रूप में सचालित रखने वाली शक्ति, २. अप्राप्ति यह उपर्युक्त शक्ति की विरोधिनी शक्ति है, ३. निकाय सभागता, इस धर्म के सहारे प्राणियों में समानता स्थापित की जाती है। ४. आसंगिक अर्थात् वह शक्ति जिसके सहारे प्राचीन कर्मों के फलानुसार मनुष्य को चेतनाहीन समाधि में प्रवेश करना पड़ता है। ५. असंगी समापत्ति, वह मानस धर्म जिसके द्वारा समाधि की दशा उत्पन्न की जाती है। ६. निरोध समापत्ति, वह शक्ति जिसके द्वारा चेतना का निरोध किया जाता है। ७. जावित यह जीवित रखने वाली शक्ति है। ८. जाति-यह जन्म देने वाली शक्ति है। ९. स्थिति, यह जीविता-वस्था को स्थिर रखने वाली शक्ति है। १०. जरा, यह बुढ़ापे की शक्ति है, ११. अनित्यता अर्थात नश्वरता, १२. नाम काय अर्थात पद, १३. पदकाय अर्थात वाक्य, १४. व्यंजन काय अर्थात वर्ण। इस प्रकार यह चौदह रूप चित्त विप्रयुक्त धर्म गिनाये गये है। इनकी चर्चा स्थविरवादियों में नहीं मिलती है। वे लोग धर्मों के इस वर्ग को नहीं मानते। सौत्रान्तिकों ने भी धर्म के इस वर्ग का खण्डन किया है। किन्तु सर्वास्तिवादी इन धर्मों को बड़ी दृढ़ता से प्रतिपादित करते हैं। योगाचार वाले भी सौत्रान्तिकों के सदृश ही इस वर्ग में विश्वास नहीं करते। ये इन धर्मों को मानस व्यापार से ही सम्बन्धित मानते हैं। उन्होंने इनकी संख्या १४ न बतला कर २४ बतलाई है[2]।

उपर्युक्त मीमांसा संस्कृत धर्मों की हुई। अब हम असंस्कृत धर्मों पर भी थोड़ा सा प्रकाश डाल देना चाहते हैं। असंस्कृत धर्म संस्कृत धर्मों

१—बौद्ध धर्म और दर्शन-आ० नरेन्द्रदेव, पृ० ३४४ से ३५५।

२—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० २३७।

३— „ „ पृ० २३८।

से भिन्न होते हैं। यह हेतु प्रत्यय से नहीं उत्पन्न होते। अतएव इन्हें नित्य मानते हैं।

स्थवरवादियों की दृष्टि में असंस्कृत धर्म[१] :–स्थविरवादियों ने असंस्कृत या नित्य धर्म एक ही माना है। वह है निर्वाण।

निर्वाण का स्वरूप :—निर्वाण के सम्बन्ध में हम विस्तृत विवेचना तो कर चुके हैं यहाँ पर हम केवल उस पर थोड़ा सा संकेत कर देना चाहते हैं। निर्वाण का अर्थ है बुझ जाना। जिस प्रकार दीपक जलते जलते धीरे धीरे बुझ जाता है, उसी प्रकार जब जीवन का प्रवाह समाप्त हो जाता है, और तृष्णा बुझ जाती है, तब उसे निर्वाण की अवस्था कहते हैं।[२] जीवन प्रवाह का उदय और विकास अविद्या, राग, द्वेष आदि क्लेशों के कारण होता है। इन क्लेशों का समुच्छेद हो जाने को निर्वाण कहने लगते हैं। निर्वाण की प्राप्ति जीवितावस्था तथा शरीर पात की अवस्था दोनों में सम्भव है। इसी आधार पर निर्वाण के दो भेद किए गये हैं[३], जिनको क्रमशः १—सोपाधि, और निरुपाधि के अभिधान दिये जाते हैं। सोपाधि लिए साप्णव और कुशल विशेषण का प्रयोग किया जाता है। निरुपाधि के लिए असंस्कृत या व्याकृत विशेषणों का प्रयोग करते हैं इस प्रकार वैभाषिक मत वाले निर्वाण के दो भेद मानते हैं। निर्वाण के यह दोनों भेद स्थविरवादियों को भी मान्य हैं।

सर्वास्तिवादियों के मतानुसार असंस्कृत धर्म[४]:-सर्वास्तिवादियों ने असंस्कृत धर्म तीन बतलाये हैं। (१) आकाश, (२)प्रतिसंख्या निरोध, (३)अप्रतिसंख्या निरोध।

आकाश तत्व की मीमांसा[५] —आकाश धर्म को सर्वास्तिवादी लोग पूर्ण निरपेक्ष धर्म बतलाते है। उनका कहना है कि यह न तो दूसरों को आवृत करता है और न दूसरों से आवृत होता है। यह लोग इसे शून्य रूप न मान कर भाव रूप मानते हैं। इस मत मे आकाश को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। आकाश शब्द से यह दो अर्थ लिया करते हैं— १. दिक का और दूसरे सर्वव्यापी सूक्ष्म वायु का।

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० २३८।
२—३ " " "
४—बौद्ध धर्म और दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ० २९३-२९५
५— " " " "

प्रतिसंख्या निरोध[1] :--प्रतिसंख्या का पारिभाषिक अर्थ होता है ज्ञान अथवा प्रज्ञा। जब ज्ञान के उदय होने के कारण सास्रव धर्म के प्रति राग का पूर्ण परित्याग हो जाता है, तब उस धर्म के लिए प्रति संख्या निरोध धर्म का प्रयोग करते हैं। इस धर्म का लक्ष्य सत्काय दृष्टि से उद्भूत समस्त क्लेशों का निराकरण करना माना जाता है।

अप्रतिसंख्या निरोध[2]--जब निरोध बिना प्रज्ञा की सहायता के ही सहज और स्वाभाविक गति से ही उत्पन्न होता है, तब उसे अप्रतिसंख्या निरोध कहते हैं। इस निरोध के सम्बन्ध में कहते हैं कि इसके द्वारा निरुद्ध धर्म की भविष्य में कभी उत्पत्ति नहीं होती। इसके द्वारा सरलता से समस्त मनो का निराकरण हो जाता है।

मध्य युगीन साहित्य पर वैभाषिकों की धर्म मीमांसा का प्रभाव

वैभाषिकों की उपर्युक्त धर्म मीमांसा के प्रकाश मे यदि मध्य युगीन कवियों का अध्ययन किया जाय तो यह कहे बिना नही रहा जा सकेगा कि उन पर उसका प्रत्यक्ष और व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा है। इसका प्रमुख कारण यह था कि मध्ययुग के किसी भी कवि ने बौद्ध धर्म के दार्शनिक वादों का शास्त्रीय अध्ययन नही किया था। उनके ऊपर केवल उन्ही दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा है जिनका प्रभाव और प्रचार सामान्य जनता मे था। जहां तक वैभाषिको की धर्म मीमांसा की बात है उसका प्रचार और प्रसार सामान्य जनता मे बिल्कुल नही हुआ था वास्तव मे वैभाषिका धर्म का विभाजन क्रम इतना जटिल है कि साधारण व्यक्ति की समझ मे नहीं आ सकता है। दूसरे उसकी कोई व्यावहारिक उपयोगिता भी नहीं के बराबर है।

मध्ययुगीन कवियों पर वैभाषिकों की धर्म मीमांसा के बहुत क्षीण प्रभाव दिखाई पड़ते हैं। उसका यहाँ संक्षेप में निर्देश कर देना आवश्यक समझती हूँ।

सन्तों मे हमें कही पर भी वैभाषिक के धर्मों का प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता है। जो थोड़ा बहुत प्रभाव दिखाई पड़ता है वह राम काव्य धारा के कवियों पर ही मिलता है। तुलसी के मानस में एक स्थल पर आयतनों का थोड़ा सा प्रभाव दिखाई पड़ता है आयतन का अर्थ हैं प्रवेश द्वार। इन्द्रियों

१—बौद्ध धर्म और दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ० २९३ से २९५

२— " " " "

धर्म
संस्कृत, सास्रव,
अनास्रव, असंस्कृत
आकाश
निरोध
प्रतिसंख्या
अप्रतिसंख्या
स्कन्ध ५
आयतन १२
धातु १८
रूप
वेदना
संज्ञा
संस्कार
विज्ञान
इन्द्रिय, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, आलम्बन, रूप, शब्द, रस, स्प्रष्टव्य, विज्ञान, चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा के कायविज्ञान ।
वेदना
सुखा
दुखा
न सुखा न दुखा
संस्कार
धर्मायतन
अविज्ञप्ति
असंस्कृति
आयतन १२
चक्षु
रूप
श्रोत्र
शब्द
घ्राण
गंध
जिह्वा
रस
काय
स्प्रष्टव्य
मन
धर्म
धातु १८
१ चक्षु
२ रूप
३ चक्षुर्विज्ञान
४ श्रोत्र
५ शब्द
६ श्रोत्रविज्ञान
७ घ्राण
८ गंध
९ घ्राणविज्ञान
१० जिह्वा
११ रस
१२ जिह्वाविज्ञान
१३ काय
१४ स्प्रष्टव्य
१५ कायविज्ञान
१६ मन
१७ धर्म
१८ मनोविज्ञान

के प्रवेश द्वार को आयतन कहते है। तुलसी ने आयतन शब्द के स्थान पर इन्द्रिय द्वार शब्द का प्रयोग किया है[१]। यह इन्द्रिय द्वार आयतन का ही शब्दार्थ है। इस शब्द का योग तुलसी ने बौद्धो के प्रभाव के फलस्वरूप ही किया है। किन्तु इस प्रकार के प्रभाव नाम मात्र के लिए ही हैं। यहाँ यह कहना अनुपयुक्त नहीं है कि मध्ययुगीन कवियों में बौद्धों के वैभाषिक सम्प्रदाय की धर्म मीमांसा का प्रभाव नहीं के बराबर है।

सौत्रान्तिकों का प्रतिविम्ववाद, मध्य युगीन कवियों पर उसका प्रभाव

सौत्रान्तिकों के प्रतिविम्ववाद की थोड़ी सी चर्चा मैं ऊपर कर चुकी हूँ। यहाँ पर उस पर थोड़ा विस्तार से विचार करना चाहती हूँ।

सौत्रान्तिकों का कहना है कि संसार के समग्र पदार्थ क्षणिक है। क्षणिक पदार्थों का साक्षात्कार नही किया जा सकता वस्तु उत्पन्न होती है। इन्द्रिय से उसका क्षण भर सम्पर्क होता है और वह सदा के लिए नष्ट हो जाती है। वस्तु के नष्ट हो जाने पर उसका रूपाकार नष्ट हो जाता है अब प्रश्न है कि वस्तु फिर सत् कैसे कही जा सकती है। इस समस्या को सुलझाने के लिए उन्होंने तज्जन्य संविदना वाद या प्रतिविम्बवाद के सिद्धान्त की कल्पना की। उनका कहना है कि वस्तु के प्रत्यक्ष होते ही उसका नीलपीतादि रूप तथा आकार चित्त पर प्रतिबिम्बित हो जाता है चित्त या मन पर पड़े हुए प्रतिविम्ब को ही मन देखता है। उसके द्वारा वह उसके उत्पादक बाहरी पदार्थ का अनुमान करता है[२]। इस प्रकार सौत्रान्तिक लोक बाह्यार्थ की सत्ता अनुमान से सिद्ध मानते हैं।

जहाँ तक सौत्रान्तिको के अनुमानवाद और प्रतिविम्ब का सम्बन्ध है उसका भी प्रभाव मध्ययुगीन कवियों पर नही के बराबर ही मानना पड़ेगा। मध्ययुगीन कवियो की वानियो मे हमे प्रतिविम्बवाद वर्णन तो अनेक स्थलो पर मिलता है किन्तु उनका प्रतिविम्बवाद वेदान्ती और सूफी प्रतिविम्बवादो से अधिक प्रभावित है सौत्रान्तिक के प्रतिविम्बवाद से कम।

१— इन्द्रिय द्वार झरोखा नाना।
तह तहमु बैठे करि थाना॥
—मानस पृ० ११५९

२—नील पीतादिभिश्चित्र बुध्द्याकारैं रिहान्तरे।
सौत्रान्तिक मते नित्य बाह्यार्थस्त्वने मीयते॥
—सर्व सिद्धान्त संग्रह पृ० १३

वेदान्तियों का प्रतिविम्बवादी दृष्टि कोण आध्यात्मिक और ईश्वरवादी है और सौत्रान्तिकों का प्रतिविम्बवाद भौतिक है। मध्ययुगीन कवियों का प्रतिबिम्ब आध्यात्मिक और ईश्वर वादी है। वह भौतिक लेशमात्र नही है अतः उस पर बौद्ध प्रभाव मानना हठधर्मी होगी।

विज्ञानवादी जगत धारणाएँ—

विज्ञान वादी जगत धारणाओं को समझने के लिए लंकावतार सूत्र का निम्नलिखित उद्धरण ध्यान में रखना पड़ेगा। उसमें लिखा है—'चित्त की ही प्रवृत्ति होती है। चित्त की ही विमुक्ति होती है। चित्त के अतिरिक्त न तो किसी दूसरी वस्तु का उदय होता है और न विनाश ही। चित्त ही एक मात्र तत्व है। उसके अतिरिक्त न तो कोई दूसरा तत्व है और न हो सकता है'[1]। इसी ग्रंथ में एक दूसरे स्थल पर इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। एक चित्त ही किस प्रकार नाना रूपों में प्रति भासित होता है इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य ने लिखा है 'वास्तव में बुद्धि एक मात्र परमार्थ तत्व है किन्तु प्रति भासित होने वाले पदार्थों की भिन्नता तथा बहुलता के कारण एकाकार बुद्धि बहुत के समान प्रतीत होती है बुद्धि में इस प्रतिमान के कारण किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता[2]। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों ने प्रमदा का दृष्टान्त दिया है। वह इस प्रकार है। उनका कहना है कि जिस प्रकार एक ही प्रमदा को सन्यासी शव रूप मानता है, कामी उसे रति का अवतार समझता है। यह भेद केवल कल्पनाओं के कारण है प्रमदा एक ही है। इसी प्रकार चित्त तत्व एक ही है संस्कार भेद से उसे लोग नाना रूपों मे देखते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विज्ञान वादियों का दृष्टि कोण बहुत कुछ अद्वैत मूलक है। वे चित्त को ही परमार्थ तत्व मानते है जगत उस परमार्थ तत्व का भ्रम मात्र है। लंकावतार सूत्र में लिखा है 'बाहरी दृश्य जगत बिल्कुल विद्यमान नही है। चित्त एकाकार है किन्तु वही इस जगत में विचित्र रूपों मे दीख पड़ता है कभी वह देह के रूप में, कभी भोग के रूप मे। अतः चित्त ही वास्तविक सत्ता हैं जगत उसी का परिणाम है'।

१—चित्तं प्रवर्तते चित्तं चित्तमेव विमुच्यते।
चित्तं ही जायते नान्यच्चित्तमेव निरुध्यते।
—लंकावतार सूत्र गाथा १४५

२—बुद्धि स्वरूप मेक वस्त्वस्ति परमार्थतः।
प्रति भासस्य नानात्वात्र चैकत्वं विहन्यते॥
—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० २८२

३—लंकावतार सूत्र ३।३

मध्य कालीन कवियों पर बौद्धों की विज्ञानवादी जगत धारणाओं का प्रभाव,

बौद्धों की विज्ञानवादी जगत धारणाओं पर सन्तों का गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। बौद्ध विज्ञानवादी लोग संसार को मन या चित्त का ही परिणाम मानते है। दशभूमिश्वर सूत्र मे स्पष्ट लिखा है जिन पुत्र यह त्रैधातुक जगत एवं चित्त मात्र ही है[१]। इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए त्रिंशिका मे आचार्य विसुबन्धने लिखा है–'यह जगत विज्ञान का ही परिणाम है[२]।' उनसे प्रभावित होकर सन्तों ने भी संसार को मन का परिणाम व्यंजित किया है। संत सुन्दर दास ने तो स्पष्ट घोषणा की है 'मन के भ्रम के परिणाम स्वरूप ही यह संसार दिखाई पड़ता है यदि मन का भ्रम नष्ट हो जाय तो यह संसार भी नष्ट हो जायगा[३]। इसी बात को दादू ने दूसरे ढंग से रखने की चेष्टा की है। वे कहते है कि माया की उत्पत्ति मन से ही होती है और मन के भ्रम दूर हो जाने पर वह माया भी नष्ट हो जायगी। माया के नष्ट हो जाने पर उसका संसार का अस्तित्व भी नही रह जायगा[४]। इसी प्रकार पलटू साहब ने लिखा है कि वास्तव में यहाँ वहाँ जो दृश्य जगत दिखाई पड़ता है वह केवल मन का ही भ्रम है[५]। संत कबीर ने इसी भाव की व्यंजना कुछ और भिन्न शब्दों मे की है। उन्होंने माया रूपी डायन का निवास स्थान मन बताया है। मन और माया का घनिष्ट सम्बन्ध व्यञ्जित करके कबीर ने सृष्ट्योत्पत्ति के विज्ञान वादी दृष्टिकोण की ही व्यञ्जना की हैं। अन्तर केवल इतना है कि विज्ञान वादी जगत को माया का प्रत्यक्ष परिणाम मानते हैं। कबीर ने मध्यस्थ माया की कल्पना भी कर डाली है। इसका कारण वेदान्त का प्रभाव है। एक ओर उन्होंने मन से माया और माया से सृष्टि की उत्पत्ति व्यंजित करके विज्ञान-

---

१—दि सेंट्रल कान्सेप्शन आफ बुद्धिज्म, पृ० ११

२—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ६१९

३—दादू मन ही माया उपजै। मन ही माहि समाय॥
—दादू दयाल की बानी भाग १ पृ० ११४

४—मन के भ्रम से जगत यह देखियत है।
मन ही के भ्रम गए जगत वह बिलात है। --सुन्दर विलास पृ० ६३

५--यहाँ वहाँ कुछ है नही, यह सब मन का फेर।
—पलटू साहब की बानी भाग पृ० ४९

वादी दृष्टिकोण को अपनाने की चेष्टा की है। दूसरी ओर माया को प्रश्रय देने के कारण वे शंकर के वेदान्त से सम्बन्ध बनाए हुए हैं।

निर्गुणियां सन्तों की वानियों में और भी अनेक ऐसे उद्धरण मिलते हैं जिनके आधार पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि वे लोग बौद्धों की विज्ञानवादी जगत धारणाओं से बहुत अधिक प्रभावित थे।

विज्ञानवादी बौद्धों के जगत सम्बन्धी विचारों का प्रभाव सूफी कवियों पर नहीं के बराबर दिखाई पड़ता है। उन्होंने नाथ पंथियों से प्रभावित होकर मन के महत्व का संकेत कई बार किया है किन्तु विज्ञान वादियों के ढंग पर उन्होंने जगत को मन का परिणाम शायद ही कहीं कहा हो।

राम काव्य धारा के कवियों पर विज्ञान वादियों का प्रभाव अपेक्षाकृत कुछ अधिक मालूम पड़ता है। तुलसी ने हमें कई स्थलों पर विज्ञानवादी विचारों की झलक दिखाई पड़ती है विनय पत्रिका एक पद है "यदि यह मन अपने विकारों को छोड़ दे तो फिर द्वन्द्वात्मक सांसारिक दुःख सता ही नहीं सकेंगे। संसार में शत्रु मित्र और मध्यस्थ का जो भेद दिखाई पड़ता है वह सब मनरचित है। संसार के विविध पदार्थों का अस्तित्व मन में ठीक उसी प्रकार पहले से ही वर्तमान रहता है जिस प्रकार विटप में पुतलिका का और सूत में कचुकी का अस्तित्व पहले से ही विद्यमान रहता हैं। व ही मन में पूर्व-रूप से वर्तमान समस्त पदार्थ अवसर पाकर प्रकटित हो जाते है। इस पद का भावार्थ यह है कि वाह्य पदार्थों का कारण रूप मन ही है। वाह्य पदार्थों का या वाह्य जगत का अपना कोई अस्तित्व नहीं हैं। उनकी उत्पत्ति मन से हुई है'।

१—जौ निज मन परिहरै बिकारा।
तौ कत द्वैत जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा।
शत्रु मित्र मध्यस्थ तीन यह मन कीन्हें बरिआई।
त्यागन गहन उपेच्छनीय अहि हाटक तृन की नाईं।
असन बसन पसु बस्तु बिबिध बिधि सब मन महं रह जैसे।
सरग नरक चर अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसे॥
बिटप मध्य पुतरिका सूत महं कंचुकी बिनहिं बनाए।
मन महं तथा लीन नाना तन प्रगटत अवसर पाए।
—विनय पत्रिका पृ० २५१

इस प्रकार और भी अनेक उद्धरण ढूंढे जा सकते हैं जिनके आधार पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि राम काव्य धारा के कवियों पर विज्ञानवादी बौद्धों का अच्छा प्रभाव है।

विज्ञानवाद की हलकी छाया कृष्ण काव्य धारा के कवियों पर भी दिखाई पड़ती है। इस धारा के कवियों ने तुलसी आदि की भांति मन से संसार की सृष्टि तो नहीं कही है किन्तु इतना अवश्य व्यंजित किया है कि मन के दूषित होने से ही प्रपञ्च का विस्तार होता है। सूर का एक पद है 'रे मन अपने वास्तविक रूप को पहचान ले। सारा जन्म इधर उधर भ्रमित होने में ही खो दिया है। जिस प्रकार मृग कस्तूरी की खोज मे इधर उधर भटकता रहता है और कस्तूरी को इस लिए प्राप्त नहीं कर पाता कि वह अपने में उसकी खोज नहीं करता उसी प्रकार मन बहिर्मुखी होकर इधर उधर भटकता रहता है किन्तु अपने वास्तविक रूप को नहीं पहचान पाता। बहिर्मुखी रहने से ही भ्रमजनित से सृष्टि का विस्तार होता जाता है यह मन का भ्रम तब नष्ट हो जाता है जब भक्त भगवान् को पहचान लेता है। भगवान को पहचानने से उसकी वृत्ति एकनिष्ठ हो जाती है बहिर्मुखी नहीं रहती। जब वृत्ति बहिर्मुखी नहीं रहती तो यह भ्रम रूप संसार भी नहीं रहता'[1]। इस पद मे यद्यपि सूर ने स्पष्ट रूप से मन से जगत की उत्पत्ति की बात नहीं कही है, किन्तु इससे इतनी व्यञ्जना तो निकलती ही है कि बाह्य दृश्य जगत के विस्तार का प्रमुख कारण मन के भ्रमित होकर बहिर्मुखी होना है।

इस प्रकार संक्षेप मे मैं कह सकती हूँ कि मध्ययुगीन कवियों की जगत सम्बन्धी धारणाओं पर विज्ञान वादी बौद्धों की जगत सम्बन्धी धारणा का प्रभाव है।

१—सूर सागर पृ० ३८

रे मन आपु कों पहिचानि।
सब जनम तैं भ्रमत खोयौ, अजहु तौ कछु जानि।
ज्यों मृगा कस्तूरि भूलौ, सु तौ ताकैं पास।
भ्रमत ही वह दौरि ढूंढै, जबहि पावै बास
भरम ही बलवत सब मैं, ईसहू कैं भाइ।
जब भगत भगवंत चीन्है, भरम मन तैं जाइ
सलिल सौं सब रंग तजि कैं, एक रंग मिलाइ।
सूर जो द्वै रंग त्यागै, यहै भक्त सुभाइ॥

मध्य युगीन कवियों की जगत धारणा पर शून्यवादी बौद्धों का प्रभाव

बौद्धों की शून्यवादी जगत धारणाओं का मध्य युगीन कवियों की विचार धारा पर अच्छा प्रभाव दिखाई पड़ता है। सन्त कबीर ने एक स्थल पर लिखा है कि 'शून्य रूप ही यह संसार है जो बुद बुद के समान क्षणिक है। यह संसार शून्य से ही उत्पन्न हुआ है और अन्त में शून्य में ही विलीन हो जायगा।[1] कभी कभी विनाश के अनुक्रम से भी शून्य से सृष्टि की उत्पत्ति अभिव्यंजित की है। कबीर ने एक स्थल पर लिखा है "अन्त में शून्य में शब्द समा जायगा उस समय कोई जाति नहीं रहती है।[2] इसी प्रकार दरिया साहब ने एक स्थल पर लिखा है, सूर्य चन्द्रमा और पवन यह सब अन्त में शून्य में समा जाते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि सन्त लोग भी शून्य वादी बौद्धों के सदृश शून्य से जगत की उत्पत्ति उसी में उसका लय होना मानते हैं।

निर्गुण वादी कवियों पर विज्ञान वाद का प्रभाव एक रूप में और दिखाई पड़ता है। उन्होंने मूल तत्व के रूप में शून्य का वर्णन किया है। कबीर ने लिखा है—

> अलख निरंजन लखै न कोई निरभै निर कार है सोई।
> सुनि अस्थूल रूप नहिं रेखा दिष्टि अदिष्टि छिप्यो
> नहिं पेखा॥
> वरन अवरन कथ्यो नहिं जाई, सकल अतीत घट रहा समाई।
> —क० ग्रं० पृ० २३०

इसी प्रकार दादू ने लिखा है—

> सहज सुनि सब ठौर है सब घट सब ही माहि।
> तहा निरन्जन रमि रहा कोई गुण व्यार्प नाहि।
> दादू बानी भाग १ पृ० ९८

१—सुन्न का बुदबुदा सुन्न उतपत भया
सुन्न माहि फिर गुप्त होई॥
—कबीर सा० की ज्ञानगुदड़ी रसता १९

२—सुनि मे सबद समाइगा तब कासनि कहिए जाति।
—क० ग्रं० पृ० २३९

३—रवि ससि पवन जो सुन्न समाई।
—दरिया सागर पृ० ३६

जायसी आदि सूफी काव्य धारा के कवियों पर भी शून्यवाद की छाया दिखाई पड़ती है। अखरावट में जायसी ने लिखा है कि प्रारम्भ में खुदा ने आज्ञा दी तो शून्य से स्थूल पदार्थों की उत्पत्ति हुई।[1] इसी ग्रन्थ में एक दूसरे स्थल पर उन्होंने लिखा है कि वही भला है जो शून्य का रहस्य जानता है। जो शून्य के रहस्य को पहचानता है वही जगत के रहस्य को भी पहचनता है[2]। शून्य से ही शून्य की उत्पत्ति हुई है शून्य मे संसार के अनेक पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। शून्य में ही इन्द्र और ब्रह्माण्ड का निवास स्थान है। शून्य से ही सब कुछ उत्पन्न होता है अन्त मे सब कुछ शून्य में ही लय हो जाता है। शून्य से ही मात स्वर्ग उत्पन्न हुए है। शून्य से ही सातों पृथवी उत्पन्न हुई है। सब ठाठ शून्य का ही है। जीव के लिए ही शून्य से पिण्ड की उत्पत्तिहुई है। सब कुछ शून्य मे ही उत्पन्न हुआ है और अन्त मे शून्य में ही सब समा जाते हैं। उपर्युक्त अवतरण पर शून्यवाद का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। मगर एक बात सदैव ध्यान में रखनी पड़ेगी। वह यह कि यह प्रभाव बहुत कुछ सत्संगति और सामान्य जनता के माध्यम मे आया है अतः उसमे शास्त्रीय रूप की खोज करना ठीक नही है।

शून्यवाद के प्रभाव से सगुणवादी राम काव्य धारा के कवि भी नहीं बच सके। इसके उदाहरण में तुलसी की विनय पत्रिका का निम्नलिखित प्रसिद्ध पद ले सकती हूँ। हे केशव कुछ कहते नहीं बनता क्या कहूँ। आपकी यह अद्भुत रचना देख कर मन ही मन मुग्ध रहता हूँ। कुछ कहते नही बनता। इस मुग्धता का कारण सृष्टि वैचित्र्य है। यह ससार शून्य भीति अर्थात् शून्य के आधार पर खड़ा हुआ है। उसकी रचना निर्विकार निर्गुण भगवान ने की है। यह ससार रूपी चित्र बिना रंग के बना है। यह इसकी विचित्रता है। इस शून्य के आधार पर विनिर्मित यह जगत दुःख रूप है इसकी ओर देखने से ही दुःख व्यापता है। इसमे अव्यक्त काल रूपी मगर बसता है। वह अव्यक्त काल चराचर का भक्षण कर लेता है। इस प्रकार के विचित्र संसार के सम्बन्ध मे दार्शनिकों के विविध मत हैं।

१—आदि किएउ आदेस सुन्नहि ते अस्थूल भए।
आपु करै सब भेस मुहम्मद चादर ओट जेऊ॥
—जा० ग्रं० पृ० ३०८

२—भल सोई जो सुन्नहि जानं।
—जायसी ग्रन्थावली पृ० ३२४

कुछ लोग उसे सतरूप मानते हैं कुछ असत रूप और कुछ कोई उदय रूप।[1] इत्यादि। उपयुंक्त उद्धरण में तुलसी ने शून्य को जगत का आधार व्यंजित कर एक ओर तो अपनी आस्तिकता की रक्षा की है और दूसरी ओर बौद्धों के शून्यवाद का भी समर्थन किया है।

कृष्ण काव्य धारा पर शून्यवाद का प्रभाव नहीं के बराबर है इस धारा के कवियों ने शायद ही कहीं शून्य शब्द का प्रयोग किया है।

इस प्रकार मैं देखती हूँ कि मध्य युगीन कवियों पर बौद्धों के शून्य-वाद का भी अच्छा प्रभाव है।

क्षणभंगुरवाद या क्षणिक वादः— जगत सत्ता पर विचार करते समय मैं बौद्धों के परम प्रसिद्ध सिद्धान्त क्षणिकवाद पर थोड़ा सा प्रकाश डाल देना चाहती हूँ।

भगवान बुद्ध ने संसार के समस्त पदार्थों के तीन अवश्यम्भावी लक्षण माने थे—दुखात्मक है, अनित्य है और अनात्मरूप है। भगवान बुद्ध की रिसर्च की आधार भूमि यही तीन बाते हैं।

भगवान बुद्ध ने अपनी वाणी में क्षणिक वाद का बीजारोपण करते हुए लिखा है, 'सम्पूर्ण भव अनित्य. दुख रूप' और परिवर्तन शील है"। उनके अन्तिम शब्द थे "यह संसार व्यर्थ धर्मा है।' उन्होंने भिक्षुओं को उपदेश दिया था। 'संसार को पानी के बुलबुले की तरह समझो, मृगमरीचिका की तरह देखो तो फिर मृत्यु राज तुम्हे नहीं देखेगी।'

भगवान बुद्ध के उपयुंक्त वचनों के आधार पर बौद्ध क्षणिकवाद का प्रादुर्भाव हुआ उत्तर कालीन बौद्ध दर्शन मे क्षणिकवाद ने बड़ा महत्व-पूर्ण स्थान बना लिया था सातवी शताब्दी स लेकर ११वी शताब्दी तक इस

१—केशव कहि न जाइ का कहिए।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए।
शून्य भीति पर चित्र रंग यहु तन बिनु लिखा चिते।
धोए मिटे न मरे भीति दुख: पाइय इहि तनु हेरे। इत्यादि
—विनय पत्रिका पद १११

२—अगुंत्तर निकाय ४।१९।५

३—बौद्ध दर्शन और भारतीय दर्शन से उद्धृत

४— धम्म पद १३।४

सिद्धान्त का बड़ा बोल बोला रहा । इसकी मान्यता मध्य युग के चारों दार्शनिक सम्प्रदायों में रही ।

क्षणिक वाद के स्वरूप को समझने के लिए उसके अर्थ क्रियाकारित्व के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण आवश्यक है । बौद्ध लोगों का कहना है संसार की कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है, सभी चलायमान और परिवर्तन शील हैं । जिन्हें हम स्थिर समझते हैं उनमें भी प्रतिक्षण अप्रत्यक्ष रूप से परिवर्तन होते रहते हैं । अब प्रश्न यह है कि इस क्षणिक वाद का प्रमाण क्या है। इसके उत्तर में बौद्ध लोग अर्थकारित्व का तर्क प्रस्तुत करते हैं । इनका कहना है कि सत्य वही है जिससे अर्थ क्रिया कारित्व है ।

बौद्धों का कहना है कि जो सत् पदार्थ है उसमें अर्थक्रियाकारित्व अवश्य होता है क्योंकि सर्व मान्य बौद्ध सिद्धान्त है 'अर्थ क्रिया कारित्व सत्व' बौद्धों का कहना है संसार की जिस वस्तु से कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता है वही असत् है जिस प्रकार आकाश के फल, बाँझ का पुत्र या शशक के सींग । इनसे कोई अर्थ क्रिया सिद्ध नहीं होती । अतः यह असत पदार्थ है । सत पदार्थ प्रतिक्षण अपने कार्यों को जन्म देता रहता है कार्यों को जन्म देने का तात्पर्य है अपने स्वरूप का विकास करना । विकास का अर्थ है परिवर्तन । जहां परिवर्तन है वही क्षणिकता है । धीरे धीरे क्षणिकवाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया और क्षणिकत्व परमार्थ तत्व का वाचक समझा जाने लगा ।

बौद्धों के क्षणिकवाद के इस प्रकार के दो पक्ष हुए—

१— संसार का सर्व प्रकारेण अनित्यत्व सिद्ध करना ।

२— क्षणिकत्व का परमार्थ सत्य के रूप में प्रतिपादन करना ।

बौद्धों के इस क्षणिक वाद पर मध्यकालीन दर्शन क्षेत्र में बहुत वाद-विवाद रहा है । जितना खण्डन मण्डन बौद्धों के इस सिद्धान्त का किया गया है उतना बहुत कम सिद्धान्तों का मिलता है।

मध्य युगीन कवियों पर क्षणिक वाद का बहुत अधिक प्रभावित होना स्वाभाविक था क्योंकि मध्य युग में सबसे अधिक चर्चा इसी बौद्ध सिद्धान्त की होती रही है । मध्य युगीन कवियों पर बौद्धों के क्षणिक वाद के प्रथम पक्ष का प्रभाव ही अधिक पड़ता है उनके द्वितीय पक्ष से तो स्वयं बौद्ध लोग भी अधिक परिचित नहीं हैं।

बौद्ध के क्षणिकवाद के द्वितीय पक्ष के प्रभाव को समझते समय हमें दो एक बातें ध्यान में रखनी पड़ेंगी। पहली बात यह कि मध्य कालीन

साहित्य पर इस क्षणिकवाद का प्रभाव प्रतिशत न पड़ कर योग वशिष्ठ के माध्यम से आया है। योग वाशिष्ठ बौद्ध धर्म का वैष्णवीकृत रूप है। मध्य युगीन राजनीतिक परिस्थितियों ने भी इस वाद के प्रचार और प्रसार में बहुत योग दिया था। विदेशी धर्मान्धों द्वारा पद-दलित की गई हिन्दू जनता को क्षणिक वाद ही थोड़ी बहुत सान्त्वना देने में समर्थ हुआ था।

स्वप्नवाद—

इसी प्रसंग में थोड़ी सी चर्चा बौद्धों के स्वप्नवाद की भी कर देना चाहती हूँ। बौद्ध स्वप्नवाद बौद्ध क्षणिकवाद का ही एक पक्ष है। इसका प्रचार विज्ञानवादियों में अधिक रहा है। विज्ञानवादियों का कहना है कि स्वप्नादिवच्चेद दृष्टव्यम् अर्थात जिस प्रकार स्वप्न, मृगमरीचिका और गन्धर्व नगर मिथ्या है उसी प्रकार विज्ञान का परिणाम रूप यह जगत मिथ्या है। इसी प्रसंग में बौद्ध स्वप्नवाद और शंकर स्वप्नवाद का अन्तर भी स्पष्ट कर देना चाहती हूँ। इस अन्तर को समझाने के लिए 'वैधर्म्याच्चन स्वप्नादिवत'[1] की शंकर व्याख्या देखनी पड़ेगी। शंकर ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जगत की जाग्रतावस्था को हम स्वप्न वत् कैसे मान सकते हैं। क्योंकि दोनों स्थितियों में वैधर्म्य है। वैधर्म्य के कारण दो हैं एक तो यह कि स्वप्न के पदार्थ जगने पर व बाधित हो जाते हैं किन्तु जाग्रतावस्था में देखी हुए प्रत्यक्षाद प्रमाण सिद्ध होने के कारण कभी बाधित नहीं होते अतः दोनों को एक सा कैसे माना जा सकता है। दूसरी बात यह है कि स्वप्न में वही पदार्थ दीखते हैं जो कभी प्रत्यक्ष जगत में देखे गए हैं अतः दोनों में साधर्म्य कैसे हुआ। वास्तव में विज्ञान वादियों का स्वप्नवाद प्रभाव मूलक है किन्तु शंकर का स्वप्न वाद भाव मूलक है। शंकर जगत को ब्रह्म की तुलना में स्वप्नवत् मानते थे किन्तु विज्ञानवादी उसको स्वप्नवत् निस्सार प्रभाव रूप मानते थे। संक्षेप में इस स्वप्न वाद का स्पष्टीकरण गन्धर्व नगर, शशक सींग, बांझ के पुत्रों के दृष्टान्तों से किया जाता है।

बौद्धों के क्षणिकवाद और स्वप्नवाद का प्रभाव

बौद्धों के क्षणिकवाद और स्वप्नवाद का प्रभाव सम्पूर्ण भारतीय विचारधारा पर पड़ा है। मध्य युगीन विचारधारा में तो यह दोनों वाद प्राण रूप में प्रतिष्ठित हो गए थे। सन्त कवियों पर इनका प्रभाव सर्वाधिक दिखाई पड़ता है। यह प्रभाव कई रूपों में परिलक्षित होता है :—

१—शांकर भाष्य २।२।२९

१—शरीर की क्षणिकता व्यंजित करके-
२—संसार की नश्वरता व्यञ्जित करके
३—स्वप्नवाद के रूप में
४— संसार की निस्सारता दिखाकर।
५—माया के वर्णनों के सहारे

१—शरीर की क्षणिकता व्यञ्जित करके :—सन्तों पर बौद्धों के क्षणिकवाद का प्रभाव कई रूपों में मिलता है। एक रूप से मानव शरीर की नश्वरता व्यञ्जित करना। कबीर आदि सन्तों ने मानव शरीर की नश्वरता और क्षणिकता का अनेक प्रकार से वर्णन किया है। कबीर लिखते हैं मनुष्य का जीवन पानी के बुलबुले के समान है। इसको नष्ट होने में तनिक देर भी नहीं लगती है[१]। वह उसी तरह क्षणस्थाई है जिस प्रकार प्रातः कालीन तारे होते हैं[२]। इसी प्रकार दादू ने भी लिखा है-यह शरीर गुड़िया के सदृश नश्वर हैं[३]। इसी प्रकार के और बहुत से उदाहरण मिलते हैं जिनमे मानव शरीर और मानव जीवन की क्षणिकता की व्यञ्जना की गई है। विस्तार भय से यहाँ पर अधिक उदाहरण नहीं दिए जा रहे है।

संसार की नश्वरता :—क्षणिकवाद के प्रभाव का दूसरा रूप संसार की नश्वरता के प्रगतीकरण मे दिखाई पड़ता है। सन्तो ने संसार की क्षणिकता, नश्वरता, निस्सारता एवं मिथ्यात्व की व्यञ्जना अनेक प्रकार से की है।

संसार की नश्वरता व्यञ्जित करने के लिए सन्तों ने बुद बुद का उदाहरण दिया है। कबीर ने लिखा है—

यह संसार जल के बुल बुले की भांति है जिस प्रकार जल के बुलबुले का उत्पन्न होने और नष्ट होने मे देर नहीं लगती उसी प्रकार इस संसार को उत्पन्न होने और नष्ट होने मे बिल्कुल देर नहीं लगती।

१—यह तन जल का बुद बुदा बिनसत नाही बार। क० सा० सं० पृ० ५९
२—पानी केरा बुद बुदा अस मानुष की जाति
देखत ही छिपि जायगी ज्यो तारा परभाति।
—क० सा० सं० पृ० ५९

३—यह तन है कागद की गुड़िया कछु एक चेत गंवार-दादू बानी।

स्वप्नवाद के रूप :—सन्त लोग बौद्धों के स्वप्नवाद से प्रभावित हुए थे। सन्त कबीर ने लिखा है कि मानव के सांसारिक वैभव स्वप्नवत् हैं। जिस प्रकार स्वप्न में देखे गये विविध पदार्थ जागते ही लुप्त हो जाते हैं ऐसे ही इस संसार के समस्त पदार्थ स्वप्नवत् हैं। लोग व्यर्थ ही सांसारिक वैभव के मोह जाल में फंसे रहते हैं[1]। इसी प्रकार दादू ने भी लिखा है 'माता पिता भाई बन्धु कोई नहीं, यह सब स्वप्न वत् हैं[1]।' सन्त मलूकदास ने स्वप्नवाद के प्रति आस्था प्रकट की है :—

> सपने के सुख देख मोहि रहे मूढ़ नर।
> जानत हमारे दिन ऐसे ही विहायगे॥
> क्या करेंगे भोग अच्छी सुचरी रमेंगे,
> नित्त छाह को लै चारि जून खूद खूद खायेंगे।
> सकिरा सो काल है कल सन्त सो लपेट ले हैं,
> चंगुल के तले दबे चिचियांगे[4]॥

संसार की निस्सारता के रूप में :—सन्तों ने संसार की निस्सारता व्यञ्जित करने के लिए सेमल के फूल का दृष्टान्त दिया है। कबीर लिखते हैं—

> ऐसा यह संसार हैं जैसा सेमर फूल।
> दिन दस के व्यवहार में, झूठे रंगन भूल[5]॥

इसी प्रकार दादू ने भी लिखा है "यह संसार सेमर के फूल के सदृश केवल ऊपर से ही देखने में मधुर लगता है वास्तव मे वह बिलकुल सार हीन है।

१—ज्यूं जल बूंद तैसा ससारा
उपजत विनसत लगै न बारा।
—क० ग्रं० पृ० १२१

२—सपने सोया मानवा खोल देखि जो नैन।
जीव परा बहु लूट में ना कछु लेन न देन।
—क० सा० सं० ६२

३—मात पिता को बंध न भाई
सब ही सुपिना कहा सगाई।
—दादू बानी भाग १ पृ० १५

४—मलूक दास की बानी पृ० ३१

५—कबीर साखी संग्रह पृ० ६१

ऐ मनुष्य तू ऐसे संसार को देख कर भ्रमित मत हो'।" इस प्रकार के और भी अनेक उदाहरण मिलते हैं।

माया वर्णन के रूप में :- -बौद्ध दर्शन में माया की कोई विशेष चर्चा नहीं आई है। शांकर दर्शन की दृष्टि से माया और संसार में कोई भेद नहीं हैं। सन्त लोग जहां बौद्ध दर्शन से प्रभावित हुये थे वहीं उन पर शांकर वेदान्त का भी बहुत बड़ा ऋण था अतः उनके संसार सम्बन्धी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति माया के वर्णनों के सहारे भी हो गई है। सन्तों ने माया के जो वर्णन प्रस्तुत किये हैं वह बौद्धों के क्षणिकवाद और स्वप्नवाद से बहुत अधिक प्रभावित हैं। यहां तक कि उन्होंने उन दृष्टान्तों की पुनरावृत्ति भी की है जिनका प्रयोग बौद्धों ने किया है। उदाहरण के लिए बेल के प्रतीक से किया गया कबीर कृत माया का यह वर्णन दिया जा सकता है—"माया रूपी बेल ऐसी विचित्र हैं कि कर्मों के रूप में उसकी उत्पत्ति इस जगत में होती है किन्तु उसके परिणाम दूसरे लोक में भुगतने पड़ते हैं। वह वास्तव में शशक सींग और बांझ के पुत्र सदृश अस्तित्व हीन है"।[२]

कबीर आदि सन्तों ने कहीं कहीं माया की मध्यस्थता का बहिष्कार भी कर दिया है। बहुत से स्थलों पर उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से विज्ञानवादी दृष्टिकोण को अपनाने की चेष्टा की है। कबीर ने एक स्थल पर मन को सम्बोधित करते हुए लिखा हैं—"ऐ मन तू क्यों भ्रम में पड़ा हुआ है। यह संसार का जीवन तेरे लिए उसी प्रकार क्षणिक है जिस प्रकार पक्षियों के लिए उनका पेड़ का बसेरा थोड़े समय के लिए होता हैं। जिस प्रकार पक्षी रात भर एक बसेरे पर काट कर प्रातः होते ही इधर उधर उड़ जाते हैं वैसे ही संसार रूपी वृक्ष के बसेरे से अज्ञान पूर्ण जीवन काट कर इधर उधर हो जावेगा। संसार का यह क्षण भर का जीवन तेरे लिए स्वप्नवत है। जिस प्रकार स्वप्न में किसी को राज्य मिल जाता है उसी प्रकार तू भी है। इस संसार के सुखों को क्षण भर के लिए अनुभव करता है। किन्तु ज्ञान रूपी प्रातः के होते ही इस संसार के सुखों को त्याग कर चला

१—यह संसार सेंबल के फूल ज्यों,
तापर तू जिनि फूलै ॥

—दादूबानी भाग २, पृ० १४

२—आगणि बेल अकास फल अण ब्यावर का दूध।
ससा सींग की धून हणी रमैं बांझ का पूत ॥

—क० ग्रं० पृ० ८६

जाता है और तेरी स्वप्न की हुकूमत नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार ए मन तूने इस संसार में अनेक प्रकार के सम्बन्धों की अनेक अनेक प्रकार के सुखों की कल्पना करली है। इनका अस्तित्व ठीक वैसा ही है जैसा सागर की लहर का अस्तित्व है। जिस प्रकार सागर की एक लहर दिखाई पड़ती है उसी प्रकार इस जीवन के सुख दुख सम्बन्धादि मन की एक लहर मात्र होते हैं। मन की यह लहर क्षणिक होती है।

सूफी काव्य धारा के कवियों पर बौद्धों के क्षणिक वाद और स्वप्नवाद का प्रभाव

मैं ऊपर कह चुकी हूं बौद्ध धर्म के इन दोनों तत्वों ने सम्पूर्ण भारतीय विचार धारा को प्रभावित कर रखा है। अतः सूफी कवियों पर उनका प्रभाव पड़ा हो तो आश्चर्य ही क्या है। सूफी काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि जायसी ने एक स्थल पर बौद्धों के सदृश दो सत्यों की व्यंजना की। एक पारिमार्थिक सत्य की और दूसरे सांकृतिक सत्य की। उन्होंने पारिमार्थिक सत्य को चिरन्तन एवं शाश्वत और सांकृतिक सत्य को क्षणिक और नश्वर व्यंजित किया है।

वह पारिमार्थिक सत्य शाश्वत और चिरन्तन है। वह सृष्टि के पहले भी था और सृष्टि के बाद उसी प्रकार शाश्वत बना रहेगा किन्तु सांकृतिक सत्य वास्तव में क्षणिक होता है। दो चार दिन मे नष्ट हो जाता है।[२] इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर उन्होंने लिखा है—

१—मन तू क्यो भूल रे भाई। तेरी सुधि बुधि कहाँ हिराई॥
जैसे पंछी रैन बसेरा, बसे बृच्छ में आई।
भोर भयो सब आप आपु को, जहाँ तहाँ उड़िजाई॥
सुपने मे तोहि राज मिल्यो है हाकिम हुकम दुहाई।
जागि परयो तब लाव न लस्कर पलक खुले सुधि पाई
मातु पिता बन्धु सुत तिरिया ना कोई सगहिसगाई॥
यह तो सब स्वारथ के संगी झूठी लोक बड़ाई॥
सागर माही लहर उठत है गनिता गनी न जाई॥
— कबीर शब्दावली भाग पृ० ५५

२—हुत पहिले अरू अबे है सोई
पुनि सो रहे रहे नहि कोई।
और जो होई सो बाउर अंधा।
दिन दुई चार मरे करि धंधा। —जा० ग्रं० पृ० ३१२

यह संसार झूठ थिरि नाहीं, उठहि मेघ जेऊ जाइ विलाही।

सूफी सन्त बौद्धों के स्वप्नवाद से भी प्रभावित हुए थे। जायसी ने लिखा है जिस प्रकार नींद आने पर बहुत से पदार्थ दिखाई देने लगते है उसी प्रकार मन के भ्रम से स्वप्नवत यह संसार दिखाई देने लगता है।[1] इसी प्रकार एक दूसरी उक्ति है—यह संसार स्वप्न के सदृश है, बिछुड़ जाने पर ऐसा लगता है कभी देखा ही नहीं है।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि सूफी काव्य धारा के कवि लोग भी बौद्धो के क्षणिकवाद और स्वप्नवाद से प्रभावित हुए थे।

राम काव्य धारा और क्षणिकवाद और स्वप्नवाद

राम काव्य धारा के कवियों पर भी बौद्धों के स्वप्नवाद और क्षणिकवाद का अच्छा प्रभाव दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार बौद्ध लोग दो सत्य मानते हैं उसी प्रकार तुलसी ने दो सत्यों की व्यंजना की है। एक को उन्होंने परमार्थ रूप कहा है और दूसरे को मोह रूप। मोह रूप जगत को वह बौद्धों के सदृश स्वप्नवत मानते थे। तुलसी ने लिखा है 'जैसे स्वप्न में राजा भिखारी हो जाय या कंगाल स्वर्ग का स्वामी इन्द्र हो जाय तो जगने पर हानि या लाभ कुछ नहीं है वैसे ही यह संसार स्वप्नवत है।[3] इस संसार में मनुष्य को जो अनेक पदार्थ और बातें दिखाई पड़ती है वह सब मोह रूपी स्वप्न मे दिखाई पड़ने वाले स्वप्नों की तरह है।[4] इसी प्रकार विनय पत्रिका के निम्नलिखित पद मे भी बौद्धों के स्वप्न वाद की छाया दिखाई पड़ती है—

जागु जागु जीव जड़ जोहे जग जामिनी।
देह गेह नेह जानि जैसे घन दामिनी

१—जबहि नींद चल आवै उपजि उठै ससार। —जा० ग्र० पृ० ३१२

२—यह संसार सपन कर लेखा।
बिछुरि गए जानो नहि देखा। —जा० ग्रं० पृ० ५५

३—सपने होइ भिखारि नृप रंक नाक पति सोइ।
जागे लाभु न हानि कछु तिमि प्रपन्च जिय जोइ॥
—मानस पृ० ४५८

४—मोह निसा सबु सोवनि हारा।
देखिअ सपन अनेक प्रकारा।
—मानस पृ० ४५८

सोवत सपनेहूँ सहै संसृति संताप रे।
बूड्यो मृग वारि, खायो जेवरी को सांप रे।
कहै वेदबुध तू तो बूझ मन माहि रे।
दोष दुःख सपने के जागे पै जाहि रे।
तुलसी जागे ते जाइताप तिहूँ ताय रे।
राम नाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे॥

बौद्धों के स्वप्नवाद क्षणिकवाद आदि से कृष्ण काव्य धारा भी थोड़ा बहुत प्रभावित हुई थी। कृष्ण काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि सूर पर स्वप्नवाद और क्षणिकवाद आदि का प्रभाव दिखाई पड़ता है। उन्होंने एक स्थल पर स्पष्ट लिखा है यह संसार ठीक स्वप्न की तरह है। जिस प्रकार सो जाने पर स्वप्न दिखाई पड़ते हैं किन्तु उनका कोई अस्तित्व नहीं होता उसी प्रकार यह जगत स्वप्न के सदृश असत है[1]।

इसी प्रकार एक स्थल पर इन्हीं महाकवि ने बुद बुद का दृष्टान्त देकर क्षणिकवाद का समर्थन ही व्यञ्जित किया है वे कहते हैं यह संसार दो दिन का है अतः गोविन्द का भजन करना चाहिए। यह संसार इसी प्रकार क्षणिक और नश्वर है जिस प्रकार पानी का बुद बुद होता है[2]। एक दूसरे स्थल पर क्षणिकवाद की व्यञ्जना सेमर और तोते के दृष्टान्त से की है—इस संसार का जीव वैसा ही क्षणिक है जैसा तोते और सेमर के फूल का सम्बन्ध क्षणिक होता है[3]।

१—जैसे सुपने सोइ देखियत तैसे यह संसार।

—सूर सागर पृ० २००

२—वारि में ज्यों उठत बुद बुद,
लागि बाई बिलाय।

—सूर सागर पृ० १६६

३—यह जग प्रीति सुआ सेमर ज्यों,
चाखत ही उड़ि जात।

—सूर सागर पृ० १६५

कायवाद का सिद्धान्त

कायवाद के सिद्धान्त के सम्बन्ध में हीनयानी और महायानी सम्प्रदायों में बड़ा मतभेद है। इस सिद्धान्त का विकास बुद्ध की लोकोत्तरता के विकास के साथ साथ हुआ है। बुद्ध की लोकोत्तरता की प्रतिष्ठा हमें महायान सम्प्रदायों में ही मिलती है। अतएव कायवाद के सिद्धान्त का स्पष्ट विवेचन हमें महायानी सम्प्रदायों में ही मिलता है।[1] हीनयानी भगवान बुद्ध की लोकोत्तरता में आस्था नहीं रखते थे। उनकी दृष्टि में बुद्ध एक मानव मात्र थे। मानव शरीर से ही उन्होंने सम्बोधि प्राप्ति की थी। इतना होते हुए भी कुछ हीनयानी ग्रन्थों में वैदिक धर्म के प्रभाव के फलस्वरूप बुद्ध की लोकोत्तरता व्यंजित करने वाले उद्धरण भी मिल जाते हैं। कहीं कहीं पर उनमें कायवाद के सिद्धान्त की प्रारम्भिक झलक भी दिखाई पड़ जाती है। किन्तु इस प्रकार के उद्धरणों को आनुसंगिक ही समझना चाहिए सैद्धान्तिक नहीं। यहाँ पर पहले हम हीनयानी सम्प्रदायों की काय सम्बन्धी धारणाओं का संकेत करेंगे। बाद में महायानियों के त्रिकायसिद्धान्त पर प्रकाश डालेंगे।

थेरवादियों का कायवादी सिद्धान्त

यद्यपि प्राचीन पालि साहित्य में हमें रूपकाय और धर्मकाय शब्द प्रयुक्त मिलते हैं[2], किन्तु ये वहां पर अपने सामान्य अर्थ में प्रयुक्त किए गए हैं। उनके मतानुसार पालि ग्रन्थों में रूपकाय का प्रयोग भगवान बुद्ध के भौतिक शरीर के लिए और धर्मकाय उनके धार्मिक आदर्शों के लिए प्रयुक्त मिलते हैं[3]।

सर्वास्तिवादियों का दृष्टि कोण,

सर्वास्तिवाद भी हीनयानी बौद्धों का एक सम्प्रदाय है। अभिधम्म-कोष, दिव्यावदान आदि इसी सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में भी हमें रूपकाय और धर्मकाय शब्द प्रयुक्त मिलते हैं। दिव्यावदान के कुछ अवतरणों में इनके स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है। उसमे एक स्थल पर लिखा है कि 'कीर्तिकरण नामक भिक्षु ने कहा कि गुरु की कृपा से हमें भगवान बुद्ध के धर्मकाय के दर्शन हो गए हैं। किन्तु उनके रूपकाय देखने की

१—आस्पेक्टस् आफ महायान बुद्धिज्म—एन० दत्त पृ० १००
२—आस्पेक्टस् आफ महायान बुद्धिज्म—एन० दत्त पृ० १०१
३—आस्पेक्टस् आफ महायान बुद्धिज्म—एन० दत्त पृ० १०१

लालसा शेष है। अतएव उनके पास उनके दर्शनार्थ जाना चाहता हूँ[१]।" इस प्रकार के और भी अवतरण उपलब्ध होते हैं। इन अवतरणों में प्रयुक्त धर्म-काय और रूपकाय शब्दों से प्रकट होता है कि वे लगभग उसी अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं जिस अर्थ में थेरवादियों में उनका प्रयोग मिलता है।

सत्यसिद्धि सम्प्रदाय में कायवाद

सत्यसिद्धि सम्प्रदाय की काय सम्बन्धी धारणा सर्वास्तिवादियों से बहुत मिलती जुलती है। इसमें भी धर्मकाय का प्रयोग बुद्ध के शील समाधि प्रज्ञा विमुक्त आदि से परिपूत शरीर के लिए किया गया है। रूपकाय का अर्थ यह लोग कर्मज शरीर लेते हैं। इनकी काय सम्बन्धी धारणायें बहुत कुछ थेर-वादियों से मिलती जुलती प्रतीत होती हैं[२]।

महासंघिको का मत

इस मत वाले भगवान बुद्ध को स्वयम्भू मानते हैं। भगवान बुद्ध के व्यक्तित्व में लोकोत्तरता की प्रतिष्ठा इसी मत वालों ने की थी। महायान में लोकोत्तरता की प्रतिष्ठा को इसी मत से प्रेरणा मिली थी। कायों के सिद्धान्त को भी सब से पहले इसी मत में विस्तार के साथ प्रतिपादित किया गया था। इस मत वाले शाक्यमुनि को बुद्ध का निर्माणकाय मानते थे। रूपकाय के सम्बन्ध में इनकी धारणा अलग थी। उसे वे शाश्वत अनन्त और चिरसमाधिस्थ मानते थे। इसी प्रकार धर्मकाय के सम्बन्ध मे भी एकाधस्थलों पर उन्होंने चर्चा की है[३]।

महायानियों का त्रिकाय वाद

महासंघिकों के कायवाद के सिद्धान्त महायानियों में त्रिकाय सिद्धान्त के रूप मे विकसित हुए। त्रिकायों के नाम क्रमशः निर्माणकाय, सम्भोगकाय और धर्मकाय है।

निर्माणकाय

महायानियों के अनुसार भगवान बुद्ध ने मातृ गर्भ से जो शरीर धारण किया था उसी को महायानी लोग निर्माणकाय मानते हैं। लोककल्याण इसी

१—दिव्यावदान पृ० १९

२—आस्पेक्टस् आफ महायान बुद्धिज्म पृ० ११०-११

३—आस्पेक्टस् आफ महायान बुद्धिज्म पृ० १११

शरीर से सम्भव हो सका था। आचार्य असंग[1] ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि भगवान बुद्ध ने संसार के कल्याणार्थ शिल्प जन्म अभिसम्बोधि आदि की शिक्षा जन समाज में प्रचलित करने के लिए ही यह शरीर धारण किया था। इस निर्माणकाय की कोई सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती। भगवान बुद्ध ने लोक कल्याणार्थ जिन शरीरों को जब जब भी धारण किया वे सब निर्माणकाय ही कहे जायेंगे। निर्माणकाय की धारणा वैदिकों के अवतार-वाद से मिलती जुलती है। बौद्ध ग्रन्थों में कभी कभी तो भगवान बुद्ध को ब्रह्मा विष्णु आदि का रूप धारण करते हुए तक दिखाया गया है। लंकावतार सूत्र के अनुसार बुद्ध इसी शरीर द्वारा दान शील ध्यान समाधि स्कन्ध आदि का उपदेश करते हैं[2]। संक्षेप में बलदेव उपाध्याय[3] के शब्दों में निर्माण काय का कार्य परोपकार साधन करना है। इस कार्य की संख्या का अन्त नहीं है। जिस ऐतिहासिक शाक्य मुनि से हम परिचित हैं वे भी तथागत के निर्माण-काय ही थे।

सम्भोगकाय

यह निर्माणकाय की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म बताया जाता है। इसके दो भेद बताए गए हैं— परसम्भोग काय और स्वसम्भोग काय।[4] स्वसम्भोग काय बुद्ध का अपना विशिष्ठ शरीर होता है। बोधिसत्वों की कायो को पर-सम्भोग काय कहते हैं। इसी काय के द्वारा बुद्ध ने महायान सिद्धान्तों का उपदेश दिया था। यह काय अत्यन्त प्रकाशमय बताया गया है। इसके अनेक लोकोत्तर और विचित्र वर्णन महायानी ग्रन्थों में मिलते है। इस काय का उत्पत्ति स्थल गृद्धकूट[5] बताया गया है। इसे हम बोधिसत्वो का सूक्ष्मशरीर कह सकते हैं इसी के द्वारा वे उपदेश देते है।

धर्मकाय

कुछ ग्रंथों में इसे स्वभावकाय भी कहा गया है[6]। यह अत्यंत सूक्ष्म और दुर्ज्ञेय बताया जाता है। बुद्ध का सच्चा परमार्थ रूप शरीर भी यही है।

१—महायान सूत्रालंकार ९।६४
२—लंकावतार सूत्र पृ० २२४
३—बौद्धदर्शन मीमांसा-बलदेव उपाध्याय पृ० १६४ तथा १६२
४—वही पृ० १६४
५—वही पृ० १६३-६४
६—महायान सूत्रालंकार ९।६२

यह नित्य सत्य निष्प्रपंच और अनन्त गुणों से युक्त होता है। सम्भोगकाय तो भिन्न भिन्न होते हैं किन्तु धर्मकाय एक ही होता है। यह स्वयं वेद्य और अनिर्वचनीय होता है। महायान सूत्रों में इस धर्मकाय को भाव रूप व्यंजित किया गया[1]। माध्यमिक लोग भी उनके इस मत से सहमत प्रतीत होते हैं। माध्यमिक लोग भगवान बुद्ध के धर्मकाय में ही अधिक आस्था रखते हैं। नागार्जुन ने अनेक तर्क वितर्कों से सिद्ध किया है कि जगत के मूल में जो परमार्थ तत्व है वही तथागत काय या धर्मकाय कहा जाता है।

योगाचार सम्प्रदाय[2] की धर्मकाय सम्बन्धी धारणा लंकावतार सूत्र में वर्णित धर्मकाय संबंधी धारणा से भिन्न है। लंकावतार[3] सूत्र के अनुसार धर्मकाय निराधार व्यंजित किया गया है। किन्तु योगाचार मत के अनुसार धर्मकाय आलय विज्ञान का आश्रय बताया गया है[4]। इस धर्मकाय को ही सांसारिक वस्तुओं का पारमार्थिक रूप व्यंजित किया गया है[5]।

बौद्ध दर्शन के त्रिकाय सिद्धान्त पर यदि मनोयोग के साथ विचार करें और ब्राह्मण धर्म के प्रकाश में उसका अध्ययन करें तो हमें ऐसा प्रतीत होगा कि उपनिषदों में जिसे ब्रह्म कहा गया है बौद्ध दर्शन में उसी को धर्मकाय की संज्ञा दी गई है। वेदान्त दर्शन में जिस प्रकार ईश्वर की कल्पना की गई है उसी के समकक्ष बौद्ध दर्शन में सम्भोगकाय की धारणा विकसित हुई है। निर्माणकाय को हम अवतार का समकक्ष मान सकते हैं। जिसप्रकार भगवान अवतार लेकर अपने भक्तों का उद्धार करते हैं, उसी प्रकार भगवान बुद्ध निर्माण काय धारण करके जगत का उपकार करते हैं। इस प्रकार का साम्य स्थापित करते हुए भी हमें यह मानना पड़ेगा कि दोनों की धारणाओं में परस्पर बहुत मतभेद भी है।

मध्ययुगीन हिन्दी कवियों पर महायानी बौद्धों के त्रिकायवाद का प्रभाव

त्रिकाय वाद के सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन मैं ऊपर कर चुकी हूं। अब प्रभाव पक्ष पर विचार करना चाहती हूं। प्रभाव का निर्देश करने से

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा-बलदेव उपाध्याय पृ० १६६
२—वही पृ० १६७
३—वही
४—बौद्ध दर्शन मीमांसा—बलदेव उपाध्याय पृ० १६७
५—त्रिंशिका श्लोक ३० पृ० ४३

प्रथम दो एक बातों को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। भगवान् बुद्ध अपने व्यक्तित्व की अपेक्षा धर्म को अधिक महत्व देते थे यह बात भिक्षु वक्कलि और भगवान् बुद्ध के वार्तालाप से प्रकट है। भिक्षु वक्कलि जब एक बार बीमार पड़े तो उन्होंने भगवान् के दर्शन की इच्छा प्रकट की। उनकी इच्छा को पूर्ण करने के लिए भगवान् स्वयं उनके पास गये और उन्हें उपदेश दिया–'वक्कलि मेरी इस गंदी काया के देखने से तुझे क्या लाभ। वक्कलि, जो धर्म को देखता है वह मुझे देखता है।' जो मुझे देखता है वह धर्म को देखता है।' भगवान् के इन वचनों को ही आधार बनाकर महायानियों ने त्रिकायवाद के सिद्धान्त की प्रतिपादना की थी। पहले दोही कायों की कल्पना की गई थी। एक रूप काया की जिसे निर्माण काया भी कहते हैं और दूसरी धर्म काया की। रूप काया या निर्माणकाय भगवान् बुद्ध के भौतिक शरीर के लिए प्रयुक्त किया गया था। महायानियों का कहना है कि त्रिपिटक ग्रन्थों में जिन भगवान् बुद्ध का वर्णन मिलता है वह उनका रूप काय है। इस रूप काय का आश्रय उन्होंने केवल इसलिए लिया था कि लोग यह समझ सकें कि मनुष्य इसी मानव शरीर से सम्बोधि प्राप्त कर सकता है। इस निर्माणकाय को धारण करने का एक लक्ष्य और भी था, वह था लोक का कल्याण करना। इन्हीं लक्ष्यों को लेकर भगवान् ने रूपकाय धारण किया था

भगवान् का दूसरा काय धर्मकाय है। इसे बोधि काय, बुद्धकाय प्रज्ञाकाय आदि नाम भी दिए जाते हैं। 'तथता' शब्द का प्रयोग भी इसी काय के लिये किया जाता है।

डा० भरतसिंह उपाध्याय के शब्दों में महायान में धर्मकाय का तथता के साथ एकाकार करके उसे प्रायः वही रूप दे दिया है जो ब्रह्म को वेदान्त में प्राप्त है।[1]

आगे चल कर द्विकाय वाद का सिद्धान्त त्रिकायवाद के रूप से विकसित हो गया है फलस्वरूप सम्भोगकाय नामक एक नए काय की कल्पना हुई। सम्भोगकाय के सिद्धान्त को विकसित करने का श्रेय बहुत कुछ योगाचारी और महायानी बौद्धों को है। वैदिक दर्शनों में जो स्थान ईश्वर का है वही स्थान है महायान में भगवान बुद्ध के संभोगकाय का है। इसे भगवान बुद्ध का आनन्द मय स्वरूप कहा

१—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ५८५ से उद्धृत्

२—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन–भरतसिंह उपाध्याय पृ० ५८४

जा सकता है जब भगवान तुषित लोक में निवास करते हैं तब उन्हें यह स्वरूप प्राप्त होता है। इस शरीर की तुलना देव शरीर से की जा सकती है।

द्विकाय का प्रभाव:—मध्य युगीन हिन्दी साहित्य पर हमें बौद्धों के द्विकायवाद के सिद्धान्त का प्रभाव सगुण और निर्गुणवाद के रूप में मिलता है। एक बात बड़े महत्व की ध्यान देने योग्य है। वह यह कि परवर्ती वैष्णव विचार धारा में जो भगवान के निर्गुण और सगुण रूपों की चर्चा मिलती है उसका कारण बौद्धों के द्विकाय का प्रभाव ही है।

सगुण और निर्गुण के मेलीकरण की बात बौद्धों के द्विकाय वाद के सिद्धान्त के प्रभाव से ही उत्पन्न हुई थी। जब ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों ने देखा कि बौद्धों ने भगवान बुद्ध के सगुण और निर्गुण इन दो रूपों की कल्पना रूपकाय, और धर्मकाय के अभिधान में की है तो उन्होंने भी अपने ब्रह्म की कल्पना सगुण और निर्गुण के रूप में करनी प्रारम्भ कर दी। ऐसा उन्हें इसलिए करना पड़ा कि व्यावहारिक दृष्टि से निर्गुणवाद बहुत दृढ़ भूमिका पर खड़ा नही हो पा रहा था।

द्विकायवाद और त्रिकायवाद के सिद्धान्तों का निर्गुण काव्य धारा पर प्रभाव—हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा पर बौद्धों का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार भगवान बुद्ध ने वक्कलि को समझाया था कि उन के रूप काय में आस्था न रख कर उनके धर्म काय में आस्था रक्खें, उसी प्रकार निर्गुण संतो का उपदेश था कि भगवान के रूप काय अथवा उनके सगुण रूप से उनका धर्मकाय अर्थात निर्गुण रूप कहीं अधिक श्रेयस्कर है। इसीलिए उन्होंने सर्वत्र रूपकाय का अनादर और धर्मकाय के प्रति आदर का भाव प्रकट किया है। यह धर्मकाय और कुछ नही भगवान का निर्गुण रूप ही है।

संत कबीर ने रूपकाय की अपेक्षा धर्मकाय अर्थात भगवान के सगुण और अवतारी रूप की अपेक्षा निर्गुण रूप को ही अधिक महत्व दिया है। यह बात उनके निम्नलिखित उद्धरणों से प्रकट है। वह कहते हैं— "राम का नाम संसार में सार है। राम का नाम ही अमृत रूप है, राम के नाम से

ही करोड़ों पातक दूर होते हैं। राम का नाम ही विश्वसनीय है। राम का नाम लेकर ही साधु भजन करते हैं। राम का नाम लेकर ही योद्धा युद्ध करते हैं। राम का नाम लेकर ही स्त्री सती होती है। राम का नाम लेकर ही लोग तीर्थ में भ्रमित होते हैं, राम का नाम लेकर ही, मुनि पूजा करते हैं। राम का नाम लेकर ही पानी देते हैं[१], इत्यादि।

राम के नाम की अगाध लीला है कोई खोज करने पर भी उसके महत्व को नहीं समझ सकता। राम का स्मरण विष्णु भी करते हैं, राम के नाम को शिव जी भी जपते हैं, राम का नाम लेकर साधक सिद्ध बन जाते हैं। राम का नाम लेकर ही सिवसनकादि और नारदादि ज्ञानी हो गए हैं। यहां तक कि राम का नाम लेकर ही रामचन्द्र जी भी दृष्टिवान हो गये हैं। राम का नाम लेकर ही वशिष्ठ मुनि मन्त्रदाता बन गए थे। कहां तक कहें राम के नाम की अगाध लीला कोई नहीं जानता। राम का नाम लेकर कृष्ण ने गीता कही है। राम का नाम ही भव सागर में सेतु रूप है। इस प्रकार का राम जिसका वर्णन हमने ऊपर किया है निर्गुण निराकार और ज्योति रूप है। वेद उसकी स्तुति निराकार और निर्गुण रूप में करते हैं। वह राम सत्य रूप है

१—राम का नाम संसार में सार है,
राम का नाम अमृत बानी।
राम के नाम तें कोटि पातक हरै,
राम का नाम विस्वास मानी।
राम का नाम लै साधु सुमिरन करै,
राम का नाम लै भक्ति ठानी।
राम का नाम लै सूर सन्मुख लरै,
पैठि सग्राम मे जुद्धि ठानी।
राम का नाम लै नारि सती भई,
जरी नारि कंत सग खेल उडानी।
राम का नाम लै तीर्थ सब भरमिया,
करत अस्नान झकझोरि पानी।
—इत्यादि क० सा० ज्ञान गुदडी पृ० ९

और उसका रहस्य अनिर्वचनीय है ।[1]

उपर्युक्त उद्धरण में संत कबीर ने राम के जिस रूप का वर्णन किया है उसे हम बौद्धों की शब्दावली में धर्मकाय कह सकते है । जिस प्रकार महायान में रूप काय और संभोग काय को धर्मकाय पर आश्रित बताया गया है तथा धर्मकाय को उन दोनों की अपेक्षा सूक्ष्मतर व्यंजित किया गया है. उसी प्रकार कबीर ने भी राम के निर्गुण रूप को उनके अवतारी, और देवत्व वाले रूप की अपेक्षा सूक्ष्म तथा उत्तमतर व्यंजित किया है ।

कबीर ने और भी अनेक स्थलों पर दाशरथी राम की अपेक्षा निर्गुण राम को ही महत्व दिया है । एक स्थल पर उन्होंने लिखा है —

ना दशरथ घरि औतुर आवा,
ना लंकाकर राव सतावा ।
इत्यादि, क० ग्रं० पृ० २४२

यह उद्धरण लोक प्रसिद्ध है इसमें उन्होने निर्गुण राम को अवतारी राम से भिन्न बताया है । निर्गुण राम धर्मकाय का प्रतीक है और अवतारी राम निर्माण या रूप काय का । इस प्रकार और भी अनेक स्थलों पर कबीर ने भगवान के कहीं पर दो और कहीं पर तीन रूप व्यंजित किए हैं । जहां पर

१—राम का नाम अगाध लीला बडी,
खोजते नहिं हारि मानी ।
राम का नाम लै विस्नु सुमिरन करै,
राम का नाम सिव जोग ध्यानी ।।
राम का नाम ले सिद्ध साधक बने,
सिव सनकादि नारद गियानी ।
राम का नाम लै रामचन्द्र दृष्टिलई,
गुरु वासिष्ठ भये मन्त्र दानी ।।
कहाँ लौ कहौं अगाध लीला रची,
राम का नाम काहू न जानी ।
राम का नाम ले कृस्न गीता कथी,
बांधिया सेत तब मर्म जानी ।।
है कैसो निरगुन निराकार परम जोति,
तासु का नाम निरंकार मानी ।
—इत्यादि क० सा० की ज्ञान गुदड़ी पृ० १०

केवल निर्गुण और अवतारी राम का वर्णना की गयी है वहां पर महायानियों के त्रिकायवाद के सिद्धान्त का प्रभाव माना जायगा और जहां पर उन्होंने अवतारी राम तथा विष्णु रूप या विराट रूप तथा निर्गुण रूप तीनों का वर्णन किया है वहां पर त्रिकायवाद का प्रभाव माना जायगा। इतना होते हुए भी सर्वत्र कबीर ने भगवान बुद्ध के सदृश निर्गुण रूप या धर्मकाय कोटि महत्व दिया है। यदि संतों के निर्गुण ब्रह्म और बौद्धों के धर्मकाय का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो हमें संतों की निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी धारणा बौद्धों के धर्मकाय के सिद्धान्त से बहुत अधिक प्रभावित प्रतीत होगी। इस प्रभाव का स्पष्टीकरण करने के लिए हमें दानो का तुलनात्मक अध्ययन करना पड़ेगा।

बौद्ध दर्शन मे धर्मकाय के संबंध में विद्वानो के मत

धर्मकाय के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास बहुत से ग्रन्थो मे किया गया है। यहाँ पर मैं प्रत्येक ग्रन्थ का दृष्टिकोण संक्षेप मे निर्दिष्ट कर देना चाहती हूँ।

कारिका और सिद्धि में धर्मकाय का वर्णन

इन ग्रन्थो में धर्मकाय के लिए स्वभाव काय का अभिधान प्रयुक्त किया गया है। इनके मतानुसार धर्मकाय अपरिमेय और असीम है। यह सर्वव्यापी भी है। इसमे इसे निर्माणकाय और सभोगकाय की आधार भूमि भी कहा गया है। इन्ही ग्रन्थो में धर्मकाय महापुरुष लक्षण विहीन और निष्प्रपंच कहा गया है। वह अनन्त और शाश्वत रूप है। उसमे सदगुणो की पराकाष्ठा बतलाई जाती है। इन ग्रन्थो मे उसे न तो चिद् रूप माना गया है और न रूप मय कहा गया है फिर भी उसे इन दोनो से विलक्षण भी नही माना गया है इन ग्रन्थो मे धर्मकाय को एक और अद्वैत रूप कहा गया है। उसकी अनुभूति अपने अन्तर मे ही की जा सकती है।

वह अनिर्वचनीय है। उसका वर्णन करने का प्रयास ठीक वैसा ही है जैसा कि अन्धा सूर्य का वर्णन करने का प्रयास करता है।[1]

अष्टसाहस्रिका और प्रज्ञापारमिता—ग्रन्थो मे धर्म काय का स्पष्टीकरण

इन ग्रन्थों मे धर्मकाय के सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण समस्या पर प्रकाश डाला गया है—वह यह कि धर्मकाय भाव रूप है या अभाव रूप। इन ग्रन्थो

१— आसपैक्टस आफ महायान बुद्धिज्म—एन० दत्त पृ० १२४

में धर्मकाय या तथता को अव्यय शाश्वत अपरिवर्तनीय एवं निर्विकल्प कहा गया है। उसकी अभावरूपता कहीं नहीं व्यंजित की गई है। इससे प्रकट होता है कि धर्मकाय या तथता को भाव रूप ही व्यंजित किया गया है।[1] इन ग्रन्थों में धर्मकाय की अधिक व्याख्या करने का प्रयास नहीं किया गया है। क्योंकि ग्रन्थों के लेखकों की धारणा है कि अधिक विवेचन करने से उसका स्वरूप निष्प्रपंच न रहकर प्रपंचमय हो सकता है।[2]

इसी प्रसंग में हम नागार्जुन के तथता विरोध पर भी विचार कर सकते हैं। वे तथागत के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते थे उनकी धारणा थी कि तथागत भावसन्तति की पराकाष्ठा के अतिरिक्त और कोई दूसरी वस्तु नहीं है। अनेक जन्म जन्मान्तर के बाद इस स्थिति की प्राप्ति होती है।[3]

नागार्जुन ने तथागत का तादात्म्य जगत से स्थापित करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि तथता कुशल धर्मों का बिम्ब मात्र है। उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार नागार्जुन ने समस्त असत वस्तुओं का यहाँ तक कि तथागत का अनस्तित्व सिद्ध करके तथागतकाय या धर्मकाय की भावरूपता या आस्तिकता ही व्यंजित की है।[4]

चन्द्रकीर्ति का मत :—चन्द्रकीर्ति नागार्जुन के समर्थक से प्रतीत होते हैं। उन्होंने बुद्ध और धर्म की समता माया और स्वप्न से की है।[5] किन्तु वे तथागत को पूर्ण अभावरूप नहीं मानते थे। उन्होंने लिखा है कि 'तथागत का अनास्तित्व हम सब प्रकार से सिद्ध नहीं कर सकते। ऐसा करने से हम अपवाद के अपराधी होंगे।[6] बाद में उन्होंने धर्म काय

अनिर्वचनीय कहकर छोड़ दिया है। उन्होंने लिखा है बुद्ध को धर्मता के रूप में ग्रहण करना चाहिए क्योंकि उनके केवल धर्मकाय भर हैं। धर्मता अनिर्वचनीय कही जाती है इसलिए तथागत को भी अनिर्वचनीय ही कहेंगे।[7]

१—आसपेक्टस आफ महायान बुद्धिज्म—एन० दत्त पृ० १२४
२— " " " " पृ० १२५
३— " " " " "
४— " " " " पृ० १२६
५— " " " " पृ० १२४, १२६
६—वही
७—धर्मतो बुद्ध दृष्टव्य धर्मकायहि नायकः।
धर्मता चापि अविज्ञेय नसा शक्या विजानितम्। वही पृ० १२६

उपर्युक्त विवेचन का यदि निष्कर्ष प्रस्तुत करना चाहूँ तो वह इस प्रकार होगा –

(१) धर्मकाय भावरूप है।
(२) वह अपरिवर्त्तनीय, शाश्वत और निर्विकल्प रूप है।
(३) वह अनिर्वचनीय है।

योगाचारियों का दृष्टिकोण :—योगाचार मतावलम्बियों ने भी धर्मकाय को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। लंकावतार सूत्र में लिखा है कि भगवान बुद्ध का धर्मकाय निरालम्ब और इन्द्रियातीत है। वह श्रावकों की बुद्धि के परे है। इसका अनुभव प्रत्येक साधक अपने अन्तर में कर सकता है।[1] इसे उसमें बहुत सूक्ष्म अविज्ञेय और शाश्वत रूप कहा गया है।

त्रिंशिका का मत :— त्रिंशिका में धर्मकाय को आश्रय रूप भी कहा गया है। इसी को आलय विज्ञान और क्लेश वर्ण और ज्ञेयावर्ण का समन कर्त्ता कहा गया है[2]।

धर्मकाय के भेद :—प्रो० इचेरबास्की[3] ने धर्मकाय के दो भेद बतलाए हैं—एक स्वभावकाय दूसरे ज्ञानकाय। पहले को विश्वव्यापी नित्य तत्व बतलाया गया है और दूसरे को अनित्य नित्य कहा गया है। यह भेदीकरण बहुत सूक्ष्म है। इसके लिए हम यह कह सकते हैं कि शुद्ध निर्गुण सत्ता को स्वभावकाय कहा गया है और सगुण निर्गुण सत्ता को ज्ञानकाय कहा गया है।

सन्तों की निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी धारणाओं पर धर्मकाय सम्बन्धी विविध धारणाओं का प्रभाव :—धर्मकाय सम्बन्धी धारणाओं के प्रकाश में यदि मैं सन्तों के निर्गुण वाद का अध्ययन करती हूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि धर्मकाय की सम्पूर्ण धारणाओं और सिद्धान्तों ने उसे अपनी पूर्णता में प्रभावित किया था।

कारिका और सिद्धि में वर्णित धर्मकाय के स्वरूप के प्रकाश में सन्तों के निर्गुणवाद का अध्ययन :–ऊपर मैं कारिका और सिद्धि नामक ग्रन्थों के अनुसार धर्मकाय की विशेषताओं का वर्णन कर चुकी हूँ। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं :—

१—वही पृ० १२६, १२७
२—वही
३—आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म पृ० १२०

१—धर्मकाय अपरिमेय, असीम और अनंत है।
२—वह सर्वव्यापी, सर्वगत और सर्वज्ञ रूप है।
३—वह लौकिक महापुरुषों के लक्षणों से रहित हैं।
४—वह न तो चित्तरूप है और न रूपमय है फिर भी उभयात्मक है।
५—वह निर्माणकाय और संभोगकाय की आधार भूमि हैं।
६—वह एक और अद्वैत रूपी भी है।
७—उसकी अनुभूति साधक अपने हृदय में ही कर सकता है।
८—वह अनिर्वेद्य और अनिर्वचनीय है।

संतों की निर्गुण ब्रह्म की धारणा पर धर्मकाय की उपर्युक्त सभी विशेषताओं का प्रभाव दिखाई पड़ता है। धर्मकाय के प्रसंग में पहली विशेषता उसकी अपरिमेयता और असीमता निर्दिष्ट की गई है। संतों ने इस विशेषता की अभिव्यक्ति अधिकतर— 'अविहड़ को अंग' के प्रसंग में की है। कबीर उस निर्गुण परमात्मा का वर्णन करते हुए लिखते हैं—वह परमात्मा आदि मध्य और अन्त सब में अविहड़ है अर्थात असीम अनन्त और अपरिमेय है। भक्त को ऐसे स्वामी का साथ कभी नही छोड़ना चाहिए।[१]

धर्मकाय की दूसरी विशेषता उसका सर्वगत और सर्वव्यापी होना व्यंजित किया गया है। इस विशेषता का प्रभाव भी संतों की निर्गुण ब्रह्म की धारणा पर दिखाई पड़ता है। संत कबीर लिखते हैं साधु एक ही है, परमात्मा सब रूपों में परिव्याप्त हैं, सोच विचार कर देखलो और कोई दूसरा तत्व नही है[२]। इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर कबीर ने लिखा है 'जो उस परमात्मा को सब घट व्यापक जानता है उसे कोई दुविधा नहीं रहती है'[३]। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी निर्गुण ब्रह्म का सर्वव्यापकता पर बल दिया है। स्थानाभाव के कारण केवल प्रतिनिधि संत कबीर का ही मत उद्धृत कर रही हूं।

१—आदि मधि अरु अन्त लौं, अविहड़ सदा अभंग।
कबीर उस करता की, सेवक तजै न संग॥
—क० ग्रं० पृ० ८३

२—साधो एक रूप सबमाहीं
अपने मनहि विचार कै देखो अरु दूसरे नाही॥
—क० शब्दावली पृ० ६७

३—सब घट एक ब्रह्म को जानै दुविधा दूर भगावै।
—क० शब्दावली पृ० १०७

उपर्युक्त ग्रन्थों में धर्मकाय की तीसरी विशेषता लौकिक महापुरुषों के लक्षणों से रहितत्व व्यंजित की गई है। संतों पर इस तीसरी विशेषता की भी छाया दिखाई पड़ती है। सन्त कबीर ने एक स्थल पर उस निर्गुण ब्रह्म को बिना देह का पुरुष कहा है। बिना देह के पुरुषवाली बात धर्मकाय की ओर ही संकेत कर रही है। महापुरुष के जो लक्षण बताए जाते हैं वे देहधारी पुरुष में ही हो सकते हैं। जिस पुरुष के देह ही नहीं है उस पुरुष में महापुरुष के लक्षण कहां से आयेंगे।

धर्मकाय न तो चिद्‌रूप है, न रूपमय है, फिर भी उभयात्मक है, इस विशेषता की भी हल्की छाया संतों की निर्गुण ब्रह्म धारणा पर कहीं कहीं दिखलाई पड़ जाती है। कबीर का निम्नलिखित ब्रह्म वर्णन इसी से प्रभावित प्रतीत होता है। इनके अतिरिक्त इस पद पर धर्मकाय की अन्य विशेषताएँ भी प्रतिबिंबित प्रतीत हो रही हैं[2]।

> अलख निरंजन लखै न कोई, निरभै निराकार है सोई।
> सुनि असथूल रूप नही रेखा, द्रिष्टि अद्रिष्टि नहीं पेखा।
> बरन अबरन कह्यौ नही जाई, सकल यतीत घट रह्यो समाई॥
> आदि अंति ताहि नही मधे कथयौ न जाई आहि अकथे।
> अपरंपार उपजै नही विनसै, जुगति न जानियें कथिये कैसे।

सिद्धि और कारिका नामक ग्रन्थों में धर्मकाय की एक विशेषता यह भी बतलाई गई है कि वह निर्वाणकाय और संभोगकाय इन दोनों की आधार भूमि है। दूसरी शब्दों में कहा जा सकता है कि धर्मकाय दोनों कायों की अपेक्षा सूक्ष्मतम अवस्था है।

संतों की निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी धारणा धर्मकाय की इस विशेषता से भी प्रभावित थी। यह बात संत कबीर की निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट है—"राम का नाम लेकर दाशरथी रामचन्द्र ने दृष्टिलाभ की थी, राम का ही नाम लेकर वशिष्ठ मुनि मंत्रदाता गुरु बने थे। कहां तक कहा जाय राम की महिमा अपार है। राम का नाम लेकर कृष्ण ने गीता लिखी थी जो लोगों के लिए भवसागर में सेतु रूप है। वह राम निर्गुण, निराकार, और परम

१—बिन पावन का पथ है, बिन बस्ती का देस।
बिना देह का पुरुष है कहै कबीर सदेस॥
—क० साखी सग्रह भाग १, २ पृ० ११५

२—क० ग्रं० पृ० २३०

ज्योतिरूप है। वेद उसको 'रूपविन' कहकर उसकी स्तुति करते हैं। विष्णु जी उनका स्मरण करते हैं, और शिव उन्हीं का ध्यान लगाकर योग साधना करते हैं। वेदान्त में इन्हीं राम का प्रतिपादन किया गया है। कबीर कहते हैं कि साधक को उस व्यक्ति की खोज करनी चाहिये जो इस प्रकार के राम का नाम पृथ्वी पर लाया है[1]। इन पक्तियों में संत कबीर ने जिस वेदान्त के प्रतिपाद्य निर्गुण राम का वर्णन किया है वह उनका धर्मकाय ही है। दाशरथी राम उसका निर्माणकाय रूप है। विष्णु और शिव आदि उनके संभोगकाय के रूप हैं। यहा पर निर्गुण राम या राम के धर्मकाय को दाशरथी राम अर्थात् निर्माणकाय और विष्णु शिवादि संभोगकाय की अपेक्षा सूक्ष्मतर व्यंजित किए गए है। सच तो यह है कि निर्गुण राम को ही दाशरथी राम तथा विष्णु आदि का अवलम्ब रूप व्यंजित किया गया है[1]।

-कारिका और सिद्धि नामक ग्रन्थों के अनुसार धर्मकाय की छठी विशेषता उसकी एकता और अद्वैतता है। धर्मकाय की यह विशेषता भी सन्तों के निर्गुण राम में पाई जाती है। उन्होने अपने राम को सर्वत्र एक और अद्वैत रूप व्यंजित किया हैं। एकता और अद्वैतता के लिए हम कबीर की निम्नलिखित पक्तियां ले सकते है– कबीर कहते हैं– सोहं हंसा सब में समान है। जो भेद दिखाई पड़ता है वह काया के कारण है जिस प्रकार एक मिट्टी से सैकड़ों प्रकार के वर्तन बनते है: उसी प्रकार एक धर्मकाय के सैकड़ों निर्माणकाय होते है।[2]

कुछ ग्रन्थों में धर्मकाय की सातवीं विशेषता एक और बताई गई है।

१—राम का नाम लै रामचन्द्र दृष्टि लइ, गुरू वशिष्ट भये मंत्र दानी ॥
कहां लौ अगाघ लीला रची, राम का नाम काहू न जानी ॥
राम का नाम लै कृस्न गीता कथ्यो, बांधियां सेत तब मर्म जानी ॥
है कैसो निरगुन निराकार परम जोति तासु को नाम निरंकार मानो ॥
रूप बिन रेख बिन निगम अस्तुति करै, सत्त की राह अकथ कहानी।
विस्नु सुमिरन करै सिव लोग जा को धरै, भनै सब ब्रह्म वेदान्त गाया ॥
सनकादि ब्रह्मादि कोइ पार पावै नहीं, तासु का नाम कह राम राया।
कहै कबीर वह सकल तहकीक कए, राम नाम जो प्रथी लाया ॥
—क० सा० ज्ञान गुदड़ी। पृ० १०

२—सोहं हंसा एक समान, काया के गण आनहि आन।
माटी एक सकल संसारा, बहु विधि भाड़े घड़ै कुमारा ॥
—क० ग्र० पृ० १०५

वह यह कि साधक अपने हृदय में ही उसकी अनुभूति कर सकता है। धर्मकाय की इस विशेषता से भी संत लोग बहुत प्रभावित हुए थे। संत कबीर ने लिखा है जिस परमात्मा का प्रकाश सर्वत्र दिखलाई पड़ता है उसकी खोज घट में ही की जा सकती है[१]। इसी प्रकार एक और भी स्थल पर कबीर ने उपदेश दिया है—अय साधक तू आस्मान का आसरा छोड़ दे। उलट कर अपने घर में ही उस परमात्मा को देख। बाह्य मानसिक कल्पनाओं का परित्याग कर अपने आप में ही उस परमात्मा की खोज कर।[२] इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण संतों में मिलते हैं जिनमें अपने घट में ही निर्गुण परमात्मा को खोजने का उपदेश दिया गया है।

धर्मकाय की आठवीं विशेषता उसकी अनिर्वचनीय और अनिर्वेद्यता है। संतों ने अपने निर्गुण ब्रह्म को भी सब प्रकार से अनिर्वचनीय और अनिर्वेद्य व्यंजित किया है। संत कबीर का एक शब्द है—"यह आध्यात्म तत्व इतना गंभीर है कि उसका वर्णन करते नहीं बनता। अगर उसको बाहर कहते हैं तो सतगुरु को लज्जा आती है और भीतर कहते हैं तो भी ठीक नहीं है। यह तो बाहर भीतर सर्वत्र गुरु के प्रताप से अनुभव किया जा सकता है। वह इतना अनिर्वेद्य है कि न तो दृष्टि से देखा जा सकता है न मुट्ठी से पकड़ा जा सकता है और न पुस्तक में लिखा जा सकता है।' उसका रहस्य तो वही जानता है जिस ने उसका अनुभव कर लिया है। यदि कोई अनुभवी उसका वर्णन करने का प्रयास करे तो कोई विश्वास नहीं करेगा। जिस प्रकार जल में मछली के मार्ग का पता लगाना कठिन है उसी प्रकार उन परम तत्व का अनुभव करना कठिन है। वह फूल की सुगन्ध से भी सूक्ष्मतर है। जिस प्रकार आकाश में उड़ जाने वाले पक्षी का पता नहीं चलता उसी प्रकार उस

१—सकल विस्तार परकास जाते भया
साईं घट माँहि निज तन्त्र धानी।

क० सा० ज्ञानगुदड़ी पृ० १४

२—आसमान का आसरा छोड़ प्यारे,
उलटि देखो घट अपना जी।
तुम मे आप तहकीक करो,
और छोड़ दो मन की कल्पना जी।

क० सा० ज्ञानगुदड़ी पृ० ५८

परमात्मा का पता नहीं लग पाता। सतगुरु की कृपा से कोई विरला ही उस सतपद का अनुभव कर पाता है।[1] इस प्रकार के और भी सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं जिनमें संतों ने अपने निर्गुण राम की अनिर्वचनीयता और अनिर्वेद्यता व्यंजित की है।

धर्मकाय की अन्य दी गई विशेषताओं का संतों की निर्गुण ब्रह्म धारणा पर प्रभाव :—अष्ट साहस्रिका और प्रज्ञापारमिता नामक ग्रन्थों में जैसा कि मैं ऊपर दिखा आई हूँ धर्मकाय की तीन विशेषताओं पर बल दिया गया है।—

१—वह अव्ययतत्व है।
२—वह शाश्वत तत्व है।
३—वह निर्विकल्प तत्व है।

नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति नामक आचार्यों ने धर्मकाय की दो विशेषताओं पर बल दिया है— १ द्वैताद्वैत विलक्षणता २—अनिर्वचनीयता।

लंकावतार सूत्र[2] में धर्मकाय की जिन दो विशेषताओं को महत्व दिया गया है वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

१—निरालंबता।
२—इन्द्रियातीतता।
३—त्रिंशिका नामक ग्रन्थ में धर्मकाय को आश्रय रूप भी व्यंजित किया गया है।

१—ऐसा लो तत ऐसा लो, मैं केहि विधि कथौ गभीरा लो।।
बाहर भीतर कहौं तो सतगुरु लाजै, भीतर कहौं तो झूठा लो।
बाहर भीतर सकल निरंतर, गुरु परतापें दीठा लो।।
दृष्टि न मुष्टि न अगम अगोचर, पुस्तक लिखान जाई लो।
जिन पहिचाना तिन भल जाना, कहे न को पतियाई लो।।
मीन चलै जल मारग जो वैं, परम तत्त धौं कैसा लो।।
पहुप बास हूं तै कछु झीना, परम तत्त धौं ऐसा लो।
आकासे उड़ि गयौ विहंगम, पाछे खोज न दरसी लो।।
कहै कबीर सतगुरु दाया तैं, विरला सतपद परसी लो।।
—क० सा० शब्दावली पृ० ८६ भाग १

२—आस्पेक्टस आफ महायान बुद्धिज्म-एन दत्त पृ० १२६ १२७
३— ,, ,, ,, ,, ,, ,,

संतों की निर्गुण ब्रह्म धारणा धर्मकाय की उपर्युक्त विशेषताओं से भी प्रभावित दिखलाई पड़ती हैं। संतों ने अपने निर्गुण ब्रह्म को धर्मकाय के सदृश अव्यय और शाश्वत तत्व सिद्ध करने के लिए उसे प्राय: सृष्टि के पूर्व से वर्तमान सिद्ध किया है। उदाहरण के लिए हम संत कबीर का निम्नलिखित कथन ले सकते हैं–"वह निर्गुण परमात्मा उस समय भी वर्तमान था जब पवन और पानी का भी अस्तित्व नही था। उस समय सृष्टि भी उत्पन्न नही हो पाई थी। उस समय मनुष्य और उसके निवास स्थान की भी रचना नही हुई थी। उस समय पृथ्वी और आकाश भी नही रचे गए थे। तब गर्भादि की भी बात नही उठ पाई थी। उस समय कली और फूल का भी भेद स्पष्ट नही हो पाया था। उस समय तक शब्द और स्वाद का भी बोध नहीं हो पाया था। उस समय तक विद्या और वादों की चर्चा नही उठ पाई थी। गुरू और चेलों का सम्बन्ध भी नहीं वर्तमान था। ऐसे समय में भी वह अनिर्वचनीय निर्गुण तत्व वर्तमान था। उस अविगति की गति का कैसे वर्णन किया जाय। उसका न कोई गांव था, न कोई नाम था, उस समय उसका कोई गुरू भी नही था जो उसको बोध कराने का प्रयास करता।'

जहां तक निर्विकल्पकता निरालवंता की बात है संतो ने अपने निर्गुण ब्रह्म को धर्मकाय के सदृश निर्विकल्पक और निराधार भी कहा है। कबीर की निम्नलिखित पंक्तियां देखिए[२] —

> अरचित अविगत है निरधारा। जाण्यां जाइ न वार न पारा॥
> लोक वेद थैं अछे नियारा। छाड़ि रह्यौ सबही संसारा॥
> जसकर गांउ न ठांउ न खेरा। कैसे गुन बरन मैं तेरा।

१—जब नही होत पवन नही पानी। जब नही होती सृष्टि उपानी॥
जब नही होते प्यण्ड न वासा। तब नही होते धरनि आकासा॥
जब नही होते गरभ न मूला। तब नही होते कली न फूला॥
जब नही होते सबद न स्वाद। तब नही होते विद्या न बाद॥
जब नही होते गुरु न चेला। गम अगमें पंथ अकेला॥
—क० ग्र० पृ० २३८

अवगति की गति का कहूं उस का गांव न नावं
गुन बिहून का पेखिये काकर धरिए नाव॥
क० ग्रं० पृ० २३९

२—क० ग्रं० पृ० २४२

नहीं तहां रूप रेख गुन बांनां। ऐसा साहिब है अकुलाना ॥
नहो सों ज्वान न विरध नही वारा। अपै आप ग्रापन पौतेणा ॥

इस अवतरण के आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि संतों की निर्गुण ब्रह्म धारणा पर बौद्धों के धर्मकाय की सर्वातीतता, निरालंबता आदि विशेषताओं की भी छाया पड़ी है। इस प्रकार धर्मकाय सम्बन्धी धारणा ने संतों के निर्गुण ब्रह्मवाद को बहुत अधिक प्रभावित किया था। मैं तो यह कह सकती हूं कि संतों का निर्गुण ब्रह्म बौद्धों के धर्मकाय का ही उपनिषदिक रूपांतर है।

सन्तों पर निर्माण काय का प्रभाव :—सन्तों पर हमें बौद्धों की निर्माणकाय की धारणा का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार बौद्ध लोग कहते हैं कि बुद्ध लोक कल्याणार्थ निर्माणकाय धारण करते हैं उसी प्रकार कबीर आदि सन्तों ने भी अनेक बार ऐसा ध्वनित किया है कि उन्होंने मानव शरीर केवल लोक कल्याणार्थ ही धारण किया है। एक स्थल पर कबीर ने घोषणा की है-'कबीर संसार में यह सन्देश लाए हैं कि शब्द साधना करके मनुष्य उस सत्त लोक को पहुँच सकते हैं'।[1] इसी भाव की पुनरावृत्ति एक दूसरे स्थल पर भी की है[2]। इसी प्रकार अन्य स्थल पर उन्होंने लिखा है—'भगवान ने यही विचार किया कि कबीर शरीर धारण करके लोगों को साखियों के सहारे उपदेश दे ताकि लोगों का उद्धार हो जावे।'[3] उपर्युक्त उद्धरणों पर एक ओर तो बौद्धों की निर्माण काय सम्बन्धी धारणा का प्रभाव है और दूसरी ओर इस्लाम के पैगम्बर वाद की छाया है।

सन्तो पर सम्भोगकाय का प्रभाव :—सम्भोगकाय बुद्ध का वह रूप है जो तुषित लोक में प्रतिष्ठित रहता है। सन्तों ने तुपित लोक सदृश सत्त लोक की कल्पना की है और सम्भोगकाय के रूप मे 'हंस' की कल्पना की है। कबीर लिखते हैं :—

१—दास कबीर ले आए संदेसवा।
सार शब्द गहि चलो वहि देसवा॥
—क० शब्दावली भाग १ पृ० ७१

२—जुगन जुगन हम आइ चिताए सार शब्द उपदेसा।
—क० श० भाग ३ पृ० ५

३—साईं यहं विचारिया साखी कहै कबीर।
भवसागर के मध्य में कोई पकड़े तीर।
—क० ग्रं० पृ०

कहै कबीर पुकारि सुनो मन भावना।
हंसा चलु सतलोक बहुरि नहि आवना[1]।।

सम्भोग काय की कल्पना का प्रभाव देववाद के रूप में भी दिखाई पड़ता है। बहुत से स्थलों पर उन्होंने निर्गुण राम को विष्णु शिव आदि का अधिष्ठाता व्यंजित किया है।[2] विष्णु शिव आदि के इस प्रकार वर्णनों पर बौद्धों के सम्भोगकाय का ही प्रभाव है इस प्रकार यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि संत लोग बौद्धों की त्रिकायवाद धारणा से बहुत प्रभावित थे।

सूफी काव्य धारा पर त्रिकायवाद का प्रभाव

यों तो सूफी काव्यधारा के कवि सूफी साधना से अधिक प्रभावित हुए थे, बौद्ध विचार धारा से कम किन्तु तान्त्रिक बौद्धों की प्रेरणा और सम्पर्क से उनमे भी बहुत से बौद्ध तत्व समाविष्ट हो गए हैं। खोज करने पर सूफी कवियों पर हमें त्रिकायवाद की भी धूमिल छाया दिखाई पड़ती है।

वैसे तो जायसी के निर्गुण ब्रह्म के वर्णन बहुत कुछ एकेश्वर वाद से प्रभावित हैं किन्तु कही कहीं उन पर प्रतिच्छाया धर्मकाय की भी दिखाई पड़ जाती हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ ले सकती हू— उस निर्गुण परमात्मा का कोई रूप नहीं है किन्तु उससे विलक्षण तत्व भी कोई नही है। उसका कोई एक स्थान नही है और कोई ऐसा स्थान भी नही है जहाँ वह व्याप्त न हो। उसके रेख रूप आदि कुछ नहीं है फिर भी उसका नाम बड़ा पावन है। वह न तो मिला हुआ है और न भिन्न ही है। अन्तर्दृष्टि रखने वालों के लिए वह समीप है किन्तु अज्ञानी उसको समझ नही पाते[3]। एक दूसरे स्थल पर उन्होने उसकी शाश्वतता का संकेत भी उसी ढंग पर किया है जिस ढंग पर बौद्ध ग्रन्थों में धर्मकाय की शाश्वतता का वर्णन मिलता है। जायसी लिखते हैं— 'वह सृष्टि के पूर्व भी वर्तमान था

१—कबीर साहब की शब्दावली भाग १ पृ० ७६
२—देखिए कबीर साहब की ज्ञान गुदड़ी पृ० १०
३ – है नाही कोइ ताकर रूपा। ना ओहिसन कोइ आहि अनूपा।।
न ओहि ठाउं न ओहि बिनठाउं रेख बिन निर्मल नाऊं।।
न वह मिला न बेहरा, ऐस रहा भरपूरि।
दीठि वन्त कह नीयरे, अन्ध मूरखहि दूरि।।
—आ० ग्रं० पृ० ३

और अब भी वर्तमान हैं प्रलय के बाद भी वही रह जाता है'।[1] धर्मकाय से प्रभावित इन वर्णनों के अतिरिक्त सूफी काव्य धारा के कवियों पर त्रिकाय वाद का और कोई विशेष प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता।

राम काव्य धारा के कवियों पर त्रिकायवाद का प्रभाव

राम काव्य धारा के कवियों पर विशेषकर तुलसी पर बौद्धों के त्रिकाय वाद के सिद्धान्त का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इस प्रभाव को स्पष्ट करने के लिए हमें तुलसी के रूप की मीमांसा करनी पड़ेगी। तुलसी के राम की बड़ी सुन्दर मीमांसा डा० बलदेव प्रसाद मिश्र ने अपने 'तुलसी दर्शन' मे की है, किन्तु उन्होंने कही पर भी यह नहीं बताया है कि तुलसी की राम सम्बन्धी धारणा बौद्धों के त्रिकायवाद के सिद्धान्त से प्रभावित है। इसका कारण सम्भवतः यह था कि वे राम के वैदिक स्वरूप का ही उद्घाटन करना चाहते थे। उन पर बौद्ध प्रभाव प्रदर्शित करना उन्हें अभीष्ट नही था।

जिस प्रकार बौद्ध दर्शन में धर्मकाय, सम्भोगकाय और निर्माणकाय इन तीन स्वरूपों में भगवान बुद्ध की कल्पना की गई है उसी प्रकार तुलसी ने अपने राम का वर्णन निर्गुण ब्रह्म के रूप मे, सगुण शरीरी परमात्मा के रूप में, तथा मर्यादापुरुषोत्तम के रूप में किया है। बुद्ध के सदृश ही राम के इन तीनों रूपों की कल्पना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि तुलसी बौद्धों के त्रिकाय वाद के सिद्धान्त से बहुत अधिक प्रभावित थे। इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए मैं राम के तीनों रूपों की तुलना बुद्ध के तीनों कायों से करूंगी।

तुलसी के निर्गुण ब्रह्म और धर्मकाय—सन्तों ने निर्गुण राम पर धर्म काय का प्रभाव प्रदर्शित करते समय मैं धर्मकाय की भिन्न भिन्न ग्रन्थों में वर्णित विशेषताओं का वर्णन कर चुकी हूँ। अतएव यहां पर मैं पुनः उनको दोहराना नहीं चाहती। अब मैं केवल तुलसी के निर्गुण राम पर उन विशेषताओं का प्रभाव प्रदर्शित करूंगी जो बौद्धों के धर्मकाय के प्रसंग में निर्दिष्ट की गई हैं।

बौद्ध आचार्यो ने धर्मकाय की निम्नलिखित विशेषताओं का निर्देश किया है—

१—हुत पहिले अरु अब हूं सोइ। पुनिको रही नहि कोइ ॥
—जा० ग्रं० पृ० ३

१—धर्मकाय अपरिमेय अनंत और असीम है।
२—वह सर्वव्यापी सर्वगत, और सर्वज्ञ है।
३—वह लौकिक महापुरुषों के लक्षणों से रहित है।
४—वह निर्माणकाय और सम्भोगकाय की आधार भूमि है।
५—वह एक और अद्वैतस्वरूप है।
६—उसकी अनुभूति साधक अपने हृदय में ही कर सकता है।
७—वह अनिर्वच और अनिर्वचनीय है।
८—वह अव्यय और शाश्वत तत्व है।
९—वह निरालम्ब है।
१०—वह निर्विकल्पक तत्व है।
११—वह इन्द्रियातीत है।

तुलसी ने जिस निर्गुण ब्रह्म का वर्णन किया है उसमें लगभग सभी विशेषताएं प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ती हैं। धर्मकाय के सदृश तुलसी ने अपने निर्गुण ब्रह्म को अनंत और असीम आदि व्यंजित किया है[१]।

"व्यापक व्याप्य अखण्ड अनन्ता, अखिल अमोघ शक्ति भगवन्ता।"

दूसरी विशेषता का प्रभाव निम्नलिखित पंक्तियों पर दिखाई पड़ता है[२]—

एक अनीह अरूप अनामा, अज सचिदानन्द परधामा।
व्यापक विश्व रूप भगवाना, तेहि धर देह चरित कृतनाना॥

जहाँ तक तीसरी विशेषता की बात है वह निर्गुण ब्रह्म के सम्बन्ध में स्वतः सिद्ध है। जो निराकार और अशरीरी है उसमें महापुरुष के शरीर के लक्षण कहाँ से हो सकते हैं। इस अशरीरी का वर्णन तुलसी ने निम्नलिखित पंक्तियों में किया है[३]—

निर्मम निराकार निर्मोही नित्य निरंजन सुख सन्दोहा।
प्रकृति पार प्रभु सब उरवासी ब्रह्म निरीह विरज अविनाशी॥

इस विशेषता का वर्णन तुलसी ने एक ओर तो राम को विष्णु से अधिक महत्व देकर सम्भोगकाय का धर्मकाय पर आश्रित होना

१—तुलसी दर्शन पृ० १३४ से उद्धृत।
२—रामचरित मानस-गीता प्रेस मोटा टाइप पृ० २१
३—तुलसी दर्शन से उद्धृत पृ० १६४।

व्यंजित किया है और दूसरी ओर दाशरथि राम को निर्गुण राम का अवतार बताकर निर्माणकाय पर आश्रित होना संकेत किया है। सम्भोग-काय के प्रतीक ब्रह्मा विष्णु फणीन्द्र आदि किस प्रकार धर्मकाय के प्रतीक निर्गुण राम के आश्रित हैं यह बात तुलसी के निम्नलिखित कथन से प्रकट है[1]--"मैं उन रघुनाथ जी की वन्दना करता हूँ जो शांत, सनातन, अप्रेमय, निष्पाप, मोक्षरूप परम शान्ति देने वाले तथा शम्भु, ब्रह्मा, विष्णु और शेष जी से निरन्तर सेवित हैं।" 'इस उद्धरण में वर्णित निर्गुण राम पर धर्मकाय की ओर भी विशेषताओं का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार धर्मकाय के निर्गुण राम को निर्माणकाय के प्रतीक दाशरथि राम को निर्गुण राम का ही अवतार बताया गया है। मानस की निम्नलिखित पंक्तियों से यह बात प्रकट है[2]।

सुख संदोह मोह पर ज्ञान गिरा गोतीत।
दम्पति परम प्रेम वश कर शिशु चरित पुनीत।।

इस प्रकार यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि तुलसी ने जिस निर्गुण राम का वर्णन किया है वह धर्मकाय का प्रतीक है। उनके दशरथि राम जो निर्माण काय के प्रतीक है तथा ब्रह्मा विष्णु आदि जो सम्भोग काय के प्रतीक हैं सब उसके आश्रित है।

जहाँ तक एकता और अद्वैतरूपता की बात है उस पर तुलसी ने कई बार प्रकाश डाला है[3]। मानस में वह लिखते हैं "वह परमात्मा अनीह, अरूप, अनाम, सच्चिदानन्द और परधाम रूप है।"

जहाँ तक घट के अन्दर निर्गुण परमात्मा को ढूँढने की बात है उससे तुलसी अधिक सहमत नहीं थे। वह अन्तर्यामी से बाहिर्यामी की खोज करना अधिक समीचीन समझते थे। उनकी निम्नलिखित पंक्तियां लोक प्रसिद्ध भी हैं—

१—शान्तं शाश्वतम् प्रेमयमनघं निर्वाण शान्तिप्रदं।
ब्रह्मा शम्भु फणीन्द्र सेव्यमनिशं वेदान्त वेद्यं विभुम्।
—रामचरित मानस, गीता प्रेस, मोटा टाइप पृ० ७९३

२—रामचरित मानस गीता प्रेस मोटा, टाइप पृ० २०९

३—एक अनीह अरूप अनामा, अज सच्चिदानंद परधामा।।
—तुलसी दर्शन से उद्धृत पृ० ११४

अन्तरजामिहुँ ते बड़ बाहिरजामी रामजु नाम लिए ते।
पैज परे प्रह्लादहु के प्रकटे प्रभु पाहन ते न हिए ते॥

अतएव धर्मकाय की मानव हृदय में वर्तमान रहने वाली विशेषता को तुलसी ने अधिक महत्व नहीं दिया।

तुलसी के निर्गुण राम बौद्धों के धर्मकाय के सदृश अनिर्वेद्य और अनिर्वचनीय भी हैं। यह बात मानस की निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट प्रमाणित होती है—हे राम तुम्हारा स्वरूप बुद्धि के परे है, मानव वाणी के परे है। सब प्रकार से अविगत है, अनिर्वचनीय है यहाँ तक कि वेद भी नेति नेति कहते हैं।[1]

तुलसी के निर्गुण राम में बौद्धों के धर्मकाय की शाश्वतता वाली विशेषता भी प्रतिबिम्बित मिलती है। जिस प्रकार बौद्धों ने धर्मकाय को अव्यय, शाश्वत और नित्य रूप कहा है उसी प्रकार तुलसी ने भी अपने निर्गुण राम को नित्य और अनादि कहा है:—

'नित्य निरञ्जन सुख सनदोहा'।[2]

राम ब्रह्म परमारथ रूपा तथा अविगत अलख अनादि अनूपा।
सकल विकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं वेदा।।[3]

उपर्युक्त उद्धरण पर हमे धर्मकाय की निर्विकल्पकता वाली विशेषता भी प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ती है। इस प्रकार मैं कह सकती हूँ कि बौद्धों के धर्मकाय की अधिकाश विशेषताएँ तुलसी के निर्गुण राम में प्रतिबिम्बित मिलती है।

बौद्धो की संभोगकाय वाली धारणा और राम काव्य पर उसका प्रभाव

सम्भोगकाय के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न बौद्ध ग्रन्थों की धारणा भी भिन्न भिन्न है। अभिसमयालंकार कारिका के अनुसार यह भगवान् बुद्ध का निर्माणकाय की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मतर रूप है। बुद्ध इस काय को कठिन आध्यात्मिक सिद्धान्तों को समझाने के लिए धारण करते थे। सिद्धि नामक ग्रन्थ में संभोगकाय का कुछ अधिक स्पष्टीकरण किया गया है। इसमें संभोग

१—राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर।
अविगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह।
—तुलसी दर्शन पृ० १६४ से उद्धृत।

२—तुलसी दर्शन पृ० १३४ से उद्धृत।

३—वही।

काय के दो भेद बतलाए गए है एक सम्भोगकाय और दूसरे पर-संभोगकाय। यह दोनों भगवान् बुद्ध के सगुण रूप है। यह दोनों ही तेजोमय है। अंतर केवल इतना है कि एक के दर्शन केवल बोधिसत्व ही कर सकते हैं जबकि दूसरे के दर्शन किसी भी काल, देश और स्थान के बुद्ध लोग कर लेते हैं। सम्भोगकाय के वर्ण रूप और आकार सब कुछ होता है। तथागत इस रूप को तुषित लोक में धारण करते हैं।

सम्भोग काय के उपर्युक्त विवरण से प्रकट होता है कि वह भगवान् का तेजोमय सगुण स्वरूप है। इसकी धारणा वेदान्त के ईश्वर से बहुत मिलती जुलती है।

तुलसी ने राम के निर्गुण रूप के अतिरिक्त उनके महाविष्णुत्व रूप का भी उद्घाटन किया है। राम का यह विष्णुत्व रूप बौद्धों की संभोगकाय वाली धारणा से बहुत मिलता जुलता है। जिस प्रकार भगवान् बुद्ध का सम्भोगकाय तुषित लोक में अवतारित होता है उसी प्रकार तुलसी के राम के विष्णुत्व रूप की स्थिति वैकुण्ठ और क्षीर सागर में बताई गई है। उनकी वंदना 'सिन्धुसुता प्रियकंता' कहकर की गई है। जिस प्रकार संभोग काय में बौद्धों ने महा पुरुष के लक्षणों का होना व्यंजित किया है उसी प्रकार तुलसी ने अपने विष्णु रूप में भृगु के चरण चिन्हों की बात कही है।

निर्माण काय और तुलसी के दाशरथि राम .—बौद्ध ग्रन्थों में लिखा है कि भगवान् बुद्ध लोक कल्याणार्थ ही निर्माणकाय धारण करते हैं। क्योंकि धर्मकाय और सम्भोगकाय से वह सामान्य मानव समाज का कल्याण नही कर सकते। निर्माणकाय माता पिता से उद्भूत शरीर को कहते हैं। बौद्धों की इस धारणा से भी महात्मा तुलसी दास बहुत अधिक प्रभावित प्रतीत होते है। तुलसी ने अपने रामावतार का कारण लोक कल्यार्ण ही व्यंजित किया है।—गीता के 'यदा यदा ही धर्मस्य, वाला सिद्धान्त लोक कल्यार्थ निर्माण काय धारणा करने वाले सिद्धान्त का ही प्रतिरूप है। तुलसी ने भी राम के अवतार का कारण लोक कल्याण ही व्यंजित किया है। गीता के सदृश उन्होंने भी लिखा है कि जब जब धर्म की हानि होती है और संसार में अनेक प्रकार के पापी उत्पन्न हो जाते हैं, तब तब मैं मनुष्य का शरीर धारण करके अपने

भक्तों का उद्धार करता हूं'।[1] इसी प्रकार की कथा राम जन्म की है। उसमें तुलसी ने लिखा है कि जब संसार में राक्षसों के उत्पन्न होने से अनेक पापों का विस्तार होने लगा और पापी बढ़ने लगे तो पृथ्वी घबड़ा कर सोचने लगी कि मुझे पर्वतों, नदियों, और समुद्र का उतना बोझ मालूम नहीं पड़ता जितना पर द्रोही का। वह रावण के भय से कुछ कह भी नहीं पाती थी, तब बिचारी गौ का रूप धारण करके वहाँ गई जहाँ देवता और मुनि थे। उसने अपना दु.ख कह सुनाया किन्तु वे बिचारे उसकी सहायता करने में असमर्थ थे। अतएव ब्रह्मा जी के पास गये। ब्रह्मा जी ने सब देवताओं को धर्मकाय के प्रतीक निर्गुण रूप और सम्भोगकाय के प्रतीक महाविष्णुत्व रूप की स्तुति करने का उपदेश दिया।

पहले उन्होंने सम्भोगकाय के प्रतीक रूप महाविष्णुत्व की स्तुति की है और बाद में धर्मकाय के प्रतीक निर्गुण ब्रह्म की स्तुति की है। दोनों स्तुतियाँ क्रमशः इस प्रकार हैं—"हे देवताओं के स्वामी, सेवकों को सुख देने वाले, शरणागत की रक्षा करने वाले भगवन्, आपकी जय हो। हे गौ ब्राह्मणों का हित करने वाले, असुरों का विनाश करने वाले, समुद्र की कन्या के प्रिय स्वामी आपकी जय हो। हे देवता और पृथ्वी का पालन करने वाले आप की लीला अद्भुत है उसका भेद कोई नही जानता। ऐसे जो स्वभाव से ही कृपालु और दीन दयालु हैं वही हम पर कृपा करें।"[2] इन पंक्तियों की यदि बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित सम्भोगकाय से तुलना की जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि तुलसी ने नए ढग से उसकी पुर्नस्थापना की है। दूसरी स्तुति धर्मकाय के प्रतीक निर्गुण राम से सम्बन्धित है। देवता लोग उनकी स्तुति करते हुए कहते हैं-"अविनाशी सबके हृदय मे निवास करने वाले, सर्वव्यापक परम आनन्द रूप अज्ञेय, इन्द्रियों से परे पवित्र चरित्र, माया रहित निर्वाण दाता आपकी जय हो। इस लोक और परलोक से परे, मोह से सर्वदा

१—जब जब होइ धरम कै हानी। बाढहिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहि बरनी। सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥
-राम चारित मानस सटीक-गीता प्रेस, मोटा टाइप पृ० १३४, १३५

२—जय जय सुरनायक जन सुखदायक प्रनतपाल भगवंता॥
गो द्विज हितकारी जय असुरारी सिंधुसुता प्रिय कंता॥
पालन सुर धरनी अद्भुत करनी मरम न जानइ कोइ।
जो सहज कृपाला दीन दयाला करउ अनुग्रह सोइ॥

निर्मुक्त, मुनियों के द्वारा नित्य प्रति उपासित हे सच्चिदानन्द प्रभु तुम्हारी जय हो।[1] कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस छोटी सी चार पंक्तियों के छन्द में धर्मकाय की सारी विशेषताएं एक साथ प्रतिष्ठित दिखाई पड़ती है। जब ऋषि मुनियों ने सम्भोगकाय के प्रतीक रूप राम के महाविष्णु रूप और धर्मकाय के प्रतीक रूप राम के निर्गुण रूप की स्तुति की तो राम ने प्रसन्न होकर निर्माण काय धारण करने की घोषणा की। उन्होंने कहा—हे मुनि, सिद्ध और देवताओं के स्वामियों डरो मत। मैं तुम्हारे लिये मनुष्य का रूप धारण करूंगा और सूर्य वंश में अन्शों सहित मनुष्य का अवतार लूंगा।[2] अपने इस वचन का उन्होने पालन किया। ब्राह्मण, गौ देवता और सन्तों के लिए उन्होंने मनुष्य का अवतार लिया।[3] तुलसी दास ने अन्य स्थलों पर भी समर्थन किया है कि निर्गुण राम ने निर्माणकाय के प्रतीक दाशरथि राम का रूप धारण किया था। बालकाण्ड में ही उन्होने लिखा है 'जो सर्व व्यापक, निर्गुण निरंजन विनोद रहित और अजन्मा ब्रह्म है वही प्रेम और भक्ति के कारण कौशल्या की गोद में खेल रहे हैं।'[4]

बौद्ध ग्रन्थों में निर्माण काय के सम्बन्ध में महापुरुषके ३२ लक्षणों की चर्चा की गई है। तुलसी इस बात से भी प्रभावित हुए थे। उन्होंने जहां पर राम के निर्माणकाय का वर्णन किया है।' वही पर महापुरुषों के कुछ चिन्हों की भी चर्चा की है। मानस में उन्होंने लिखा है-"बालक राम के चरणों में बज्र ध्वजा और अंकुश आदि के चिन्ह सुशोभित है। पेट में त्रिवली का चिन्ह

१—जय जय अविनाशी सब घट वासी व्यापक परमानंदा।
अविगत गोतीतं चरित पुनीतं माया रहित मुकुंदा।
निसिबासर ध्यावहि गुन गन गावइ जयति सच्चिदानन्दा॥
—रामचरित मानस, गीता, प्रेस मोटा टाइप पृ० १९५

२—जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा तुम्हहि लागि धरिहउ नर बेसा॥
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउं दिनकर बंस उदारा॥
—रामचरित मानस गीता प्रेस, मोटा टाइप पृ० १९६

३—बिप्र धेनु सुरसंतहितलीन्ह मनुज अवतार।
—वही पृ० २०२

४—ब्यापक ब्रह्म निरंजन निरगुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौशल्या की गोद॥
—वही पृ० २०७

है, नाभि गम्भीर है, भुजाएं विशाल हैं इत्यादि इत्यादि।"[१] इस प्रकार मैं कह सकती हूं कि तुलसी की राम सम्बन्धी धारणा पर बौद्धों की त्रिकायवाद की कल्पना का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। बौद्धों के त्रिकायवादी वर्णनों से यदि तुलसी के राम की तुलना की जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि पारिभाषिक शब्दों के अतिरिक्त दोनों में कोई बहुत बड़ा मौलिक अन्तर नहीं है।

कृष्ण काव्य धारा और त्रिकायवाद का सिद्धान्त

राम काव्य धारा के सदृश कृष्ण काव्य धारा पर भी त्रिकायवाद का अच्छा प्रभाव दिखाई पड़ता है कृष्ण काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि सूर में हमें इस त्रिकायवाद के सिद्धान्त की सुन्दर झांकी मिलती है। कृष्ण काव्य धारा के कवि अधिकतर वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग से प्रभावित हुये थे। पुष्टि-मार्ग में कृष्ण के तीन रूप कल्पित किए गए हैं। परात्पर रूप, गो लोक वासी रूप और व्रज भूमि का अवतारी रूप। कृष्ण के ये तीन रूप क्रमशः बौद्धों के धर्मकाय, सम्भोगकाय और निर्माणकाय के प्रतीक रूप हैं।

कृष्ण का परात्पर रूप ;—सूर आदि कृष्ण काव्य धारा के कवियों में हमें भगवान् के निर्गुण रूप के वर्णन भी मिलते हैं। उन निर्गुण रूप के वर्णनों की तुलना यदि बौद्धों की धर्मकाय से की जाय तो स्पष्ट अनुभव होगा कि निर्गुण धारणा को उससे अवश्य ही बल मिला है।

धर्मकाय की प्रमुख विशेषताओं की चर्चा ऊपर कई बार कर आई हूं। यहाँ पर उनका पिष्ट पेषण नहीं करूंगी। यहां पर उनके प्रभावों का निर्देश करूंगी।

धर्मकाय को बौद्ध ग्रंथों में अनन्त असीम अखण्ड अनादि एकरूप अनिर्वेद्य अनिर्वचनीय, निरालम्ब शाश्वत और इन्द्रियातीत कहा गया है। सूर ने अपने निर्गुण कृष्ण में यह सब विशेषताएँ प्रतिविम्बित की हैं। सूर के निर्गुण ब्रह्म के निम्नलिखित वर्णनों पर धर्मकाय की समस्त विशेषताओं का प्रभाव परिलक्षित हो रहा है। निर्गुण कृष्ण का वर्णन करते हुए सूर

१—रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे। नूपुर धुनि सुनि मुनिमन मोहें॥
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा। नाभि गंभीर जान जेहि देखा॥
—इत्यादि वही पृ० २०८

लिखते है—"हे भगवन् तुम अनादि अविगत अनन्त गुण पूर्ण परमानन्द रूप हो, तुम सदा एक रस रहते हो, पूर्ण अखण्ड रूप हो और अतुलनीय हो"[१]।

इसी प्रकार का एक वर्णन तृतीय स्कन्ध का है—"भगवान् के डर से सूर्य और चन्द्रमा भी डरते हैं। उनके भय से वायु भी अपने वेग का अतिरेक नहीं दिखाता है। अग्नि भी उस परमात्मा से भयभीत रहता है। उसकी माया उनके आधीन रहती है"[२]। इत्यादि इत्यादि। निर्गुण परमात्मा का वर्णन सूर ने सूरसागर के प्रथम पद में ही किया है—उस अविगत निर्गुण परमात्मा का वर्णन नही किया जा सकता। जिस प्रकार गूंगा मिठाई की मधुरता अपने आप स्वयं ही अनुभव करता रहता है उसका वर्णन नहीं कर पाता है उसी प्रकार निर्गुण परमात्मा केवल अनुभव मात्र भर है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह निर्गुण परमात्मा मन और वाणी दोनों से अनिर्वच है उसका रहस्य वही समझ पाता है जिसने उसका रहस्य समझ लिया है। उसकी कोई रूप रेखा नहीं है अर्थात वह साकार नहीं है। उसकी कोई जाति पांति नही है। ऐसे निर्गुण निराकार ब्रह्म की निरालम्ब उपासना करना बहुत कठिन है[३]।

उपर्युक्त वर्णनों पर हमें बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित धर्मकाय की समस्त विशेषताओं की स्पष्ट छाया दिखाई पड़ती है।

कृष्ण काव्य धारा और संभोगकाय:—ऊपर मैं कह चुकी हूँ कि बौद्धों के

१—तुम अनादि, अविगत अनन्त गुण पूरण परमानन्द
सदा एक रस, एक अखण्डित आदि अनादि अनूप
सूर सागर प्रथम खण्ड पृ० १४

२—हरि के भय रवि ससि डरै वायु वेग अतिशय नहि करै।
अगिनि रहै जाके भय माही, सो हरि माया जा वश माही ॥
तृतीय स्कन्ध पृ० ४२

३—अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगें मीठ फल को रस अन्तर्गत ही भावै।
परमस्वाद सबही सुनिरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर सो जानो जो पावै।
रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालम्ब कित धावै।
सब विधि अगम विचारहिताते सूर सगुन पद गावै।
सूर सागर पहला पद।

संभोगकाय के समकक्ष हमें सूर में गोलोकवासी कृष्ण का वर्णन मिलता है। वल्लभाचार्य का सिद्धान्त था कि भगवान् कृष्ण गोप गोपिकाओं सहित गोलोक में निवास करते हैं और वह भक्तों के लिए गोलोक की समस्त विभूतियों के साथ ब्रज में अवतरित होकर अपनी लीला विस्तारते रहते हैं। सूर ने वल्लभाचार्य के इस सिद्धान्त की अभिव्यक्ति करने के लिए ब्रजधाम को नित्य बनाने की चेष्टा की है। यह बात सूर के निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट है "वृन्दावन नित्य धाम है। वहां पर नित्य ही कुंजों और हिंडोरों में आनन्द लीलाओं का सुख रहता है। नित्य ही त्रिविध समीर बहती रहती है। यहां नित्य आनन्द ही आनन्द रहता है। वहां उदासी की छाया भी नहीं पाई जाती इत्यादि[१]"। यदि हम गोलोक वाली धारणा को स्वीकार करलें तो वहां के कृष्ण को सम्भोगकाय का प्रतीक मानना पड़ेगा।

सम्भोगकाय के प्रतीक के रूप में सूर ने कहीं कहीं बैकुण्ठ वासी विष्णु की धारणा को भी प्रश्रय दिया है। सूर लिखते हैं—"कृष्ण के सदृश मैंने कोई हितैषी नहीं देखा विपत्ति काल में जब भी उनका स्मरण किया जाता है वह उपस्थित हो जाते हैं। जिस समय गज को ग्राह ने पकड़ लिया और उसने त्राहिमाम् त्राहिमाम् की प्रार्थना की तो उसी समय भगवान् कृष्ण विष्णु रूप में सुदर्शन चक्र धारण करके वैकुण्ठ को त्यागकर, गरुड़ को छोड़कर दौड़ आए[२]।

कृष्ण काव्य धारा और निर्माण काय:—मैं अभी लिख चुकी हूँ कि सूर ने सम्भोगकाय के रूप में गोलोक वासी कृष्ण और वैकुण्ठवासी विष्णु की ही अवतारणा की है। गोलोक वासी कृष्ण अथवा वैकुण्ठवासी विष्णु

१—नित्य रूप वृन्दाबन धाम।
नित्य कुंज सुख नित्यहिंडोर।
नित्यहि त्रिविध समीर झकोर।
सदाहर्ष जहां नाहि उदास॥
राम रतन भटनागर की 'सूर साहित्य की भूमिका से उद्धृत पृ० २११

२—हरि सौं मीत न देख्यौ कोई।
बिपति काल सुमिरन, तिहि औसर आनि तिरोधौ होई।
ग्राह गहें गजपति मुकरायौ हाथ चक्र लै धायौ।
तजि वैकुण्ठ, गरुड़ तजि, श्री तजि, निकट दास कैं आयौ।
सूर सागर पृ० ६

निर्माण काय के प्रतीक रूप कृष्णावतार धारण करते हैं। उनकी समस्त शक्तियों और ऐश्वर्य अथवा वैकुण्ठ के देवता लोक नर रूप धारण करके उन्हीं के साथ ब्रज भूमि में अवतरित होते हैं। सूरसागर में लिखा है "भगवान् विष्णु ने सब देवताओं को यह आदेश किया कि अब मैं कृष्णावतार धारण करना चाहता हूँ इस लिए अब तुम सब लोग व्रजभूमि में जाकर अवतरित हो जाओ[१]।" भगवान् ने कृष्णावतार लोक कल्याणार्थ ही लिया था इस दृष्टि से उनका बुद्ध के निर्माणकाय धारण करने से लक्ष्य साम्य है। भगवान् बुद्ध भी लोक कल्याणार्थ ही निर्माणकाय धारण करते थे। वैसे हीं कृष्ण ने भी लोक कल्याणार्थ ही अवतार धारण किया था। सूर ने कृष्णावतार के इस लक्ष्य को व्यंजना अनेक प्रकार से अनेकबार की है। उनका एक पद है "भगवान् कृष्ण ने क्या क्या जनहित नहीं किया है। दयाभाव से प्रेरित होकर उन्होंने जो वचन नंद और यशोदा को दिए थे उन वचनों को पूरा करने के लिए उन्होंने गोकुल में जाकर गाय चराई[२]। इसी प्रकार एक दूसरा पद भी है। "भक्तों और मानवों के प्रति जितनी सम्वेदना भगवान् कृष्ण के हृदय में है उतनी किसी के हृदय मे नहीं हो सकती। जब जब दीन मानव दुखी हुए हैं भगवन् तब तब आपने कृपा की। जब ग्राह ने गज को पकड़ लिया था और उससे अपनी रक्षा करने में उसकी सारी शक्तियां क्षीण हो गई थीं तब वह आपकी शरण में गया। करुणासिन्धु भगवान् ने कृपा करके उसे अपने दर्शन देकर कृतार्थ कर दिया। इसी प्रकार ग्वाल गोपियों के कल्याणार्थ आपने सात दिन तक अपनी उंगली पर गोवर्धन पर्वत धारण किया था। इसी प्रकार आपने जरासंध को मार कर उसके दीन दुखी बन्दी राजाओं को मुक्त कर दिया। इसी प्रकार ब्राह्मण के मरे हुए पुत्र को पुनर्जन्म दान दिया।

१—यह बानी कहि सूर सुरन सौं अब कृष्णअवतार।
कह्यौ सबनि जन्म लेहुसंग हमरे करहु विहार।
सूर सौरभ से उद्धृत, सूर सागर पृ० २५०, पद ८३।

२—का न कियौ जन हित जदुराई।
प्रथम कह्यौ जो बचन दयारत, तिहि बस गोकुल गाइ चराई।
सूर सागर पृ० ४

अपने-अपने भक्त के हित के लिए नृसिंह का अवतार धारण कर हिरण्यकश्यप का वध किया था[1]। इत्यादि

इसी प्रकार और भी अनेक पदों में सूर ने भगवान् कृष्ण के लोकहित के कार्यों का गुणगान किया है। इनसे स्पष्ट है कि जिस प्रकार महायानी लोगों की धारणा थी कि भगवान् बुद्ध लोक कल्याण के लिए निर्माणकाय धारण करते है, उसी प्रकार कृष्ण भक्तों की धारणा है कि कृष्णावतार बहुत कुछ लोक कल्याण के लिए होता है। गीता मे तो स्पष्ट घोषित किया है कि जब जब धर्म की हानि होती है तब तब मैं अवतार धारण करता हूँ। कृष्णावतार का भी यही कारण था।

चतुरकाय का सिद्धान्त:—अभिसमयालंकारकारिका में तीन कायों के स्थान पर चार कायों की कल्पना को महत्व दिया है[1]। उनके नाम क्रमशः स्वाभाविक काय, [धर्मकाय,-इसी को स्वसम्भोग काय कहते हैं] सम्भोग काय [इसी को पर सम्भोग काय कहते हैं] और निर्माण काय। इनमें से तीन कायों की चर्चा ऊपर कर चुकी हूँ और निर्गुण काव्य धारा पर उनका प्रभाव भी दिखाया जा चुका है। यहां पर स्वाभाविक काय का निर्गुण कवियों पर प्रभाव प्रदर्शित करूंगी।

स्वभावकाय और सन्तों का सहजवाद:—जो लोग चार कायों के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं वे केवल स्वभावकाय को सद्रूप मानते हैं। अन्य तीन कायों को असद्रूप मानते हैं। सन्तों को बानियों से प्रकट होता है कि वे स्वभाव काय से भी प्रभावित थे। यह प्रभाव दो रूपों मे दिखाई पड़ता है—

१ चौथे पद के रूप में।

२ सहज तत्व के रूप में।

१—और न काहूहि जन की पीर
जब जब दीन दुखी भयो तब तब कृपा करी बलबीर
गजबल हीन विलोकि दसौ दिसि तब हरि सरन परयो
करुना सिन्धु दयाल दरस दै सब संताप हरयो
गोपी ग्वाल गाय गोसुत हित सात दिवसगिरि लह्यो
मगध हत्यो मुक्त नृप कीन्हें मृतक विप्र सुत दीन्ह्यो
श्री नृसिंह वपु धरयो असुर हति भक्त बचन प्रतिपारयो
सूर सागर पृ० १०

१—आउटलाइन्स आफ महायान बुद्धिज्म: एन बन पृ० ११५

चौथे पद के रूप में:—सन्तों मे हमें चौथे पद की चर्चा बहुत मिलती है। उस चौथे पद के ज्ञान से ही वे परम पद की प्राप्ति मानते थे। कबीर ने लिखा है-जो मनुष्य चौथे पद को पहचान लेता है वही परम पद को प्राप्त कर लेता है[1]।

सहज रूप में:—सन्तों की सहज की धारणा मुझे स्वभावकाय की धारणा से प्रभावित है। स्वभावकाय के सदृश ही वे उसे परमतत्व रूप मानते थे संत कबीर ने लिखा है–"सहज की कथा अनिर्वचनीय है। उसको न तो तोला जा सकता है और न अनुमान लगाया जा सकता है। उसे न तो हल्की कह सकते हैं और न भारी ही। वह अरघ उरघ से परे है। वहां रात दिन भी नहीं होते, वहां न तो जल है न पवन, न पावक है। वहां सद्गुरू भी नहीं है वह अगम अगोचर[2] तत्व है। गुरू कृपा से ही उसे कोई प्राप्त कर पाता है।

१—चौथे पद को जो चीनहे तिनहि परम पद पाया।

क० ग्रं० पृ० २७२

२—सहज की अकथ कथा है नियारो।
तुलिनरीहि चढै न जाय मुकाती हलुकी लगै न मारी।
अरघ उरघ दोउ तंह नाही रात दिवस तंह नाही॥
इत्यादि सन्त कबीर पृ० ५१,

अध्याय

बौद्ध धर्म का आचार और नीति पक्ष : ४ :

बौद्ध नैतिकता की सामान्य विशेषताएँ
सामान्य आचरण शास्त्र

(क) चार आर्य सत्य और अष्टांगिक मार्ग
मध्य कालीन साहित्य पर उसका प्रभाव

(ख) सैंतीस बोधिपक्षीय धर्म
मध्य कालीन साहित्य पर उनका प्रभाव
भिक्षु नीति शास्त्र का संक्षिप्त उल्लेख
मध्य कालीन साहित्य पर उनका प्रभाव

बौद्ध धर्म का आचरण एवं नीति पक्ष

बौद्ध नैतिकता की कुछ सामान्य विशेषताएँ

बौद्ध नैतिकता संसार के नीति शास्त्रों में अपना एक अलग स्थान और महत्व रखती है। उसकी अपनी कुछ अलग विशेषतायें हैं। यहां पर उनमें से कुछ विशेषताओं का संकेत कर देना आवश्यक है। बौद्ध धर्म की नैतिकता देववादी धर्म की नैतिकता से थोड़ा विलक्षण है—यद्यपि बुद्ध धर्म में भगवान् बुद्ध को संसार का प्रकाश—लोकचक्षु[1] कहा गया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि बौद्ध धर्म देववादी या पैगम्बरवादी है। उसका मूल उपदेश यही है कि प्रत्येक व्यक्ति में एक ज्योति है। उस ज्योति का ही अनुसंधान करना चाहिए। भगवान् बुद्ध व्यक्ति मे प्रसुप्त ज्योति को ही प्रदीप्त कर देते हैं[2]। इसी दृष्टि से उनका महत्व है। यह अन्तर प्रकाशवाद बौद्धनैतिकता का आधारस्तम्भ है।

बौद्ध नैतिकता की दूसरी सबसे बड़ी विशेषता उसकी सर्वांगीणता है।

१—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ५ पृ० ४४८
२—वही

बौद्ध नीतिशास्त्र एक पक्षीय नहीं हैं।[1] उसमें केवल वाह्य उपदेशों और वाह्याचरणों पर ही बल नहीं दिया गया है, किन्तु मन और बुद्धि की पवित्रता वाह्याचरणों के लिए अत्यन्त आवश्यक बताई गई है। इसका प्रमाण यह है कि बौद्ध नीति में केवल आचरण को जिसे बौद्ध ग्रन्थों में शील की संज्ञा दी गई है पर ही बल नहीं दिया गया है, वरन् उसकी बुद्धिमूलकता और संकल्प प्रधानता को भी आवश्यक ठहराया गया है। इनके लिए बौद्धनीति में प्रज्ञा और समाधि[1] के नाम दिये गये हैं। इस प्रकार हम कह सकते है कि विवेक बुद्धि के द्वारा निर्धारित कर लिये जाने पर तथा मन से संकल्पित कर लेने पर जो आचरण किये जायेंगे वे निश्चय ही दृढ़ और प्रभाव पूर्ण होंगे यही कारण हैं कि बौद्ध नीति में मन के शुद्धिकरण तथा बुद्धिवादिता पर बहुत अधिक बल दिया गया है। इसके प्रमाण में हम धम्मपद का एक पद उद्धृत कर सकते हैं। उसके अनुसार यह बुद्ध धर्म का सारभूत उपदेश हैं।

'कभी कोई पापाचरण नहीं करना चाहिए। सदैव सदाचरण में संलग्न रहना चाहिये और अपने मन को परिष्कृत रखना चाहिये[2]।' इस उद्धरण में स्पष्ट रूप से मन के शुद्धिकरण तथा शुद्ध भूत मन के द्वारा प्रेरित शुभ कर्मों के आचरण पर बल दिया गया है।

यद्यपि बौद्ध धर्म अनीश्वरवादी और अनात्मवादी कहा जाता हैं किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि बौद्धनीतिशास्त्र भौतिक नीतिशास्त्रों के अनुरूप है। इसका प्रमाण हमें दीर्घनिकाय पयासी राजन्यसुत्त[3] से मिलता है। इस सुत्त में भौतिकवादी चारवाक् मतावलम्बी सेतव्या नामक नगरी के राजा और बौद्ध श्रवणकाश्यप की भेंट का विवरण दिया हुआ है। काश्यप ने उस राजा की भौतिकवादी धारणा का खण्डन किया और उसे उपदेश किया कि शरीर और जीव में कोई भेद नही है। पुण्यापुण्य कर्मों का फल जीव और शरीर को भुगतना पड़ता हैं। पाप कर्मों का फल कटु और दुखदायी होता है पुण्य कर्मो का फल सुखद और शान्तिप्रद होता है। अतएव कोरे भौतिक सुख या शारीरिक सुखो के लिए सत्कर्मों का परित्याग करना बहुत बड़ी मूर्खता है। बौद्ध नीतिशास्त्र की इस आध्यात्मिक पृष्ठभूमि[4] ने उसे एक अलौकिक बल प्रदान किया और उसके स्वरूप को संस्कृततम बना दिया।

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा-बलदेव उपाध्याय पृ० ६१

२—धम्मपद १८३

३—दीर्घनिकाय हिन्दी अनुवाद पृ० २०० से २०७

४—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ऐथिक्स भाग ५, पृ० ४४९

बौद्ध नैतिकता केवल व्यक्तिवादी ही नहीं थी। सार्वजनीन निर्वाण भावना से प्रेरित होने के कारण तथा करुणा से आप्लावित होने के कारण उसका लोक कल्याण से उतना ही गहरा सम्बन्ध रहा है जितना कि व्यक्ति कल्याण से।

बौद्ध नैतिकता की प्राणभूत विशेषता एक और है। वह है मध्यम प्रतिपदा[१]। इस धर्म में नैतिक दृष्टि से वही मार्ग सम्यक बताया गया है जो अन्तों के अति को त्याग कर मध्यमार्गानुसरण करता है। अपनी इसी विशेषता के कारण बौद्धनीतिशास्त्र संसार में सर्वाधिक प्रतिष्ठित हुआ।

बौद्धनीतिशास्त्र में केवल पुण्याचरणों और उनके फलों आदि की ही चर्चा नहीं मिलती वरन् पापाचरणों और उनके दुष्परिणामों का भी उल्लेख मिलता है। इनकी सापेक्षता में नीतिशास्त्र का रूप बहुत निखर आया है। इस धर्म में काम और राज समस्त पापों के मूल बतलाए गए हैं। अज्ञान और अविद्या मोह आदि इनके सहायक कहे गए हैं[२]। मन की प्रवृत्ति स्वभावतः इन विकारों की ओर रहती है। इसीलिए वह सदाचरणों में प्रवृत्त नहीं हो पाता। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि मन कभी सदाचरणों की ओर उन्मुख ही नहीं हो सकता। बौद्ध नीतिशास्त्र में जहां मन की विकृततम स्थितियों की चर्चा की गई है, वहीं मन की शुद्धतम अवस्था का विश्लेषण किया गया है। मन की शुद्धतम अवस्था के लिए बौद्ध दर्शन में बोधिचित्ति की संज्ञा दी गई है। बोधिचित्ति[३] मन की वह पवित्रतम और शुद्धतम अवस्था है जिसमें चित्त महाकरुणा से प्रेरित हो लोककल्याणार्थ सम्यक सम्बोधि रूप ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस प्रकार की स्थिति किन्हीं पूर्वजन्म के पुण्यों के फलस्वरूप होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि बौद्धनैतिकता कर्मवाद पर आधारित है। जन्मजन्मान्तर में शुभ कर्म करते करते बोधिसत्व [बुद्धत्व को प्राप्त करने के लिए उत्सुक साधक को महायानी लोग बोधिसत्व कहते हैं।] इस अवस्था को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। इस अवस्था को प्राप्त हुआ साधक स्वतः ही सदाचरणों में प्रवृत्त रहता है।

बौद्ध नैतिकता की एक विशेषता पर हम फिर से बल दे देना चाहते हैं वह है उसकी बुद्धिमूलकता[४] अथवा ज्ञान पुरस्सरता। बौद्ध ग्रन्थों में उसकी इस

१— देखिए बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ७१
२—मज्झिमनिकाय बुद्धखंड
३— बौद्ध दर्शन मीमांसा-बलदेव उपाध्याय पृ० १४७
४— डायलाग्स आफ बुद्ध-रायस डेविड्स-लन्दन १८९९ पृ० २९

विशेषता पर विविध प्रकार से बल दिया गया हैं।-बुद्धि ज्ञान और विवेक प्रेरित होने के कारण बौद्ध नीति शास्त्र बड़ी दृढ़ भूमिका पर प्रतिष्ठित है।

बौद्धनीतिशास्त्र की एक विशेषता और बहुत महत्वपूर्ण है। वह है उसकी सर्वव्यापकता और सार्वभौमिकता। इसमें व्यक्ति के, परिवार के, समाज के, देश के, राष्ट्र के, यहाँ तक कि विश्व के कल्याणकारी नियम संग्रहीत हैं। अपनी इसी व्यापक चेतना और सार्वभौमिक स्वरूप के कारण संसार के नीतिशास्त्रों में उसने एक महत्वपूर्ण स्थान निर्धारित कर लिया है।

बौद्ध धर्म की नीति या आचार पक्ष को मैं दो भागों में बांट सकती हूँ।

१—बौद्ध धर्म का सामान्य कर्तव्यशास्त्र।

२—बौद्ध धर्म की भिक्षु नीति।

बौद्ध धर्म का सामान्य नैतिक शास्त्र :—

भगवान् बुद्ध ने प्रत्येक बात का मनोवैज्ञानिक आधार ढूंढ़ने की चेष्टा की थी। उन्होंने कर्तव्य शास्त्र का अध्ययन भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किया था। उस कर्तव्य शास्त्र के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की हमें दो धाराएं मिलती हैं—

१—चार आर्य सत्य।

२—सैंतीस बोधि पक्षीय धर्म।

इन पर मैं आगे विस्तार से विचार करूंगी और मध्ययुगीन कवियों पर उनका जो प्रभाव दिखाई पड़ता हैं उसका निर्देश भी करूंगी।

२—बौद्ध धर्म की भिक्षुनीति :—बौद्ध धर्म निवृति मार्गीय धर्म रहा है उसका पूर्व रूप तो पूर्ण वैराग्य प्रधान था। उसमें गृहस्थों के लिए बहुत कम स्थान था। सुत्तनिपात के धम्मिक सुत्त में भिक्षु के साथ उपासक गृहस्थ, की तुलना करके बुद्ध ने साफ साफ कह दिया है कि गृहस्थ को उत्तमशील के के द्वारा बहुत हुआ तो स्वयंप्रकाश देवलोक की प्राप्ति हो जावेगी।[1] किन्तु भवचक्र से छुटकारा तभी मिल सकता है जब घरबार छोड़ कर भिक्षुधर्म स्वीकार किया जाय। इस प्रकार की शिक्षाओं के फलस्वरूप बौद्ध धर्म में भिक्षुओं की संख्या निवार्ध गति से बढ़ी और साथ ही उनसे सम्बन्धित नीतिशास्त्र का विस्तार हुआ।

१—धम्मिक सुत्त १७।२९

चार आर्य सत्य :—भगवान् बुद्ध की सबसे बड़ी देन चार आर्य सत्य हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं :—

१—दुखं:, २—समुदय, ३—निरोध, ४—निरोधगामिनी प्रतिपद[१]।

१ दुखः :—दुखवाद बौद्धों का एक विशिष्ट सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण संसार दुख रूप है। जन्म भी दुख रूप है जीवन भी दुख रूप है मरण भी दुख रूप है। इस दुखवाद के सिद्धान्त का वर्णन भगवान बुद्ध ने बड़े सुन्दर ढंग से किया है। वह इस प्रकार है :—

"इदं खो पन भिक्खवे दुक्खं अरिय सच्चं।
जातिपि दुक्खा जरापि दुक्खा मरणापि दुक्खं,
सोक परिदेव-दोमनस्सुपायासापि दुक्खा,
अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो,
यम्पिच्छं नं लभति तम्पि दुक्खं,
संखित्तेन पञ्चपादानक्खन्धापि दुक्खा॥

अर्थात् हे भिक्षुगण, दुख प्रथम आर्यसत्य है। जन्म भी दुख है, वृद्धावस्था भी दुख है। मरण भी दुख है। शोक, परिवेदना, दौर्मनस्य, उदासीनता, उपायास, आयास, हैरानी सब दुख है। अप्रिय वस्तु के साथ समागम दुख है। प्रिय के साथ वियोग भी दुख है। ईप्सित वस्तु का न मिलना भी दुख है। संक्षेप में कह सकते हैं कि राग के द्वारा उत्पन्न पांचों स्कन्ध रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, तथा विज्ञान भी दुखः है[२]।

दुखः समुदय[३] :—दूसरा आर्य सत्य दुख समुदय बताया गया है। समुदय का अर्थ होता है कारण। दुखों के कारण की खोज करना ही दुख समुदय है। क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता। जब दुखों के कारण का पता लग जायगा तब कार्य रूपी दुख का निराकरण करने का प्रयास सफलता से किया जा सकता है। बौद्ध ग्रंथों में दुख की उत्पत्ति का

१—इनका वर्णन निम्न लिखित स्थलों पर देखिए—

क-इन्साक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स

ख-हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म: इलियट

२—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ६४

३—वही पृ० ६५

कारण तृष्णा व कामना बताई गई है। इसका वर्णन करते हुए वासेठसुत्त में लिखा है[1] :—

> कम्मना वत्तती लोको कम्मना वत्तती पजा प्रजा।
> कम्मनिबन्धना सत्ता सत्वानि सपस्सा णीव यायतो ॥

अर्थात् कर्म से ही लोग और प्रजा की व्यवस्था चलती है। कर्म बन्धन में ही प्राणी मात्र बंधा हुआ है। ये कर्म बन्धन तृष्णा से ही उद्भूत होता है। धम्मपद में इसी बात को दूसरे ढंग से कहा गया है[2]।

> न तं दलं बन्धनमाहु धीरा, यदायसं दारुजं पब्बज च।
> सारत्तरत्ता मणिकुंडलेसु, पुत्तेसु दारेसु च या अपेक्खा ॥[3]

अर्थात् धीर पुरुष लोहे लकड़ी और लोहे के बन्धन को वास्तविक बन्धन नहीं मानते। वास्तविक बन्धन तो वास्तव में मणि कुण्डलादि धन स्त्री तथा पुत्र होते हैं। बौद्धों का कहना है कि मनुष्य अपने आप ठीक इसी प्रकार बंध जाता है जिस प्रकार मकड़ी अपने ही बुने हुये जाल में फंस जाती है। अतएव मनुष्य को इस जाल से सदैव सजग रहना चाहिये।

दुखः निरोध :—तीसरा आर्य सत्य दुखः निरोध माना गया है। निरोध शब्द का अर्थ होता है निराकरण। दुख के कारण का निराकरण करना ही दुखः निरोध कहलाता है। दुखः निरोध करना प्रत्येक आर्य का परम कर्तव्य है। इस दुखः निरोध का वर्णन करते हुये बौद्ध ग्रंथों में लिखा है :—

'इदं खो पन भिक्खवे दुक्ख निरोधं अरियं सच्चं। सो तस्यायेक तण्हाय असेसविरागनिरोधो चागो पटिनिस्सग्गो मुक्ति अनालयो'।"

अर्थात् दुःख निरोध आर्यसत्य उस तृष्णा से अशेष-सम्पूर्ण वैराग्य का नाम है, उस तृष्णा का त्याग, प्रतिसर्ग, मुक्ति तथा अनालय, स्थान न देना यही है। भगवान बुद्ध की शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त कार्य कारण की अटूट शृंखला है। दुख निरोध के लिए इसका ज्ञान परमावश्यक है। क्योंकि कर्म और वासना जनित यह कार्यकारण शृंखला ही दुख का समुदय

१—गीता रहस्य पृ० ५७३ से उद्धृत

२—धम्मपद ३४५ गाथा

३—धम्मपद ३४७ गाथा

४—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ६६

या कारण है[1]। इस अनवरत कार्यकारण श्रृंखला को बौद्ध ग्रंथों में प्रतीत्य-समुत्पाद कहा गया है[2]। यहाँ पर थोड़ी सी चर्चा उसकी भी कर देना चाहते हैं।

प्रतीत्यसमुत्पादवाद :—इसे कुछ लोग सापेक्षकारणतावाद भी कहते हैं[3]। इस सिद्धान्त का निर्देश भगवान बुद्ध ने स्वयं नहीं किया था। बाद के दार्शनिकों ने उनकी शिक्षाओं के आधार पर इसका निरूपण करने का प्रयास किया था। *माध्यमिक वृत्ति[4] में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है*—

"१ प्रतीत्य शब्दों ल्यबन्तः प्राप्तावपेक्षायां वर्तते। यदि प्रादुर्भावे इति समुत्पाद शब्दः प्रादुर्भावार्थे वर्तते। ततश्च हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावाना-मुत्पाद प्रतीत्यसमुत्पादार्थः। २ अस्मिन सति इदं भवति, अस्योत्पादादय-मुत्पद्यते इति इदं प्रत्ययार्थः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः।

अर्थात् प्रतीत्य शब्द प्रतिपूर्वक इ धातु में यत् प्रत्यय लगाने से बना है। प्रतीत्य का अर्थ है किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर और समुत्पाद का *अर्थ है अन्य वस्तु की उत्पत्ति। दोनों पदों का सामूहिक अर्थ हुआ किसी* किसी वस्तु की पूर्णता पर किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति होना। दूसरे शब्दों में एक कार्य के पूर्ण होने पर दूसरे कार्य का आरम्भ हो जाना। और अधिक स्पष्ट लिखना चाहें तो कह सकते हैं एक कार्य के नष्ट हो जाने पर दूसरे कारण का कार्य रूप में परिणत हो जाना।

बौद्ध ग्रंथों में इस कार्यकारण परम्परा अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अंग[5] बताए गए हैं। इनके नाम क्रमशः अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, तथा जरा मरण हैं। इन सब में परम्परा कारण कार्य सम्बन्ध है। अविद्या से संस्कार उत्पन्न होते हैं, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम रूप इत्यादि इत्यादि। बौद्धों के अनुसार कार्य कारणता का चक्र अनवरत रूप से चला आ रहा है।

१—बौद्ध धर्म और दर्शन-आचार्य नरेन्द्र देव पृ० २०
२—वही
३—बौद्ध दर्शन मीमांसा—बलदेव उपाध्याय पृ० ८२
४—माध्यमिक वृत्ति पृ० ९ बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ८२ से उद्धृत
५—बौद्ध धर्म और दर्शन-आचार्य नरेन्द्र देव पृ० २०

इसीलिए वे किसी मूल कारण के मानने के पक्ष में नहीं है[1]। यह नियम देश काल या नियम से बाधित नहीं होता। इस जगत के जीव ही इससे नियंत्रित नहीं हैं। रूप धातु के देवता आदि भी इसके वशीभूत हैं। भूत भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में इसकी अविच्छिन्न परम्परा जीवित रहती है। यहाँ तक कि भगवान बुद्ध को भी इस कार्यकारण श्रृंखला से नियंत्रित बताया गया है[1]। इसके अपवाद केवल असंस्कृत धर्म हैं। असंस्कृत धर्म से उनका अभिप्राय नित्य और उत्पन्न न होने वाले धर्मों से है[1]।

इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने की है। वह यह कि अधिकांश आचार्य किसी एक कार्य की उत्पत्ति नहीं मानते। उनकी धारणा है कि दो कारणों के परस्पर मिलन से ही एक तीसरे फल की उत्पत्ति होती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि कुछ बौद्ध आचार्य कार्य की उत्पत्ति अनुकूल उपकरणों के जो कारण रूप में रहते हैं मिलन से स्वीकार करते हैं[1]। इस कारणतावाद के सिद्धान्त पर बौद्ध धर्म के अनेकानेक निकायों ने बड़े विस्तार से विचार किया है। इस पर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे।

ऊपर जिन बारह तत्वों की कार्यकारण रूप में चर्चा की गई है उन्हीं की परम्परा भवचक्र के नाम से प्रसिद्ध है[1]। बौद्धों के जन्मान्तरवाद का सिद्धान्त इसी से सम्बन्धित है। उपर्युक्त बारह अंगों के सम्बन्ध में जिन्हें बौद्ध ग्रंथों में निदान की संज्ञा भी दी गई है दो अविद्या और संस्कार पूर्व जन्म से सम्बन्धित माने जाते हैं। विज्ञान, नामरूप, षटायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादन और भव ये वर्तमान जीवन से सम्बन्धित बताए जाते हैं। जाति जरा मरण यह भविष्य जीवन से सम्बन्धित बताए जाते हैं। इस प्रकार तीन जीवनों के तत्वों की कल्पना करके बौद्धों ने कार्यकारण की अविच्छिन्न श्रृंखला का संकेत किया है।

अष्टांगिक मार्ग:—भगवान बुद्ध की नैतिक शिक्षा का प्राणभूत पक्ष अष्टांगिक मार्ग है[1]। यहाँ पर उसका स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है।

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ८३

२—बौद्ध धर्म और दर्शन-आचार्य नरेन्द्र देव पृ० २० से २१ तक

३—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ऐथिक्स

४—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ८४, ८५

५—वही

६—धम्मपद २०११

अष्टांगिक मार्ग के अंग क्रमशः सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वचन, सम्यक कर्मान्त, सम्यक आजीविका, सम्यक स्मृति और सम्यक समाधि है। हम पहले बतला चुके हैं कि बौद्ध ग्रन्थों में सम्यक शब्द का अर्थ मध्यम लिया गया है।

सम्यक दृष्टि — सम्यक दृष्टि का अर्थ है मध्यमार्गीय ज्ञान। कुशल और अकुशल अर्थात् भले बुरे का सही ज्ञान होना ही सम्यक दृष्टि है। मज्झिमनिकाय में इन कर्मों का विवरण इस प्रकार दिया हुआ है। 'बलदेव उपाध्याय' ने उनको चार्ट द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है—[1]

	अकुशल	कुशल
कायकर्म	१—प्राणातिपात् हिंसा	१—अ-हिंसा
	२—अदत्ता दान चोरी	२—अचौर्य
	३—मिथ्याचार व्यभिचार	३—अ-व्यभिचार
	४—मृषावचन झूठ	४—अ-मृषावचन
वाचिक कर्म	५—पिशुन वचन चुगली	५—अ-पिशुनवचन
	६—परुषवचन कटुवचन	६—अ-कटुवचन
	७—संप्रलाप बकवाद	७—अ-संप्रलाप
	८—अभिध्या लोभ	८—अ-लोभ
मानस कर्म	९—व्यापाद प्रतिहिंसा	९—अ-प्रतिहिंसा
	१०—मिथ्यादृष्टि झूठी धारणा	१०—अ-मिथ्या दृष्टि

२—सम्यक संकल्प का अर्थ है उचित निश्चय या निर्णय। सम्यक ज्ञान के फलस्वरूप ही साधक में सम्यक निश्चय की शक्ति उद्भूत होती है। यहाँ प्रश्न उठता है कि यह सम्यक संकल्प किन बातों का होता है इसका उत्तर बहुत सरल है कुशल कर्मों व सद्वृतियों के आचरण के लिए ही सम्यक संकल्प का प्रयोग किया गया है। अहिंसा, अद्रोह, निष्कामता आदि का आचरण इस अंग की प्रमुख विशेषता है। इसी अंग के अन्तर्गत कामना के विरोध—की-भी बात आती है। साधक यह भी संकल्प करता है कि वह सब प्रकार से कामना या तृष्णा का परित्याग करेगा[2]।

३—सम्यक वचन—का अर्थ है उचित और धर्मानुकूल वचनों का उच्चारण करना और अनुचित तथा प्रतिकूल वचनों का परित्याग करना[3]।

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा बलदेव-उपाध्याय पृ० ७४, ७५

२—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ७५

३—वही

४—सम्यक कर्मान्त :—अष्टांगिक मार्ग का चौथा अंग सम्यक कर्मान्त है। बौद्ध धर्म में कर्म के सिद्धान्त को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। उसके अनुसार मनुष्य के शुभाशुभ परिणाम उसके कुशल और अकुशल कर्मों के कारण ही मिलते है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि सब प्रकार के बुरे कर्मों का परित्याग कर दे और पञ्चशील का आचरण करें।

पञ्चशील कर्ममार्ग के अन्तर्गत बौद्ध धर्म में पञ्चशील को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। पञ्चशील के अन्तर्गत निम्नलिखित शुभाचरण आते हैं :—

१—अहिंसा।
२—सत्य।
३—अस्तेय।
४—ब्रह्मचर्य।
५—सुरासेवन आदि का असेवन।

इन पांचों शीलों का आचरण प्रत्येक बुद्धमतानुयाई के लिये परम आवश्यक होता है। धम्मपद में लिखा है कि इनका अनाचरण करने वाला व्यक्ति वास्तव में अपनी जड़ खोदने वाला कहा जा सकता है।

दसशील :—कुछ बौद्ध ग्रंथों में दसशील की भी चर्चा की गई है। दसशील के अन्तर्गत उपर्युक्त पञ्चशीलों के अतिरिक्त निम्नलिखित पांच बातें और आती हैं।

१—अपराह्न भोजन त्याग।
२—माला धारण का त्याग।
३—संगीत श्रवण का त्याग।
४—सुवर्ण का त्याग।
५—अमूल्य शैया का त्याग[1]।

ये सब मिलकर दसशील कहलाते हैं। इन दसशीलों के अतिरिक्त बौद्ध धर्म में भिक्षुओं के आचरण के लिए और भी बहुत से नियमों का उल्लेख किया गया है। इसकी चर्चा हमने अलग से भिक्षु नीति के अन्तर्गत की है।

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ७५
२— „ „ पृ० ७७

सम्यक् आजीव : का अर्थ होना है उचित और पवित्र ढंग से जीविकोपार्जन करना । संसार में रहकर प्रत्येक मनुष्य को अपनी जीविका के लिए कुछ करना पड़ता है । जीविकोपार्जन की अनन्त विधियाँ हैं । उनमें से केवल उन्हीं विधियों का आश्रय लेना चाहिये जिनके आचरण से किसी को न तो किसी प्रकार का दुख होता है और न किसी प्रकार के अकुशल कर्म को ही करना पड़ता है भगवान बुद्ध ने निम्नलिखित पाँच को जीविकोपार्जन से अयोग्य ठहराया था[1]—

१—शस्त्रों का व्यापार करना ।
२—प्राणियो का व्यापार करना ।
३—मदिरादि का व्यापार करना ।
४—मांस का व्यापार करना ।
५—विष का व्यापार करना ।

इनके अतिरिक्त लक्खण सन्त में निम्नलिखित को भी अनुचित[2] बतलाया है ।

१—तराजू की ठगी ।
२—बटखों की ठगी ।
३—नाप की ठगी ।
४—रिश्वत ।
५—धोखा जनी ।
६—कृतघ्नता ।
७—कुटिलता ।
८—कुढन ।
९—वध ।
१०—डकैती ।
११—लूटमार इत्यादि ।

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ७८
२—वही ,, पृ० ७८

६—सम्यक् व्यायाम :—का अर्थ है उचित प्रयत्न करना अथवा उचित उद्योग करना। मनुष्य को जीवन में अनेक प्रकार के प्रयत्न करने पड़ते हैं उनमें कुछ प्रयत्न शोभन होते है और कुछ अशोभन होते हैं। बुद्ध धर्म के आदेशानुसार मनुष्य को शोभन प्रयत्न और उद्योग ही करने चाहिए[1]।

७—सम्यक् स्मृति :—बौद्ध धर्म में सम्यक् स्मृति को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। इसका उल्लेख हम पीछे कर चुके है बौद्ध धर्म में चार स्मृति स्थानों का बड़ा महत्व है। वे स्मृति स्थान क्रमशः इस प्रकार हैं[2]—

कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना, धर्मानुपश्यना। इन सब का स्पष्टीकरण दूसरे प्रसंग में किया जा चुका हैं। अतएव यहाँ पर पुनुरुद्धरणी करना नही चाहती। इतना कह देना आवश्यक है कि इन सबका आचरण सम्यक् समाधि के लिये बड़ा आवश्यक है।

८—सम्यक् समाधि :—अष्टांगिक मार्ग का अन्तिम अंग सम्यक् समाधि है। सम्यक् से ही प्रज्ञा या ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म में अष्टांगिक मार्ग को बड़ा महत्व दिया गया है। इस अष्टांगिक मार्ग की आधार भूमियाँ तीन हैं—शील, समाधि और प्रज्ञा। शील का अर्थ है सदाचरण जैसे पञ्चशील, दसशील आदि जिनकी चर्चा ऊपर कर आए हैं। शील के आचरण से शरीर शुद्ध होता है। और शरीर के शुद्ध होने पर सफल समाधि लगती है, सफल समाधि से चित्त शुद्ध हो जाता हैं। काया और चित्त दोनों के शुद्ध हो जाने पर प्रज्ञा की उत्पत्ति होती हैं।

मध्यम प्रतिपदा :—ऊपर जिस अष्टांगिक मार्ग की चर्चा की गई हैं। उसमें सर्वत्र सम्यक् शब्द का प्रयोग मिलता है। सम्यक् का अर्थ बौद्ध ग्रन्थों में मध्यम भाव लिया गया है। इस मध्यम भाव को भगवान बुद्ध ने बड़ा महत्व दिया है। इसे उन्होंने मध्यम प्रतिपदा का पारिभाषिक नाम दिया है। भगवान बुद्ध ने मध्यम प्रतिपदा को स्पष्ट करते हुये लिखा है[4]:—

'द्वे द्वे भिक्खवे अन्ता पब्बजितेन न सेवितब्बा। कतमे द्वे ? यो चायं कामेसु कामसुखाल्लिकानुयोगो हीनो गम्मो पोथुज्जनिको अनरियो अनत्थ-

---

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ७९
२— ,, ,, ,,
३— ,, ,, ,,
४—बौद्ध दर्शन मीमांसा—बलदेव उपाध्याय पृ० ७१ व ७२

संहितो यो चायं अत्तकिलमथानुयोगो दुक्खो अनरियो अनत्थसंहितो। एते खो भिक्खवे उभे अन्ते अनुपगम्य मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसंबुद्धा चक्खुकरणी जानकरणी उपसमाय अभिञ्जाय सम्बोधाय निब्बाणं संवत्तति।"[1]

अर्थात् परिव्राजक को दोनों अन्तों में से किसी का भी सेवन नहीं करना चाहिए। दो अन्तों मे पहला अन्त है, सांसारिक भोगों के प्रति अत्यधिक आसक्ति का होना और दूसरा अन्त है शरीर को अत्यधिक कष्ट देना। इन दोनों अन्तों के सेवन से मानव भव चक्र से कभी भी मुक्त नहीं होता। मानव का कल्याण दोनों अन्तों के मध्य के सेवन में रहना है। यही ज्ञानोत्पादक मार्ग है। शान्ति की उपलब्धि भी इसी मार्ग के सेवन से मिलती है। निर्वाण की प्राप्ति भी इसी मार्ग पर चलने से सम्भव है। ऊपर जिस अष्टांगिक मार्ग की चर्चा की गई है उसमें से प्रत्येक मार्ग में मध्यमभाव या मध्यम प्रतिपदा का अनुकरण किया जाना चाहिये। यहा पर हम इस मध्यमाप्रतिपदा का बहुत अधिक विस्तार नही करना चाहते किन्तु इतना अवश्यक बल देकर स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भगवान बुद्ध की शिक्षाओं का यह प्राणभूत सिद्धान्त है।

बौद्धों के चार आर्य सत्यों का मध्ययुगीन कवियों पर प्रभाव—

चार आर्य सत्यो के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन ऊपर किया जा चुका हैं। मध्ययुगीन कवियों पर उनका जो प्रभाव दिखाई पड़ता है अब उसका निर्देश करना ही अभीष्ट है।

१—बलदेव उपाध्याय ने पाली के उपर्युक्त उद्धरण का अनुवाद इस प्रकार किया है—हे भिक्षुगण ससार को परित्याग कर निवृतिमार्ग पर चलने वाले व्यक्ति प्रव्रजित को चाहिए कि दोनों अन्तों का सेवन न करे। कौन से दो अन्त, एक अन्त है काम्य वस्तुओं में भोग की इच्छा से सदा लगा रहना। यह विषयानुयोग हीन, ग्राम्य, आध्यात्मिकता से पृथक ले जाने वाला, अनार्य तथा अनर्थ उत्पन्न करने वाला है। दूसरा अन्त है शरीर को कष्ट देना। यह भी दुख अनार्य तया हानि उत्पन्न करने वाला है। इन दोनों अन्तों के सेवन करने से मानव भवचक्र से कभी उद्धार नहीं पा सकता। उसके उद्धार का रास्ता इन अन्तों को छोड़कर बीच का मार्ग है। बुद्ध ने इसी का प्रतिपादन किया है। यह मार्ग नेत्र उन्मीलन करने वाला, ज्ञान उत्पन्न करने वाला है। यह चित्त को शान्ति प्रदान करता है। सम्यक् ज्ञान पैदा करता है तथा निर्वाण उत्पन्न करता है। इसी का सेवन प्रत्येक प्रव्रजित के लिए हितकर है।

मध्ययुगीन कवियों की निर्गुण काव्यधारा पर बौद्धों के आर्य सत्यों का प्रभाव सर्वाधिक दिखाई पड़ता है। यद्यपि सूर तुलसी और जायसी में भी प्रभाव चिन्ह ढूंढ़े जा सकते हैं और उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि मध्ययुग की अन्य काव्यधाराएँ भी आर्य सत्यों से प्रभावित थीं किन्तु इस प्रकार का प्रभाव बहुत कुछ अप्रत्यक्ष ही मानना पड़ेगा। उसे दूरारूढ़ कहें तो भी अनुचित न होगा।

पहला आर्य सत्य दुःख है। कबीर आदि निर्गुणवादी कवियों पर इस आर्य सत्य का प्रभाव बहुत स्पष्ट दिखाई पड़ता है। कबीर ने एक स्थल पर लिखा है "हमने किसी शरीर धारी को सुखी नहीं देखा। जिसे भी देखा वह दुखी ही दिखाई पड़ा। सभी लोग सृष्टि के उदय और विकास के भ्रम जाल में फंसे हुए हैं। चाहे गृहस्थ हो चाहे वैरागी हो, सभी दुखी दिखाई पड़ते हैं। यह बात दूसरी है कि कोई थोड़ा कम दुखी है और कोई अधिक दुखी है। आचार्य शुकदेव जी भव के डर से बारह वर्ष तक माता के गर्भ में ही रहे और जब उत्पन्न हुए तो उसी समय वैरागी हो गए। योगी भी दुखी ही दिखाई पड़ते हैं। जड़ चेतन सभी दुखी प्रतीत होते हैं तपस्वियों को तो और भी अधिक दुख सहना पड़ता है। संसार में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं दिखाई पड़ता जिसको आशा और तृष्णा ने पराभूत करके दुखी न बना रखा हो।"[1] सच बात कहता हूँ तो लोग विश्वास नहीं करते हैं और अगर झूठ बोलूं तो यह उचित प्रतीत नहीं होता। मुझे तो ब्रह्मा, विष्णु महेश तक दुखी दिखलाई पड़ते हैं। क्योंकि सृष्टि के संचालक यही हैं। अवधूत फकीर, राजा, रंक सभी दुखी दिखाई पडते हैं सारा संसार दुखी ही है। केवल—

१—तन धर सुखिया कोई न देखा, जो देखा सो दुखिया हो।
उदय अस्त की बात कहतु है, सबका किया बिबेका हो ॥१॥
घाटे बाढ़े सब दुखिया, क्या गिरही वैरागी हो।
सुकदेव अचारज दुख के डर से, गर्भ से माया त्यागी हो ॥२॥
जोगी दुखिया जंगम दुखिया, तपसी को दुख दूना हो।
आसा तृष्ना सबको ब्यापै, कोइ महल न सूना हो ॥३॥
सांच कहौं तो कोई माने न, झूठ कहा नहिं जाई हो।
ब्रह्मा बिष्नु महेसुर दुखिया, जिन यह राह चलाई हो ॥४॥
अवधू दुखिया भूपति दुखिया, रंक दुखी बिपरीती हो।
कहैं कबीर सकल जग दुखिया, संत सुखी मन जीती हो ॥५॥
क—शब्दावली पृ० ४०

संत जिन्होंने मन पर विजय प्राप्त कर ली है दुखी नहीं हैं। कबीर आदि संतों में इस प्रकार के बहुत से उद्धरण मिलते है जिनमें बौद्धों के दुःख नामक आर्य सत्य की पूरी अभिव्यक्ति मिलती है।

दुख समुदय दूसरा आर्य सत्य है। समुदय का अर्थ है कारण। जब साधक दुख के कारण की विवेचना और खोज करने लगता है तो उसे दुःख समुदय नामक आर्य सत्य की संज्ञा देते हैं। कबीरादि सन्तों में दुख समुदय नामक आर्य सत्य की अभिव्यक्ति भी विस्तार से मिलती है। बौद्ध धर्म में दुख समुदय के रूप में तृष्णा का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। सन्त लोग बौद्ध धर्म और दर्शन की इस बात से भी प्रभावित हुए थे। उन्होंने उन्ही के अनुकरण पर आशा, तृष्णा, कामना आदि को समस्त दुखो का कारण व्यंजित किया है। कामना या चाह के रूप में दुख समुदय का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं साधक तभी सुख-सिंधु की सैर कर सकता है। जबकि वह कामना या चाह के माधुर्य को भूल जाए। कामना में समस्त रोग उसी तरह से व्याप्त रहते हैं जिस प्रकार बीज में तथाक्रम विस्तार व्याप्त रहता है। अतएव कामना का परित्याग करके साधक को दृढ वैराग्य ग्रहण करना चाहिए।[1]

जो वासना रहित हो जाता है वही तत्व अनुरक्त हो पाता है। कबीर ने समुदय के रूप में तृष्णा का भी अनेक प्रकार से उल्लेख किया है एक स्थल पर उन्होंने लिखा है "तृष्णा" की अग्नि ने प्रलय कर रखी है फिर भी तृप्त नही होती। वह सुर नर मुनि सबको भस्म करती है[2] इसी प्रकार एक दूसरे

१—सुख सिंधु की सैर का स्वाद तब पाइ है।
चाह का चौतरा भूलि जावै।
बीज के माँहि ज्यो वृच्छ विस्तार,
यो चाह के माँहि सब रोग आवै॥
दृढ वैराग में हो आरूढ मन,
चाह के चौतरे आग दीजै।
कहै कबीर यों होय निर वासना,
तत सों रत्त होय काज कीजै॥

कबीर साहब की शब्दावली भाग १ पृ० ४३

२—त्रिसना अग्नि प्रलय किया, तृप्त न कबहू होय।
सुर नर मुनि और रंक सब भस्म करत हैं सोय॥

कबीर साखी संग्रह पहला दूसरा भाग पृ० १४६

स्थल पर उन्होंने आशा और तृष्णा दोनों को दुख समुदय के रूप में व्यक्त किया है। वह लिखते हैं कि कर्म के वन में आशा की बेल खिली हुई है जो मन के साथ साथ बढ़ती जाती है। उस आशा लता का फूल तृष्णा है और फल तो परमात्मा ही जानता है।[1]

तीसरा आर्य सत्य निरोध है। दुख समुदय के निराकरण करने को ही निरोध कहते हैं। निरोध के अतंर्गत वे साधन आते हैं जो समुदय के निराकरण में सहायक होते है। कबीर आदि संतों ने इस आर्य सत्य को भी अच्छी तरह से पहचाना था। उन्होंने इस आर्य सत्य का वर्णन अधिकतर आध्यात्मिक युद्ध के रूप में किया है। दुख समुदय शत्रु रूप में चित्रित किए गए हैं, साधक उनसे युद्ध करता है कबीर ने इस आध्यात्मिक युद्ध का वर्णन करते हुए लिखा है—हमने शत्रुओं दुख समुदय से युद्ध करने के लिए अपने शरीर को बन्दूक बनाया है, सांस को बारूद किया है ज्ञान को गोला बनाया है सुरत को जामकी बनाया है इस प्रकार की युद्ध सामग्री के इकट्ठा होते है भ्रम की दीवारें टूट जाती है।[2] इस प्रकार का एक उद्धरण और है, कबीर लिखते हैं सूर संग्राम को देखकर डरता नहीं है जो डरता नहीं है वही सूर कहलाता है। काम, क्रोध, मद लोभ आदि शत्रु हैं, उनसे घमासान युद्ध हो रहा है, शील संतोष आदि सहायक हैं। नाम की तलवार लेकर के युद्ध करने मे लगे हुए हैं। इस प्रकार के युद्ध में कोई सूर ही समर्थ होता है कायर

१—आत्मा बेलि कर्म वन, बाढ़त मन के साथ।
त्रिस्ना फूल चौगान में फल कर्ता के हाथ॥
कबीर साखी संग्रह भाग १ पृ० १४२

२—देह बन्दूक और पवन बारू किया
ज्ञान गोली तहां खूब डाटी,
सुरत की जामकी मूठ चोये लगी।
मर्म की भीत सब दूर फाटी,
कहं कबीर कोइ खेलि हैं सूरमा॥
कबीर साहिब की शब्दावली भाग १ पृ० १०५

इस प्रकार के युद्ध से डर जाता है।[1] इस प्रकार के और भी सैकड़ों उद्धरण संतों की वानियों में ढूढे जा सकते हैं जिनमें निरोध आर्य सत्य की पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है।

चतुर्थ आर्य सत्य का नाम है निरोध गामनी प्रतिपदा। इसके अतर्गत प्रसिद्ध निरोध गामी अष्टांगिक मार्ग आता है। इस अष्टांगिक मार्ग की आधार भूमि[2] है प्रज्ञा शील और समाधि। जैसा कि अभी दिखा आई हूँ प्रज्ञा के अतंर्गत सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प आते है। शील के अतंर्गत सम्यक्वाचा, सम्यक् कर्मान्त, और सम्यक् आजीविका ये तीन तत्व आते हैं। समाधि के अन्तर्गत सम्यक् व्यायाम सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि आते हैं। यह त्रियोन्मुखी साधना ही भगवान् बुद्ध के अनुसार दुःख को दूर करने का प्रमुख साधन थी।

अष्टांगिक-मार्ग और मध्य युगीन कवियों पर उसका प्रभाव

अष्टांगिक मार्ग में सबसे पहले सम्यक् दृष्टि आती है। कुशल और अकुशल कर्मों का विवेक ही सम्यक् दृष्टि कहलाता है। कुशल और अकुशल कर्मों का विवेचन हम ऊपर कर आए है। ये भी तीन प्रकार के होते हैं कायिक वाचिक और मानसिक। सन्तों की वानियों में हमे अष्टांगिक मार्ग की छाया मिलती है। कायिक कर्मों के अन्तर्गत हम हिंसा और अहिंसा सम्बन्धी सम्यक् दृष्टि ले सकते हैं। कबीर ने देखिये एक स्थान पर हिंसा अहिंसा की कैसी सम्यक् दृष्टि प्रस्तुत की है[3]।

१—सूर संग्राम को देखि भागै नाहीं,
देखि भागै सोई सूर नाहीं।
काम औ क्रोध मद लोभ से जूझना,
मंडा घमसान तहं खेत माहीं॥
सील और सांच संतोष साही भये,
नाम समसेर तहं खूब बाजे॥
कहै कबीर कोइ जूझिहैं सूरमा,
कायरा भीड़ तहं तुरन्त भाजे॥
कबीर साहब की शब्दावाली भाग १ पृ० १०५

२—अष्टांगिक मार्ग का विवरण देखिए।
बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ६९

३—क० साखी संग्रह पहला दूसरा भाग पृ०

काटि सरजीव धरि थाप निरजीव को
जीव के हतन अपराध भारी।
जीव को दर्द वेदर्द कसके नहीं
जीभ के स्वाद नित जीव मारी ॥

इसी प्रकार मानसिक कर्म सम्बन्धी सम्यक् दृष्टि का उदाहरण यह है— इसमे लोभ और अलोभ सम्बन्धी सम्यक् दृष्टि की व्यंजना मिलती है। कबीर लिखते हैं "जब मन लोभ में आक्रान्त हो जाता है और विषय वासना में फंस जाता है तो फिर उसे भक्ति धन का बोध[1] नहीं रहता इसी प्रकार वाचिक कर्म झूट और सत्य से सम्बन्धित उदाहरण यह है—

झूठे झूठे रहयो अरुझाई, साचा अलख जग अख्यान जाई।
साचे निर्यर झूठे दूरी विपे कहै सजीव निभूरी ॥[2]

इस प्रकार हम देखते है कि कबीर आदि में सम्यक् दृष्टि से प्रभावित बहुत सी उक्तियां मिलती हैं।

सम्यक् दृष्टि के बाद संकल्प नामक अष्टांगिक मार्ग आता है। कबीर आदि निर्गुणियें कवियों मे इस अष्टांगिक मार्ग के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। कबीर का निम्नलिखित शब्द देखिए:—

ओ मन मूरख खेतीवान, जतन बिनु मिरगन खेत उजारा।
पांच मिरग पच्चीस मिरगनी, ता मैं एक सिंगारा ॥
अपने अपने रस के भोगी, चरन फिरै न्यारा न्यारा ॥
काम क्रोध दुइ मुख्य मिरग है, नित उठि चरत सवारा।
मारै मरै टरै नहि टारे, बिडवत नाहिं बिड़ारा
अति परचंड महादुख दारुन वेद सास्त्र पचि हारा।
प्रेम बान लै चढ़ेव पारधी, भाव भक्ति करि मारा ॥
सत की बेंड़ धर्म की खाई, गुरु का सबल रखारा।
कहै कबीर चरन नहि पावे, अब की बार सम्हारा[3] ॥

१—जब मन लागा लोभ में गया विषय में भोय।
कहैं कबीर विचारि के कस धन होए।
कबीर त्रिस्ना पापिनी ता पे प्रीति न जोरि।
पैंड़ पैंड़ पीछे परे लागे मोटी खोरि ॥
कबीर शब्दावली भाग १ पृ० १४१

२—कबीर ग्रन्थावली पृ० २३५

३—कबीर साहब की शब्दावली भाग १ पृ० ६३

इस अवतरण में सम्यक् संकल्प के रूप में अन्तिम दो पंक्तियाँ विशेष रूप से दृष्टव्य हैं।

सम्यक् कर्मान्त अष्टांगिक मार्ग का तीसरा अंग है। सम्यक् कर्मान्त के अन्तर्गत एक ओर तो पवित्र आजीविका आती है और दूसरी ओर पंचशील आते हैं। संतों ने सम्यक् आजीविका के रूप में फक्कड़ फकीरी की चर्चा की है। कबीर लिखते हैं कि मेरा मन फ़कीरी में लगा है इस फकीरी में नामजप का सुख मिलता है। यह अमीरी से भी अच्छी है। संत जीवन व्यतीत करने वाले सबकी अच्छी बुरी बातें सहन कर लेते हैं। और गरीबी के साथ अपना जीवन बिताते हैं। प्रेम नगर में ही निवास करते हैं, सब्र औ सन्तोष को ही अपना धन समझते हैं। हाथ में उनके कून्डी रहती है बगल में सोंटा रहता है चारो दिशाओं में वे अपनी जागीर समझते हैं[1] इस प्रकार वे अभिमान विहीन सन्तोष पूर्ण जीवन व्यतीत करते है।

पचशील के अन्तर्गत बौद्ध धर्म में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और सुरा त्याग आते हैं। मध्ययुगीन कवियों में हमें पंचशील की अभिव्यक्ति प्रायः सभी मे किसी न किसी रूप में मिलती है। हाँ इतना अवश्य है कि बौद्धों के सदृश इनका सिद्धान्त रूप से कथन शायद ही किसी कवि ने किया हो पंचशील का पहला तत्व अहिंसा है। इस अहिंसा के महत्व से मध्ययुग के सभी कवि अच्छी तरह से परिचित थे। कबीर आदि ने सर्वत्र अपनी बानियों में आस्था प्रकट की है। कबीर ने लिखा है "मांस आदि का भोजन करने वाले प्रत्यक्ष राक्षस होते हैं। ऐसे लोगों का साथ कभी नहीं करना चाहिए। ऐसे लोगो का साथ करने से भजन में बाधा पड़ती है[2]। कहीं कही तो

१—मन लागो मेरो यार फकीरी में
जो सुख पायो नाम भजन में, सो सुख नाहि अमीरी में
भला बुरा सबको सुन लीजै, कर गुजरान गरीबी में
प्रेम नगर में रहनि हमारी, भलि बनिआई सबूरी में
हाथ कूंडी बगल में सोटा चारो दिशा जगीरी में ॥
आखिर यह तन खाक मिलेगा कहा फ़िरत मगरूरी में ॥
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, साहब मिलै सबूरी में।
क० साहब की शब्दावली भाग १ पृ० १७

२—मांस अहारी मानवा परतछ राछस अंग।
ताकी संगति मत करो, परत भजन में भंग।
कबीर साखी संग्रह, भाग १ और २। पृ० १०१

उन्होंने हिंसकों के प्रति अच्छी चुटकी भी ली है। एक स्थल पर उन्होंने लिखा है कि "बकरी पत्ती खाती है तब तो उस बेचारी की खाल खींच ली जाती है किन्तु जो लोग बकरी खाते हैं उनका क्या हाल होगा[1]।" इसी प्रकार मुसलमानों के द्वारा की गई हिंसा के प्रति कटाक्ष करते हुए उन्होंने लिखा है "वे दिन में तो रोजा रखते हैं और रात को गोहत्या करते हैं। भला हत्या और पूजा का क्या सम्बन्ध है। ऐसे लोगों से परमात्मा प्रसन्न नहीं होता[2]।" इसी प्रकार अन्य निर्गुणियां कवियों ने भी अहिंसा के प्रति आस्था प्रकट की है।

जायसी आदि सूफी कवियों ने भी बौद्धों की अहिंसा के महत्व को स्वीकार किया है। जायसी ने अपने पद्मावत के बनजारा खंड में अहिंसा के महत्व को स्वीकार करते हुए लिखा है "वह मनुष्य बड़ा ही निष्ठुर होता है जो दूसरे का वध करता है और हत्या से भयभीत नहीं होता। दूसरे का मांस भक्षण करने वाले निश्चय ही बड़े निष्ठुर होते हैं[3]।" अहिंसा के महत्व को तुलसीदास जी ने भी स्वीकार किया है। उन्होंने मानस में एक स्थान पर लिखा है "हे भाई दूसरों को दुःख पहुंचाने के बराबर कोई पाप नहीं है, समस्त धर्म शास्त्रों का यही निचोड़ है। मानस शरीर धारण करके जो दूसरों को कष्ट पहुंचाते हैं उन्हें आवागमन के कष्टों को सहन करना पड़ता है।[4] इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर उन्होंने बौद्धों के सदृश ही अहिंसा को परम धर्म कहा है।

१— बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जो बकरी को खात हैं, तिनका कौन हवाल ॥
कबीर साखी संग्रह, भाग १ और २। पृ० १७२।

२— दिन को रोजा रहत हैं, रात हनत हैं गाय।
यह खून वह बन्दगी, कह क्यों खुसी खुदाय ॥
कबीर साखी संग्रह, भाग १ और २। पृ० १७२।

३— निठुर होइ जिउ बधसि परावा। हत्या केर न तोहि डर आवा।
कहसि पंखि का दोस जनावा। निठुर तेइ जे परमस खावा ।।
—जायसी ग्रन्थावली, पृ० ३१।

१— परहित सरिस धर्म नहीं भाई पर पीड़ा सम नही अधमाई।
निर्णय सकल पुराण बेद कर कहेउ तात जानत कोविद नर ॥
नर शरीर धर जे पर पीड़ा करते सहै महा भव भीरा।
सटीक मोटा टाइप गीता प्रेस रामचरित मानस पृ० १०६६-७

"परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा"

अहिंसा के महत्व से सूरदास जी भी परिचित थे। उन्होंने भी हिंसा के प्रति स्थान स्थान पर घृणा का भाव प्रकट किया है। एक स्थल पर वह लिखते हैं—"बहुत से लोग विविध प्रकार की कामनाओं से प्रेरित होकर पशु हत्या करते हैं। इस प्रकार वे पाप के भागी बनते हैं[१]। मध्ययुग के अन्य कवियों में भी हमें अहिंसा के महत्व का प्रतिपादन मिलता है। अहिंसा को इतना अधिक महत्व देने का कारण हमारी समझ में बौद्ध प्रभाव ही है।

अहिंसा के अतिरिक्त बौद्ध पञ्चशील के अंतर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय और सुरात्याग आदि भी आते हैं। इस सबके उदाहरण भी मध्ययुगीन कवियों में सरलता से मिल जाते हैं। किन्तु विस्तार भय से उन सबके उदाहरण यहां नहीं दिए जा सकते। यहाँ पर हम केवल सत्य के दो एक उदाहरण देकर यह स्पष्ट करेंगे कि मध्ययुगीन कवि बौद्ध पञ्चशीलों में सत्य से भी अहिंसा के सदृश ही प्रभावित हुए थे। सन्त लोग सत्य को अपने विचारों और साधना की आधार भूमि मानते थे। कबीर तो सत्य के बराबर दूसरा तप ही नहीं समझते थे।[१] उनका विश्वास था कि भगवान् उसी के हृदय में रहते हैं जो सत्य का उपासक है। सत्य के उपासक को न तो शाप का भय रहता है, न काल का ही भय रहता है[२]। कबीर का स्पष्ट आदेश था कि सत्य ही सुनना चाहिए, सत्य ही कहना चाहिए और सत्य नाम की ही आशा करनी चाहिये। सत्य नाम को जान कर जग से उदास रहना चाहिए[३]।

इसी प्रसंग में हम 'सत्त' नाम शब्द पर भी विचार कर लेना चाहते हैं। इस शब्द का प्रयोग सन्तों ने बहुत अधिक किया है। यह शब्द भी

२—कामना करि कोटि कबहूं किए बहु पशु घात।
सूर सागर पृ० ५५

१—सांच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
जाके हृदय सांच है ता हृदय गुरू आप॥
कबीर साखी संग्रह पृ० १५० भाग १-२

२—सांचे श्राप न लागई सांचे काल न खाय।
कबीर साखी संग्रह पृ० १५१ भाग १-२

३—सांच सुनै और सत कहै सत्त नाम की आस।
संत नाम को जान कर जग से रहै उदास॥
क० साखी संग्रह पृ० ५२ भाग १-२

सम्भवतः उन्हें बौद्धों से ही प्राप्त हुआ था। अंगुत्तर निकाय में 'सत्त' या सच्चे नाम का प्रयोग भगवान् बुद्ध के लिए किया गया है[1]।

सत्य के महत्व से सूफी कवि लोग भी पूर्णतया परिचित थे। यह बात जायसी के राजा सुआ संवाद खण्ड में आई हुई निम्नलिखित विचारधारा से प्रकट है, वह राजा के मुख से है—"हे तोते तुझे सत्य बोलना चाहिए। सत्य हीन व्यक्ति बिल्कुल निस्सार होता है। सत्य बोलने वाले का मुख प्रकाशित रहता है। जहाँ सत्य है वहीं पर धर्म रहता है। सारी सृष्टि सत्य से ही बंधी हुई है। लक्ष्मी भी सत्य की ही चेरी है। सत्य से ही साहस पूर्वक सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। सती सत्य को ही सवांर कर चिता पर बैठ जाती है। जो सत्य का आचरण करता है उसका उद्धार दोनों लोक में हो जाता है। सत्य बोलने वाला भगवान् को भी प्यारा होता है[2]।

सम्यक् वचन :—सम्यक् वचन का अर्थ है ठीक भाषण करना। ठीकभाषण के अन्तर्गत–

१—सत्य बोलना और असत्य की निन्दा करना।

२—कटुवचन न बोलना।

३—जो कुछ कहना उस को आचरण के रूप में परिणत कर देना।

सन्तों पर बौद्धों के सम्यक् वचन का भी अच्छा प्रभाव दिखाई पड़ता है। सम्यक् वचन का पहला महत्व पूर्ण अंग सत्य भाषण है। कबीर आदि सन्त इसके महत्व से पूर्णतया परिचित थे। एक स्थल पर कबीर ने लिखा है "मैं उस पर अपना तन मन निछावर करने के लिये तैयार हूँ। जो सत्य

१—अंगुत्तर निकाय जिल्द ३ पृ० ४४६

२—राजै कहा सत्य कहु सूआ। बिनु सतजस सेंवर कर भूआ।
होई मुखरात सत्य के बाता। जहां सत्य जहं धर्म संघाता॥
बांधी सिहिटि अहो सत केरी। लछिमी अहै सत्य कै चेरी॥
सत्य जहां साहस सिधि पावा। औ सतवादी पुरुष कहावा॥
सत कहं सती संवारे सरा। आगि लाइ चहुं दिसि सत जरा।
दह जग तरा सत्य जेइराखा। और पियार दइहि सत साखा।
सो सत छांड़ि जो धरम बिनासा। भा मतिहीन कीन्ह सत नासा।
जा० ग्रं० पृ० ३८।

बोलता है[1] इसी प्रकार कबीर ने एक दूसरे स्थल पर और लिखा है—मनुष्य को अच्छी तरह से सोच विचार कर बोलना चाहिए[2]। इसी प्रकार संतों ने कुटिल और कटु वचनों की निन्दा की है। कबीर कहते हैं कुटिल और कटु वचन बुरे होते हैं। ये बोलने वाले और सुनने वाले दोनों के शरीर को जला देते हैं[3]। सन्तों ने सम्यक् वचन के करनी और कथनी की एकता वाले पक्ष पर भी बल दिया है। कबीर लिखते हैं "अज्ञानी लोग ही करनी विहीन कथनी बोला करते हैं। इस प्रकार का करनी के बिना कथनी कहना कुत्ते के भौंकने के सदृश है[4]। इस प्रकार सन्तों में हमें सम्यक् वचन नामक अष्टांगिक मार्ग के अंग का पूरा पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है।

सम्यक् वचन का थोड़ा बहुत प्रभाव सूफी कवियों पर भी ढूंढा जा सकता है।

सम्यक् आजीविका—यह पांचवां अंग है। सम्यक् आजीविका का अर्थ है इमानदारी से अपने परिश्रम पूर्वक अपनी आजीविका अर्जित करना। सन्तों पर सम्यक् आजीविका का पूरा पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। जीविका के लिए किसी को ठगना कबीर आदि सन्तों को बिल्कुल पसन्द न था। वे कहते हैं—

कबीर आप ठगाइए और न ठगिए कोय।
आप ठगा सुख होत है और ठगे दुःख होय॥

कबीर साखी संग्रह भाग २ पृ० १०५

सन्त लोग आजीविका रूप पेट भर भोजन माग लेना अधिक उपयुक्त समझते थे बनिस्वत इसके कि किसी को ठगा जाय।

१—तन मन तापर वारहू जो कोई बोलै सांच।
क० सा० सं० पृ० १५१

२—बोले बोल विचारि कै बैठे ठौर सम्हारि॥
कबीर साखी संग्रह पृ० १५३

३—कुटिल वचन सबसे बुरा जारिकरै तन छार।
वही पृ० १४०

४—करनी बिन कथनी कथै अज्ञानी दिनरात
कूकर ज्यों भूसत फिरै सुनी सुनाई बात।
क० सा० सं० पृ० ८५

उदर समाता माँगि ले ताको नाही दोष।
कह कबीर अधिका गहे ताकी गती न मोष॥

कबीर साखी संग्रह भाग २ पृ० १०७

इसी प्रकार इससे मिलती जुलती दूसरी साखी भी है—

बिन माँगा तो अति भला माँगि लिया नहि दोष।
उदर समाना माँगि ले निश्चय पावै मोक्ष॥

का० सा० सं० पृ० १४८ भाग २

जीविकोपार्जन में सन्त लोग सन्तोष को सर्वाधिक महत्व देते हैं।

गो धन गज धन बाज धन और रतन धन खान।
जब आवै सन्तोष धन सब धन धूरि समान॥

क० सा० सं० पृ० १४८ भाग २

इस प्रकार सन्तों की बानियों में सैकड़ों उदाहरण मिलते है जिनसे प्रगट है कि उन पर बौद्धों की सम्यक् आजीविका वाले अंग का अच्छा प्रभाव पड़ा है। राम काव्य धारा के कवियों में भी सम्यक् आजीविका के उदाहरण ढूँढ़े जा सकते हैं। विस्तार भय से उन्हें उद्धृत नहीं कर रही हूँ।

सम्यक् व्यायाम—सम्यक् व्यायाम का अर्थ है उचित प्रयत्न करना। जब मनुष्य अपनी शक्तियों को उचित दिशाओं में परिवर्तित कर देता है तब उसके उस प्रयास को सम्यक् व्यायाम कहते है। सन्तों की बानियों में हमें सम्यक् व्यायाम के बहुत उदाहरण मिलते हैं। सन्तों ने सम्यक् व्यायाम की अभिव्यक्ति असम्यक् व्यायाम की निन्दा करके भी की है। कबीर ने व्यर्थ को धन एकत्रित करने में अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने वालों की निन्दा करते हुए लिखा है :—

कबीर सो धन संचिए जो आगे को होय।
सीस चढ़ाए गाठरी जात न देखा कोय॥

क० सा० सं० पृ० १४६

इसी प्रकार और भी उदाहरण ढूंढे जा सकते है जिन पर सम्यक् व्यायाम का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

सम्यक् स्मृति—बौद्ध धर्म में स्मृति को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। इस पर मैं आगे ३७ बोध्यंगों के प्रसंग में विस्तार से विचार करूंगी अतः यहाँ पर इस पर विशेष प्रकाश नहीं डाल रही हूँ।

बोलता है[1] इसी प्रकार कबीर ने एक दूसरे स्थल पर और लिखा है– मनुष्य को अच्छी तरह से सोच विचार कर बोलना चाहिए[2]। इसी प्रकार संतों ने कुटिल और कटु वचनों की निन्दा की है। कबीर कहते है कुटिल और कटु वचन बुरे होते हैं। वे बोलने वाले और सुनने वाले दोनों के शरीर को जला देते हैं[3]। सन्तों ने सम्यक् वचन के करनी और कथनी की एकता वाले पक्ष पर भी बल दिया है। कबीर लिखते हैं "अज्ञानी लोग ही करनी विहीन कथनी बोला करते हैं। इस प्रकार का करनी के बिना कथनी कहना कुत्ते के भौंकने के सदृश है"[4]। इस प्रकार सन्तों में हमें सम्यक् वचन नामक अष्टांगिक मार्ग के अंग का पूरा पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है।

सम्यक् वचन का थोड़ा बहुत प्रभाव सूफी कवियों पर भी ढूंढा जा सकता है।

सम्यक् आजीविका—यह पांचवां अंग है। सम्यक् आजीविका का अर्थ है इमानदारी से अपने परिश्रम पूर्वक अपनी आजीविका अर्जित करना। सन्तों पर सम्यक् आजीविका का पूरा पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। जीविका के लिए किसी को ठगना कबीर आदि सन्तों को बिल्कुल पसन्द न था। वे कहते हैं—

कबीर आप ठगाइए और न ठगिए कोय।
आप ठगा सुख होत है और ठगे दुःख होय॥

कबीर साखी संग्रह भाग २ पृ० १०५

सन्त लोग आजीविका रूप पेट भर भोजन माग लेना अधिक उपयुक्त समझते थे बनिस्बत इसके कि किसी को ठगा जाय।

१—तन मन तापर वारहू जो कोई बोलै सांच।
क० सा० सं० पृ० १५१

२—बोले बोल विचारि कै बैठे ठौर सभारि॥
कबीर साखी संग्रह पृ० १५२

३—कुटिल वचन सबसे बुरा जारिकरे तन छार।
वही पृ० १४०

४—करनी बिन कथनी कथै अज्ञानी दिनरात
कूकर ज्यों भूसत फिरै सुनी सुनाई बात।
क० सा० सं० पृ० ८५

उदर समाता माँगि ले ताको नाही दोष।
कह कबीर अधिका गहै ताकी गती न मोष ॥

कबीर साखी संग्रह भाग २ पृ० १०७

इसी प्रकार इससे मिलती जुलती दूसरी साखी भी है—

बिन माँगा तो अति भला माँगि लिया नहि दोष।
उदर समाना माँगि ले निश्चय पावै मोक्ष ॥

का० सा० सं० पृ० १४८ भाग २

जीविकोपार्जन में सन्त लोग सन्तोष को सार्वाधिक महत्व देते हैं।

गो धन गज धन बाज धन और रतन धन खान।
जब आवै सन्तोष धन सब धन धूरि समान ॥

क० सा० सं० पृ० १४८ भाग २

इस प्रकार सन्तों की बानियों में सैकड़ों उदाहरण मिलते है जिनसे प्रगट है कि उन पर बौद्धों की सम्यक् आजीविका वाले अंग का अच्छा प्रभाव पड़ा है। राम काव्य धारा के कवियों में भी सम्यक् आजीविका के उदाहरण ढूँढ़े जा सकते हैं। विस्तार भय से उन्हें उद्धृत नहीं कर रही हूँ।

सम्यक् व्यायाम—सम्यक् व्यायाम का अर्थ है उचित प्रयत्न करना। जब मनुष्य अपनी शक्तियों को उचित दिशाओं में परिवर्तित कर देता है तब उसके उस प्रयास को सम्यक् व्यायाम कहते है। सन्तों की बानियों में हमें सम्यक् व्यायाम के बहुत उदाहरण मिलते है। सन्तो ने सम्यक् व्यायाम की अभिव्यक्ति असम्यक् व्यायाम की निन्दा करके भी की है। कबीर ने व्यर्थ को धन एकत्रित करने में अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने वालों की निन्दा करते हुए लिखा है :—

कबीर सो धन सोचिए जो आगे को होय।
सीस चढ़ाए गाठरी जात न देखा कोय ॥

क० सा० सं० पृ० १४६

इसी प्रकार और भी उदाहरण ढूंढ़े जा सकते है जिन पर सम्यक् व्यायाम का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

सम्यक् स्मृति—बौद्ध धर्म में स्मृति को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। इस पर मैं आगे ३७ बोध्यंगों के प्रसंग में विस्तार से विचार करूंगी अतः यहाँ पर इस पर विशेष प्रकाश नहीं डाल रही हूँ।

सम्यक् समाधि—का अर्थ उचित ध्यान में मन को केन्द्रित करना। उचित ध्यान से उनका अभिप्राय शून्यता के ध्यान से रहा है। सम्यक् समाधि की छाया देखिये कबीर के निम्नलिखित वर्णन पर स्पष्ट दिखाई पड़ती है—

> सील सन्तोष में सबद जा मुख बसै, संत जन जौहरी साच मानी ॥
> बदन विकसित रहै ख्याल आनन्द में, अधर में मधुर मुसकात बानी ॥
> साच डोले नहीं झूठ बोले नहीं, सुरति में सुमति सोई श्रेष्ठ ज्ञानी[1] ॥

मध्यमा प्रतिपदा—ऊपर जिस अष्टांगिक मार्ग का वर्णन किया गया है वह मध्यमा प्रतिपदा ही है। सम्यक् शब्द सर्वत्र मध्यम का ही पर्यायवाची है। मध्य युगीन कवियों की बानियों में जैसा कि दिखा आई हूँ पूरे अष्टांगिक मार्ग का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस प्रभाव के अतिरिक्त सन्त कवियों ने अधि के अंग के बहाने से मध्यमा प्रतिपदा में अपनी अटूट आस्था प्रगट की है। जिस प्रकार बौद्ध लोग अति का परित्याग करना बड़ा आवश्यक समझते थे उसी प्रकार कबीर ने भी लिखा है—

> अति का भला न बोलना अति की भली न चूप।
> अति का भला न बरसना अति की भली न धूप ॥

इसी प्रकार उन्होंने मध्यमार्गानुसरण का उपदेश दिया है।

> भजूं तो को है भजन को तजूं तो को है आन।
> भजन तजन के मध्य में सो कबीर मन मान[2] ॥

इसी प्रकार के सैकड़ों उदाहरण मिलते है जिनमें मध्यमार्गानुसरण का उपदेश दिया गया है।

भगवान बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण के समय अपने शिष्यों को सैंतीस बोधि पक्षीय धर्मों के पालन का आदेश दिया था। वे सैंतीस बोधि पक्षीय धर्म इस प्रकार हैं :—

(१) चार स्मृति प्रस्थान।
(२) चार सम्यक् प्रधान।
(३) चार ऋद्धिपाद।
(४) पांच इन्द्रिय।

१—कबीर साहब की ज्ञान गुदड़ी पृ० ३८

२—कबीर साखी संग्रह पृ० ७९—८० भाग १ व २ ।३। वही

(५) पाँच बल।
(६) सात बोध्यंग।
(७) आर्य अष्टांगिक मार्ग।

ये सब मिलकर सैंतीस हो जाते हैं। आगे हम इन पर विस्तार से विचार करेंगे। पहले बोधि पक्षीय धर्म के अर्थ को स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

बोधि पक्षीय धर्म का स्पष्टीकरण:—बोधि पक्षीय शब्द का स्पष्टीकरण आचार्य बुद्धघोष[1] ने किया है। उन्होंने लिखा है आर्य मार्ग रूप बोधि या ज्ञान के पक्ष में होने के कारण अर्थात सहायक रूप धर्मों को बोधि पक्षीय धर्म कहते हैं। ये बोधि की ओर ले जाने वाले धर्म हैं। बोधि प्राप्ति में इनका बहुत बड़ा स्थान है। अतएव इनका आचरण अप्रमाद से करना चाहिये। ये बोधि पक्षीय धर्म सम्पूर्ण बौद्ध साधना की आधार भूमि माने जाते हैं। इस बोधि पक्षीय धर्म की प्रतिष्ठा भगवान् ने एकान्तिक साधना की दृष्टि से नहीं की थी। उसका उपदेश लोक कल्याणार्थ किया गया था। यह बात भगवान के परिनिर्वाणसुत्त के निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट है— "भिक्षुओं मैंने जो तुम्हे धर्म उपदेश किये हैं, जैसे कि चार स्मृति प्रस्थान चार सम्यक् प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच इन्द्रिय, पाँच बल, सात बोधियंग और आर्य अष्टांगिक मार्ग, इनका तुम अभ्यास करना, बढ़ाना, ताकि यह धर्म स्थायी हो, और बहुत जनो के हित, सुख और कल्याण के लिए हो[2]।"

चार स्मृति प्रस्थान:—चार स्मृति प्रस्थानों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं:—

१—काया में काया-नुपश्यना।
२—वेदना में वेदनानुपश्यना।
३—चित्त में चित्तानुपश्यना।
४—धर्मों मे धर्मानुपश्यना।

इन सबके स्वरूप का स्पष्टीकरण करने से पहिले हम स्मृति और सम्प्रजन्य के महत्त्व का संकेत कर देना चाहते है।

१—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन भाग १ पृ० ३३६
२—दीघ निकाय २।३

स्मृति का महत्व :—बौद्ध धर्म में स्मृति का बहुत बड़ा महत्व बतलाया गया है। इस धर्म की साधना पद्धति में स्मृति शब्द का प्रयोग काया और मन के द्वारा किए गए कर्मों की यादगारी के अर्थ में किया गया है। औचित्य और अनौचित्य सोचते हुए ज्ञान पूर्वक प्रत्येक कर्म के करने को स्मृति कहा जाता है। दूसरे शब्दों में यूं कहा जा सकता है कि विचार पूर्वक किए गए कर्म के लिए ही स्मृति शब्द का प्रयोग किया जाता है[1]। भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को प्रत्येक अवस्था में *स्मृति का आश्रय लेने का आदेश दिया है। जब आनन्द ने भगवान से* यह प्रश्न किया कि 'स्त्रियों के साक्षात्कार होने पर हम उनके प्रभाव से कैसे बचेंगे तो भगवान ने कहा "हे आनन्द स्मृति ही बनाए रखना! तुम्हारे ऊपर उनके साक्षात्कार का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ पायेगा[2]। फिर आगे उन्होंने यह भी कहा कि जितनी भी दुष्ट इच्छाएं है उनको जीतने का उपाय स्मृति है। वह मार को परास्त करने का अमोघ अस्त्र है[3]। मिथ्या मतवाद रूपी जितने झरने इस लोक मे बहते हैं उनसे वह साधक को बचाती हैं। स्मृति प्रस्थान एक प्रकार का मध्य मार्ग है। यह *बात भगवान के निम्नलिखित शब्दो से प्रकट है।*—"पूर्वांत जीव और लोक के आदि सम्बन्धी और अपरान्त (जीव और लोक के अंत सम्बन्धी) दृष्टियों के दूर करने के लिए, अतिक्रमण करने के लिए मैंने चार स्मृति प्रस्थानों का उपदेश दिया है[4]।

सम्प्रजन्य का महत्व:—स्मृति के सदृश ही बौद्ध साधना मे सम्प्रजन्य को महत्व दिया गया है। अनेक स्थलो पर भगवान का यही आदेश मिलता है कि भिक्षु को स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त रहना चाहिए। ऐसे भिक्षु पर मार कभी आक्रमण नही कर सकता। सम्प्रजन्य का सामान्य अर्थ स्मृति से ही मिलता जुलता है। स्मृति का अर्थ है विचार पूर्वक और सम्प्रजन्य का अर्थ है ज्ञान पूर्वक। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बौद्ध साधना में प्रत्येक कर्म के करने से पहले साधक को विचार और ज्ञान का *आश्रय अवश्य लेना चाहिये*[1]।

१—बौद्ध दर्शन और भारतीय दर्शन—भरतसिंह पृ० ३३९

२—महापरिनिब्बाणसुत्त—दीर्घनिकाय २।३

३—सुत्तनिपात-पारायण वग्ग

४—पासादिक सुत्त दीघ निकाय ३।६

१ - बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन—भरतसिंह पृ० ३४२

चार स्मृति प्रस्थानों का स्पष्टीकरण—

ऊपर हम चार स्मृति प्रस्थानों के नाम बतला आए हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं :—

१—काया में कायानुपश्यना।
२—वेदना में वेदनानुपश्यना।
३—चित्त में चित्तानुपश्यना।
४—धर्म में धर्मानुपश्यना।

१—कायानुपश्यना:—काया के दोषों का विचार करना और उन दोषों से बचने का अभ्यास करना कायानुपश्यना है। साधक काया के अशुभ और विकृत स्वरूप का चिन्तन करता हुआ तथा उसकी नश्वरता को सोचता हुआ लौकिक रागों से मुक्त होने का प्रयास करता है। इस कायानुपश्यना का महत्व बौद्ध साधना में बड़े विस्तार से बतलाया गया है। भगवान ने कहा था कि कायानुपश्यना का ध्यान करने वाले भिक्षु को चार ध्यानों की प्राप्ति होती है। और वह मार को जीतने में समर्थ होता है[1]।

२-वेदनानुपश्यना :—वेदना शब्द का प्रयोग बौद्ध दर्शन में पारिभाषिक अर्थ में किया गया है। वेदना का अर्थ है दुख सुख का ज्ञान। भिक्षु वेदनानुपश्यी कैसे हो सकता है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए दीर्घ निकाय में लिखा है---"भिक्षुओं भिक्षु सुख वेदना का अनुभव करते हुए जानता हूँ कि सुख वेदना अनुभव कर रहा हूं। दुख वेदना को अनुभव करते हुए जानता हूं कि दुख अनुभव कर रहा हूं। अदुख और असुख वेदना को अनुभव करते हुए जानता हूँ कि अदुख और असुख वेदना को अनुभव कर रहा हूं। भोग पदार्थ युक्त सुख वेदना को अनुभव करते हुए जानता हूं कि भोग पदार्थ युक्त सुख वेदना को अनुभव कर रहा हूं। ....भीतर बाहर की वेदनाओं में वेदनानुपश्यी हो विहरता है। वेदनाओं मे उत्पत्ति धर्म को देखता है''' ''वह अनाश्रित ही विहरता है[2]"—इस प्रकार महासमिपट्ठानसुत्त में भगवान ने वेदनानुपश्यना का उपदेश दिया है। उपर्युक्त उद्धरण से प्रकट है कि वेदनाओं के सही स्वभाव पर विचार करते हुए जो विचरण करता है उसी को वेदनानुपश्यी कहते हैं।

चित्तानुपश्यना:—इस अनुपश्यना का स्वरूप निर्देश भी महासमिपट्ठान

१—मज्झिम निकाय ३।२।९
२—महासमिपट्ठान सुत्त दीघनिकाय २।९

सुत्त में मिलता है। उसमें लिखा है—भिक्षु सराग चित्त को जानता है कि यह सरागचित्त है। राग रहित चित्त को जानता है कि यह राग रहित है। सद्वेष चित्त को जानता है कि यह सद्वेष चित्त है। द्वेष रहित चित्त को जानता है कि यह द्वेष रहित है..................इस प्रकार भीतरी चित्त में चित्तानुपश्यी हो विहरता हैं। चित्त में उत्पत्ति धर्म को देखता है, चित्त मे विनाशधर्म को 'देखता है, । लोक में किसी भी वस्तु को' मैं और मेरा करके ग्रहण नही करता। इस प्रकार हे भिक्षुओ, भिक्षु चित्त में चित्तानुपश्यी हो विहरता है[१]। उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट प्रकट है कि जो साधक चित्त के शुभ और अशुभ स्वरूपों पर विचार करता हुआ आचरण करता है उसी को चित्तानुपश्यी कहते हैं।

धर्मानुपश्यना :—सात बोध्यंगो और चार आर्य सत्यों के सम्यक् बोध के साथ आचरण करना धर्मानुपश्यना कहलाता है। अतएव साधक को इन सब पर विचार पूर्वक आचरण करना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म में उपर्युक्त चार स्मृति प्रस्थानो को बहुत अधिक महत्व दिया गया है।

चार सम्यक् प्रधान :—चार स्मृति प्रधानों के बाद चार सम्यक् प्रधानों की चर्चा आती है। *प्रधान शब्द यहाँ पारिभाषिक है। उसका अर्थ है निर्वाण सम्बन्धी प्रयत्न*[२]। चार सम्यक् प्रधान इस प्रकार है[३]—

१—अनुत्पन्न अकुशल धर्मों की अनुत्पत्ति के लिए प्रयत्न करना तथा चित्त का सयंमन पहला सम्यक् प्रधान है।

२—जो अकुशल धर्म उत्पन्न हो गए है उनका नष्ट करने का प्रयास करना द्वितीय सम्यक् प्रधान है।

३—अनुत्पन्न कुशल धर्मों की प्राप्ति के लिए उत्तरोत्तर प्रयास और साधना करना तृतीय सम्यक् प्रधान है।

४—उत्पन्न कुशल धर्मो की रक्षा एवं निर्वाह का प्रयत्न करना चतुर्थ सम्यक् प्रधान है।

१—वही
२—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ३५३
३—मज्झिम निकाय २।३।७

उपर्युक्त चारों सम्यक् प्रधानों का आचरण बौद्ध साधक के लिए बड़ा ही आवश्यक होता है। इनके आचरण के बिना बौद्ध साधना का कोई भी अंग पूर्ण नहीं समझा जाता।

चार ऋद्धि पाद : सैंतीस बोध्यंगों में चार ऋद्धि पादों की भी चर्चा मिलती है। ये ऋद्धिपाद क्रमशः इस प्रकार हैं[1] :—

१– छन्द समाधि प्रधान संस्कार युक्त ऋद्धि पाद की भावना।
२—वीर्य समाधि प्रधान संस्कार युक्त ऋद्धि पाद की भावना।
३—चित्त समाधि प्रधान संस्कार युक्त ऋद्धि पाद की भावना।
४—विमर्ष समाधि प्रधान संस्कार युक्त ऋद्धि की भावना।

पांच इन्द्रियां या आध्यात्मिक विकास की पांच प्रमुख शक्तियां—

इन्द्रिय शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप में किया गया है। इन्द्रियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं :—

१—श्रद्धा।
२—वीर्य।
३—स्मृति।
४—समाधि।
५—प्रज्ञा।

बौद्ध धर्म में नैतिक दृष्टि से इन पांच इन्द्रिय या जीवन शक्तियों को विशेष महत्व दिया गया है। यहाँ पर इन सब की थोड़ी चर्चा कर देना अनुचित न होगा।

श्रद्धा :—श्रद्धा का अर्थ है चित्त का आह्लाद पूर्ण रहना। चित्त में जब श्रद्धा की भावना जागृत हो जाती हैं तो उसका प्रसादन स्वयं होने लगता है। उसके मन में उत्साह भर जाता है[2]। साधना की ओर उसकी प्रवृति जग उठती है। साधना की यह प्रवृति वीर्य के नाम से प्रसिद्ध है।

वीर्य :—श्रद्धा से वीर्य की उत्पत्ति होती है। वीर्य का अर्थ प्रयत्न करने की भावना का जागृति होना है। जब साधक को धर्म में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है तब वह उसके लिए प्रयत्न करना प्रारम्भ करता है, यह प्रयत्न भाव ही वीर्य कहलाता है।

१—वही
२—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ३५४

स्मृति :–स्मृति पर हम ऊपर विस्तारसे विचार कर आए हैं। स्मृति का अर्थ है उचित अनुचित कर्मों का विचार करना। साधना मार्ग में प्रवृत्त होते हुए जो कर्मों के औचित्य एवं अनौचित्य पर विचार करते रहते हैं, उनकी उसी विचारण को स्मृति कहते है।

समाधि :–समाधि की विस्तृत चर्चा योग साधना के प्रसंग में की जायगी यहाँ पर इतना ही कहना अपेक्षित है कि साधना में मन को केन्द्रित करना ही समाधि है।

प्रज्ञा :–उपर्युक्त पाँचों इन्द्रियों या जीवन शक्तियों में प्रज्ञा का महत्व सर्वाधिक है। प्रज्ञा का अर्थ है बुद्धिवादिता।

भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को सदैव इसी बात का उपदेश दिया था कि 'वे कभी अन्ध विश्वास का अनुसरण न करें। उन्हे अपनी प्रज्ञा की कसौटी पर कस कर ही किसी सिद्धान्त को स्वीकार करना चाहिए। एक बार उन्होंने कुछ कालाम ग्राम के क्षत्रियों को उपदेश देते हुए कहा था–"कालामो न तुम श्रुत के कारण किसी बात को मानो, न तर्क के कारण, न नय हेतु से, न वक्ता के आकार के विचार से और न भव्य रूप होने से और न इस लिए कि श्रमण हमारा गुरू है। हे कालामो! तुम्हें उसी बात को ग्रहण करना चाहिए जो तुम्हे स्वयं ही अच्छी अदोष और अनिन्दित प्रतीत हो तथा हित कारक और सुखद भी हो'[1]। भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को इतना अधिक बुद्धिवादी होने का उपदेश दिया था कि वे अपने उपदेशों के सम्बन्ध में भी उनसे कहते थे–"भिक्षुओं, क्या तुम शास्त्रों के गौरव से तो हाँ नही कह रहे हो"......"भिक्षुओ, जो तुम्हारा अपना देखा हुआ अपना अनुभव किया है–क्या उसी को तुम कह रहे हो'[2]।'

इस प्रकार हम देखते है कि भगवान बुद्ध ने स्वय विचारण, स्वयंकृत अनुभव को ही सर्वाधिक महत्व दिया था। गुरूवाद अन्धानुसरण आदि में उन्हें बिल्कुल आस्था न थी। लेकिन यहाँ पर यह बात स्मरण रखना चाहिये कि बुद्ध धर्म कोरा बुद्धिवादी ही नही है। उनकी बुद्धिवादिता श्रद्धा की आधार भूमि पर खड़ी हुई है। इसका प्रमाण यह है कि पाँच जीवन शक्तियों या इन्द्रियों में सर्व प्रथम श्रद्धा है और अन्तिम प्रज्ञा है। यही बौद्ध धर्म की सबसे प्रमुख विशेषता रही है।

१—अंगुत्तर निकाय-३।७।५

२—मज्झिम निकाय १।४।८

पाँच बल :—बौद्ध धर्म में पाँच बलों का भी विशेष महत्व बतलाया गया है। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार है–

१—वीर्य बल।
२—स्मृति बल।
३—समाधि बल।
४—प्रज्ञा बल।
५—श्रद्धा बल।

ये सब स्वयं स्पष्ट हैं, अतएव इनका विस्तृत विवेचन नहीं किया जा रहा हैं।

सात बोध्यंग :—पालि निकायों में सात बोध्यंगों का भी अनेक बार वर्णन आया है। सात बोध्यंगों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं :—

१—स्मृति।
२—धर्म विचय।
३—वीर्य।
४—प्रीति।
५—प्रश्रब्धि।
६—समाधि।
७—उपेक्षा।

उपर्युक्त सात बोध्यंग कहीं कहीं भावना प्रयत्न के नाम से भी अभिहित किए गए हैं। इन बोध्यंगों का पालि निकायों मे बड़ा महत्व बतलाया गया है। *भगवान बुद्ध का कहना था कि जो भिक्षु इन सात बोध्यंगों* की भावना करता है वह शीघ्र ही चित्त की विमुक्ति और प्रज्ञा विमुक्ति को प्राप्त कर विचरण करता है[1]।

१—स्मृति इसके ऊपर हम पहले विचार कर आए हैं। अपने उचित अनुचित क्रिया कलापों को सदैव ध्यान में रखना ही स्मृति है।

२-धर्मविचय :—धर्म में बुद्धि को लगाए रखना ही धर्म विचय है।

३--वीर्य-साधना के प्रति उत्साह और प्रयत्न का भाव रखना ही वीर्य है।

१—मज्झिम निकाय ३।५।४

४–प्रीतिः—कुशल आचारणों के प्रति आकर्षण का नाम ही प्रीति है।

५–प्रश्रब्धि :—निश्चिन्त भाव से साधना में अग्रसर होना ही प्रश्रब्धि है।

६–समाधि :—मन को ध्यान में केन्द्रित करना ही समाधि है।

७–उपेक्षा :—उदासीनता और वैराग्य के भाव को उपेक्षा कहते हैं।

सैंतीस बोध्यंगों के अन्तर्गत अष्टांगिक मार्ग भी आता है। यह अष्टांगिक मार्ग बौद्ध धर्म के आचार पक्ष का प्राण है। इसका स्पष्टीकरण हम मध्यमा प्रतिपदा के प्रसंग में कर आये हैं।

मध्य युगीन कवियों पर बोधि पक्षीय धर्मों का प्रभाव

ऊपर हम ३७ बोधिपक्षीय धर्मों की चर्चा कर आये हैं। इनके प्रकाश में यदि हम मध्ययुगीन काव्य धाराओं का अध्ययन करें तो यह स्वीकार किये बिना नहीं रहा जायेगा कि उन पर इन सबका अच्छा प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

मध्य युगीन काव्य धाराओं पर चार स्मृति प्रस्थानों का प्रभाव

हम ऊपर बतला चुके हैं कि स्मृति और सम्प्रजन्य को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। मेरी अपनी धारणा है कि सन्तों के सुमिरन और सुरति साधना पर बौद्धों की स्मृति का प्रभाव पड़ा है। इतना अवश्य है कि इन दोनों मे बौद्ध स्मृति का रूप अपने ढंग पर विकसित हुआ है। जिस प्रकार बौद्ध साधना में 'स्मृति' को सर्वाधिक महत्व दिया गया है उसी प्रकार सन्तों ने सुमिरन को बहुत अधिक महत्व दिया है। कबीर ने लिखा है 'सुमिरन से सुख होता है, दुःख नष्ट होता है, और सुमिरन की साधना से ही स्वामी की प्राप्ति होती है।[1] कहीं कहीं पर तो इन लोगों ने सुमिरन का संकेत उसी ढंग पर किया है जिस ढंग पर बौद्धों ने 'स्मृति' का महत्व प्रतिपादित किया है। कबीर लिखते हैं साधक को सुमिरन का ध्यान सदैव उसी प्रकार रखना चाहिए जिस प्रकार पनिहार को घट का ध्यान रहता है। कबीर विचार पूर्वक कहते हैं कि साधक को सुरति मे ही चलना फिरना चाहिए।[2] इसी प्रकार अन्य

१—सुमिरन से सुख होत है सुमिरन से दुख जाय।
कहै कबीर सुमिरन किये साईं माहि समाय॥ –कबीर साहब की साखी संग्रह भाग १–२ पृ० ९३

२—सुमिरन की सुधि यों करो ज्यों गागर पनिहार।
हालै डोलै सुरति में, कहैं कबीर विचार॥ कबीर साखी संग्रह भाग १–२ पृ० ९४

सन्तों ने भी 'स्मृति' के महत्व को 'सुमिरन' के बहाने वर्णित किया है।

'स्मृति' के महत्व से सूरदास जी भी परिवर्तित थे। यद्यपि उनमें जो स्मृति रूप मिलता है वह भगवद्धारण रूप ही है, किन्तु है यह प्रभाव बौद्धों की स्मृति का ही।

इस बौद्ध स्मृति के उपर्युक्त परिवर्तित प्रभावों के अतिरिक्त मध्य-युगीन कवियों में हमें बौद्धों के चार स्मृति प्रस्थानों का पूरा पूरा प्रभाव मिलता है। कहीं कहीं पर वे अपने सही और शास्त्रीय रूप में प्रतिबिम्बत मिलते हैं। इनका निर्देश मैं अभी आगे करूंगी।

मैं ऊपर कह आई हूँ कि बौद्ध ग्रन्थों में स्मृति के साथ-साथ सम्प्रजन्य शब्द का प्रयोग भी मिलता है। सम्प्रजन्य का अर्थ है सजग रहना। बौद्ध धर्म में कहा गया है कि साधक को प्रत्येक कार्य करते समय उसके औचित्य अनौचित्य के सम्बन्ध में सजग रहना चाहिए। दूसरे शब्दों में मैं यूं कह सकती हूँ कि सम्प्रजन्य का अर्थ है विचार और विवेक पूर्वक आचरण करना। मध्य युगीन काव्य धाराओं मे सर्वत्र विचार और विवेक पूर्वक कर्म करने का आदेश दिया गया है। कबीर ने एक स्थल पर लिखा है—संध्या और तर्पण करने से क्या लाभ होता है यदि विचार और विवेक पूर्वक तत्व चिंतन नहीं किया जाता।[1] एक दूसरे स्थल पर उन्होंने सम्प्रजन्य के भाव को और भी अधिक सुन्दर शब्दों में प्रकट किया है। वह लिखते हैं—साधक को पाप और पुण्य के दोनों बीज विज्ञान की अग्नि में जला देने चाहिए। काम क्रोधादि ५ विकारों को विचार रूपी नगर मे विवेक से वश में करके मारना चाहिए।[2] इसी प्रकार सूर ने भी लिखा है—विवेक के नेत्र के बिना प्राणी जल थल में मनुष्य व्याकुल और भ्रमित होकर घूमा करता है[3]।

१—क्या संध्या तर्पन के कीन्हें जो नहिं तत्त्व विचारा। क० शब्दावली भाग १ पृ० ४९

२—पाप पुन्न के बीज दोऊ विज्ञान अगिन में जारिये जी।
पांचो चोर विवेक से वसि कर विचार नगर में मारिये जी।
क० शब्दावली भाग १ पृ० ८७

३—भूल्यौ फिरत सकल जल-थले-मग, सुनहु ताप-त्रय-हरन।
परम अनाथ, विवेक-नैन बिनु निगम-ऐन क्यों पावै।
सूरसागर पृ० २८

बौद्ध दर्शन में चार स्मृति प्रस्थानों का उल्लेख किया गया है। इनका स्पष्टीकरण ऊपर किया जा चुका है। यहाँ पर मध्ययुगीन कवियों पर उनकी जो छाया पड़ती है उसका स्पष्टीकरण करूंगी।

मध्ययुगीन कवियों की बानियों में कायानुपश्यना की अभिव्यक्ति

इसके अन्तर्गत काया की वास्तविक नश्वरता क्षणिकता तथा उसकी अन्य दुर्बलताओं पर दृष्टि रखी जाती है। कबीर आदि ने चेतावनी के रूप में स्थान स्थान पर कायानुपश्यना की अभिव्यक्ति की है। दो एक उदाहरण इस प्रकार हैं–कबीर कहते हैं:—

कबीर गर्व न कीजिये चाम लपेटे हाड़।
हय वार ऊपर छत्तर तो भी देवें गाड़॥[1]

दूसरा उदाहरण:—

कबीर गर्व न कीजिए देहीं देखि सुरंग।
बिछुरे पें मिलना नहीं जो केंचुली भुजंग[2]॥

इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण सन्तों की बानियों में मिलते हैं जो स्पष्ट रूप से कायानुपश्यना के अन्तर्गत आते हैं। बौद्ध धर्म में जिस कायानुपश्यना का उल्लेख किया गया है वह बहुत कुछ 'स्व' से ही सम्बन्धित है। सन्तों में हमें पर कायानुपश्यना का रूप भी दिखलाई पड़ता है। इस दृष्टि से वे बौद्धों से भी आगे बढ़े हुए दिखलाई पड़ते हैं।[3] कबीर ने एक स्थल पर लिखा है–अय जीव तू क्या देखकर दीवाना हो गया है। जिस मायाजाल में तू फंसा हुआ है वह तेरे लिए शूली स्वरूप है। जिस नारी के मोह जाल में तू आबद्ध है

१—कबीर साखी संग्रह भाग १-२ पृ० ६१
२— " " " "
३—क्या देख दिवाना हुआ रे।
माया शूली सार बनी है, नारी नरक का कूवा रे॥
हाड़ मास नाड़ी का पिंजर ता मे मनुवां सुवा रे।
भाई बन्द और कुटुम्ब कबीला, ता में पचि पचि मूवा रे॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हार चला जग जूवा रे॥
कबीर साहब की शब्दावली भाग १ पृ० २४

वह नरक का कुंआ है। इस शरीर रूपी पिंजर में जो कि हाड़ मांस और नाड़ी का बना हुआ है उसमें मनरूपी तोता फंसा रहता है। वह भाई बंध कुटुम्ब कबीला आदि के मोह जाल में फंस कर जीवन की बाजी हार जाता है।

कायानुपश्यना के उदाहरण हमें तुलसी की विनय पत्रिका में भी बहुत मिलते हैं। यहाँ पर दो उदाहरण दे देना अनुपयुक्त न होगा। विनय पत्रिका में उन्होने एक स्थल पर लिखा है—"मैंने अपने कर्मों की डोर दृढ़ की और अपने स्वार्थ वश उसमें कस कर गांठ लगादी जिसके फलस्वरूप गर्भवास के दुख सहने पड़े। सिर नीचे और चरण ऊपर थे, अपार दुख था, कोई बात पूछने वाला न था, रक्त, विष्टा, मूत्र आदि से आवृत्त पड़ा रहा। कोमल शरीर था, वेदना गंभीर थी सिर धुनधुन कर रोता रहा[१]"। इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर उन्होने लिखा है—"मेरे देखते देखते शरीर में वृद्धावस्था आ गई, उसका आना मुझे रुचिकर नहीं लगा, उसके विकारों का वर्णन नहीं किया जा सकता, वे प्रत्यक्ष शरीर में दिखलाई देने लगे हैं शरीर जर्जर हो गया है, अनेक व्याधियाँ सताने लगी हैं। सिर कम्पायमान हो रहा है। इन्द्रियों की शक्तियां क्षीण होने लगती हैं, घरवाले ही निरादर करने लगते हैं। बोली किसी की अच्छी नहीं लगती ऐसी अवस्था में भी जीव को वैराग्य नहीं होता बल्कि उसकी तृष्णा और भी बढ़ जाती है।[२]

१—तैं निज कर्म-डोरि दृढ़ कीनहो, अपने करनि गांठि गहि दीन्ही।
तातें परवस परयो अभागे, ताफल गरभ–बास दुख आगे।
आगे अनेक समूह संतुति उदरगत जान्यो सोऊ।
सिर हेठ, ऊपर चरन, सकट बात नहि पूछै कोऊ।
सोनित पुरीष जो मूत्र मल कृमि कर्दमावृत सोवई।
कोमल शरीर, गंभीर बेदन, सीस धुनि धुनि रोवई।
विनयपत्रिका पृ० २७०

२—देखत ही आई बिरधाई, जो तू सपनेहु नाहि बेलाई।
ताके गुन कछु कहे न जाही, सो अब प्रकट देख तनु माही।
सो प्रकट तनु जरजर जराबस, व्याधि सूल सतावई।
सिरकंप इन्द्रि सक्ति प्रतिहन बचन काहु न भावई।
गृहपाल हूं ते अति निरादर खान पान न पावई।
ऐसिहु दशा न बिराग तह तृस्ना तरंग बढ़ावई।
विनयपत्रिका पृ० २७१

कायानुपश्यना के उदाहरण हमें सूर आदि कृष्ण काव्य धारा के कवियों में भी मिलते हैं। सूरदास ने एक स्थल पर लिखा है, "अय जीव तुझे इस शरीर का गर्व नहीं करना चाहिए। एक दिन इसे स्यार, कउए तथा गिद्ध खा जायेंगे। उस समय इनकी न तो वह शोभा रह जायेगी न रूप रह जायेगा और न कान्ति ही। जो लोग इनसे प्रेम करते हैं वे ही उससे घृणा करने लगेंगे। घर के लोग कहेंगे इसे जल्दी निकालो कि भूत बन कर न सताने लगे। जिन पुत्रों को देवी देवता मनाकर पाला है वही बांस से खोपड़ी फोड़ देंगे। इसीलिए हे मूढ जीव तू सत्संगति करके अपना उद्धार कर ले।"[१] इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर उन्होंने कायानुपश्यना का वर्णन करते हुए लिखा है–"जब मुझे पता चला है कि मेरा शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त है। सिर, पैर और हाथ वश में नहीं हैं, नेत्रों और नाक से पानी बहता रहता है, सब चमक-दमक मिट गई है, तन मन की कोई सुधि नहीं रहती है। अब बात दूसरी ही हो गई है। सूरदास कहते हैं कि अब इस समय पश्चात्ताप होता है कि भगवान् का भजन क्यों नहीं किया ? अय जीव अब भी भगवान् का भजन कर ले।"[२]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मध्ययुगीन कवियों की रचनाओं में

१– या देही को गरब न करियो, स्यार काग गिध खै है।
तीनन में तन कृमि के विष्टा कै है खाक उड़ै है।
कहँ वह नीर कहाँ वह सोभा कहँ रंग रूप दिखै है।
जिन लोगनि सों नेह करत हैं तेहि देखि घिनै हैं।
घर के कहत सवारे काढ़ो भूत होइ धरि खै हैं।
जिन पुत्रनिहि बहुत प्रतिपाल्यो, देवी देव मनै हैं।
तेई लै खोपरी बांस दे, सीस फोरि बिखरै हैं।
अजहूं मूढ़ करो सत संगति संतनि में कछु पै हैं।
सूर सागर पृ० ४५

२–अब मैं जानी देह बुढ़ानी।
सीष पाऊ कर कह्यौ न मानत, तन की दसा सिरानी।
आन कहत आनै कहि आवत नैन नाक बहै पानी।
मिट गई चमक दमक अंग अंग की मति अरु दृष्टि हिरानी।
नाहिं रही कछु सुधि तन मन की भई जु बात बिरानी।
सूरदास अब होत बिसूचनि भजि लै सारंग पानी।
सूरसागर पृ० १४५

हमें कायानुपश्यना की अभिव्यक्ति विविध प्रकार से विभिन्न रूपों में मिलती है।

'मैं अपने को आपके द्वारा अंगीकृत तभी समझूंगा जब मेरा मन अकुशल धर्मों से विमुख हो जायेगा। यह मन जिस सहज भाव से अकुशल धर्मों में लगा रहता है उनको त्याग कर जब वह उसी सहज भाव से आपमें अनुरक्त होगा तब मैं समझूंगा कि आपने मुझे अपना लिया है। इत्यादि।"[1]

सूर आदि कृष्ण धारा के कवियों ने इस सम्यक् प्रधान की अभिव्यक्ति मन को सम्बोधित करके की है। सूर अपने मन से कहते हैं "अय मन विषय वासना में लगना छोड़ दे। तू सेंवर का सुग्गा मत बन। नहीं तो अन्त में तेरे हाथ कुछ भी नहीं लगेगा। यदि तू हृदय से कनक कामिनी के फेर में पड़ा रहेगा तो तुझे परिणाम में दुख ही उठाना पड़ेगा। अतएव अभिमान छोड़ दे, राम का स्मरण कर नहीं तो दुःख की अग्नि में जलना पड़ेगा।[2] एक अन्य स्थल पर सूर ने फिर कामना प्रकट की है कि भगवान् उन्हें इस बार अकुशल धर्मों से मुक्ति दे दे ताकि वह दुखी न हों। वह पद इस प्रकार है— हे नाथ अबकी मेरा उद्धार कर दो। मैं भव सागर में डूब रहा हूँ। उसका माया रूपी जल बहुत गम्भीर है। उसमें लोभ की लहरे उठ रही हैं। कामदेव रूपी ग्राह पकड़े लिए जा रहा है। मछली रूपी इन्द्रियां शरीर को काटे डाल रही हैं। पाप की गठरी सर पर लदी हुई है, मोह के विचार से उलझ जाने के कारण कहीं इधर उधर पैर पड़ता है। क्रोध, दम्भ, अभिमान और तृष्णा रूपी वायु झकझोर रही है। स्त्री और पुत्रादि भगवान् के नाम की नौका की

१— तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै।
जेहि सुभाव विषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सो नेह छाड़ि छलकरि है।
इत्यादि। विनयपत्रिका पृ० ५१६

२—रे मन छांडि विषय को रांचिबो।
कत तू सुवा होत सेबर को, अन्तहि कपट न बचिबो।
अतर गहत कनक कामिनि को, हाथ रहेगी पचिबो।
तजि अभिमान राम कहि बौरे, नतरुक ज्वाला तचिबो।
सूर सागर पृ० ३३

ग्रोर देखने नहीं देते। इस प्रकार मैं भवसागर की मझधार में विह्वल पड़ा हूँ हे भगवान् मेरा उद्धार कर दो।[1]

इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण भी सूर का दिया जा सकता है। वह लिखते हैं—मेरा मन बुद्धिहीन है, सब सुखों की निधि रूप भगवान् के चरण कमलों को छोड़कर कुत्ते के सदृश इधर उधर भटका करता है। लालच के कारण उसे कभी तृप्ति नहीं मिलती। टुकड़े २ के लिए दरदर फिरता है ग्रौर अनेक अपमान सहता है इत्यादि।[2]

सूर के सदृश तुलसी में भी हमें चिन्तानुपश्यना के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। विनय-पत्रिका तो इस प्रकार के उदाहरणों से भरी पड़ी है। चिन्तानुपश्यना से सम्बन्धित उनके दो पद क्रमशः इस प्रकार हैं—हे मूर्ख मन तू कभी विश्राम नहीं मानता है। मिथ्या सांसारिक सुखों में फँस कर इधर उधर भ्रमित होता रहता है और इन्द्रियों की खींचतान मे लगा रहता है। यद्यपि विषयों के फेर में पड़ कर तुझे अनेक दुख झेलने पड़ते हैं फिर भी तू उन विषयों का परित्याग नहीं करता। जान लेने पर भी अनजान सा बना रहता है। अनेक जन्मों में अनेक प्रकार के कर्म तू करता है ग्रौर उन्हीं की कीचड़ में फँसा रहता है। हे चित्त तुझे निर्मल होना चाहिए। विवेक जल से

१—अब कै नाथ मोहि उबारि।
मगन हो भव अवनिधि में कृपासिंधु मुरारि।
नीर अतिगंभीर माया, लोभ लहरि तरंग।
लिए जात अगाध जल को गहे ग्राह अनंग।
मीन इंद्रि तनहि काटत, मोर अघ सिर भार।
पग न इतउत धरन पावत, उरमि मोह सिवार।
क्रोध-दम्भ गुमान तृष्णा पवन अति झकझोर।
नाहि चितवन देत सुत तिय, नाम नौका ओर।
सूर सागर पृ० ५१

२—मेरो मन मति हीन गुसाईं।
सब सुख निधि पद कमल छांड़ि, स्रम करत स्वान की नाईं।
फिरत वृथा भाजत अवलोकत सूनें सदन अजान।
तिहिं लालच कबहूँ कैसेहु तृप्ति न पावत प्रान।
कौर कौर कारन कुबुद्धि, जड़ कितै सहत अपमान।
सूर सागर पृ० ५१

प्रक्षालित हुए बिना तेरे दोष नहीं धुल सकते। जो भगवान् की शरण में नहीं आयेगा तो तेरी तृष्णा शान्त नहीं होगी, इत्यादि।[1]

चिन्तानुपश्यना का दूसरा पद इस प्रकार है। तुलसीदास जी कहते हैं-हे भगवान् मेरा मन अपनी जड़ता नहीं छोड़ता है। यद्यपि मैं इसे दिन-रात उपदेश देता हूँ किन्तु वह अपना स्वभाव नहीं छोड़ता। जैसा स्त्री सन्तान जन्म की कठोर प्रसव पीड़ा का अनुभव करती है किन्तु पीड़ा के दूर हो जाने पर भूल जाती है। वही और फिर पति के पास जाती है। जिस प्रकार लालची कुत्ता जहाँ जाता है वही जूता खाता है किन्तु जाए बिना नहीं मानता। उसी प्रकार यह मन लाख समझाने पर भी कुमार्ग छोड़ता नहीं इत्यादि।[2]

चौथा स्मृति प्रस्थान धर्मानुपश्यना के नाम से प्रसिद्ध है। धर्म शब्द का प्रयोग यहाँ मन के विषयों के लिए किया गया है। मन के विषयों के प्रति सजग रहना धर्मानुपश्यना है। कबीर आदि निर्गुण कवियों मे हमें धर्मानुपश्यना के उदाहरण मिलते हैं। मन के विषय कितने स्वप्नवत् होते हैं इसका

१--कबहू मन विश्राम न मान्यो।
निसदिन भ्रमति बिसारि सहज सुख, जहं तहं इन्द्रिन तान्यो।
जदपि विषय संग सह्यो दुसह दुख, विषम जाल अए झान्यो।
तदपि न तजत मूढ, ममतावस, जानत हूं नहिं जान्यो।
जन्म अनेक किए नाना विधि कर्म कीच चित सान्यो।
होइ न विकल विवेक नीर बिनु वेद पुरान बखान्यो।
निज हित नाथ पिता गुरु हरिसो हरषि हृदय नहि आन्यो।
तुलसीदास कब तृपा जाय सर खनतहिं जनम सिरान्यो।
विनयपत्रिका पृ० १९८

२—मेरा मन हरि हठ न तजै।
निसि दिन नाथ देऊं सिख बहु विधि करत सुभाउ निजै।
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
है अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहि भजै।
लोलुपमत गृहपसुज्यों जहं तहं सिर पद त्रान बजै।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुं न मूढ़ लजै।
हो हारयौ करि जतन विविध विधि अतिसै प्रबल अजै।
तुलसीदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै।
विनयपत्रिका पृ० १९९

संकेत करते हुए कबीर कहते हैं—हे मन तू किन विषयों में भूला रहता है। तूने अपनी सुध बुध कहां खो दी है, तेरा अपने विषयों की ओर दौड़ना ठीक वैसा ही है जैसा पक्षियों का प्रातः होते ही अपना बसेरा छोड़ कर इधर उधर उड़ जाना होता है अथवा जैसे स्वप्न मे हुकूमत मिल जाना होता है। जिस प्रकार जगने पर वह हुकूमत नष्ट हो जाती है उसी प्रकार मन के जितने विषय हैं वे सब क्षणिक हैं। माता, पिता, बन्धु, स्त्री आदि। न तो कोई सगा होता है और न साथ देने वाला ही। ये सब स्वार्थ के साथी होते हैं। मन और उसके विषयों का साथ वैसा ही है जैसे सागर में लहर। जिस प्रकार सागर की लहरों को नही गिना जा सकता उसी प्रकार मन के विषयों को नहीं गिना जा सकता।[1]

बौद्ध दर्शन में धर्म शब्द पांच स्कन्धों, सात बोध्यंगों, चार आर्य सत्यों आदि के लिए प्रयुक्त होता है अतएव इन सबको विवेक रखना भी धर्मानुपश्यना ही कहलाता है। शुद्ध पारिभाषिक रूप में मध्ययुगीन कवियों में धर्मानुपश्यना का रूप नहीं मिलता। जो रूप मिलता है वह मन के विषयों से ही सम्बन्धित है। इस धर्मानुपश्यना की झलक सूर में भी मिलती है। वह बहुत कुछ आत्मनिवेदन के रूप में भी अभिव्यक्त हुई है। वह लिखते हैं—मैं सब पतितों का स्वामी हूं। मेरी बराबरी कोई दूसरा नही कर सकता। महामोह रूपी देश का स्वामी मैं हूं, आशा मेरा सिंहासन है, दम्भ छत्र के सदृश है, अपजस हमारे सबसे समीपस्थ है और सदैव हमारी आज्ञा मानता है, काम क्रोध आदि सब हमारे मन्त्री हैं, दुविधा सदैव हमारे साथ रहती है वह विपरीत फल देने वाली है। लोभ मोदी है, मोह खवास है, अहंकार द्वारपाल है, ममता

१—मन तू क्यों भूला रे भाई, तेरी सुधिबुधि कहां हिराई।
जैसे पंछी रैन बसेरा, बसे बृच्छ में आई।
भोर भए सब आपु आपु कह जहां तहां उड़ि जाई।
सुपने में तोहि राज मिल्यो है, हाकिम हुक्म दुहाई।
जागि परयो तब लाव'न लसकर, पलक खुले सुधि पाई।
मातु पिता बन्धु सुत तिरिया, ना कोइ सगी सगाई।
यह तो सब स्वारथ के संगी, झूठी लोक बड़ाई।
सागर माही लहर उठतु है, गनिता गनी न जाई।
कहैं कबीर सुनो भाइ साधो, दरिया लहर समाई।
क० सा० की शब्दावली भाग १ पृ० ५५

मेरी पटरानी है माया पर मेरा अधिकार है और तृष्णा मेरी दासी का काम करती है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्ययुगीन कवियों में बौद्धों के चार स्मृति प्रस्थानों की छाया प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में मिलती है। इतना अवश्य है कि इनके शास्त्रीय रूप का उल्लेख किसी ने भी नहीं किया है। इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं थी। सन्त लोग शास्त्रीय विवेचक नहीं थे। उनका लक्ष्य तो अपने अनुभवों और विचारणा के परिणामों की अभिव्यक्ति मात्र करना था।

मध्ययुगीन कवियों की वाणी में चार सम्यक् प्रधानों की अभिव्यक्ति

चार सम्यक् प्रधानों के शास्त्रीय रूप की व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। यहाँ पर हम मध्ययुगीन कवियों पर उनका जो प्रभाव दिखाई पड़ता है उसका संकेत करेंगे।

अनुत्पन्न कुशल धर्मों की उत्पत्ति के लिए प्रयत्न करना

यह पहला सम्यक् प्रधान है इस सम्यक् प्रधान की अभिव्यक्ति हमें अधिकतर अभिलाषा के रूप में मिलती है। उदाहरण के लिए हम तुलसी का निम्नलिखित पद ले सकते हैं। वह कहते हैं—क्या मैं भी कभी भगवान् की कृपा से सन्तों की रहनी में रह सकूँगा? रघुनाथ की कृपा से मेरे अन्दर भी क्या कभी ऐसी भावना उत्पन्न होगी कि जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी में संतोष कर लूँ। मेरी इच्छा है मैं ऐसा हो जाऊँ जो किसी से कुछ माँगना न पड़े। क्या वह दिन भी आयगा जब मैं दूसरों के लिए मन, वचन और कर्म से सेवा

१—हरि हौं सब पतितनि पतितेस।
और न सरि करिवे को दूजो महा मोह मम देस।
आसा के सिंहासन बैठ्यो, देश-छत्र सिर तान्यो।
अपजस अति नकीब कहि टेरयो, सब सिर आयसु मान्यो।
मन्त्री काम क्रोध निज, दोऊ अपनी अपनी नीति।
दुविधा दुंद रहे निसि वासर, उपजावत विपरीति।
मोदी लोभ, खवास मोह के द्वारपाल अहंकार।
पाट विरध ममता है मेरे, माया को अधिकार।
दासी तृष्णा मम टहल हित सहत न छिन विश्राम।
सूरसागर पृ० ७३

भाव रखूँगा। मेरी, यह भी इच्छा है कि दूसरों के उपकार में लगा रहूँ।[1] इत्यादि।

उत्पन्न कुशल धर्मों की रक्षा:—

यह दूसरा सम्यक् प्रधान है। इस अवस्था को प्राप्त हुआ साधक उत्पन्न हुए कुशल धर्मों की रक्षा में लगा रहता है। सूरदास का 'तुम्हारी भक्ति हमारे प्राण' वाला पद इसी के अन्तर्गत आता है।[2] इसी प्रकार सूर का एक पद और है जिसमें इस सम्यक् प्रधान की अच्छी झलक दिखलाई पड़ती है। वह लिखते हैं—श्याम और बलराम का सदैव गुण गान करता हूँ। श्याम और बलराम के अतिरिक्त स्वप्न में भी किसी और देवता का ध्यान करना पसन्द नहीं करता। यही जप है, यही तप है, यही नेम व्रत है, यही मेरा प्रेम है, इसी का ध्यान करना चाहता हूँ यही मेरा ध्यान है, यही मेरा ग्यान है, यही मेरा सुमिरन है, यही मेरी याचना है।[3] इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में ढूँढे जा सकते हैं।

अनुत्पन्न कुशल धर्मों का अनुत्पत्ति के लिए प्रयत्न करना.—

इस सम्यक् प्रस्थान की झलक भी संतों की बानियों में दिखाई पड़ती

१—कबहुक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपाल कृपा ते संत सुभाव गहौंगो।
जथालाभ संतोष सदा, काहू सो कछू न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगतमान सामसीतल मन, परगुन, नहिं दोषकहौंगो।
परिहरि देह जनित चिन्ता दुख सुख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसीदास प्रभु यहि पथ रहि, अविचल हरि भक्ति लहौंगो।
विनयपत्रिका पृ० ३४।

२—सूरसागर पृ० ८८,

३—स्याम-बलराम कौ सदा गाऊं।
स्याम-बलराम बिनु दूसरे देव को स्वप्नहूं माहि नाहि हृदय ल्याऊं।
यहै जप, यहै तप, यहै मम नेम व्रत, यहै मम प्रेम, फल यहै ध्याऊं।
यहै मम ध्यान, यहै ज्ञान, सुमिरन यहै, सर प्रभु देह हो यहै पाऊं।
सूरसागर पृ० ८८

है। उदाहरण के लिए हम कबीर की निम्नलिखित पंक्तियां ले सकते हैं[1]—

गुरुदयाल कब करि हो दाया ।
काम क्रोध हंकार व्यापै नहीं छूटे माया ।। इत्यादि

इस सम्यक् प्रस्थान के और भी उदाहरण मिलते हैं किन्तु विस्तार भय से नहीं दे रहीं हूँ।

उत्पन्न अकुशल धर्मों का परित्याग:—

यह चतुर्थ सम्यक् प्रधान है। मध्ययुगीन कवियों पर अपेक्षाकृत इसका प्रभाव अधिक दिखलाई देता है। उत्पन्न हुए अकुशल धर्मों का परित्याग भी मन में पारिमाताओं के उत्पन्न होने के साथ साथ स्वयमेव होने लगता है और कभी साधक प्रयत्न पूर्वक उनका बहिष्कार करता है। निर्गुणियां कवियों में हमें इस सम्यक् प्रधान की छाया अधिक दिखलाई पड़ती है। कबीर ने एक स्थल पर लिखा है—जब से मन में विश्वास की भावना उदित हुई है तब से प्रीति बढ़ने लगी है।[2] इस तरह कबीर ने एक स्थल पर अंगिया धुलाने के रूपक से अकुशल धर्मों के परित्याग की व्यंजना की है। वह पद इस प्रकार है।[3]

दुलहिन अंगिया काहे न धोवाई ।
बालपने की मैली अंगिया, विषय दाग परिजाई ।
बिन धोये पिय रीझत नाहीं, सेज पर देत गिराई ।।
सुमिरन ध्यान के साबुन करिले, सत्त नाम दरियाई ।
दुविधा के बंद खोल बहुरिया, मन कै मैल धोवाई ।। इत्यादि

इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर कबीर ने काम, क्रोध मद लोभ, मद्य मांस आदि अकुशल धर्मों के परित्याग का उपदेश दिया है।[4]

१—कबीर साहब की शब्दावली पृ० ८

२—जब से मन परतीति भई ।
तबते अवगुन छूटन लागे, दिन दिन बाढ़त प्रीति नई ।
कबीर शब्दावली पृ० ४

३—कबीर साहब की शब्दावली पृ० ५७

४—कर नैनें दीदार महल में प्यारा है ।
काम क्रोध मद लोभ बिसारो, सील संतोष छिमा सत धारो ।
मद्य माग मिथ्या तजि डारो ।
हो ज्ञान छोड़े असवार भरम से न्यारा है। इत्यादि
कबीर साहब की शब्दावली पृ०९६

चार ऋद्धिपाद और पांच इन्द्रियाँ तथा मध्ययुगीन कवियों पर उनका प्रभाव :—

चार ऋद्धिपादों का नामोल्लेख मैं पीछे कर चुकी हूँ। मध्ययुगीन कवियों पर मुझे इनका कोई प्रभाव दिखलाई नहीं पड़ता। अतएव मैंने उनकी चर्चा बहुत ही संक्षेप में की है। हाँ, पाँच इन्द्रियों का प्रभाव अवश्य दिखलाई पड़ता है। इन्द्रिय शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप में किया गया है यहाँ पर इन्द्रियों का अर्थ लिया गया है जीवन शक्तियों से। इन्हें हम आध्यात्मिक विकास के पाँच मुख्य साधन भी मान सकते हैं। इनकी स्वरूप व्याख्या मैं पहले कर ही चुकी हूँ,.यहाँ पर उनके प्रभाव का निर्देश भर करूंगी।

श्रद्धा का मध्ययुगीन कवियों पर प्रभाव :—

आध्यात्मिक साधनों में सर्वप्रथम श्रद्धा आती है। सन्तों ने श्रद्धा का उल्लेख 'परतीति' और 'विश्वास' के नाम से भी किया है। सन्त लोग श्रद्धा को आध्यात्मिक विकास का प्रमुख साधन मानते थे। कबीर ने तो एक स्थल पर यहां तक लिखा है जब से परतीति एवं श्रद्धा उत्पन्न हुई है तब से अकुशल कर्म सब स्वयमेव नष्ट होते जाते हैं।[1] कबीर तो 'विश्वास' या श्रद्धा को इतना महत्व देते थे। उनका कहना यहाँ तक था कि यदि किसी में सच्ची श्रद्धा उत्पन्न हो गई है तो उसका दुःख स्वयमेव नष्ट हो जायगा। उसके शारीरिक और मानसिक विकार श्रद्धा की अग्नि में अपने आप जल जायेंगे। यदि श्रद्धापूर्वक गुरु का भजन किया जाय तो लोहा भी कंचन रूप हो सकता है। जो प्रेम और श्रद्धा से भगवान का नाम लेते हैं उन्हें दुःख सुख नहीं व्यापता है।[2] इत्यादि

राम काव्य धारा के कवि भी श्रद्धा को आध्यात्मिक विकास का आवश्यक अंग मानते थे। तुलसी के मानस की—"श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई,

---

१—जब ते मन परतीति भई।
तब ते अवगुन छूटन लागे, दिन दिन बाढ़त प्रीति नई।
कबीर शब्दावली पृ० ४

२—जो सच्चा विश्वास है, तो दुख क्यों ना जाय।
कहै कबीर विचारि के, तन मन देहि जराय।
विश्वासी है गुरु भजे, लोहा कंचन होय।
नाम भजे अनुराग तें, हरष सोक नहि दोय।
कबीर साखी संग्रह भाग १-२ पृ० ७८

कवनिउ सिद्धि के बिन विश्वासा—" आदि उक्तियां लोक प्रसिद्ध हैं। तुलसी तो श्रद्धा को सब से बड़ा साधन समझते थे। वह स्वयं एकनिष्ठ श्रद्धालु थे। उन्होंने विनय पत्रिका में लिखा है मुझे राम नाम के प्रति एकनिष्ठ श्रद्धा है। मेरा मन ऐसा हो गया है कि राम नाम के अतिरिक्त किसी में भी श्रद्धा कर ही नही पाता। शास्त्रों के सिद्धान्तों तथा ऋग, यजु, अथर्वण और सामवेदों का पढ़ना मेरे भाग्य में नहीं है। व्रत, तीर्थ, तप आदि सुनकर मन डर रहा है। कौन इन साधनों में पचपच कर मरे। कर्म काण्ड कलयुग में कठिन है क्योंकि उसके लिए धन की बड़ी आवश्यकता पड़ती है। इसके अतिरिक्त कलयुग में इनको करने में विघ्न बाधाएं भी बहुत दिखलाई पड़ती हैं। अतएव भगवान के नाम में श्रद्धा रखना ही एक मात्र उपयुक्त साधन है।[1]

कृष्ण काव्य धारा के कवियों में भी हमे श्रद्धा के महत्व की स्वीकृति मिलती है। उदाहरण के लिए हम सूर का निम्नलिखित पद ले सकते हैं। इसमें उन्होंने श्रद्धा के पात्र भगवान् के महाकरुणा के कार्यों का वर्णन किया है। वह लिखते हैं इसीलिए हमें तुम्हारे प्रति श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न हो गया है कि आप दीनों पर दया करने वाले पतित पावन और वेद उपनिषद प्रतिपाद्य हैं। सूरदास जी कहते हैं कि हे भगवन् यदि आप कहें कि आपने कौन से भक्तों का उद्धार किया है तो मैं प्रमाण में बहुत से दृष्टांत दे सकता हूँ। आपने ब्राह्मण के पुत्र को पुनः जीवित करने के लिए सुरलोक तक की यात्रा की थी। आपने गणिका का उद्धार किया था जो तोते को आपका नाम पढ़ाया करती थी बताइए उसने कौन से व्रत संयम किये थे। बकी नाम की राक्षसी ने इतना छल किया था किन्तु फिर भी आपने उसको वही गति दी

१—बिस्वास एक राम नाम को।
मानत नहिं परतीति अनत ऐ सोई सुभाव मन बाम को।
पढ़िबो परयो न छटी छमत रिगु जजुर अथर्वन साम को।
व्रत तीरथ तप सुनि सहमत पचि मरै करै तन छाम को।
करम जाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दाम को।
ग्यान बिराग जोग जप तप भय लोभ मोह कोह काम को।
सब दिन सब लायक भव गायक रघुनायक गुन ग्राम को।
बैठे नाम कामतरु तर डर कौन घोर घन घाम को।

विनयपत्रिका पृ० ३१४

जो यशोदा को दी थी। वृषभ, व्याध, और द्रुपदसुता आदि की कथाएँ कौन नहीं जानता। इन सबका उद्धार आपने ही किया था इत्यादि।[1]

इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर सूर ने कहा है कि हे भगवन तुम्हारे वचनों का ही मुझे विश्वास है। भगवान् आप संसार का भरण पोषण करने वाले हो जब गजराज को ग्राह ने पकड़ लिया था उस समय उस दुःखी का उद्धार आपने ही किया था इसी प्रकार द्रौपदी जब विपत्ति में थी। दुस्साशन उसका चीर खींच रहा था उस समय की वह विपत्ति भी आपने ही दूर की थी।[2]

वीर्य का अर्थ है आध्यात्मिक साहस। आध्यात्मिक विकास के लिए आध्यात्मिक साहस का होना बड़ा आवश्यक होता है। वीर्य की अभिव्यक्ति हमें संतों में आध्यात्मिक युद्ध के रूप में मिलती है। इस आध्यात्मिक युद्ध का वर्णन कबीर ने बड़े समारोह के साथ किया है। उन्होंने लिखा है—"वीर्यवान साधकरूपी सूर आध्यात्मिक संग्राम को देखकर डरता नहीं है। जो

१—ताते तुम्हरो भरोसो आवै।
दीनानाथ पतित पावन जस वेद उपनिषद गावै।
जो तुम कहो कौन खलतारयो तो हो बोलौं साखौ।
पुत्र हेत सुर लोक गयो द्विज, सक्यो न कोऊ राखौ।
गनिका किए कौन व्रत-संजम, सुक-हित नाम पढ़ावै।
मनसा करि सुमिरयो गज बपुरे, ग्राह प्रथम गति पावै।
बकी जुगई घोष में छल करि, जसुदा की गति दीनो।
और कहति सुति, वृषभ-व्याध की अैसी गति तुम कीनो।
द्रुपद सुतहिं दुष्ट दुरजोधन सभा माहिं पकरावै।
ऐसो और कौन करुनामय, बसन प्रवाह बढ़ावै।
सूर सागर पृ० ६४

२—प्रभु तेरो वचन भरोसो साँचो।
पोषण भरण विसम्भर साहब जो कलपै सो काँचो।
जब गजराज ग्राह सो अटको बली बहुत दुख पायो।
नाम लेत ताही छिन हरिजू गरुड़हि छाँड़ि छुड़ायो।
दुस्सासन जब गही द्रौपदी, तब तिहि बसन बढ़ायो।
सूरदास प्रभु भक्त बछल हैं चरन सरन हो आयो।
सूर सागर पृ० १८

आध्यात्मिक संग्राम को देखकर डरता है उसे वीर्यवान नहीं कह सकते। इस आध्यात्मिक युद्ध में काम, क्रोध, मद, लोभ आदि शत्रुओं से जूझना पड़ता है। वीर्यवान साधक रूपी सूर के सहायक शील, सत्य और सन्तोष आदि होते हैं। वह नाम की तलवार हाथ में लेकर युद्ध करता है। कबीर कहते है कि कोई वीर्यवान साधक ही इस प्रकार के आध्यात्मिक युद्ध में अग्रसर होता है। कबीर कहते हैं—"कायर—अर्थात् आध्यात्मिक साहस विहीन लोग इस प्रकार के युद्ध में अग्रसर[1] नहीं हो सकते। इस प्रकार की आध्यात्मिक साधना मे कबीर के मतानुसार साधक ज्ञान की तलवार धारण करता है और मन रूपी मीर को मारता है। विजयी होकर सब विषयों को कुचल डालता है और फिर भगवान् से मिलता है। कोई वीर्यवान साधक रूपी सूर ही प्रवृत होता है।[2] इस प्रकार वीर्यवान साधक की यह विशेषता होती है कि वह

---

१ सुर-संग्राम को देखि भागै नही।
देखि भागै सोइ सूर नहीं॥
काम औ क्रोध मद लोभ से जूझना।
मंडा घमसान तहं खेत माहीं॥
सील औ सांच संतोष सही भये।
नाम समसेर तहं खूब बाजे॥
कहैं कबीर कोइ जूझि है सूरमा।
कायरां भीड तहं तुरंत भाजे॥
क० सा० की शब्दावली भाग १ पृ० १०५

२—ज्ञान समसेर को बाधि जोगी चढ़ें।
मार मन मीर रनधीर हूवा॥
खेत को जीत करि विषन सब पै लिया।
मिल हरि माहि अब नाहि जूवा॥
जगत में जरस औ दाद दरगाह में।
खेल यह खेलिहै सूर कोई॥
कहै कबीर यह सूर का खेल है।
कायरा खेल यह नाहि होई॥
क० सा० की शब्दावली भाग १ पृ० १०५

कभी पीछे पैर नही रखता है।[1] वह जीवन मरण की चिन्ता नही करता[2] है।

सूफी काव्य धारा के कवियों में भी हमें वीर्य की अभिव्यक्ति मिलती है--किन्तु उसका रूप थोड़ा भिन्न है। वहाँ पर उसकी अभिव्यक्ति सिद्धि प्राप्ति के लिए अदम्य साहस के रूप में हुई है। यह बात जायसी की निम्न-लिखित पंक्तियों से स्पष्ट है—"राजा रत्नसेन से तोता जब प्रेम मार्ग की कठिनता का वर्णन करता है तो राजा उससे कहते हैं कि प्रेम की साधना अत्यन्त कठिन है किन्तु इस प्रेम साधना में जो संलग्न होता है उसका उद्धार दोनों ही संसारों में हो जाता है। साधना की कठिनता के दुःख के बीच में प्रेम मार्ग मधु की तरह है। जो प्रेम मार्ग में अग्रसर नहीं होता उसका जन्म संसार में व्यर्थ है। अब मैंने प्रेम मार्ग में अपना सिर लगा दिया है। मुझे प्रेम मार्ग के रहस्य को वही बतला सकता है[3] इस प्रेम मार्ग रूपी पहाड़ पर वही चढ़ सकता है जो सिर के बल चढ़े। काम, क्रोध, तृष्णा, मद माया आदि ये सब साधना में बाधक होते हैं शरीर के नवद्वार रूपी सेंधों से परिचित रहते हैं और शरीर को वे लूट लेते हैं इसलिए अब भी इन से

१—सूरा सोइ सराहिये, लड़े धनी के हेत।
पुरजा पुरजा होइ रहै, तऊ न छाड़े खेत॥
क० सा० स० भाग १-२ पृ० २२

२—खेत न छाड़ें सूरमा, जूझें दो दल माहि।
आसा जीवन मरन की, मन मे आनें नाहि॥
क० सा० सं० भाग १-२ पृ० २२

३—भलेहि प्रेम है कठिन दुहेला, दुइ जग तरा पेम जेह खेला।
दुख भीतर जो पेम मधु राखा, जग नहि मरन सहै जो चाखा।
जो नहि सीस पेम पथ लावा, तो पिथिमी मह काहे क आवा।
अब मैं पंथ पेम सिर मेला, पांव न ठेलु राखु कै चेला।
पेम बार सो कहै जो देखा, जो न देख का जान विसेखा।
तो लगि दुख पीतम नहि भेंटा, मिलै तो जाई जन्म दुख मेटा।

होशियार हो जाना चाहिए और ज्ञान का आश्रय ले लेना चाहिये ताकि ये सब काम, क्रोधादि लूटने न पावें।[1]

राम काव्य धारा के कवियों में भी हमें वीर्य भाव की अभिव्यक्ति मिल जाती है। इस भाव की अभिव्यक्ति तुलसी ने संकल्प के रूप में की है उनकी विनय पत्रिका का एक पद इस प्रकार है--"अभी तक मैंने आध्यात्मिक प्रयत्न नहीं किए जिससे मेरा जीवन नष्ट होता रहता है। भगवान् की कृपा से संसार रूपी रात्रि समाप्ति हो गई है अर्थात अज्ञान रूपी जड़ता दूर होने लगी है, अब आध्यात्मिक साहस जिसे वीर्य कहते हैं उसकी जागृति होने लगी है। अब अज्ञान नाशक भक्ति प्राप्त हो गई है उसे मैं अपने हृदय से नहीं हटाऊँगा। भगवान् श्याम सुन्दर पवित्र कसोटी है उन पर मैं अपने चित्त को कसूँगा। अर्थात् मैं अपने चित्त को पूर्णतया भगवान् में लीन कर दूंगा।[2]

कृष्ण काव्य धारा के कवियों में भी हमें वीर्य भाव, की झलक मिल जाती है किन्तु उसका रूप अन्य धाराओं के कवियों से सर्वथा भिन्न है। इस धारा के संत वीर्य की अभिव्यक्ति भगवान् से होड़ लगाकर करते हैं। सूर का एक पद है, जिसमें वह कहते हैं "हे भगवान् हमने अब की तुम से होड़ लगाई है मालूम नही अब तुम क्या करोगे। संसार में जितनी अधमाई थी वह सब हमने ग्रहण करली है। वह इसलिए ग्रहण करली है कि तुमने पापों और

१—पेम पहार कठिन विधि गढ़ा। सो पै चढ़ै जो सिर सो चढ़ा॥
पंथ सूरि कै उठा अंकूरू। चोर चढ़ै, की चढ़ मंसूरू॥
तू राजा का पहिरसि कथा। तोरे घरहि मांझ दस कंथा॥
काम, क्रोध तिस्ना, मद माया। पांचो चोर न छांडहि काया॥
नवौ सेंधि तिन्ह कै दिठियारा। घर मूसहि निसि, की उजियारा॥
अजहू जागु अजाना, होत आव निसि भोर।
तब किछु हाथ लागिहि मूसि जाहि जब चोर॥
जायसी ग्रन्थावली पृ० ५१

२—अब लौं नसानी, अब न नसैहों।
राम कृपा भव निसा सिरानी, जागे पुनि न डसैहों।
पायो नाम चारु चिंता मनि, उर कर ते न खसैहों।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहि कसैहों।
परबस जानि हस्यों इन इन्द्रियों, निज दास है न हंसैहों।
मन मधुकर पन कै तुलसी रघुपति पद कमल बसैहों।
विनयपत्रिका पृ० २२१

पापियों के उद्धार करने की बात पकड़ रक्खी है। हे भगवन् मैं पाप की कंदरा में छिप गया हूँ तुम मुझे तारने के लिए उस गहरी कंदरा से कैसे पार कर पाओगे।[1] इसी प्रकार का एक पद और है। सूर कहते हैं—"आज हमारी होड़ लगी है। आज मैं एक एक करके उस होड़ को पूरा करूंगा। या तो तुम्हारी हो विजय होगी या फिर हमारी। मैं अपने बल पर ही आज यह साहस कर रहा हूँ। मैं सात पीढ़ियों का पापी हूँ और पापी बनकर ही अपना उद्धार करूंगा। अब मैं नंग नाच नाचना चाहता हूँ और तुम्हें विरद विहीन करूंगा। अब तुम अपना विश्वास क्यों खो रहे हो। मैंने हरि जैसा हीरा पा लिया है। अब तो पापी सूर तभी उठेगा जब आप उसे निमंत्रण[2] देंगे।" इस प्रकार हम देखते हैं कि वीर्य नामक आध्यात्मिक शक्ति की अभिव्यक्ति मध्यकालीन काव्य धाराओं में विविध रूपों और विविध प्रकारों में मिलती है।

स्मृतिः—

स्मृति नामक इन्द्रिय या आध्यात्मिक शक्ति का बौद्ध धर्म में बहुत अधिक महत्व बतलाया गया है। इसकी चर्चा मैं पीछे कर आई हूँ इसलिए यहाँ पिष्ट पेषण करना नहीं चाहती। किन्तु इतना अवश्य कह देना चाहती हूँ कि स्मृति आध्यात्मिक विकास की वह अवस्था है जिसमें पहुँच कर साधक अपने सब प्रकार के गुन दोषों को समझने लगता है उसकी विवेक बुद्धि उदित होने

१—मोहि प्रभु तुम सो होड़ परी।
ना जानों करिहौ अब कहा तुम नागर नवल हरी।
हुती जिती जग में अधमाई सो मैं सबै करी।
अधम समूह उधारन कारन तुम जिय जक पकरी।
मैं जु रह्यौ राजीव नैन दुरि पाप पहार दरी।
पावहु मोहि कहा तारन कौं गूढ़ गंभीर खरी।
एक अधार साधु संगति कौ, रचि पचि मात संचरी।
सूरसागर पृ० ६१

२—आजु हौ एक एक करि टरिहौं।
के तुम हो कै हमही माधौ अपने भरोसे लरिहौं।
हौं तो पतित सात पीढ़िनि कौ पतितै है निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नच्यौ चाहत हौं तुम्हें बिरद बिन करिहौं।
कत आपनी परतीति नसावत, मैं पायौ हरि हीरा।
सूर पतित तबही उठि है, प्रभु जब हँसि दैहो बीरा।
सूरसागर पृ० ७१

लगती है और अहं बुद्धि क्षीण होने लगती है। इसे मैं ज्ञानोदय की प्रथम भूमिका मानना उचित समझती हूँ। सन्तों में इसकी अभिव्यक्ति दो रूपों में मिलती है एक सुमिरन के रूप में और दूसरी सुरति के रूप में। अन्य धारा के कवियों में यह अधिकतर आत्मनिवेदन और पर्यवेक्षण के रूप में मिलती है।

समाधि:—

यह चौथी इन्द्रियाँ या आध्यात्मिक शक्ति है। समाधि का प्रभाव मध्ययुगीन सभी काव्य धाराओं पर दिखलाई पड़ता है इसका कारण यह है कि समाधि योग साधना का एक अंग है और मध्ययुगीन कवियों में योग साधना का कोई न कोई रूप अवश्य ही मिलता है। सन्तों में तो इसके सहस्रों उदाहरण मिलते हैं। उदाहरण के लिए हम कबीर का निम्नलिखित वर्णन ले सकते हैं। कबीर कहते हैं 'किसी भी साधक को अगम स्थान की प्राप्ति गुरु ज्ञान के बिना नहीं होती। सच तो यह है कि गुरु ज्ञान प्राप्त करने पर ही संत पूर्ण संत हो पाता है। साधक को चाहिए कि सुरति को द्वादशनल में ले जाकर के वहाँ देवी के दर्शन करें। वहाँ इंगला पिंगला और सुष्मना को सम अर्ध करके अर्ध के बीच ध्यान लगाना चाहिए कबीर कहते हैं कि इस प्रकार का संत निर्भय समाधि में मग्न रहता है काल उस पर आक्रमण नहीं कर सकता है।'[1]

यह तो हठयौगिक समाधि की बात हुई। कबीर में हमें सहज समाधि का भी रूप मिलता है। सहज समाधि का योगी ब्रह्म अग्नि में अपनी काया को जलाता है। अजपाजाप से उनमुना अवस्था को प्राप्त होता है। त्रिपुटी में ध्यान को केन्द्रित करता है। सहज समाधि के पीछे सब विषयों का

१—अगम अस्थान गुरु ज्ञान बिन ना लहे।
लहे गुरु ज्ञान कोइ सन्त पूरा।
द्वादस पलटि के खोड़सी परगटै।
गगन गरजै तहां बजै तूरा।
इंगला पिंगला सुषमना सम करै।
अर्ध औ उर्ध बिच ध्यान लावै।
कहै कबीर सोइ सन्त निर्भय रहै।
काल की चोट फिर नाहिं खावै।
क० सा० शब्दावली भाग १ पृ० ९८

परित्याग कर देता है। उसका मन त्रिवेणी की विभूति का अनुभव करता है जहां भक्त कबीर के स्वामी अलख निरंजन निवास करते हैं[१]।" इस प्रकार का आत्मानंदी योगी समाधि की अवस्था में अमृत रस का पान करता रहता है।

समाधि की चर्चा हमें सूफी कवियों में भी मिलती है। रत्नसेन की समाधि का वर्णन करते हुए जायसी ने लिखा है—रत्नसेन तपस्वी के वेश में बाघम्बर पर बैठे हुए पदमावती-पदमावती जप रहा था और समाधि की अवस्था में उसे उसी के दर्शन हो रहे थे जिसके कारण उसने वैराग्य ग्रहण किया था।[२]

समाधि के दर्शन हमें भक्ति प्रधान राम काव्य धारा में भी मिलते हैं। तुलसी ने रामचरितमानस में शंकर की समाधि का वर्णन किया है वह इस प्रकार है—तत्पश्चात् शंकर जी पदमासन लगाकर बड़ के पेड़ के नीचे बैठ गए और अपना सहज स्वरूप संवार लिया। इस प्रकार वह अखंड समाधि में लीन हो गए।[३] इसी प्रकार भरत की समाधि भी दृष्टव्य है।[४]

कृष्ण काव्य धारा के कवि लोग भी योग और समाधि के महत्व से परिचित थे। सूरदास तो अष्टांगयोग को भक्ति मार्ग का आवश्यक अंग मानते थे। उन्होंने लिखा है—भक्ति मार्ग का वही अनुसरण कर सकता है जो अष्टांग

१—आत्मा अनंदी जोगी, पावै महारस अमृत भोगी।
जहां अग्नि काया परजारी, अजपा जाप उनमनी नारी॥
त्रिकुट कोट में आसण माडै, सहज समाधि विषै सब छांडै।
त्रिवेणी बिभूति करै मन मंजन, जन कबीर प्रभु अलख निरंजन॥
क० ग्रन्थावली पृ० १५८

२—बैठ सिंघछाला होइ तपा। पदमावति पदमावति जपा।
दीठि समाधि ओही सौलागी, जेहि दरसन कारन बैरागी॥
जा० ग्रन्थावली पृ० ७१

३—तहं पुनि संभु समुक्ति पन आपन। बैठे बटतर करि कमलासन।
संकर सहज सरुप सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥
रामचरित मानस सटीक गीता प्रेस मोटा टाइप पृ० ७२

४—बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कसगात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥
रामचरित मानस सटीक गीता प्रेस, मोटा टाइप पृ० १०१७

योग साधना में निपुण है। अष्टांग योग के यम, नियम, आसन और प्राणायाम की साधना करने से वृत्ति निष्काम हो जाती है। इसी प्रकार प्रत्याहार, धारणा और ध्यान का आचरण करने से वासना क्षीण हो जाती है। इन अंगों का अभ्यास करने के बाद समाधि लगानी चाहिए। समाधि के लगाने से सभी व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।[1] इस प्रकार इन्द्रिय या आध्यात्मिक शक्ति की अभिव्यक्ति भी किसी न किसी रूप में मिलती है।

प्रज्ञा—यह पाँचवीं इन्द्रिय या आध्यात्मिक विकास की शक्ति है। श्रद्धा से जो साधना प्रारम्भ होती है वह अन्त में जाकर प्रज्ञा में परिणत हो जाती है। बौद्ध धर्म की सबसे बड़ी विशेषता श्रद्धा और प्रज्ञा के समन्वय की है। वैदिक धर्म में श्रद्धा को ही सबसे अधिक महत्व दिया गया था। प्रज्ञा के महत्व से इस धर्म से लोग विशेष परिचित नहीं थे। भगवान् बुद्ध ने श्रद्धा के साथ-साथ प्रज्ञा के महत्व का प्रतिपादन करके वैदिक धर्म के अभाव की पूर्ति अपने धर्म में की है। प्रज्ञा का अर्थ बुद्धिवादिता अथवा अन्धानुसरण की प्रवृत्ति के विरोध की भावना भी है।

कृष्ण काव्य धारा के कवि लोग भी प्रज्ञा के महत्व को स्वीकार करते थे। सूर ने विवेक नयन विहीन व्यक्तिको अज्ञान से भ्रमित बताया है। उनका एक पद है कि दीन व्यक्ति विचारा किस प्रकार आपकी शरण में आवे ? वह विचारा अनाथ है, विवेक के नेत्रों से रहित है, विचारा जल-थल में भ्रमित फिर रहा है, पग-पग पर कर्म के अन्धकारपूर्ण कुएँ हैं। तीनों तापों के हरण करने वाले हे भगवन् आपकी कृपा के बिना उसका उद्धार नहीं हो सकता।[2]

१—भक्ति पन्थ को जो अनुसरै। सो अष्टांग जोग कौं करै॥
यम, नियमासन, प्रानायाम। करि अभ्यास होइ निष्काम॥
प्रत्याहार धारना ध्यान। करै जु छांड़ि वासना आन।
क्रम क्रम सें पुनि करै समाधि। सूर स्याम भजि मिटै उपाधि॥
सूरसागर पृ० १९५

२—दीन जन क्यों करि आवै सरन।
भूल्यौ फिरत सकल जल थल मग श्री सुनहु ताप त्रय-हरन।
परम अनाथ, विवेक, नैन बिनु, निगम ऐन क्यों पावै।
पग पग परत कर्म तम कपहि को करि कृपा बचावै।
नहिं कर लकुटि सुमति संत संगति, जिहि अधार अनुसरई।
प्रबल अपार मोह निधि वस दिसि सुधो कहा अब करई।
अखुटित रटत सभीत, सशंकित, सुकृत सब्द नहिं पावै।
सूर सागर पृ० २८

इन पंक्तियों में सूर ने जिस विवेक नयन की चर्चा की है, बौद्ध रचनाओं में उसका वर्णन प्रज्ञाचक्षु के अभिधान से किया गया है। सूर ने एक दूसरे स्थल पर हरि के जन की ठकुराई का विस्तृत रूपात्मक वर्णन किया है। उस वर्णन को पौरिया या द्वारपाल कहा है।[1] इस प्रकार के वर्णन भी बौद्धों की प्रज्ञा से प्रभावित माने जाने चाहिए।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बौद्धों के पाँच इन्द्रियों या आध्यात्मिक विकास की उपर्युक्त पाँचों तत्वों का मध्ययुगीन सभी काव्य धाराओं पर व्यापक प्रभाव दिखाई पड़ता है। सच तो यह है कि मध्ययुगीन भक्त कवियों में जो श्रद्धा के साथ-साथ बुद्धि, विवेक, विचारात्मकता पाई जाती है उसका कारण बौद्ध प्रभाव है।

यह बात बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में पाए जाने वाले उदाहरणों से प्रकट होती है। केशपुत्र नामक ग्राम के कालाम जाति के क्षत्रियों से भगवान् ने जो शब्द कहे थे वे प्रज्ञा के ही प्रतिपादक हैं। उन शब्दों को यहाँ उद्धृत कर देना मेरे विचार से अनुपयुक्त न होगा। "कालामों ! न तुम श्रुत के कारण किसी बात को मानो न तर्क के कारण, न नय हेतु से, न वक्ता के आकार के विचार से, न अपने चिर-विचारित मत के अनुकूल होने से, न वक्ता के भव्य रूप होने से और न इसलिए कि 'श्रमण हमारा गुरू है' यह सोचकर। बल्कि कालामों ! जब तुम स्वयं ही जानों कि ये बातें अच्छी, अदोष विज्ञों से अनिन्दित हैं, यह ग्रहण करने पर हित, सुख के लिए होगी, तो कालामों ! तुम उन्हें स्वीकार करो।"[2] भगवान् बुद्ध ने सदैव ही धर्म के प्रसंग में, संघ के प्रसंग में, यहाँ तक कि अपने प्रसंग में भी भिक्षुओं को भी मांसक होने का उपदेश दिया था।[3] यह सब बातें प्रज्ञा से ही सम्बन्धित हैं। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि भगवान् बुद्ध ने प्रज्ञा को विशेष महत्व दिया था।

१—हरि के जन की अति ठकुराई।
   महाराज, रिषिराज, राजमुनि, देखत रहे लजाई।
   मंत्री ज्ञान न औसर पावें कहत बात सकुचाई।
   अर्थ काम दोउ रहें दुवारें धर्म मोक्ष सिर नावें।
   बुद्धि विवेक विचित्र पौरिया समय न कबहू पावें।

सूरसागर पृ० २१

२—अंगुत्तर निकाय ३।७।५

३—मज्झिम निकाय १।५।०

सन्त कवियों में बौद्धों के प्रज्ञा तत्व की अभिव्यक्ति विविध प्रकार से और विविध रूपों में मिलती है। इसकी अभिव्यक्ति का सबसे महत्वपूर्ण रूप विचारात्मकता का है। कबीर आदि सन्तों ने विचार को बहुत अधिक महत्व दिया है। कबीर ने लिखा है—आचारी तो संसार दिखाई पड़ता है किन्तु विचारशील कोई विरला ही मिलता है। एक विचारशील पर करोड़ों आचारी न्योछावर किए जा सकते हैं।[1] इसीलिए उनका उपदेश था कि विचारपूर्वक ही मनुष्य को वाणी बोलनी चाहिये और विचारपूर्वक ही उठना बैठना चाहिए। ऐसे विचारी भक्त की कभी हार नहीं होती।[2]

विचार के अतिरिक्त संतों में प्रज्ञा की अभिव्यक्ति विवेक के रूप में भी हुई है संतों का यह विवेक अधिकतर शब्द मूलक है। कबीर लिखते हैं—

कर बंदगी विवेक की भेष धरे सब कोय।
वा बंदगी वह जानदे जहाँ सबद विवेक न होय॥[3]
कहै कबीर पुकार के कोई संत विवेकी होय।
जा में सबद विवेक है छत्रधनी है सोय॥[4]

शब्द विवेक के अतिरिक्त भी सन्तों ने विवेक के सामान्य रूप के महत्व को भी स्वीकार किया है। संत कबीर का तो यहाँ तक विश्वास था कि जब तक मन में विवेक नहीं होता तब तक उस साधक को शब्द बाण प्रभावित नही करता। और जब तक शब्द बाण से विद्ध नही होता तब तक भवसागर के पार नहीं उतरता।[5] संत कबीर तो सच्चा मनुष्य उसी को

१—आचारी सब जग मिला विचारी मिला ना कोय।
कोटि अचारी वारिये, इक विचारि जो होय॥
क० साखी संग्रह भाग १, २ पृ० १५३

२—बोले बोल विचारि कै, बैठे ठौर संभारि।
कह कबीर या दास को, कबहूँ न आवै हारि॥
क० साखी संग्रह भाग १, २ पृ १५३

३—क० साखी संग्रह भाग १, २ पृ० १५४ साखी ६

४—क० साखी संग्रह भाग १, २ पृ० १५४ साखी ७

५—जब लग नाहिं विवेक मन तब लग लगै न तीर।
भवसागर नाहिं तरै सतगुरु कहे कबीर॥

मानते[1] थे जिसमें विवेक और विचार की उपस्थिति पाई जाती है। कबीर सच्चा ज्ञानी उसी को मानते थे जिसमें विवेक पाया जाता है।[2]

संतों पर प्रज्ञा का प्रभाव बुद्धि के रूपमें भी पाया जाता है। संत लोग मानव में बुद्धि का होना परमावश्यक मानते थे। संत कबीर ने लिखा है कि बुद्धिविहीन मनुष्य बिल्कुल गंवार होता है। उसकी दशा उस पालतू बन्दर के सदृश होती है जो द्वार पर नचाया जाता है।[3] एक दूसरे स्थल पर कबीर ने फिर लिखा है कि बुद्धिविहीन व्यक्ति उसी प्रकार माया के फंदे में फंस जाता है जिस प्रकार बुद्धि विहीन गज ग्राह के फन्दे में फंस जाता है।[4] इन्हीं सन्त की एक दूसरी साखी है—

"बुद्धिविहीन आदमी इसी प्रकार से माया के फंदे में फंस जाता है जिस प्रकार बुद्धिहीन तोता बहेलिए के फंदे में पड़ जाता है[5] प्रज्ञा तत्व की अभिव्यक्ति संतों में प्रत्यक्षानुभव के रूप में भी हुई है। संत लोग अंधानुसरण के विरोधी थे। वे उसी सत्य का प्रतिपादन करते थे जिसका उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया था। कबीर ने लिखा है "अय अंधानुसरण करने वाले पंडितों हमारा तुम्हारा मन कैसे मिल सकता है। मैं प्रत्यक्ष देखे हुए सत्य का वर्णन करता हूँ और तुम कागज में लिखी हुई बात कहते हो।

१—गुरु पसु नरपसु नारिपसु वेदपसु संसार।
मानुष सोई जानिये, जाहि विवेक विचार॥
कबीर साखी सं० भाग १-२ पृ० १५४

२—समझा सोई जानिये, जाके हृदय विवेक।
क० सा० सं० भाग १-२ पृ० १५४

३—बुद्धि बिहूना आदमी, जानै नहीं गंवार।
जैसे कपि परवस परयो नाचै घर घर बार।
क० सा० सं० भाग १—२, पृ० १५४

४—बुद्धि बिहूना अन्ध गज, परयो फन्द में आय।
ऐसे ही सब जग बांधा कहा कहौं समझाए॥
क० सा० सं० भाग १—२ पृ० १५५

५—पंथ एता परिवस परयो, सुआ के बुद्धि नाहि।
बुद्धि बिहूना आदमी, यो बधा जग माहि॥
क० सा० सं० भाग १—२ पृ० १५५

मैं सुलझाने वाली बातें कहता हूँ लेकिन तुमने उलझा रखा है। मैं ज्ञान की बातें कहता हूँ और सजग रहने की चेतावनी देता हूँ किन्तु तू अज्ञान विमूढ़ित होकर सोया हुआ है। मेरा उपदेश है कि संसार के माया के मोह में नहीं फंसना चाहिए। किन्तु तू इसके विपरीत माया मोह में फंसाने वाली बातें ही करता है। मुझे संसार को उपदेश करते हुए युग युग बीत गए किन्तु मेरी कहनी कोई नहीं मानता। तू तो माया रूपी वेश्या के चक्कर में पड़ा हुआ है और अपनी ज्ञान रूपी सारी संपत्ति को लुटाए दे रहा है।"[1]

प्रज्ञा तत्व का प्रभाव सूफी कवियों पर भी दिखलाई पड़ता है। जायसी तो प्रज्ञा या बुद्धि तत्व से इतना अधिक प्रभावित हुए थे कि उन्होंने अपनी कथा को[2] अन्योक्ति को स्पष्ट करते हुए पदमावती को बुद्धि का प्रतीक बताया है। कवि की प्रमुख आराध्या पदमावती ही रही है। रत्नसेन रूपी मन भी उसी की साधना में संलग्न दिखलाया गया है। सच तो यह है कि जायसी ने श्रद्धा और प्रेम के सहारे मन और बुद्धि का तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा की है। इस प्रकार की चेष्टा के मूल में बौद्ध प्रभाव ही दिखलाई पड़ता है। बौद्ध लोगों का लक्ष्य भी मन के द्वारा श्रद्धा समन्वित प्रज्ञा को ही प्राप्त करना था।

राम काव्य धारा के कवियों पर भी हमें प्रज्ञा का अप्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई पड़ता है। यद्यपि राम काव्य धारा के कवि मूलतः भक्त थे किन्तु

१—मेर तेर मनुआं कैसे, इक होइ रे।
मैं कहता हो आंखिन देखी तू कहता कागद की लेखी।
मैं कहता सुरझावन हारो तू राख्यो उरझाई रे।
मैं कहता तू जागत रहियो, तू रहता है सोई रे।
मैं कहता तू निर्मोही रहियो, तू जाता है मोहि रे।
जुगन जुगन समुझावत हारा, कही न मानत कोई रे।
तू तो रंडी फिरै बिहडी सब धन डारे खोइ रे।
कबीर साहब की शब्दावली भाग १, पृ०५९

२—अपनी अन्योक्ति को स्पष्ट करते हुए जायसी ने पदमावत में लिखा है—
तन चित उर, मन राजा कीन्हा। हियसिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा।
गुरू सुआ जेह पन्थ देखावा। बिनु गुरू जगत को निरगुन पावा।
नागमती यह दुनिया धन्धा। बांचा सोइ न एहिचित बंधा।
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू।
जा० ग्रं० पृ० ३०१

बुद्धिवादिता और ज्ञान के महत्व से वे पूर्ण परिचित थे। तुलसी ने एक स्थल पर लिखा है "*बिना ज्ञान के श्रद्धा नही उत्पन्न होती और बिना श्रद्धा के प्रेम* नहीं दृढ होता। और बिना प्रेम के दृढ हुए भक्ति नही होती। *यह बात ठीक* वैसी ही होती है जैसी जल की चिकनाई की बात होती है।'[1] राम काव्य धारा के कवियों ने लिखा है। "मुनि संत, वेद और पुराण सभी लोग यह *स्वीकार करते हैं कि ज्ञान के सदृश कोई वस्तु दुर्लभ नही है।*[2]

जायसी आदि सूफी काव्य धारा के कवियों पर भी बौद्धों की उपेक्षा का प्रभाव दिखाई पड़ता है। पद्मावत के प्रेम खंड में जब गुरू रूपी तोता रत्न सेन रूपी साधक को पद्मावती रूपी प्रज्ञा के सौंदर्य को बोध करता है तो उसमें ज्ञान और उपेक्षा के भाव जागृत हो[3] उठते हैं।

राम काव्य धारा के कवियों पर भी हमें बौद्धों की उपेक्षा का प्रभाव *दिखाई पड़ता है। यह प्रभाव अधिकतर संतों के स्वरूप वर्णन के प्रसंग में* मिलता है। मानस के उत्तर काण्ड में तुलसीदास लिखते हैं "वे संत हमें प्राणों से भी अधिक प्रिय लगते हैं जो निंदा और स्तुति दोनों के प्रति उदासीन रहते हुए मेरे चरणों में प्रेम करते रहते हैं।[4] उपेक्षा भावोंका प्रभाव हमे तुलसी की विनय पत्रिका के एक पद में मिलता है इसमें तुलसी ने लिखा है "*यदि मन अपना विकार छोड़ दे तो वह सरलता से उपेक्षा या वैराग्य के भाव को अपना* सकता है। क्योंकि विविध प्रकार के भावों को जन्म देने का श्रेय मन को ही है। मन के शांत हो जाने पर द्वंद अपने आप ही छूट जाते हैं।' शत्रु,

---

१—जाने बिनु न होय परतीती बिनु परतीति होइ नहि प्रीति।

प्रीति बिना नहि भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल के चिकनाई।

रामचरित मानस गीता प्रेस मोटा टाइप पृ० १११६

२—कहहि सन्त मुनि बेद पुराना। नहि कछु दुरलभ ग्यान समाना।

तुलसी दर्शन से उद्धत पृ० २२८

३—सुनतहिं राजा गा मुरछाई जानौ लहर सुरजि कै आई॥

जब भा चेत उठा बैरागा बाउर जनौं सोय उठ जागा॥

जा० ग्रं० पृ० ४९

४—*निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।*

ते सज्जन मम, प्राण प्रिय गुन मन्दिर सुख पुंज॥

मोटा टाइप राम चरित मानस—गीता प्रेस पृ० १०६४

मित्र और उदासीन आदि के भेद भाव मन ने ही स्थापित कर रखे हैं इत्यादि[1]।"

सूर आदि कृष्ण काव्य धारा के कवियों पर हमें उपेक्षा भाव का प्रभाव बहुत कम दिखाई पड़ता है क्योंकि यह लोग वल्लभाचार्य के अनुयाई थे और वल्लभाचार्य प्रेमाभक्ति में मर्यादा को विधेय नहीं मानते थे।

पांच बल—आध्यात्मिक विकास की जिन पांच शक्तियों की चर्चा की गई है बौद्ध ग्रन्थों में उनका वर्णन कहीं कहीं पर पांच बलों के रूप में भी किया गया है। ३७ बोधि पक्षीय धर्मों में इनकी गणना की जाती है। इनका निर्देश ऊपर किया जा चुका है। इसलिए पुनः उसका पिष्ठ पेषण करना नहीं चाहती हूँ। वास्तव में ५ इन्द्रियों और पांच बलों में कोई मौलिक अंतर नहीं है। पांच बलों का यहाँ पर इसीलिए स्वतन्त्र रूप से प्रभाव निर्देश नहीं कर रही हूँ।

सात बोध्यंग या भावना प्रयत्न—

सात बोध्यंगों के स्वरूप को मीमांसा मैं ३७ बोधि पक्षीय धर्मों के स्वरूप की शास्त्रीय विवेचना करते समय कर चुकी हूँ। अतएव यहाँ पर अब केवल प्रभाव निर्देश भर कर रही हूँ। सात बोध्यंगों में कुछ की चर्चा इन्द्रियों या आध्यात्मिक शक्तियों के रूप में ऊपर कर भी चुकी हूँ।

स्मृति—इसको बौद्ध धर्म में बहुत अधिक महत्व दिया गया है। यही कारण है कि बोधि पक्षीय धर्मों के प्रसंग में उसका उल्लेख कई बार किया गया है। अतएव यहाँ पर पुरानी बातों को दोहरा कर पिष्ठ पेषण करना नहीं चाहती।

धर्म विचय—इसका अर्थ है धर्म बुद्धि अथवा धर्म में बुद्धि का लगाए रखना। जिस प्रकार बौद्ध धर्म में स्मृति को महत्व दिया गया है उसी प्रकार धर्म विचय की महत्ता भी प्रतिपादित की गई है। सन्त कवियों पर हमें विचय का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप में मिलता है। धर्म विचय की प्रवृत्ति का वर्णन उन्होंने 'सती' और 'व्यभिचारिणी' के प्रतीकों से किया है। कबीर व्यभिचारिणी अर्थात् धर्म विमुख साधक का वर्णन करते हुए लिखते हैं—उन

१—जो निज मन परिहरै विकारा।
तौ कत-द्वैत जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा॥
सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनिये, मन कीन्हें बरिआई॥
विनय पत्रिका पृ० २५१

आडम्बरी साधकों से परमात्मा प्रसन्न नहीं होता। जिसकी प्रवृत्ति धर्म बुद्धि विहीन है। वे ऊपर से तो अपने को धर्मात्मा या भक्त आदि बताते हैं और अन्दर से धर्म विरोधनी बातों में आसक्ति रखते हैं।[1]

धर्म विजय की अभिव्यक्ति सूफी कवियों में भी किसी न किसी रूप में दिखलाई पड़ती है। जायसी ने अपने पदमावत में धर्म विजय विशिष्ट सुलतान नौशेरवाँ का वर्णन किया है। उसका वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—उसके शासन का कहाँ तक वर्णन करूँ। उसके राज्य में चींटी को भी किसी प्रकार का कष्ट नहीं है। उसकी शासन व्यवस्था की समता खलीफा उमर को छोड़ कर और किसी से नहीं की जा सकती। सारी दुनियाँ में उसके शासन की प्रशंसा फैली हुई थी। उसके शासन में कोई किसी की वस्तु को छू नहीं सकता था। यहाँ तक कि यदि कोई मार्ग में सोना उछालते हुए चलता तो भी कोई उसके सोने को छू नहीं सकता था। गो और सिंह एक घाट पर पानी पीते थे। सुलतान की बुद्धि नीर क्षीर विवेकनी थी। वह धर्म और न्याय के लिए प्रसिद्ध था। बड़ा सत्यभाषी था। उसके राज्य मे दुर्बल और बलवान एक समान थे।[2] नौशेरवाँ का यह वर्णन बौद्धों के धर्म विजय से प्रभावित प्रतीत होता है।

तुलसी आदि राम काव्य धारा के कवियों पर भी धर्म विजय का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। मानस में रामराज्य का जो वर्णन किया गया है, उस पर मुझे धर्म विजय का प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

प्रीति—बौद्ध धर्म में प्रीति शब्द का प्रयोग बोधि पक्षीय धर्मों के प्रसंग में पारिभाषिक अर्थ में किया गया है। इसका अर्थ है कुशल आचरणों

१—नारि कहावै पीव की, रहै और संग सोय।
जार सदा मन में बसै खसम खुसी क्यों होय॥
कबीर साहब का साखी संग्रह भाग १, २ पृ० ३२

१—नौसेरवाँ जो आदिल कहा। साहि अदल सरि सोउ न अहा॥
अदल जो कीन्ह उमर कै नाई। भई अहा सगरी दुनियाई॥
परी नाथ कोई छुवै न पारा। मारग मनुष सोन उछारा॥
गऊ सिंह रेंगहि एक बाटा। दूनौ पानि पियहिं एक घाटा॥
नीर खीर छानै दरबारा। दूध पानि सब करै निनारा॥
धरम नियाव चलै, सत भाखा। दूबर बली एक सम राखा॥
जा० ग्रं० पृ० ६

के प्रति आकर्षण। जब साधक में धर्म विचय की भावना जागृत हो जाती है तो उसमें स्वतः प्रीति या कुशल आचरणों के प्रति लगाव पैदा हो जाता है। मध्ययुगीन कवियों पर इस बोध्यंग का भी अच्छा प्रभाव दिखलाई पड़ता है। एक स्थल पर ऐसा लगता है कि सन्त कबीर ने इस शब्द का प्रयोग ठीक उसी अर्थ में किया है जिसमें बौद्ध दर्शन में मिलता है। जब से मन में श्रद्धा और धर्म विचय की भावना पैदा हुई है तब से हमारे अवगुण अर्थात् अकुशल कर्म छूटते जाते हैं और प्रीति अर्थात् कुशल धर्मों के प्रति नित नया आकर्षण बढ़ता जाता है।[1] इसी प्रकार सन्त कबीर ने एक दूसरे स्थल पर 'प्रीति' प्रधान सन्त का वर्णन करते हुए लिखा है—धर्म विचय प्रधान सन्त में जब प्रीति जागृति होती है तो उसमें शील संतोष आदि सद्गुणों की जागृति हो जाती है। उसका मुख प्रसन्न रहता है। उसका ध्यान आनन्द में निमग्न रहता है। अधर पर मधुर मुस्कान रहती है[2] इत्यादि। सन्तों में इस प्रकार के और भी सैकड़ों वर्णन मिलते हैं जिन पर बौद्धों के प्रीति तत्व का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

तुलसी आदि राम काव्य धारा के कवियों पर भी बौद्धों के प्रीति तत्व की छाया दिखाई पड़ती है। यह बात तुलसी के इस पद से प्रकट है[3]—

> कबहुँक हौं यहि रहनि रहौगो।
> श्री रघुनाथ कृपाल कृपा ते सन्त सुभाव गहौगो।
> जथालाभ सन्तोष सदा काहू सों कछु न कहौंगो।
> परहित निरत निरन्तर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो। इत्यादि

१—जब ते मन परतीति भई।
तब ते अवगुन छूटन लागे, दिन दिन बाढ़त प्रीति नई।
कबीर साहेब की शब्दावली भाग १ पृ० ४

२—सील संतोष ते सबद जा मुख बसै,
सन्त जन जौहरी साच मानी।
बदन बिकसित रहै ख्याल आनन्द में,
अधर में मधुर मुस्कान बानी।
साच बोले नहीं झूठ बोले नहीं
सुरत में सुमति सोइ श्रेष्ठ ज्ञानी।
क० सा० की शब्दावली भाग ४

३—विनय पत्रिका पृ० १४१

प्रश्रब्धि—इसका अर्थ है निश्चित भाव से साधना मार्ग में अग्रसर होना। मध्ययुगीन कवियों पर बौद्धों के इस अंग का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। कबीर आदि सन्तों में प्रश्रब्धि भाव की अभिव्यक्ति विविध प्रकार से विविध रूपों में मिलती है। सन्त कबीर ने एक स्थल पर लिखा है—सद्गुरु के साथ होली खेलनी चाहिए। इससे जरा और मरण का भ्रम दूर हो जाता है। ध्यान युक्ति की पिचकारी बनानी चाहिए और पांच पचीस के बीच में आत्मा रूपी ब्रह्म को ज्ञान गली में प्रेम की कीच करते हुए होली खेलनी चाहिए।[1] इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर भी अपने मन को आदेश करते हुए प्रश्रब्धि भाव की अभिव्यक्ति की है। वह लिखते हैं—अय मन तू निश्चित भाव से काया की साधना कर। इधर ऊधर न भटक कर कायासदन रूपी सरोवर में स्थित अविनाशी प्रियतम हैं उन्हीं की साधना कर। काया के बीच में ही करोणों तीर्थ हैं और काया के बीच में ही काशी है। काया के बीच में ही कमलापति हैं और काया के बीच में ही वैकुंठवासी हैं[2] इत्यादि। सूफी काव्य धारा के कवियों पर भी हमें कहीं कहीं पर प्रश्रब्धि भाव का प्रभाव दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए हम जायसी के पदमावत का एक प्रसंग ले सकते हैं। वह प्रसंग इस प्रकार है—हीरामन तोते ने जब पदमिनी के अनुपम रूप सौंदर्य की चर्चा की तो रत्न सेन उस दिव्य सौंदर्य की झांकी की कल्पना कर के मूर्छित हो गया। थोड़ी देर बाद जब वह उस मूर्छा से मुक्त होकर संज्ञा को प्राप्त हुआ तो उसने उस दिव्य सौंदर्य को प्राप्त करने की कामना की।[3]

१—सतगुरु संग होरी खेलिये, जा ते जरा मरन भ्रम जाय।
  ध्यान जुगत को करि पिचकारी, छिपा चलावन हार।
  आतम ब्रह्म जो खेलन लागे पांच पचीस मझार॥
  ज्ञान गली में होरी खेलै, मची प्रेम की कांच॥
  क० सा० की शब्दावली भाग १ पृ० ९०

२—रे मन बैठि कितै जिनि जासी,
  हिरदै सरोवर है अविनासी।
  काया मधे कोटि तीरथ, काया मधे कासी,
  काया मधे कमलापति, काया मधे बैकुंठवासी॥
  क० ग्रं० पृ० १४५

३ सुनतहि राजा गा मुरछाई। जानो लहरि सुरुज के आई॥
  प्रेम घाव दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै तै सोई॥
  जा० ग्रं० पृ० ४९

इस पर तोते ने तथा अन्य लोगों ने राजा को बहुत समझाया कि साधना का मार्ग बहुत कठिन है। अतएव उसमें अग्रसर नहीं होना चाहिये। इसके उत्तर में राजा ने जो पंक्तियाँ कहीं वे प्रश्रब्धि से ही प्रभावित हैं। इन पंक्तियों का भाव इस प्रकार है—यद्यपि सम्बन्धियों और मित्रों ने राजा को बहुत प्रकार से समझाने की चेष्टा की किन्तु राजा किसी के भुलावे में नही आया वास्तव में जिसके हृदय में प्रेम की पीर जग जाती है वह किसी के समझाए नहीं समझता।[1] राजा ने राज्य त्याग दिया, योगी का वेश बना लिया और साधना पथ पर चल पड़ा।[2] ज्योतिषियों ने उससे कहा कि आज चलना ठीक नहीं है। इसके उत्तर में रत्न सेन ने कहा-प्रेम मार्ग में दिन और घड़ी नहीं देखी जा सकती। इन बातों का विचार तो तब किया जाता है जबकि मनुष्य निश्चिन्त होता है।[3] इस तमाम वर्णन में बौद्धों की प्रश्रब्धि की छाया दिखाई पड़ती है।

तुलसी आदि राम काव्य धारा के कवियों में भी कहीं न कहीं प्रश्रब्धि की झलक मिल ही जाती है। उदाहरण के लिए हम तुलसी की विनयपत्रिका के कुछ पद ले सकते हैं। पहला पद है—अय संसार मैंने तुझे समझ लिया है। तू प्रत्यक्ष ही काठ का घर है। किन्तु अब तू मुझे बांध नही सकता क्योंकि

१—बन्धु मीत बहुतैं समुझावा। मान न राजा कोउ भुलावा॥
उपजी पेम पीर जेहि आई। परबोधत होइ अधिक सो आई॥
जा० ग्रं० पृ० ५१

२—तजा राज, राजा भा जोगी। औ किंगरी कर गहेउ बियोगी॥
तन बिसंभर मन बाउर लटा। अरुझा पेम, परी सिर जटा॥
चन्द्र बदन औ चंदन देहा। भसम चढ़ाइ कीन्ह तन खेहा॥
मेखल सिंघी चक्र धंधारी। जोगबाट रुदराछ, अधारी॥
कंथा पहिरि डंडकर गहा। सिद्ध होइ कहं गोरख कहा॥
मुद्रा स्रवन, कंठ जयमाला। कर उपदान कांध बघछाला॥इत्यादि
जा० ग्रं० पृ० ५३

३—पेम पंथ दिन घरी न देखा। तब देखै जब होइ सेरखा॥
जेहि तन पेम कहाँ तेहि मासू। काया न रकत, नैन नहिं आंसू॥
पंडित भूल न जानै चालू। जीउ लेत दिन पूछ कालू॥ इत्यादि
जा० ग्रं० पृ० ५३

मुझे भगवान् का बल मिल गया है।[1] इसी प्रकार का एक दूसरा पद है—हे नाथ मुझे और किसी का सहारा नहीं है। हे करुणा निधान मन, वचन और कर्म से मेरी यह सच्ची प्रतिज्ञा है कि मुझे केवल आपकी जूतियों का भरोसा है।[2]

कृष्ण काव्य धारा के कवियों में भी हमें प्रश्रब्धि की छाया मिलती है। सूरदास जी मन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—हे मन तू भगवान् का बन कर रह। इस संसार से विरक्त हो जा तो तुझे यम का त्रास नहीं सहना पड़ेगा। दुख, सुख, कीर्ति जो कुछ भी भाग्य में है उसको सहन करते हुए भगवान् का भजन कर ताकि अन्त समय में कुछ प्राप्त हो जाए।[3]

इसी प्रकार का सूरदास जी का एक पद और है जिसमें सूरदास जी कहते हैं—सब कुछ छोड़ कर सूर कृष्ण के भजन का आदेश करते हैं। दूसरे का भजन करने से भव जंजाल नहीं मिट सकते। जन्म जन्मान्तर में बहुत से पापों की जो गठरी इकट्ठी कर रखी है उसमें भगवान् का नाम रूपी कुठार ही मुक्ति दिला सकता है। यह बात वेद, पुराण, भागवत गीता आदि में भी लिखी हुई है कि भगवान् के चरण रूपी नौका के बिना किसी का भी उद्धार नहीं हो सकता। इसलिए इसी क्षण से भगवद् भजन प्रारम्भ कर देना चाहिये समय नष्ट करना ठीक नहीं है[4] इत्यादि।

१—मैं तोहि अब जान्यो संसार।
    बांधि न सकहि मोहि हरि के बल, प्रगट कपट आगार॥
                                        वि० प० पृ० ३६८

२—करम मन वचन पन परत करुना निधे,
                    एक गति राम, मवदीय पदत्रान की।
                                        वि० प० पृ० ४०८

३—रे मन गोविन्द के ह्वै रहियै।
    इहि संसार अपार विरत है, जम की त्रास न सहियै।
    दुख, सुख कीरति, भाग आपनै आइ परै सो गहियै।
    सूरदास भगवंत भजन करि अंतवार कछु लहियै॥
                                        सूरसागर पृ० ३४

४—सब तजि भजिए नंद कुमार।
    और भजे तें काम सरै नहिं, मिटै न भव जंजार॥
    जिहि जिहि जोनि जन्म धारयौ, बहु जेरयौ अघ को भार।
    तिहि काटन को समरथ हरि को तीछन नाम कुठार॥
                                        सूरसागर पृ० १७

समाधि—बोधि पक्षीय धर्मों के अन्तर्गत समाधि का उल्लेख कई प्रसंगों में आया है। ऊपर पाँच इन्द्रियों या आध्यात्मिक शक्तियों के प्रसंग में मैं समाधि की चर्चा कर चुकी हूँ। इसलिए मैं पुनरावृत्ति करना नहीं चाहती।

उपेक्षा—इसका अर्थ है संसार से तटस्थ रहना। बौद्ध धर्म निवृत्ति मार्गीय धर्म है इसलिए इस धर्म में उपेक्षा का और भी अधिक महत्व है।

बौद्धों के उपेक्षा तत्व का प्रभाव निर्गुणियां सन्तों की विचारधारा पर बहुत अधिक दिखलाई पड़ता है। कहीं पर तो इसकी अभिव्यक्ति संसार के प्रति तटस्थ भाव प्रदर्शन के रूप में हुई है और कहीं पर द्वंद्वातीतता के भाव की व्यंजना के रूप में। कबीर ने सन्त की तटस्थता का वर्णन करते हुए लिखा है—सच्चा सन्त संसार को पीठ देकर दिन रात सोता रहता है। अर्थात् अपनी साधना में लीन रहता है।[1] इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर कबीर ने लिखा है—सन्त संसार में इस प्रकार रहता है जिस प्रकार जल में कमल। वह संसार में रहते हुए भी उसी प्रकार संसार की वासनाओं से निर्लिप्त रहता है जिस प्रकार कमल जल में रहते हुए भी जल से निर्लिप्त रहता है।[2] इस प्रसंग में कबीर का एक अन्य पद भी दृष्टव्य है। वह इस प्रकार है—अय वैरागी साधक तू ऐसा रहनी रह जिससे माया के प्रति उपेक्षा भाव बना रहे और सत्य नाम के प्रति अनुराग। ऐसे साधक की कण्ठी क्षमा होती है, सरौनी शील और सुमरिनी सुरति होती है।[3]

बौद्ध धर्म में भिक्षु नीति

हम बार बार बल देकर स्पष्ट कर चुके है कि बौद्ध धर्म वैराग्य प्रधान

१—रैन दिन संत यों सोवता देखता।
संसार की ओर पीठ दिए॥
ज्ञान गुदड़ी क० सा० रेखाताचार

२—है साधू संसार में कंवला जल माहीं।
सदा सर्वदा संग रहै जल पर सत नाहीं॥
कबीर शब्दावली भाग ३ पृ० १३

३—ऐसी रहनि रहो वैरागी।
सदा-उदास रहै माया में सन्त नाम-अनुरागी॥
छिमा को कंठी सील सरौनी, सुरति सुमिरनी जागी। इत्यादि
क० सा० संग्रह भाग ३ पृ० ६९

है। वैराग्य प्रधान धर्म में वैरागियों अथवा भिक्षुओं से सम्बन्धित नीति का उल्लेख किया जाना बड़ा स्वाभाविक है। बौद्ध धर्म में भिक्षुओं के नियमों का बड़े विस्तार से उल्लेख मिलता है। यह नियम संख्या में २२७ हैं और पातिमोक्ख[1] नामक रचना में दिये हुए हैं। इनमें प्रथम चार बहुत महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इन नियमों की उपेक्षा करने वाला भिक्षु संघ से निर्वासित कर दिया जाता है। भिक्षु नियमों में सबसे अधिक महत्व विषय वासना के परित्याग को दिया गया है। इस नियम के अनुसार जो भिक्षु किसी भी प्रकार के विषय वासना के इन्द्रजाल में फँस जाता है उसे बहुत घृणास्पद समझा जाता है। विषय वासना से भिक्षुओं को अलग रखने के लिए कुछ निम्नलिखित उपनियम बतलाए गए हैं।

(१) भिक्षुओं को किसी ऐसे स्थान पर नहीं सोना चाहिए जहाँ कोई स्त्री रहती हो।

(२) किसी स्त्री से तब तक बात नहीं करनी चाहिये जब तक कोई वयोवृद्ध व्यक्ति वहाँ उपस्थित न हो।

(३) यदि किसी स्त्री को उपदेश देना ही पड़े तो चार पाँच शब्दों से अधिक शब्दों का उपयोग नहीं किया जाना चाहिये।

(४) भिक्षु को अपनी बहन से भी अधिक वार्तालाप नहीं करना चाहिए और उन्हें अकारण शिक्षा और उपदेश नहीं देना चाहिये।

(५) किसी स्त्री के दिए वस्त्र नहीं ग्रहण करना चाहिये।

(६) एकान्त में किसी स्त्री से सम्भाषण नहीं करना चाहिये।

(७) भिक्षा मांगते समय नीची दृष्टि करके चलना चाहिये।[2]

(८) अपवित्र भाव से न तो किसी स्त्री को देखना चाहिये और न बोलना चाहिये और न स्पर्श करना चाहिये।

इसी प्रकार के और बहुत से भिक्षु नियम बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित मिलते हैं। इन सभी नियमों में जीवन की पवित्रता, सरलता, सात्विकता और सदाचारप्रियता पर बल दिया गया है।

१—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ऐथिक्स भाग ३ पृ० २७:

२—वही

हिन्दी के मध्ययुगीन कवियों पर बौद्ध भिक्षु नीति का प्रभाव

बौद्धों की भिक्षु नीति पर आदि मनोयोग के साथ विचार करूं तो निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं :—

(१) ब्रह्मचर्य पालन पर बल।
(२) सदाचारों का पालन।

ब्रह्मचर्य के पालन पर बल

बौद्धों ने भिक्षु के लिए सबसे अधिक आवश्यक ब्रह्मचर्य का पालन बताया है। ब्रह्मचर्य की रक्षा तभी हो सकती है जब साधक स्त्रियों के प्रति पवित्र दृष्टिकोण विकसित कर ले। स्त्रियों के प्रति पवित्र दृष्टिकोण को विकसित करना बड़ा कठिन कार्य है। अतएव सन्तों ने स्त्रियों से अलग रहना ही बताया है। स्त्रियों से तभी दूर रहा जा सकता है जब उनके प्रति घृणा, जुगुप्सा और विरक्ति का भाव उत्पन्न कर दिया जाय। सन्तों ने यही प्रयास किया है। उन्होंने अनेक प्रकार के ऐसे वर्णन किये हैं जिनसे उपर्युक्त प्रयास की अभिव्यक्ति होती है।

नारी के शरीर के प्रति विरति और जुगुप्सा का भाव जाग्रत करते हुए कबीर कहते हैं—

क्या देख दिवाना हुआ रे ।।टेक।।
माया सूली सार बनी है नारी नरक का कुआ रे।
हाड़ मांस नारी का पिंजर ता मे मनुआ सुआ रे।
भाइ बन्ध और कुटुम्ब कबीला ता में पचि पचि मुआ रे।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हार चला जग जूवा रे।[1]

इसी प्रकार के और भी अनेक प्रकार से विरति उत्पन्न करने का प्रयास किया है। इस प्रयास के फलस्वरूप सन्तों ने कहीं कहीं नारी की निन्दा भी कर डाली है। नारी निन्दा के कुछ उद्धरण दे देना अनुचित नहीं है:—

नारी की झाईं परत अंधा होत भुजंग।
कबीर तिन की कौन गति जो नित नारी के संग।
कामिनि काली नागिनी तीना लोक झारि।
नाम सने ही ऊबरे विषई खाए झार।

इसी प्रकार सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं जिनमें स्त्री की निन्दा की है। यहाँ पर प्रश्न यह है कि क्या स्त्री की निन्दा की यह प्रवृत्ति बौद्धों की है?

२—क० सं० भाग १ पृ० २४

इसके लिए हमें बौद्धों के स्त्री सम्बन्धी दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करना पड़ेगा।

स्त्री और बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म में स्त्रियों का स्थान महत्वपूर्ण बताया गया है। उसमें उनके प्रति श्रद्धा और आदर[1] का भाव भी प्रकट किया गया है। इतना होते हुए भी बौद्ध विचारक स्त्री की दुर्बलताओं से भी परिचित थे। यह बात रानी प्रजावती की निम्नलिखित घटना से प्रकट होती है:—

"सम्बोधि प्राप्ति के पांचवें वर्ष में भगवान बुद्ध जब कपिलवस्तु पधारे तो उनके पिता शुद्धोधन ने पुत्र से प्रभावित होकर उसके द्वारा प्रवर्तित धर्म को स्वीकार किया। कहते हैं कि मृत्यु के समय वे अर्हंत भी हो गए थे।[2] इसी अवसर पर भगवान बुद्ध की पोषिका माता महाप्रजापति ने उनके समीप जाकर यह आग्रह किया कि संघ में स्त्रियों के दीक्षित किये जाने की आज्ञा भी दे दी जावे। बार बार आग्रह करने पर भी भगवान ने यही उत्तर दिया कि गौतमी स्त्रियों के लिए गृह त्याग कर गृह हीन जीवन व्यतीत करना श्रेयस्कर नही है।[3] इसके बाद भगवान बुद्ध कपिलवस्तु मे वैशाली चले गए। कहते हैं महा प्रजापति ने अपने बाल कटवा डाले और गेरुए वस्त्र धारण कर लिए। इसी प्रकार की और बहुत सी शाक्य स्त्रियों को साथ लेकर वे वैशाली में भगवान बुद्ध के डेरे पर फिर पहुँची। किन्तु उन्हे उनके समीप जाने का साहस नही हुआ। वे बड़ी द्वार पर सिकुड़ कर खडी हो गईं। उन्हे उस दशा मे महाराज आनन्द ने देख लिया। उन्होंने उनसे पूछा 'गौतमी, तुम द्वार के बाहर ही क्यों खडी हो?" गौतमी ने उत्तर दिया "हे आदरणीय, मैं इसलिए बाहर खडी हूँ कि भगवान स्त्रियों के लिए गृह त्याग को उचित नही समझते उनको वे संघ मे दीक्षित नहीं करना चाहते। किन्तु संघ में दीक्षित होने की मेरी प्रबल इच्छा है।" इस पर महाराज आनन्द ने उन्हें आश्वासन दिया और कहा कि हम भगवान से स्त्रियों को संघ मे दीक्षित करने की आज्ञा प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे। महाराज आनन्द थोडी देर बाद भगवान बुद्ध के पास पहुँचे। उन्होने उनसे स्त्रियों को संघ मे दीक्षित करने की आज्ञा देने

१—अंगुत्तर निकाय पृ० १।२।१-७

२—अर्ली बुद्धिस्ट स्क्रिप्चर, एडवर्ड जे० थोमस, पृ० २२०

३—चुल्ल वग्ग, १०।१

के लिये प्रार्थना की।[1] भगवान ने उनकी प्रार्थना ठुकरा दी। किन्तु आनन्द ने इस आज्ञा के लिए उनसे बार बार प्रार्थना की। बाद में बाध्य हो कर उन्हें आनन्द की प्रार्थना स्वीकार करनी पड़ी। उन्होंने आज्ञा तो दे दी किन्तु निम्नलिखित आठ नियमों का पालन भिक्षुणियों के लिए अनिवार्य कर दिया:—

(१) प्रत्येक भिक्षुणी चाहे वह सौ वर्ष की क्यों न हो, उठ कर पहले भिक्षु को, चाहे वह उसी दिन भिक्षु क्यों न बना हो, प्रणाम और स्वागत करेगी।

(२) किसी भी भिक्षुणी को ऐसे एकान्त स्थल पर निवास करने की आज्ञा नहीं है जहाँ कहीं कोई भिक्षु न रहता हो।

(३) प्रत्येक भिक्षुणी को कम से कम महीने में दो बार भिक्षु संघ में जाकर बड़े भिक्षुओं से उपदेश लेने होंगे।

(४) भिक्षुणी को पवारण संस्कार के लिये भिक्षुओं की और भिक्षुणियों की सभा में जाना पड़ेगा।

(५) जो भिक्षुणी कोई अपराध करेगी, उसे मानत्व शील का पालन करना पड़ेगा।

(६) छः प्रसिद्ध नियमों का जिनका पालन प्रत्येक दीक्षा लेने वाले को प्रारम्भ में ही करना पड़ता है, पालन करना पड़ेगा।

(७) भिक्षुणी किसी भी प्रकार से किसी भी अवसर पर भिक्षु को उचित अनुचित नहीं कह सकती।

(८) आज से भिक्षुणियों के लिए भिक्षुकों को उपदेश देना मना है, किन्तु भिक्षु भिक्षुणियों को उपदेश दे सकते हैं।

उपर्युक्त आठ नियमों का पालन अनिवार्य बता कर भगवान बुद्ध ने गौतमी को भिक्षु संघ में दीक्षित होने की आज्ञा दे दी। किन्तु उसी समय भगवान बुद्ध ने यह भी भविष्यवाणी की कि हे आनन्द यदि स्त्रियों को संघ में दीक्षित करने की आज्ञा न दी जाती तो बौद्ध धर्म सहस्रों वर्ष अपने पवित्रतम रूप में प्रचलित रहता। किन्तु अब संघ में स्त्रियों के प्रवेश से उसका सत् रूप लगभग ५०० वर्ष से अधिक नहीं चल पावेगा। जिस प्रकार चोर लोग उस घर को लूट लेते हैं जिसमें पुरुष कम और स्त्रियाँ अधिक होती हैं, उसी प्रकार वह धर्म अधिक दिन नहीं टिक पाता जिसके संघ में स्त्रियों का प्रवेश हो जाता है।[2]

१—अर्ली बुद्धिस्ट स्क्रिप्चर, एडवर्ड जे० थोमस, पृ० २२२

२—चुल्लवग्ग, १०।१

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट प्रकट है कि भगवान बुद्ध धार्मिक जीवन में स्त्रियों को पुरुषों के समकक्ष स्थान देना उचित नहीं समझते थे। ऊपर के विवरण से यह भी प्रकट है कि संघ में स्त्रियों के प्रवेश से उसमें विकार की सम्भावना अधिक बढ़ जाती है। उनका यह दृष्टिकोण मध्ययुग में आकर बहुत विकसित हुआ।

सदाचारों का पालन

बौद्ध भिक्षु नीति का दूसरा प्रमुख अंग सदाचारों का पालन है। सन्त कवियों ने साधु जीवन में सदाचार को बहुत अधिक महत्व दिया है। कबीर ने साधुओं की सदाचार प्रियता का वर्णन करते हुए लिखा है--साधु लोग बड़े परमार्थी होते हैं। वे अपने सद्गुणों से दूसरे के शरीर की तपन बुझाते हैं। वे स्वभाव से सदाचरण प्रिय दूसरों का दुःख दूर करने वाले होते हैं। उनमें किसी के प्रति वैर भाव नही होता है। वे सदैव क्षमाशील रहते हैं। सदैव सत्य बोलते हैं और ज्ञान की बातें करते हैं। उन्हें हिंसा से बिल्कुल प्रेम नही होता। ऐसे सन्त को दुःख सुख एक समान रहते हैं। उन्हें हर्ष और शोक नही व्याप्ता है। वे बड़े उपकारी होते हैं। सदैव निष्काम रहते हैं। उन्हें छोड़ और ताप नही उत्पन्न होता[1] इत्यादि। इस प्रकार के अनेक उदाहरणों से प्रकट है कि सन्त लोग सदाचरण में सर्वाधिक महत्व देते थे।

हिन्दी की अन्य काव्य धाराओं में कवियों पर विरति भाव और सदाचरण प्रियता दोनों का बहुत प्रभाव पड़ा है। तुलसी ने सन्तों के जो लक्षण बताए हैं उनमे इन्ही बातों पर बल दिया गया है। यहाँ पर एक उद्धरण दे देना अनुपयुक्त नहीं होगा।

> गुना गार संसार दुःख रहित विगत संदेह।
> तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहु देह न गेह।
> जप तप व्रत दम संजम नेमा, गुरु गोविन्द प्रपद प्रेमा।
> श्रद्धा क्षमा मयत्री दाया मुदिता मम पद प्रीति प्रमाया।
>
> मानस पृ० ७५२

१—साध बड़े परमारथी घन ज्यों बरसें आय।
तपन बुझावें और की अपनो पारस लाय।
सुद कृपाल दुःख परिहरन वैर भाव नहि दोय।
छिमा ज्ञान सत भाख ही हिंसा रहित जोय।
दु.ख सुख एक समान है, हरष होय शोक नहि व्याप।
उपकारी नि.कामता उपजै छोड न ताप।

क० साखी संग्रह पृ० १२४

अध्याय

बौद्ध धर्म का साधना पक्ष :५:

(१) बौद्ध धर्म में योग साधना का स्वरूप
(२) मध्यकालीन साहित्य पर उसका प्रभाव
(३) बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय का भक्ति मार्ग
(४) मध्यकालीन साहित्य पर उसका प्रभाव
(५) बौद्ध धर्म में तप और वैराग्य का स्वरूप और महत्त्व
(६) मध्यकालीन साहित्य पर उसका प्रभाव

साधना मार्ग

बौद्ध धर्म में निर्वाण प्राप्ति के मार्गों के लिए यान शब्द का प्रयोग किया गया है। उसमें प्रमुख तीन साधना मार्ग व्यंजित किए गए हैं। उनके नाम क्रमशः श्रावकयान, प्रत्यक बुद्धयान तथा बोधिसत्वयान हैं। इन तीनों ही यानों में बोधि की स्वरूप मीमांसा अपने अपने ढंग पर की गई है। तीनों में बोधि के नाम भी भिन्न हैं। श्रावकयान की बोधि श्रावक बोधि कहलाती है और *प्रत्यक यान की बोधि प्रत्यक बुद्ध बोधि तथा बोधिसत्वयान की बोधि सम्यक्-* सम्बोधि कहलाती है।

श्रावकयान की साधना पद्धति

श्रावकयान अभिधान का प्रयोग हीनयान के लिए ही किया जाता है। धर्म जिज्ञासु को श्रावक की संज्ञा दी जाती है।[1] बौद्ध धर्म में विशेषकर हीनयान में प्राणियों का वर्गीकरण दो भागों में किया गया है। १—आर्य, २—आर्यंतर।[2] जो प्राणी निर्वाण साधना में संलग्न रहता है और ज्ञान की रश्मियों से दीप्त होता रहता है उसी को आर्य कहते हैं। प्रत्येक आर्य के जीवन का लक्ष्य अरहत पद को प्राप्त करना बताया गया है। उस पद तक

१—बौद्ध धर्म मीमांसा—बलदेव उपाध्याय पृ० १३८
२— ,, ,, पृ० १३९

पहुँचने के लिए उसे एक साधना मार्ग से गुजरना पड़ता है। इस साधना मार्ग में उसे चार भूमियों को पार करना पड़ता है।

श्रावक साधना की चार भूमियाँ

श्रावक साधना की चार भूमियों के नाम क्रमशः स्रोतापन्नभूमि, सकृतागामी भूमि, अनागामी भूमि तथा अरहत भूमि।[१] इन चारों भूमियों को क्रमशः दो दो अवस्थाएँ भी बताई गई हैं। उनके नाम मार्गावस्था और फलावस्था हैं।

त्रिविध यान साधना पद्धति

प्रत्यक बुद्धयान—जिन साधकों को किसी गुरु की अपेक्षा नहीं रहती है उन्हें प्रत्यक बुद्ध कहते हैं।[२] ऐसे साधक स्वयं बुद्ध होते हैं। यह स्थिति अर्हत और बोधिसत्व के मध्य की है। प्रत्यक बुद्ध अर्हत से कुछ दृष्टियों में हेय होता है। उसे किसी निश्चित साधना क्रम का अनुसरण नहीं करना पड़ता।

बोधिसत्व यान—यह यान ही वास्तव में महायान के नाम से प्रसिद्ध है।[३] बोधिसत्व का अर्थ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। बोधिचर्यावतार पंजिका में उसे स्पष्ट करते हुए लिखा है[४]—

"बोधौ ज्ञाने सत्वे अभिप्रायो स्येति बोधिसत्वः"

अर्थात् ज्ञान में जिसका सत्व प्रतिष्ठित रहता है उसे बोधिसत्व कहते हैं। इस यान की एक विस्तृत साधना पद्धति है। उसका स्पष्टीकरण करने से पहले हम इसके लक्ष्य का निर्देश कर देना चाहते हैं। इसका प्रमुख लक्ष्य बुद्धत्व की प्राप्ति माना गया है।[५] बुद्धत्व प्राप्त मनुष्य में प्रज्ञा के साथ साथ महाकरुणा का भी उदय होता है। महायानियों के बुद्धत्व प्राप्त व्यक्ति से हीनयानियों का अर्हत थोड़ा भिन्न होता है। हीनयानियों के अर्हत में प्रज्ञा तो होती है किन्तु उसमें महाकरुणा का अभाव ही रहता है। इसके विपरीत बोधिसत्व यान या महायान में बुधत्व प्राप्त मनुष्य में प्रज्ञा के साथ साथ महाकरुणा को परमावश्यक बताया गया है। महायान और हीनयान में यही

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा—बलदेव उपाध्याय पृ० १४०
२— ,, ,, पृ० १४२
३— ,, ,, पृ० १४३
४—बोधिचर्यावतार पंजिका पृ० ४२१
५—आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म—एन० दत्त, पृ० ४६–४८

लक्ष्य भेद है। इसी लक्ष्य भेद के कारण हीनयान शुद्ध बुद्धिवादी और एकान्तिक पद्धति है। इसके विपरीत महायान लोकसंग्रहात्मक साधना मार्ग है।

बोधिसत्वयान की एकयानता

बौद्ध ग्रन्थों में बहुत से ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे स्पष्ट प्रकट होता है कि महायानी लोग विविध साधना मार्गों में विश्वास नहीं करते थे। वे बोधिसत्वयान को ही एकमात्र साधना मार्ग समझते थे। अन्य साधना पद्धतियों को वे उसी का अंग मानते थे। ये बात सद्धर्म पुण्डरीक के निम्न-लिखित उद्धरण से स्पष्ट प्रकट है—"बौद्ध धर्म में केवल एक ही मार्ग है। दूसरा मार्ग है ही नहीं। तीसरा मार्ग तो अस्तित्व ही नहीं रखता। यानों की जो विविधता दिखाई पड़ती है वह बहुत कुछ मेनियों द्वारा कल्पित की गई है। भगवान बुद्ध ने एक ही मार्ग का उपदेश दिया था। वह मार्ग बोधिसत्व यान है। उनका लक्ष्य मानव जाति को बुद्धत्व का संदेश देना था। इस लक्ष्य के लिए उनकी दृष्टि में बोधिसत्वयान ही सर्वोत्कृष्ट था। भगवान बुद्ध मानवों को कभी निम्न मार्गों से ले जाना पसन्द नहीं करते थे।"[1] इसी ग्रन्थ में एक दूसरे स्थल पर लिखा है "जिस महापुरुष ने धर्मकाय को अपनी अनेकता में देख लिया है, उसके लिए तीन यान न होकर एक ही मान होता है। वह यान बोधिसत्वयान ही है।"[2] प्रज्ञा पारमिता सूत्र मे भी एक स्थल पर ऐसा ही भाव प्रकट करते हुए लिखा है—"निर्वाण की उपलब्धि कराने वाला एक ही मार्ग है। प्रत्येक प्रकार के बुद्धों के द्वारा उसी का अनुसरण किया जाता है।"[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि महायानी ग्रन्थों में बोधिसत्वयान की ही विशिष्टता प्रतिपादित की गई है। अन्य यानो को विशेष महत्व नहीं दिया गया है। अनेकता में एकता स्थापित करने की यह बौद्ध प्रवृत्ति भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता है।

महायानियों की बोधिचित सम्बन्धी धारणा

महायान धर्म में बोधिचित की धारणा को बहुत अधिक महत्व दिया

१—सद् धर्म पुन्डरीक, पृ० ४६ पर देखिये—
एकं हि यानम् द्वितीय न विद्यते।
तृतीयोपि नैवास्ति कदाचित लोके॥

२—स पश्यति महाप्राज्ञो धर्मकायम अशेषतः।
नास्ति यानत्रयम् किंचिद एकयानम् इहास्ति तु॥ वही

३—प्रज्ञा पारमिता, अष्टम सूत्र

गया है। बोधिचर्यावतार में लिखा है "भवसागर से मुक्ति प्राप्त करने का प्रमुख साधन बोधिचित की उपलब्धि है। बोधिचित का अर्थ है सम्यक् सम्बोधि में चित्त का प्रतिष्ठित होना। जब साधक के हृदय में यह भावना उदित होती है कि मैं सब मानवों के परित्राण के लिए बुद्धत्व प्राप्त करूं, तो उस धारणा को बोधिप्रणिधि चित्त का पारिभाषिक नाम दिया जाता है। बोधिचित की एक दूसरी अवस्था भी होती है, उसे बोधिप्रस्थानचित कहते हैं। यह वह अवस्था है जब साधक सम्बोधि की प्राप्ति का निश्चय करके साधना में संलग्न होने लगता है। इस प्रकार महायान में हमें दो प्रकार की बोधिचित की अवस्थाएं वर्णित मिलती हैं।[२]

बौद्ध धर्म में ज्ञान भक्ति और योग धाराओं का उदय और विकास

ऊपर मैंने जिन त्रिविध यानों की चर्चा की है वे आगे चल कर बोधिसत्वयान में ही सिमट कर रह गए। बोधिचित उत्पाद ही उसका प्रमुख लक्ष्य हो गया। इस लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु ही बौद्ध धर्म में भक्ति मार्ग और योग मार्ग का प्रवर्तन हुआ। जहाँ तक ज्ञान मार्ग की बात है उसके प्रवर्तक स्वयं भगवान बुद्ध थे। उनका ज्ञान मार्ग चार आर्य सत्य और अष्टांगिक मार्ग के रूप में विकसित हुआ। इनकी चर्चा मैं आचार पक्ष के अन्तर्गत कर चुकी हूँ। अतः यहां पर उनका पिष्ट पेषण नहीं करूंगी। यहां पर केवल भक्ति मार्ग और योग धाराओं के स्वरूप और प्रभावों का उद्घाटन किया जायगा।

बौद्ध धर्म के भक्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान उसे श्रौत भक्ति का विकसित रूप मानने के पक्ष मे हैं। इसके विपरीत कुछ उसका स्वतन्त्र विकास सिद्ध कर श्रौत भक्ति को उसका रूपान्तर सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। मैं स्वयं किसी में नहीं पड़ना चाहती और न इस विवाद में पड़ना मेरे विषय से सम्बन्धित ही है। किन्तु अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किए बिना रह भी नहीं सकती। मेरी अपनी धारणा है कि श्रौत साहित्य में जिस भक्ति का संकेत किया गया था उसी को महायानियों ने एक व्यापक और महत्वपूर्ण साधना मार्ग के रूप में विकसित किया था। मध्यकालीन वैष्णव और शैव भक्ति के आन्दोलन को जन्म देकर बल प्रदान करने का श्रेय इसी को है।

योग साधना के बीज भी सर्वप्रथम श्रौत साहित्य में ही दीखते हैं। भगवान बुद्ध ने ध्यान के रूप में उसे आत्मसात किया था। आगे चल कर महायान और तांत्रिक सम्प्रदायों में वह स्वतन्त्र साधना मार्ग के रूप में

२—बौद्ध दर्शन मीमांसा—बलदेव उपाध्याय पृ० १४६

२—बोधिचर्यावतार १।८

विकसित हुआ। मध्यकालीन योग साधना के आन्दोलन को महायानियों और बौद्ध तान्त्रिकों की योग साधना ने ही बल दिया था।

बौद्ध धर्म में भक्ति भावना का उदय

महायानियों के त्रिकायवाद के सिद्धान्त की चर्चा की जा चुकी है। बौद्ध धर्म में भक्ति भावना की प्रतिष्ठा करने का श्रेय बहुत कुछ इसी सिद्धान्त को है। परिनिर्वाण प्राप्त करते समय भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया था[1]—

"आनन्द ! जिस धर्म और विनय का मैंने तुम्हें उपदेश दिया है, जिसे मैंने तुम्हें बताया है वही मेरे बाद तुम्हारा शास्ता होगा।"

एक दूसरी घटना का निर्देश भी यहाँ कर देना चाहते हैं।[2] वक्कली नामक भिक्षुक एक बार बहुत बीमार पड़ा। उसने भगवान बुद्ध के दर्शनों की इच्छा की। भगवान बुद्ध ने जाकर उसकी इच्छा तो पूर्ण की किन्तु उसे उपदेश दिया—"वक्कली ! मेरी इस गन्दी काया के देखने से तुझे क्या लाभ होगा ? जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है और जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है।" इन उद्धरणों से प्रकट है कि भगवान बुद्ध धर्मकाय को बहुत अधिक महत्व देते थे। इस धर्मकाय के सिद्धान्त ने महायान सम्प्रदाय में आगे चल कर भक्ति भाव का समावेश किया। महायान भक्ति क्षेत्र में भगवान बुद्ध के धर्मकाय को एक प्रकार से उनका निर्गुण रूप बताया गया। और उनके लौकिक शरीर को उसका अवतार व्यंजित किया गया। उसके प्रति अनन्य श्रद्धा के समर्पण की बात पर बल दिया गया। यह अनन्त श्रद्धा ही आगे चल कर भक्ति के रूप में विकसित हुई। भगवान बुद्ध के लौकिक शरीर के प्रति उनके शिष्यों में कितनी गहरी श्रद्धा थी, यह उपर्युक्त उद्धरणों से व्यंजित हो जाती है। श्रद्धा के अतिरिक्त आदिम बौद्ध धर्म के त्रिशरण के सिद्धान्त ने भी भक्ति भावना के विकास को बल प्रदान किया। आदिम बौद्ध धर्म में केवल कर्मवाद को ही महत्व दिया गया था। उसमें किसी प्रकार के ईश्वर की प्रतिष्ठा नहीं थी। महायान सम्प्रदाय में बुद्ध को ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित किया गया और उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा भावना समर्पित की गई। यही श्रद्धा भावना भक्ति भावना का आधार स्तम्भ है।

१—दीघ निकाय—२।३

२—आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म, —पृष्ठ १०३ से १०८ तक।

यहां पर एक प्रश्न उठ खड़ा होता है। वह यह कि महायान धर्म से जिस भक्ति भावना का उदय और विकास हुआ वह वैदिक धर्म की देन थी अथवा उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व था। इस सम्बन्ध में विद्वानों की धारणा है कि भक्ति शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में ही किया गया था।[1] किसी वैदिक ग्रन्थ में नहीं। किन्तु मैं इस प्रकार के निष्कर्ष से सहमत नहीं हूँ। श्वेताश्वतर उपनिषद् जो एक बहुत प्राचीन उपनिषद है उसमें भक्ति का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया गया है। हमारी धारणा यही है कि महायानियों में भक्ति भावना के विकास का श्रेय प्राचीन वैदिक भक्ति को ही है। अतएव हम डा० हरदयाल के इस कथन से कि पूर्वतम काल से भक्ति बौद्ध आदर्श का एक आन्तरिक अविभाज्य अङ्ग था, बिल्कुल सहमत नहीं है।[2] उनका यह निष्कर्ष भी[3] सारहीन है कि भक्ति का उदय सबसे पहले बौद्धों में ही हुआ था हिन्दुओं में नहीं। भक्ति भावना वैदिक देवतावाद की देन है। जिसको आदिम अनीश्वरवादी बौद्ध धर्म स्वीकार नहीं कर सका किन्तु ज्यों ज्यों महायान सम्प्रदाय में ईश्वरवादी और अवतारवादी प्रवृत्तियों का प्रच्छन्न रूप में समावेश होने लगा त्यों त्यों बौद्ध धर्म में भक्ति भावना का विकास होता गया।

हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि महायान सम्प्रदाय में त्रिकायावाद के सिद्धान्त के समावेश से बौद्धों में प्रच्छन्न रूप से ईश्वरवाद का प्रभाव बढ़ने लगा था। सद्धर्म पुन्डरीक[4] में भगवान बुद्ध को जगत का संतारक कहा गया है। उनमें अद्वितीय करुणा और कृपा भाव की प्रतिष्ठा करके उनके व्यक्तित्व को भक्तवत्सल बनाया गया है। अवलोकितेश्वर बुद्ध ने कृष्ण के सदृश ही प्रतिज्ञा की थी कि जितने दुखी प्राणी हैं उन सब का भार मैं अपने ऊपर लेता हूँ। इसी प्रकार और भी बहुत से ऐसे उद्धरण मिलते हैं जिनमें भक्ति की प्राण भूत प्रवृत्ति प्रपत्ति की झलक दिखाई पड़ती है। सुखावती सम्प्रदाय मे बुद्ध देवाधिदेव के रूप में प्रतिष्ठित किए गए हैं। असंख्य स्त्री पुरुष कारुणिक पिता अमिताभ की शरण में जाते रहे हैं। इसी को वे मुक्ति का मार्ग मानने लगे थे। इससे स्पष्ट है कि महायानी भक्ति

१—दी बोधिसत्व डाक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३२।

२— „ „ पृष्ठ ३२।

३— „ „ पृष्ठ ३३।

४—सद्धर्म पुन्डरीक —२।११२ —

भावना में ईश्वरवादी और अवतारवादी प्रवृत्ति के साथ साथ वैष्णवों के प्रपत्ति भाव की भी प्रतिष्ठा हो गई।

महायानी भक्ति की एक महत्वपूर्ण विशेषता मन्त्र जप है। तिब्बत आदि देशों में मन्त्र जप को बहुत अधिक महत्व दिया गया था।[१] चीन, जापान, तिब्बत आदि देशों में जो बौद्ध धर्म प्रचलित है, वह महायान की ही विकसित शाखाओं प्रशाखाओं का रूपान्तर है। इन देशों में प्रचलित बौद्ध धर्म में मन्त्र जप के साथ साथ प्रार्थना तत्व को भी विशेष महत्व दिया गया है।[२] कहते हैं कि होनेन्द्र के शिष्य शिनरेन का कहना है[३] कि बुद्ध की करुणा की प्रार्थना जितनी अधिक हो सके हमें करनी चाहिए। हम उनकी सहायता से ही उनकी शक्ति से ही लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। अपनी स्वयं की शक्ति से हम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकते। हम चाहे जितना प्रयत्न करें। भक्ति के उपर्युक्त निर्दिष्ट तत्वों के अतिरिक्त चीन, जापान और तिब्बत आदि देशों में प्रचलित बौद्ध धर्म में भक्ति के कुछ निम्नलिखित तत्वों को और अधिक महत्व दिया गया है।[४] वे तत्व इस प्रकार हैं—

(१) गुरु के समीप जाकर सत्संग करना और बुद्ध पूजा करना।

(२) धर्म शास्त्रों का स्वाध्याय और उनके अनुकूल जीवन व्यतीत करना।

(३) चित्त शुद्धि को महत्व देना।

बौद्ध धर्म के इस भक्तिभावना प्रधान स्वरूप का विकास अधिकतर चीन, जापान, तिब्बत आदि देशों में ही हुआ था। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बौद्धीय भक्ति मार्ग का भारत से कोई सम्बन्ध ही नहीं था। भारतीय आचार्यों में भक्ति मार्ग को सब से अधिक महत्व देने वालों में शान्तिदेव[५] का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। बोधिचर्यावतार और

१—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग —भरतसिंह उपाध्याय पृष्ठ ५९८।
२— " " " " "
३— " " " " "
४— " " " " पृष्ठ ५९९।
५— " " " " पृष्ठ ६००।

शिक्षा समुच्चय नामक इनके दो प्रसिद्ध महाग्रन्थ हैं।[1] इन ग्रन्थों में बौद्ध भक्ति के तत्वों का सम्यक् निर्देश किया गया है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से हमें पता लगता है कि बौद्ध भक्ति में लगभग वे सभी तत्व वर्तमान थे जो भागवती भक्ति में दिखाई पड़ते हैं। इसी आधार पर कुछ लोगों ने तो शान्तिदेव को बौद्धों का तुलसीदास तक कह डाला है।[2] तुलसीदास कहने का अभिप्राय उनकी विनय भक्ति महत्ता को व्यंजित करना है। जिस प्रकार तुलसीदास की विनयपत्रिका विनय की सांग अभिव्यक्ति के लिये प्रसिद्ध है, उसी प्रकार उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में हमें पूर्ण रूपेण भक्ति के तत्व अभिव्यंजित मिलते हैं।

बोधिचर्यावतार में बोधिचित्त की उत्पत्ति के लिए अनुत्तर पूजा विधि का विधान किया गया है। इस अनुत्तर पूजा के सात अंग बतलाए गए हैं।[1] वन्दन, पूजन, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, बुद्धाध्येषण, बुद्ध याचना, तथा बोधि परिणामना।

पूजा और वन्दना

बुद्ध और बोधिसत्वों की वन्दना महायानी भक्ति की सब से प्रधान विशेषता है। भक्त सारे संसार की वस्तुओं से अपने भगवान की पूजा करता है किन्तु इससे उसे संतोष नहीं होता। इसलिए वह पूर्ण आत्मसमर्पण कर देता है। शान्तिदेव कहते हैं[3] कि "मैं अपने आप को समर्पित करता हूँ। मैं अपने सम्पूर्ण हृदय से बोधिसत्वों के प्रति आत्मसमर्पण करता हूँ। हे कारुणिक प्राणियो मुझ पर अधिकार करो। मैं प्रेम के द्वारा तुम्हारा दास हो गया हूँ।" शान्तिदेव के इस कथन में हमें केवल वन्दना और पूजा का भाव ही नहीं मिलता अपितु भक्ति के दो प्राणभूत तत्व और दिखाई पड़ते हैं वे हैं प्रेम और आत्मसर्पण के भाव।

'पापदेशना'—जिसे वैष्णवी भक्ति में आत्मनिवेदन कहते हैं, उसी को बोधिचर्यावतार में पापदेशना कहा गया है। इस स्थिति में साधक अपने

१—धर्म संग्रह के अनुसार इन अंगों में याचना के स्थान पर बोधिचितोत्पाद की गणना की गई है। पंजिकाकार प्रज्ञाकरमति के अनुसार इस पूजा का शरणगमन भी एक अंग है। अतः सप्तांग न होकर यह अष्टांग भी कही जा सकती है। देखिए बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृष्ठ १४८।

२—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृष्ठ ६०१।

३—बोधिचर्यावतार —द्वितीय परिच्छेद।

हृदय की समस्त ग्लानियों, अपने किये हुए समस्त पापों और अपने जीवन के समस्त विकारों का पश्चाताप-पूर्ण उद्घाटन करता है।

पुण्यानुमोदन—जब पश्चाताप की अग्नि में भक्त के समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं तब उसमें पुण्यानुमोदन की शक्ति आ जाती है। उसका हृदय दूसरे के पुण्यों की सराहना करने के योग्य हो जाता है। वह दूसरे के शुभ कर्मों को देखकर प्रसन्न होता है और उसकी प्रशंसा करता है।

अध्येषणा—अध्येषणा का अर्थ है याचना या प्रार्थना। इस अवस्था में साधक कृतकृत्य बोधिसत्वों से याचना करता है कि संसार में जीवों की सदा सदा बनी रहें। जिससे कि वह जीवों की दुख निवृत्ति के लिए प्रयत्न करता रहे। भगवान् बुद्ध से भी वह यही कामना करता है कि उसे इसी प्रकार का उपदेश दें।

आत्मभावादि परित्याग

महायानी भक्ति में अहं भाव के परित्याग पर बहुत अधिक बल दिया गया है। मनुष्य अपने अस्तित्व को विश्व प्राणियों के अस्तित्व में लीन कर देना चाहता है। उसका यह निश्चय रहता है कि जो कुछ भी पुण्य कर्म उसने किए हैं वे सब दूसरे प्राणियों के कल्याण के विधायक बनें।[1]

शरण गमन—हम ऊपर संकेतित कर चुके हैं कि बौद्ध भक्ति में शरणागति या प्रपत्ति को विशेष महत्व दिया गया है। त्रिशरण गमन का सिद्धान्त[2] इसी तत्व का संकेतक है।

महायानी भक्ति और वैष्णवी भक्ति में अन्तर

यों तो महायानी और वैष्णवी भक्तियों के तत्व बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। किन्तु महायानी भक्ति में वैष्णवी भक्ति से एक विशेषता मिलती है। *महायानी भक्ति में लोक सेवा को बहुत अधिक महत्व दिया गया है।* जब कि वैष्णवी भक्ति या भागवती भक्ति बहुत कुछ एकांतिक रही है। महायानी भक्ति का प्रभाव भागवती भक्ति और उसके अनुयायियों पर भी पड़ा। जिसके फलस्वरूप उनके भक्ति का स्वरूप भी एकान्तिक से लोक संग्रहात्मक हो गया। महायानी भक्ति की एक विशेषता और ऐसी है जो

१—बोधिचर्यावतार — ३।६

२—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन — पृष्ठ ६०१

वैष्णवी भक्ति में उस रूप में नहीं पाई जाती। वह यह है कि महायानी भक्ति साधन ही बनी रही है साध्य नहीं बन पाई। लेकिन वैष्णवों में वह साधन मात्र न रहकर साध्य भी बन गई है।

पारमिताएँ—महायानी भक्ति में पारमिताओं को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। वैष्णवी भक्ति में इनके समकक्ष सदाचार तत्व रखा जा सकता है। पारमिताओं और सदाचार तत्व में बहुत मौलिक अन्तर नहीं है। यह बात पारमिताओं के निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट हो जावेगी।

महायानी भक्तों की यह धारणा रही है कि जब अनुत्तर पूजा के विधान से बोधिचित की अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो फिर पारमिताओं के आचरण की कोई विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। बोधिचित की प्राप्ति के पूर्व इनका आचरण अत्यधिक आवश्यक बताया गया है। कहते हैं कि इन्हीं पारमिताओं के द्वारा शाक्य मुनि ने ५५० विविध जन्म लेकर सम्यक् सम्बोधि प्राप्त की थी। इस कथन के आधार पर हम महायानी भक्ति को विकासवादिनी भी कह सकते हैं।

महायानी भक्त का दृढ़ विश्वास है कि सम्बोधि एक जन्म की साधना से प्राप्त नहीं हो सकती। उसके लिए जन्म जन्मान्तरों में पारमिताओं का अभ्यास बड़ा आवश्यक होता है। पारमिता शब्द का अर्थ है पूर्णत्व।[1] यह पाली पारमी शब्द से बना है। पारमिताओं की संख्याओं के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोग दश पारमिताओं को मान्यता देते हैं तथा कुछ ६ को।[2] दश पारमिताओं के नाम क्रमशः दान, शील, नैष्कर्म्य, वीर्य, प्रज्ञा, शान्ति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री तथा उपेक्षा हैं। किन्तु सामान्यतया महायानी ग्रन्थों में केवल ६ पारमिताओं की संख्या मिलती हैं। वे ६ पारमिताएँ क्रमशः दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान, और प्रज्ञा हैं।

दान पारमिता—संसार के समस्त प्राणियों के लिए निष्काम भाव से दान देना ही दान पारमिता है। संसार के दुखों का कारण सर्व परिग्रह माना गया है अतएव अपरिग्रह मुक्ति का विधायक बताया जाता है। दान पारमिता के प्राप्त होने पर साधक में किसी वस्तु के प्रति ममत्व का भाव शेष नहीं रह जाता। वह समस्त प्राणियों में अपना ही रूप देखता है। इस पारमिता की पूर्ण सफलता के लिए साधक को शठता, मात्सर्य, ईर्ष्या और पैशुन्य

१—आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म —एन० दत्त, पृष्ठ १०६।

२—बौद्ध दर्शन मीमांसा —पृष्ठ १५१-१५२।

तथा भवलीनता जैसे विकारों का पूर्ण परित्याग करना पड़ता है। इनके परित्याग कर लेने पर ही दान पारमिता अपनी पूर्णता को प्राप्त होती है।[1]

शील पारमिता—शील का अर्थ है गर्भित और कुत्सित कर्मों से चित्त को विरक्त रखना। दूसरे शब्दों में हम विरति को ही शील कह सकते हैं। इसमें चित्त को शुद्ध, मन को स्थिर और काया को स्वस्थ रखने की बड़ी आवश्यकता पड़ती है। चित्त की सुरक्षा के लिए स्मृति और सम्प्रजन्य की बड़ी आवश्यकता पड़ती है। स्मृति का अर्थ है विविध तथा प्रतिषिद्ध का स्मरण रखना। जो व्यक्ति विधि निषेधों को पूर्णतया स्मरण रखते हुए उनका आचरण करता है; शील पारमिता का वही अधिकारी है। सम्प्रजन्य का अर्थ होता है प्रत्यवेक्षण। साधक को चाहिए कि अपने मन और शरीर का हर समय प्रत्यवेक्षण करता रहे कि कहीं उनमें कोई विकार तो नहीं प्रविष्ट हो रहा है। क्योंकि चित्त के विकृत हो जाने पर शील का उदय नहीं हो सकता और बिना शील के सम्बोधि की प्राप्ति नहीं हो सकती।

शान्ति पारमिता[2]—इस पारमिता की आवश्यकता राग, द्वेषादि के शमनार्थ पड़ती है। शान्ति तीन प्रकार की बतलाई गई है। १–दुःखादिवासना शान्ति, २–परोपकार मर्षण शान्ति, ३–धर्मनिध्यान शान्ति। पहले प्रकार की शान्ति वह दशा है जिसमें अत्यन्त कष्टों के होते हुए भी किसी प्रकार का दुर्भाव नहीं पैदा होने पाता। इस दौरमनस्य के प्रतिकार के हेतु मुदिता नामक स्थिति का समुचित रूप से आचरण करना चाहिए। दूसरे प्रकार की शान्ति वह सहिष्णुता है जिसके द्वारा मनुष्य दूसरों के किए हुए अपकार को सहन कर लेता है। सब प्रकार की अवस्था में क्रोध को त्याग कर धर्म में निरत रहना ही धर्म निध्यानक शान्ति कहलाती है। इन सब से मनुष्य का हृदय बहुत सहनशील हो जाता है। जिससे उसमें शान्ति पारमिता का पूर्ण विकास दिखाई पड़ने लगता है।

वीर्य पारमिता[3]—वीर्य का अर्थ है कर्म करने का उत्साह। बौद्ध लोग कट्टर कर्मवादी होते हैं। उनका विश्वास है कि मनुष्य अपने शुभ कर्मों से

१—आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म — पृष्ठ ३०६-७।

२ " " "

३—बौद्ध दर्शन मीमांसा – पृष्ठ १५५।

ही निर्वाण की प्राप्ति कर सकता है। कर्मों में उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति रखना ही वीर्य पारमिता है। कर्म भी दो प्रकार के होते हैं। एक कुशल और दूसरे अकुशल कर्म। कुशल कर्म करने में उत्साह होना चाहिए तथा अकुशल कर्मों के प्रति अनुत्साह होना चाहिए। इसके लिए आलस्य आदि शत्रुओं का तिरस्कार करना पड़ता है और अभ्यास परायण होने का प्रयास करना पड़ता है। उत्साहपूर्वक किए गए कुशल कर्मों के करने से मनुष्य का विक्षिप्त चित्त स्थिर होने लगता है। किन्तु फिर भी, बहुत से क्लेश उसे स्थिर नहीं होने देते। इन क्लेशों को दूर करने के लिए भगवान बुद्ध ने दो साधन बताए हैं। एक शमथ और दूसरा विपश्यना।[1] शमथ का अर्थ है समाधि और विपश्यना ज्ञान को कहते हैं। शमथ अर्थात् समाधि के सहारे विपश्यना अर्थात् ज्ञान का उदय होता है। दोनों का हम आगे ध्यान पारमिता में उल्लेख होता है।

ध्यान पारमिता[2]—ऊपर जिन शमथ और विपश्यना की चर्चा की गई है, उनका सम्बन्ध विशेष रूप से ध्यान पारमिता से है। शमथ या समाधि बिना विरति के नहीं हुआ करती। इसीलिए महायानियों ने विरति पर बहुत अधिक बल दिया है। आसक्ति के त्याग को वे परमावश्यक मानते हैं। इस आसक्ति के परित्याग के लिए वे कभी कभी एकान्त सेवन भी करते थे। इस एकान्तिकता के होते हुए भी विश्व की कल्याण भावना उनमें सदैव विद्यमान रहती थी। उनकी इस कल्याण भावना ने ही उनकी भक्ति को भागवती भक्ति के समान एकान्तिक होने से बचा लिया है।

प्रज्ञा पारमिता[3]—ध्यान पारमिता के अभ्यास से चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है। चित्त की एकाग्रता प्रज्ञा को जन्म देती है। क्योंकि जिसका चित्त एकाग्र है उसी को सत्य का सही परिज्ञान हो सकता है। अविद्या का नाश प्रज्ञा के सहारे ही किया जा सकता है। अविद्या ही सब पापों का मूल है। प्रज्ञा पारमिता का सबसे बड़ा लक्ष्य धर्मों की निस्सारता का बोध कराना है। प्रज्ञा पारमिता के उदय होने पर ही सर्वधर्मशून्यता का अनुभव होता है। सर्वधर्मशून्यता का अनुभव करना ही बौद्ध धर्म का लक्ष्य है। इसी से अविद्या की पूर्ण निवृत्ति होती है। अविद्या के विरोध से संस्कारों का

१—बोधिचर्यावतार –७।४

२—आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ ३०६-७।

३—बौद्ध दर्शन मीमांसा –पृष्ठ १४७।

निराकरण हो जाता है। संस्कारों के निराकरण से दुःख का निराकरण हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि प्रज्ञा पारमिता से निवृत्ति और निर्वाण की प्राप्ति होती है। प्रज्ञा पारमिता के इस महत्व ने ही उनकी देवता के रूप में प्रतिष्ठा कर दी। बोधिसत्व की भक्ति का आराध्य यह प्रज्ञा पारमिता भी मानी जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि महायानी भक्ति के विकास के कई सोपान हैं। उन सोपानों से गुजरता हुआ साधक क्रमशः उसकी उपासना में समर्थ होता है। इसी प्रसंग में हम दशभूमियों की चर्चा भी कर सकते हैं। महायान में भक्ति की दश अवस्थाओं का दश भूमियों के रूप में भी उल्लेख किया गया है।[1] इनकी चर्चा आगे करेंगे।

प्रतिपद मार्ग और प्रपत्ति मार्ग

बौद्धों का प्रतिपद मार्ग आचार प्रधान है। अष्टांगिक मार्ग इसी प्रतिपद मार्ग के अन्तर्गत आता है। इसके विपरीत वैष्णव भक्ति मार्ग में शरणागति या प्रपत्तिभाव को अत्यधिक महत्व दिया गया है। किन्तु भक्ति मार्ग के लिए प्रतिपद और प्रपत्ति दोनों ही तत्व परमावश्यक होते हैं। संभवतः यही कारण है कि मध्ययुग के भक्तों में चाहे वैष्णव या बौद्ध दोनों ही तत्व मिलते हैं। बौद्ध और वैष्णव भक्ति के वे दोनों तत्व मिलन विन्दु हैं। किन्तु इन दोनों तत्वों को दोनों ने अपने अपने ढंग पर ग्रहण किया है।

बौद्ध भक्ति में प्रपत्ति का समावेश

बौद्धों ने वैष्णवों के प्रपत्ति भाव को अपने ढंग पर ग्रहण किया था। भगवान् बुद्ध वैष्णवी ढंग की शरणागति के विरुद्ध थे। भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को सदैव यही उपदेश दिया कि भिक्षुओं तुम्हें सदैव हमारी शरीर पूजा से विरत रहना चाहिए। तुम्हें मार्ग पर ही चलना चाहिए। भगवान् ने सदैव बुद्ध की शरण, धर्म की शरण, और संघ की शरण में जाने का उपदेश दिया था। बुद्ध की शरण से उनका तात्पर्य बुद्ध के निर्माण काय की शरण से नहीं था, वरन् उनके धर्म काय की शरण से था। संघ और धर्म की शरण में जाना वह बुद्ध की शरण में जाने से भी अधिक महत्वपूर्ण समझते थे। इन तीनों की शरणगति का प्रयोजन चार आर्य सत्यों का साक्षात्कार करके दुख से निवृत्ति प्राप्त करना था। यह बात निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट है। "महानाम जिस समय आर्य श्रावक तथागत का अनुसरण करता है उस समय उसका चित्त न तो रागलिप्त होता है, न द्वेष लिप्त होता है और न

१—बौद्ध धर्म मीमांसा पृष्ठ १६८।

मोह लिप्त ही। उसका चित्त ऋजु मार्ग पर आपना होता है। इस प्रकार आर्य श्रावक परामर्श ज्ञान का, प्राप्त होता है, धर्म ज्ञान को प्राप्त है। धर्म से संयुक्त हुआ वह आध्यात्मिक आनन्द को प्राप्त होता है[1]। इसी प्रसंग में अन्त में भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जो इन तीनों की शरण में जाता है वह निर्वाण प्राप्त कर लेता है।[2]

मध्ययुगीन साहित्य पर बौद्ध भक्ति का प्रभाव

मैं अभी कह आई हूँ कि भक्ति मार्ग के बीज श्रौत साहित्य में विद्यमान थे किन्तु उसको एक व्यवस्थित साधना मार्ग के रूप में विकसित करने का श्रेय बौद्धों के महायान सम्प्रदाय को ही है। मध्ययुग में जो भक्ति आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था उसको प्रेरणा और बल प्रदान करने का श्रेय बौद्ध महायानी धर्म मार्ग को ही है। अतः मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं लगता कि बौद्धों का मार्ग मध्यकालीन सन्तों की भक्ति साधना के दो आधार स्तम्भों में से एक है। पहला आधार स्तम्भ बौद्ध भक्ति है और दूसरा आधार स्तम्भ वैष्णव भक्ति है। इन्हीं आधारों पर मध्यकालीन हिन्दी कवियों की भक्ति भावना का महल खड़ा हुआ है।

ऊपर मैंने महायानी भक्ति मार्ग का जो संक्षिप्त परिचय दिया है उसके आधार पर उसकी निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएं और तत्व उल्लेखनीय हैं—

(१) भगवान बुद्ध के धर्मकाय और निर्माणकाय के दोनों के प्रति अटूट श्रद्धा भाव की जाग्रति।

(२) भगवान बुद्ध के निर्माणकाय में महाकरुणा और लोक सेवा के भाव की प्रतिष्ठा जिसके फलस्वरूप उन्हें जगत सन्तारक कहा जाने लगा।

(३) मन्त्र जप।

(४) प्रपत्ति भाव की अतिरेकता।

(५) सत्संग और गुरु श्रद्धा।

(६) धर्माचरण के साथ जीवन व्यतीत करना।

(७) भक्ति में मन और चित्त शुद्धि पर विशेष बल देना।

(८) भक्ति के विविध अंगों का विकास।

(९) अनुत्तर पूजा।

(१०) पारमिताओं का महत्व।

१—अगुत्तर निकाय ११।२।२

२—अभिधर्म कोष ४।१२

भगवान बुद्ध के निर्माणकाय के अटूट श्रद्धा का भक्ति के रूप में विकसित होना

मैं ऊपर सप्रमाण सिद्ध कर आई हूं कि भगवान बुद्ध के जीवन काल में उनके शिष्यों ने उनके भौतिक शरीर के प्रति अत्यधिक मोह को अपने ज्ञान से धर्मकाय के प्रति श्रद्धा में परिणत कर दिया था। यह श्रद्धा ही उनके परिनिर्वाण के बाद भक्ति के रूप में विकसित हो गई। दूसरे शब्दों में यह कह सकती हूं कि भगवान के निर्माणकाय अथवा उनके अवतारी रूप के प्रति तथा धर्मकाय या निर्माणकाय के प्रति अटूट श्रद्धा का होना बौद्ध भक्ति का प्रथम लक्षण है। इस विशेषता को दूसरे रूप में यों कह सकती हूं कि बौद्ध भक्ति में भगवान के निर्गुण और सगुण रूपों के प्रति श्रद्धा प्रकट की गईहै। इसके विपरीत वैष्णवी भक्ति में केवल भगवान के सगुण रूप को भक्ति का एकमात्र आधार व्यंजित किया गया है।

भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को सदैव यही उपदेश दिया था कि उनके निर्माणकाय के मोह जाल में कोई न फंसे। उनको चाहिए कि वे उनके धर्मकाय के प्रति श्रद्धा करें। उनका वक्कलि के प्रति जो उपदेश था वह इसका साक्षी है—"वक्कलि मेरी इस गन्दी काया के देखने से तुझे क्या लाभ होगा? जो धर्म को देखता है वह मुझे देखता है और जो मुझे देखता है वह धर्म को देखता है।"[2] भगवान बुद्ध के इस कथन का प्रभाव सन्तों पर बहुत अधिक दिखाई पड़ता है।

जिस प्रकार भगवान बुद्ध ने निर्माण की अपेक्षा धर्मकाय के प्रति श्रद्धा और भक्ति करने का उपदेश दिया है उसी प्रकार सन्तों ने भगवान के अवतारी रूप की अपेक्षा उनके निर्गुण रूप के प्रति भक्ति करने का उपदेश दिया है। सन्तों की रचनाओं में हमें सर्वत्र निर्गुण भक्ति का उपदेश मिलता है।

सन्तों की निर्गुण भक्ति का आधार श्रद्धा है। कबीर आदि सन्तों ने वेसास के अंग के प्रसंग में इस श्रद्धा भावना की अच्छी अभिव्यक्ति की है। कबीर लिखते हैं—जो लोग यह ढिंढोरा पीटते हैं कि उन्होंने ईश्वर को प्राप्त कर लिया है वे उसे प्राप्त नहीं करते। जो उसका भजन कीर्तन नहीं करते, वे भी उसे प्राप्त नहीं कर पाते। वास्तव में श्रद्धापूर्वक उसका भजन करने वाले

२— आस्पैक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म —पृष्ठ १०३-८।

ही उसे प्राप्त कर पाते हैं।[1] इसी प्रकार उनकी दूसरी उक्ति है—भक्त एक परमात्मा के विश्वास और श्रद्धा पर ही जीवित रहता है। वह रामाभिमुख हो जाने के कारण कर्म बन्धनों में नहीं फंसता।[2] इस श्रद्धा का आधार निर्गुण ब्रह्म है उसका वर्णन सन्तों ने अनेक प्रकार से अनेक रूपों में किया है। कबीर कहते हैं—जो मूर्ति संपुटी में समा सकती है उसे मैं अपना स्वामी नहीं मानता। मेरा स्वामी तो वह है जो सम्पूर्ण ब्रह्मांड में रम रहा है। वह ब्रह्मांड से अलग भी है और समस्त ब्रह्मांड उसी में है। कबीर उसी निर्गुण की सेवा और भक्ति करते हैं। किसी दूसरे सगुण भगवान भक्ति में वह विश्वास नहीं करते। वह निर्गुण ब्रह्म पूर्ण निराकार है। उसके कोई मुँह मायादि अंग नहीं है। उसे रूप और अरूप कुछ भी नहीं कह सकते। वह तत्व स्वरूपी परमात्मा पुष्प की सुगन्ध से भी सूक्ष्म है।[3]

इस प्रकार मैं देखती हूँ कि सन्तों ने अपनी श्रद्धा निर्गुण राम को समर्पित की है। उनका भक्ति आलम्बन वही है। यह प्रभाव बौद्धों का ही है। सन्तों का निर्गुण रूप बौद्धों के धर्मकाय का ही प्रतिरूप है। भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को उसी की भक्ति करने का उपदेश दिया था। सन्त लोग उसी से प्रभावित हैं।

सूफी काव्य धारा के कवियों ने भी निर्गुण ब्रह्म के प्रति ही अपनी श्रद्धा समर्पित की है किन्तु उन पर मैं बौद्ध प्रभाव न मान कर शुद्ध सूफी प्रभाव मानने के पक्ष में हूँ। अतः यहाँ उसका उल्लेख नहीं करना चाहती।

१—गाया तिनि पाया नहीं अण गाया थे दूरि।
जिनि गाया बिस्वास सूं तिन राम रह्यो भर पूरि॥
क० ग्रं० पृ० ५९

२—भगत भरोसे एक के निधरक नीचो दौड़ि।
तिनहूं करम न लागसी राम छकोरो पौड़ि॥
क० ग्रं० पृ० ५९

३—संपटि माहिं समाया सो साहिब नहिं होय।
सकल माहि में रमि रहा साहब कहिए सोइ॥
रहै निराला माड ते सकल माडता माँहि।
कबीर सबै तास के दूजा कोई नाही॥
जाके मुह माथा नही नही रूप अरूप।
पुहुप बास से पातरा ऐसा तत्त अनूप॥
क० ग्रं० पृ० ६०

राम काव्य धारा के कवियों ने बौद्धों की निर्गुण भक्ति और वैष्णवों की सगुण भक्ति के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया था यही कारण है उन्होंने भगवान के धर्मकाय के प्रतीक निर्गुण रूप और निर्माणकाय के प्रतीक सगुण रूप दोनों के प्रति सगुण भक्ति की है। तुलसी ने स्पष्ट लिखा है—हे पार्वती सुनो हमारा मत तो यह है कि बुद्धि, मन और वाणी से रामचन्द्र जी की तर्कना नहीं की जा सकती ऐसी हमारी धारणा है। किन्तु फिर भी सन्त, मुनि और वेद शास्त्रों ने अपनी बुद्धि के अनुरूप उसका वर्णन करने का प्रयास किया है। मुझे जो कारण प्रतीत होता है वह मैं तुम्हें बताता हूँ। जब जब धर्म की हानि होती है और बहुत से अधर्म अभिमानी असुर आदि उत्पन्न हो जाते हैं और अनेक प्रकार की अनीति करते हैं उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। तब भगवान विविध प्रकार के शरीर धारण कर सज्जनों की पीड़ा को हरते हैं। उसी लीला को गा गाकर भक्त लोग भव सागर पार हो जाते हैं। इस प्रकार करुणा के सागर भगवान लोक कल्याणार्थ निर्माणकाय धारण करते हैं।[1]

तुलसी के सदृश सूर आदि कृष्ण काव्य धारा के कवि भी सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में विश्वास करते थे किन्तु उनकी दृष्टि से भक्ति का सुगम सगुण रूप ही है। सूर लिखते हैं—अविगत अर्थात् निर्गुण परमात्मा के रहस्यों का वर्णन नहीं किया जा सकता है। वह अनुभव गम्य मात्र है। किन्तु वह अनुभव सर्वथा अनिवेद्य है। जिस प्रकार गूंगा अपने स्वाद का निवेदन नहीं कर सकता वैसे ही अनुभवी भक्त उसका वर्णन नहीं कर सकता। जो निर्गुण परमात्मा मन और वाणी से अगोचर है उसका रहस्य वही जानता है जिसने उसे पा लिया है। वह निर्गुण परमात्मा रूप रेख विहीन है। यह समझ में नहीं आता कि उस निरालम्ब निर्गुण पर मन कैसे केन्द्रित किया जाय। वह

१—राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी॥
तदपि संत मुनि वेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमत अनमाना॥
तस मैं सुमुखि सुनावऊं तोही। समुझि परहि जस कारन मोही॥
जब जब होय धरम की हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धर विविध सरीरा। हरहिं कृपा निधि सज्जन पीरा॥
सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपा सिन्धु जनहित तनु धरहीं॥
रामचरित मानस पृ० १३५

तो बिना आधार के इधर उधर दौड़ता भर होगा। निर्गुण सब प्रकार से अगम है। इसीलिए सूर ने सगुण को अपना आराध्य बनाया है।[1]

यद्यपि सूर ने निर्गुण की अपेक्षा सगुण को ही महत्व दिया है किन्तु उन्होंने अपने सगुण को निर्गुण का प्रतीक ही व्यंजित किया है। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने अपने सगुण में अनन्त शक्ति और अनन्त सौंदर्य की प्रतिष्ठा की है। अनन्त शक्ति का उदाहरण इस प्रकार है—मैं भगवान के चरण कमलों की वन्दना करता हूँ। भगवान की अनन्त शक्ति से बहरे में सुनने की शक्ति और गूंगे में बोलने की शक्ति आ जाती है। वे राजा को रंक बना देते हैं। सूरदास कहते हैं मेरे स्वामी अनन्त करुणामय हैं।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्यकालीन इतिहास पर बौद्धों की धर्मकाय या भगवान के निर्गुण और निर्माणकाय के प्रतीक सगुण दोनों की भक्ति वाली बात का प्रभाव पड़ा है।

भगवान के निर्माणकाय में महा करुणा और लोक सेवा की प्रतिष्ठा

महायान भक्ति मार्ग में धर्मकाय के प्रतीक निर्गुण के निर्माणकाय के अवतारी स्वरूपों में हमें महा करुणा और लोक सेवा के उदात्त गुणों की प्रतिष्ठा मिलती है। मध्यकालीन भक्ति मार्ग के उपास्यों में हमें ये दोनों तत्व बौद्ध उपास्य के सदृश ही प्रतिष्ठित मिलते हैं।

हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा के कवियों के उपास्य अधिकतर बौद्धों

१—अविगति की गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सुनिरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै।
रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालम्ब कित धावै।
सब विधि अगम विचारहि ताते सूर सगुन लीला पद गावै।
सूरसागर पृ० १

२—चरन कमल बन्दौं हरि राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अन्धे को सब कुछ दरसाई।
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै रंक चलै सिर छत्र धराई।
सूरदास स्वामी करुना मय बार बार बन्दौं तेहि पाई।
सूरसागर पृ० १

के धर्मकाय के प्रतिरूप हैं। किन्तु उनमें भी हमें भगवान बुद्ध के निर्माणकाय की उपर्युक्त विशेषताएं प्रतिष्ठित मिलती हैं। सन्तों ने अपने स्वामी को गरीब निवाज[१], भक्त बछले[२], दीनदयाल,[३] करुनामय[४] कहा है। यह सब विशेषण उपास्य की महाकरुणा और लोक सेवा भावना की अभिव्यक्ति कर रहे हैं।

सूफी कवि लोग, मैं बता चुकी हूं बौद्धों की महाकरुणा और लोक सेवा आदि विशेषताओं से प्रभावित नहीं हुए थे। हां, राम काव्य धारा और कृष्ण काव्य धारा पर इनका प्रभाव अवश्य परिलक्षित होता है।

राम काव्य धारा में भगवान को सर्वत्र महाकरुणा के भाव से आप्लावित करके चित्रित किया गया है। तुलसी ने अपने राम के लिए शत शत विशेषणी महा करुणा सम्बन्धी विशेषण भी प्रयुक्त किए हैं। जैसे कृपाला दीन दयाला कारुनासुख सागर[५], गो द्विज हितकारी[६], करुणामय[७], कृपासिन्धु[८] करुणा ऐन[९], करुणा यतन[१०] आदि सैकड़ों लोक संग्रह सूचक और महाकरुणा भाव व्यंजक विशेषणों का प्रयोग किया है।

कृष्ण काव्य धारा के कवियों में हमें बौद्ध उपास्य की उपर्युक्त दोनों विशेषताओं की छाया दिखाई पड़ती है। इसके प्रमाण में भगवान कृष्ण के निम्नलिखित विशेषण ले सकते हैं—करुणा मय[११], करुणा सिन्धु[१२], भक्त वत्सल[१३], करुणा निधान[१४] आदि आदि।

१—कबीर ग्रन्थावली पृ०३०१
२—गुलाब साहब की बानी पृ० ५४५
३—वही।
४.—वही।
५—मानस पृ० २०१
६—मानस पृ० १९५
७—मानस पृ० ४६३
८—मानस पृ० ४६६
९—मानस पृ० ४६६
१०—मानस पृ० ४६८
११—सूर सागर पृ० १
१२—सूर सागर पृ० २
१३—सूर सागर पृ० ६
१४—सूर सागर पृ० ८

शरणागति—बौद्धों का त्रिशरण गमन का सिद्धान्त बहुत प्रसिद्ध है। सच्चे बौद्ध को इस त्रिशरण गमन की प्रतिज्ञा करनी पड़ती है। त्रिशरण गमन का सिद्धान्त है 'मैं बुद्ध की शरण जाता हूँ, धर्म की शरण जाता हूँ और संघ की शरण जाता हूँ।' मेरी अपनी धारणा तो यहाँ तक है कि इस त्रिशरण गमन सिद्धान्त ने ही बुद्ध धर्म की और वैष्णवों की भक्ति भावना में प्रपत्ति भाव को जन्म दिया था। बौद्धों में शरण गमन पर ही बल दिया गया है किन्तु वैष्णव लोगों में उस त्रिविध शरणागति ने प्रपत्ति का रूप धारण कर लिया था।

बौद्धों के शरणागति के सिद्धान्त की अभिव्यक्ति मध्यकालीन साहित्य में विविध प्रकार से विविध रूपों में मिलती है। कबीर आदि सन्तों ने तीन त्रिशरण के स्थान पर एक ही शरण जाने की बात कही है।

> कहत कबीर सुनहु रे प्रानी छाड़हु मन के भरमा।
> केवल नाम जपहु रे प्रानी परहु एक की सरना॥[1]
>
> क० ग्रं० पृ० २९८

जायसी आदि सूफी काव्य धारा के कवियों पर बौद्धों का प्रभाव कम और सूफियों का प्रभाव अधिक था। सूफियों में शरणागति के भाव को विशेष स्थान नहीं मिल सका। किन्तु जायसी आदि सूफी कवियों ने कहीं कहीं शरणागति के भाव की व्यंजना कर ही दी है। इस प्रकार की व्यंजना का श्रेय सन्त प्रभाव ही है। उदाहरण के लिए हम जायसी की निम्नलिखित पंक्ति ले सकते हैं—जब पदमावती सरोवर के पास आई तो वह उसके दर्शन कर कृतार्थ हो गई। उसने उसके चरणों का स्पर्श किया चरणों के स्पर्श से वह पवित्र हो गया। उसने उसके दर्शन से अपना सौंदर्य प्राप्त कर लिया।[2] इस प्रकार के वर्णन बौद्धों के शरणागतिवाद से ही प्रभावित कहे जायेंगे।

राम काव्य धारा में तो बौद्ध शरणागति का सिद्धान्त अपने सच्चे स्वरूप में मिलता है। किन्तु यह सीधे बौद्धों से न आकर वैष्णवों के माध्यम से आया प्रतीत होता है। यही कारण है कि उनमें शरणागति उन षडांगों की चर्चा में मिलती है जिनका उल्लेख वायु पुराण में किया गया है। यहाँ पर

१—कबीर ग्रन्थावली पृ० २९२
२—जायसी ग्रन्थावली पृ० २५

उन सब अंगों का अलग अलग उल्लेख करना आवश्यक नही प्रतीत होता। समष्टि रूप में शरणागति का एक उदाहरण इस प्रकार है--

जे पद परसि तरी रिषि नारी दंडक कानन पावन कारी।
जे पद जनक सुता उर लाए कपट कुरंग संग घट धाए।
हर उर सर सरोज पद जेई अहो भाग्य मैं देखिहउं तेई।
जिन पायन्ह के पादुकन्हि भरत रहे मन लाइ।
ते पद आज विलोकहुं इन नयनन्ह अब जाइ।
कोटि विप्र बध लागहि जाहू आए सरन तजहु नहिं ताहू।[1]

इसी प्रकार एक पंक्ति है—

गए सरन प्रभु राखहि तव अपराध बिसारि।[2]

इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण तुलसी में मिलते हैं।

बौद्धों के शरणागतिवाद का प्रभाव कृष्ण काव्य धारा पर भी दिखाई पड़ता है। सूर आदि कवियों में ऐसे बहुत उदाहरण मिलते हैं जिनसे इस प्रभाव की व्यंजना होती है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

प्रभु मेरे मोसो पतित उधारो।
कामी कृपिन कुटिल अपराधी अधनि भरयो बहु भारो।
तीनों पन में भक्ति न कीन्ही काजर हू ते कारो।
अब आया हो सरन तिहारी ज्यो जानो त्यो तारो।[3]

यहां पर एक बात विचारणीय है। वह यह कि मध्यकालीन सन्तों में जो शरणागति के सिद्धान्त की व्यंजना मिलती है उसका श्रेय वैष्णवों को दिया जाय या बौद्धों को ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि मध्यकालीन कवियों में जो शरणागति के भाव का प्रभाव दिखाई पड़ता है वह वैष्णवों के माध्यम से ही आया है। किन्तु वैष्णवों को यह सिद्धान्त बौद्धों से ही प्राप्त हुआ था। यह ऐतिहासिक सत्य है।

मन्त्र जप—बौद्ध धर्म में विशेषकर उनके मन्त्रयान शाखा में मन्त्र जप का बहुत बड़ा महत्व था। मन्त्र जप की इस महिमा का संकेत मैं ऊपर कर चुकी हूं। बौद्ध भक्ति के मन्त्र जप का प्रभाव मध्ययुगीन कवियों पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

१—तुलसी दर्शन से उद्धृत, पृ० ३०३, फुटनोट
२—वही पृ० ३०३
३—सूर सागर पृ० ९३

से यदि कभी सज्जन कुसंगति में पड़ जाते हैं तो वे वहाँ भी सांप की मणि के समान अपने गुणों का ही अनुसरण करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कवि और पंडितों की वाणी भी सन्त महिमा का वर्णन करने में सकुचाती है। वह मुझसे उसी प्रकार नहीं कहा जा सकता जिस प्रकार साग-तरकारी बेचने वाले मणि के मूल्य को नहीं समझ सकते हैं।[१] इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी सन्त और सत्संगति की महिमा का वर्णन किया है

गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा—यों तो बौद्धों ने गुरुवाद और मठवाद के प्रति अनास्था प्रकट की है[२] किन्तु गुरु की महिमा उन्हें भी स्वीकार करनी पड़ी है यह मैं सप्रमाण दिखा आई हूँ। मध्ययुगीन साहित्य पर गुरुवाद का बहुत अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। मध्यकालीन साहित्य पर गुरुवाद का जो प्रभाव दिखाई पड़ा है उसके मूल में तांत्रिकों और सूफियों के गुरुवाद की की प्रेरणा भी है।

सन्तों ने तो गुरु को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। कबीर कहते हैं—सदगुरु के सदृश कोई हितू नहीं है, हरिजन के सदृश कोई जाति नहीं है। सदगुरु की महिमा अनन्त है। उसने अनन्त उपकार किया है। उसने अनन्त परमात्मा के प्रति हमारे नेत्र उघाड़ दिए और अनन्त परमात्मा के दर्शन करा दिए।[३] सन्त लोग गुरु और साहब को एक दूसरे से भिन्न नहीं, मानते थे। कबीर कहते हैं—

गुरु साहिब तो एक है दूजा सब आकार।[४]

यही नहीं कबीर ने तो एक स्थल पर गुरु को गोविन्द से भी बड़ा कहा है—

गुरु है बड़ गोविन्द ते, मन मे देखु विचार।
हरि सुमिरे सोवार है, गुरु सुमिरे सोपार॥[५]

१—मानस बाल काण्ड दोहा २ से ३ तक

२—धम्म पद पृ० ७४

३—सत गुरु सम को है सगा, साध सम को दात।
हरि समान को हित, हरिजन सम को जात॥
सत गुरु की महिमा अन्त, अनन्त किया उपकार।
लोचन अनन्त उघारिया, अनन्त दिखावन हार॥
क० सा० की साखी भाग १ पृ० १

४—क० सा० सं० पृ० ३

५—क० सा० सं० पृ० ४

सूफी काव्य धारा के कवियों ने तो गुरू को बौद्धों और सन्तों से भी अधिक महत्व दिया है। जायसी ने अपने महाकवित्व का कारण गुरू प्रसाद ही माना है।

ओहि संवत मैं पाई करनी। उघरी जीभ, प्रेम कवि बरनी ॥
वै सुगुरु, हौं चेला, नित विनवौं भा चेर।
उन्ह हुत देखै पा पायऊ, दरस गोसाईं केर ॥[१]

जायसी ने गुरू को पथ-प्रदर्शक मान लिया है। तोते को गुरू का प्रतीक मानते हुए लिखा है—

गुरू सुआ जेहि पंथ दिखावा।
बिन गुरू जगत को निर्गुन पावा ॥[२]

इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण मिलते है जिनसे प्रकट होता है कि सूफी गुरूवाद में बहुत अधिक विश्वास करते थे। किन्तु यह बात विवादग्रस्त है कि सूफियों का गुरूवाद बौद्धों की देन है या स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ है। मेरी अपनी धारणा है कि सूफियों के गुरूवाद को कोई आश्चर्य नही कि बौद्धों से प्रेरणा मिली हो।

गुरूवाद का व्यापक प्रभाव राम काव्य धारा के कवियों पर भी दिखाई पड़ता है। तुलसी ने गुरू के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए लिखा है—

वंदउं गुरू पद कज कृपा सिंधु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुञ्ज जासु बचन रविकर निकर।
बंदउं गुरू पद परम परागा। सुरुचि सुवास सरस अनुरागा।
अमिय मूरमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू।
सुकृति संभुतन विमल विभूती। मजुल मंगल मोद प्रसूती।
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किए तिलक गुन गनवस करनी।

मानस बालकाण्ड पृ० ३२४

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि मध्ययुगीन सन्तों पर बौद्धों की सत्संगति और गुरूवाद का अच्छा प्रभाव पड़ा है।

धर्माचरण के साथ जीवन व्यतीत करना—बौद्ध भक्ति में सदाचरण का भी बड़ा महत्व है। मेरी तो अपनी धारणा यह है कि वैष्णव मत में सदाचरणवाद को जो इतना महत्व दिया गया है उसका श्रेय बौद्ध नैतिकता

१—पदमावत पृ० ८
२—पदमावत पृ० ३००

है यदि कभी सज्जन कुसंगति मे पड़ जाते हैं तो वे वहाँ भी सांप की मणि के समान अपने गुणों का ही अनुसरण करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कवि और पंडितों की वाणी भी सन्त महिमा का वर्णन करने में सकुचाती है। वह मुझसे उसी प्रकार नहीं कहा जा सकता जिस प्रकार साग-तरकारी बेचने वाले मणि के मूल्य को नहीं समझ सकते है।[१] इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी सन्त और सत्संगति की महिमा का वर्णन किया है

गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा—यों तो बौद्धों ने गुरुवाद और मठवाद के प्रति अनास्था प्रकट की है[२] किन्तु गुरु की महिमा उन्हें भी स्वीकार करनी पड़ी है यह मैं सप्रमाण दिखा आई हूं। मध्ययुगीन साहित्य पर गुरुवाद का बहुत अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। मध्यकालीन साहित्य पर गुरुवाद का जो प्रभाव दिखाई पड़ा है उसके मूल में तांत्रिकों और सूफियों के गुरुवाद की भी प्रेरणा भी है।

सन्तों ने तो गुरु को बहुत अधिक महत्व दिया है। कबीर कहते हैं—सदगुरु के सदृश कोई हितू नहीं है, हरिजन के सदृश कोई जाति नहीं है। सदगुरु की महिमा अनन्त है। उसने अनन्त उपकार किया है। उसने अनन्त परमात्मा के प्रति हमारे नेत्र उघाड़ दिए और अनन्त परमात्मा के दर्शन करा दिए।[३] सन्त लोग गुरु और साहब को एक दूसरे से भिन्न नहीं मानते थे। कबीर कहते है—

गुरू साहिब तो एक है दूजा सब आकार।

यही नहीं कबीर ने तो एक स्थल पर गुरू को गोविन्द से भी बड़ा कहा है—

गुरू है वड़ गोविन्द ते, मन में देखु विचार।
हरि सुमिरे सोवार है, गुरू सुमिरे सोपार॥[४]

१—मानस बाल काण्ड दोहा २ से ३ तक

२—धम्म पद पृ० ७४

३—सत गुरू सम को है सगा, साध सम को दात।
हरि समान को हित, हरिजन सम को जात॥
सत गुरू की महिमा अन्त, अनन्त किया उपकार।
लोचन अनन्त उघारिया, अनन्त दिखावन हार॥
क० सा० की साखी भाग १ पृ० १

सूफी काव्य धारा के कवियों ने तो गुरु को बौद्धों और सन्तों से भी अधिक महत्व दिया है। जायसी ने अपने महाकवित्व का कारण गुरु प्रसाद ही माना है।

ओहि संवत मैं पाई करनी। उघरी जीभ, प्रेम कवि बरनी ॥
वै सुगुरु, हौं चेला, नित बिनवौं भा चेर।
उन्ह हुत देखै पा पायऊ, दरस गोसाईं केर ॥[१]

जायसी ने गुरु को पथ-प्रदर्शक मान लिया है। तोते को गुरु का प्रतीक मानते हुए लिखा है—

गुरु सुआ जेहि पंथ दिखावा।
बिन गुरु जगत को निर्गुन पावा ॥[२]

इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण मिलते है जिनसे प्रकट होता है कि सूफी गुरुवाद में बहुत अधिक विश्वास करते थे। किन्तु यह बात विवादग्रस्त है कि सूफियों का गुरुवाद बौद्धों की देन है या स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ है। मेरी अपनी धारणा है कि सूफियों के गुरुवाद को कोई आश्चर्य नहीं कि बौद्धों से प्रेरणा मिली हो।

गुरुवाद का व्यापक प्रभाव राम काव्य धारा के कवियों पर भी दिखाई पड़ता है। तुलसी ने गुरु के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए लिखा है—

वंदउं गुरु पद कंज कृपा सिंधु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुञ्ज जासु बचन रविकर निकर।
बंदउं गुरु पद परम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।
अमिय मूरमय चूरन चारु। समन सकल भव रुज परिवारू।
सुकृति संभुतन विमल विभूती। मजुल मंगल मोद प्रसूती।
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किए तिलक गुन गनवस करनी।

मानस बालकाण्ड पृ० ३२४

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि मध्ययुगीन सन्तों पर बौद्धों की सत्संगति और गुरुवाद का अच्छा प्रभाव पड़ा है।

धर्माचरण के साथ जीवन व्यतीत करना—बौद्ध भक्ति में सदाचरण का भी बड़ा महत्व है। मेरी तो अपनी धारणा यह है कि वैष्णव मत में सदाचरणवाद को जो इतना महत्व दिया गया है उसका श्रेय बौद्ध नैतिकता

१—पदमावत पृ० ८
२—पदमावत पृ० ३००

आई हूं सत्संगति और गुरु श्रद्धा को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। सन्तों की महिमा का उल्लेख करते हुए धम्मपद में लिखा है—पुष्प, चन्दन, तगर या चमेली किसी की भी सुगन्धि हवा के उल्टे नहीं जाती किन्तु सन्तों का यश हवा के उल्टे भी फैलता है। सत्पुरुष सभी दिशाओं को व्याप्त कर देता है।[१] इसी प्रकार एक दूसरे पद में लिखा है—सन्त दूर होने पर भी हिमालय पर्वत की चोटियों की भांति प्रकाशते हैं। इसी प्रकार त्रिपिट साहित्य में और भी बहुत से स्थलों पर सन्तों की महिमा का वर्णन किया गया है। सन्तों की महिमा के साथ साथ सत्संगति की महिमा भी स्वयं प्रमाणित होती है।

मध्ययुगीन साहित्य पर बौद्धों के सन्तवाद, सन्त महिमा और सत्संगति महिमा का अच्छा प्रभाव दिखाई पड़ता है। मध्ययुगीन सन्त मत को तो मैं बौद्ध सन्त मत का प्रतिरूप मानती हूं।

हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा के कवियों ने भी बौद्धों के सदृश सन्तों को महिमा, सत्संगति महत्व आदि पर बहुत कुछ लिखा है। सन्तों की महिमा का उल्लेख करते हुए कबीर कहते हैं कि साधु की संगति से करोड़ों अपराधों से मुक्ति मिल जाती है। चाहे वह पल भर के लिए ही क्यों न की गई हो।[३] कबीर कहते हैं साधु की संगति कभी व्यर्थ नहीं जाती है। वह गन्धी की भांति है। जिस प्रकार गन्धी प्रत्यक्ष कुछ नहीं देता है किन्तु फिर भी उसकी सुगन्धि उसके समीप जाने वाले को अवश्य सुगन्धित करती है, उसी प्रकार सत्सगति से प्रत्यक्ष लाभ होता न भी नजर आवे किन्तु फिर भी अप्रत्यक्ष लाभ होता है।[४] पलटू साहब ने लिखा है कि सन्तों ने परोपकारार्थ ही अवतार धारण किया है। वे अवतार धारण कर दूसरों को सन्मार्ग पर लगाते हैं। वे भक्ति ज्ञानआदि का उपदेश देते हे। वे योग के प्रति

---

१ धम्मपद पृ० ५४

२ धम्मपद पृ० ३०४

३ कबीर सगति साधकी कटै कोटि अपराध।
एक घड़ी आधी घड़ी हसे आधरा॥
क० सा० सं० भाग १-२ पृ० ५३

४ क० सा० स० पृ० ५४

भाकर्षण पैदा करते हैं। इस प्रकार वे दूसरों का उपकार करते हुए पृथ्वी पर घूमा करते हैं।[1]

पलटू साहब तो सन्तों को भगवान से भी बड़ा मानते थे।[2] पहले नम्बर पर उन्होंने सन्तों का उल्लेख किया है दूसरे नम्बर पर भगवान का हैं। उनकी स्पष्ट घोषणा है कि सन्त के दर्शनों से तीनों ताप मिट जाते है।[3] इतना ही नहीं वे सन्तों को भगवान का अवतार तक मानते थे।

सन्त महिमा और सत्संगति के महत्व से मध्ययुग की अन्य धारा के कवि भी परिचित थे। तुलसीदास ने तो सन्तों की महिमा और सत्संगति की महिमा के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:-- जो मनुष्य इस सन्त समाज रूपी तीर्थराज का प्रभाव प्रसन्न मन से सुनते और समझते हैं और अत्यन्त ध्यानपूर्वक इसमें गोते लगाते हैं वे इस शरीर के रहते ही अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चारों फल पा जाते है। इस तीर्थराज में स्नान का फल तत्काल ऐसा देखने में आता है कि कौए कोयल बन जाते हैं और बगुले हंस। यह सुन कर कोई आश्चर्य न करे क्योंकि सत्संगति की महिमा अपार है। जिसने जिस समय जहाँ कहीं भी जिस किसी यत्न से बुद्धि, कीर्ति, सद्‌गति, विभूति और भलाई पाई है सो सब सत्संग का ही प्रभाव समझना चाहिए। वेदों में और लोक में इनकी प्राप्ति का दूसरा उपाय नहीं है। सत्संग के बिना विवेक नहीं होता और श्री राम जी की कृपा के बिना वह सत्संग सहज में नहीं मिलता। सत्संग आनन्द और कल्याण की जड़ है। सत्संग की सिद्धि ही फल है और सब साधन तो फूल हैं। दुष्ट भी सत्संगति पाकर सुधर जाते हैं जैसे पारस के स्पर्श से लोहा स्वर्ण रूप हो जाता है। किन्तु दैव योग

---

१ पर स्वारथ के कारन सत लिया औतार।
संत लिया औतार जगत के राह चलावें॥
भक्ति को उपदेश दे नाम सुनावें।
प्रीति बढ़ावें भक्त में धरनी पर डोलें।

पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० २

२—पलटू प्रथम में सन्त जन दूजे है करतार।

सन्त पलटू की बानी भाग १ पृ० ९

३—तीन ताप मिट जाय सन्त के दर्शन पावें।

सन्त पलटू की बानी भाग १ पृ० ९

४—सन्त रूप अवतार आप हरि धरि के आए।

सन्त पलटू की बानी भाग १ पृ० १३

से यदि कभी सज्जन कुसंगति मे पड़ जाते हैं तो वे वहाँ भी सांप की मणि के समान अपने गुणों का ही अनुसरण करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कवि और पंडितों की वाणी भी सन्त महिमा का वर्णन करने में सकुचाती है। वह मुझसे उसी प्रकार नही कहा जा सकता जिस प्रकार साग-तरकारी बेचने वाले मणि के मूल्य को नहीं समझ सकते हैं।[१] इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी सन्त और सत्संगति की महिमा का वर्णन किया है

गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा—यों तो बौद्धों ने गुरुवाद और मठवाद के प्रति अनास्था प्रकट की है[२] किन्तु गुरु की महिमा उन्हें भी स्वीकार करनी पड़ी है यह मैं सप्रमाण दिखा आई हूं। मध्ययुगीन साहित्य पर गुरुवाद का बहुत अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। मध्यकालीन साहित्य पर गुरुवाद का जो प्रभाव दिखाई पड़ा है उसके मूल में तांत्रिकों और सूफियों के गुरुवाद की की प्रेरणा भी है।

सन्तों ने तो गुरु को बहुत अधिक महत्व दिया है। कबीर कहते हैं—सदगुरु के सदृश कोई हितू नहीं है, हरिजन के सदृश कोई जाति नहीं है। सदगुरु की महिमा अनन्त है। उसने अनन्त उपकार किया है। उसने अनन्त परमात्मा के प्रति हमारे नेत्र उघाड़ दिए और अनन्त परमात्मा के दर्शन करा दिए।[३] सन्त लोग गुरु और साहब को एक दूसरे से भिन्न नही मानते थे। कबीर कहते हैं—

गुरु साहिब तो एक है दूजा सब आकार।[४]

यही नही कबीर ने तो एक स्थल पर गुरु को गोविन्द से भी बड़ा कहा है—

गुरु है बड़ गोविन्द ते, मन में देखु विचार।
हरि सुमिरे सोवार है, गुरु सुमिरे सोपार॥[५]

१—मानस बाल काण्ड दोहा २ से ३ तक

२—धम्म पद पृ० ७४

३—सत गुरु सम को है सगा, साध सम को दात।
हरि समान को हित, हरिजन सम को जात॥
सत गुरु की महिमा अन्त, अनन्त किया उपकार।
लोचन अनन्त उघारिया, अनन्त दिखावन हार॥
क० सा० की साखी भाग १ पृ० १

४—क० सा० सं० पृ० ३

५—क० सा० सं० पृ० ४

सूफी काव्य धारा के कवियों ने तो गुरू को बौद्धों और सन्तों से भी अधिक महत्व दिया है। जायसी ने अपने महाकवित्व का कारण गुरू प्रसाद ही माना है।

ओहि संवत मैं पाई करनी। उघरी जीध, प्रेम कवि वरनी ॥
वै सुगुरू, हौ चेला, नित विनवौ भा चेर।
उन्ह हुत देखै पा पायऊ, दरस गोसाईं केर ॥[१]

जायसी ने गुरू को पथ-प्रदर्शक मान लिया है। तोते को गुरू का प्रतीक मानते हुए लिखा है—

गुरू सुआ जेहि पंथ दिखावा।
बिन गुरू जगत को निर्गुन पावा ॥[२]

इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण मिलते है जिनसे प्रकट होता है कि सूफी गुरुवाद में बहुत अधिक विश्वास करते थे। किन्तु यह बात विवादग्रस्त है कि सूफियों का गुरूवाद बौद्धों की देन है या स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ है। मेरी अपनी धारणा है कि सूफियों के गुरूवाद को कोई आश्चर्य नही कि बौद्धों से प्रेरणा मिली हो।

गुरूवाद का व्यापक प्रभाव राम काव्य धारा के कवियों पर भी दिखाई पड़ता है। तुलसी ने गुरू के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए लिखा है—

बंदउं गुरू पद कंज कृपा सिंधु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुन्ज जासु वचन रविकर निकर।
बंदउं गुरू पद परम परागा। सुरुचि सुवास सरस अनुरागा।
अमिय मूरमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू।
सुकृति संभुतन विमल विभूती। मजुल मंगल मोद प्रसूती।
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किए तिलक गुन गनवस करनी।

मानस बालकाण्ड पृ० ३२४

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि मध्ययुगीन सन्तों पर बौद्धों की सत्संगति और गुरूवाद का अच्छा प्रभाव पड़ा है।

धर्माचरण के साथ जीवन व्यतीत करना—बौद्ध भक्ति में सदाचरण का भी बड़ा महत्व है। मेरी तो अपनी धारणा यह है कि वैष्णव मत में सदाचरणवाद को जो इतना महत्व दिया गया है उसका श्रेय बौद्ध नैतिकता

१—पदमावत पृ० ८
२—पदमावत पृ० ३००

की ही है। जो भी हो इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि बौद्ध सदाचार मार्ग ने मध्ययुगीन साहित्य को बहुत अधिक बल प्रदान किया था। मध्य कालीन भक्ति आन्दोलन का तो यह प्राण ही बन गया था। मध्यकालीन कवि लोग बौद्ध नैतिकता और सदाचरण मार्ग से कितना अधिक प्रभावित थे यह मैं धर्म के आचार पक्ष के अन्तर्गत विस्तार से दिखा आई हूं। अतः यहाँ पर पिष्ट पेषण नहीं करना चाहती हूं।

भक्ति में मन और चित्त शुद्धि पर विशेष बल देना—इसी प्रसंग में मैं एक बात और स्पष्ट कर देना चाहती हूं। वह यह कि बौद्ध भक्ति में थोथी भक्ति का कोई स्थान नहीं हैं। इसमें बाहरी आचार और विधि विधानों का कोई स्थान नहीं है। सर्वत्र पवित्र मन से किए गए आचरणों को ही महत्व दिया गया है। व्यावहारिक रूप में बाहरी ढंग से दिखावट के लिए किए गए सदाचारों को नहीं।

अनुत्तर पूजा और भक्ति के विविध अंग तथा मध्यकालीन साहित्य पर उनका प्रभाव

अनुत्तर पूजा के सात अंग क्रमशः इस प्रकार हैं-- वन्दन, पूजन, शरण-गमन, पाप देशना, पुण्यानुमोदन, अध्येषणा, आत्म भावादि परित्याग।

वन्दन—भगवान बुद्ध की वन्दना करना ही वन्दन है। मध्यकालीन साहित्य में वन्दना भक्ति भगवान बुद्ध के प्रति समर्पित न की जाकर राम, कृष्ण या एकेश्वर के प्रति समर्पित की गई है। निर्गुण कवियों में हमें वन्दना का अंग करनी ही पड़ी। वहाँ उन्होंने वन्दना शब्द का प्रयोग कम उसका भाव व्यक्त करने वाले अन्य शब्दों का प्रयोग अधिक किया है। कबीर ने वन्दना के स्थान पर बलिहारी शब्द का प्रयोग किया है। वे लिखते हैं--

> बलिहारी अपने साहिब की जिन यह जुक्ति बनाई।
> उनकी शोभा केहि विधि कहिए मों से कही न जाई॥
>
> कबीर शब्दावली पृ० ३११

अन्य धारा के कवियों पर वन्दना का अंग प्रतिबिम्बित मिलता है। सूफी काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि जायसी ने इस अंग की अभिव्यक्ति सुमिरौं शब्दों से की है।

> सुमिरौं आदि एक करतारू।
> जेहि जिव दीन्ह कीन्ह संसारू॥

तुलसी आदि ने राम काव्य धारा में सर्वत्र अपने इष्ट देव की वन्दना की है। मानस के प्रारम्भ में ही उन्होने दसों बार बन्दन शब्द का प्रयोग किया है, जैसे—

'वन्दे वाणी विनायकौ,' 'भवानी शंकरौ वन्दे'।
वन्दे बोधमयं नित्यं गुरू शंकर रूपिणम्।
'वन्दे कवीश्वर कपीश्वरौ'
'वन्दऊ गुरू पद कंज' 'वन्दऊ गुरू पद पदम परागा'।[1]

इसी प्रकार तुलसी ने सैकड़ों बार बन्दन नामक भक्ति का आश्रय लिया है। विनय पत्रिका तो विनय का अंग लेकर ही लिखी गई है।

कृष्ण काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि सूर ने बन्दना नामक अंग की अभिव्यक्ति सूर सागर के प्रथम पद में ही कर दी है।

चरन कमल बन्दौ हरि राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अन्धे को सब कुछ दरसाई।
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै रंक चलै सिर छत्र धराई।
सूरदास स्वामी करुनामय बार बार बन्दौ तिहि पाई।[2]

पूजन या अर्चन—बौद्ध धर्म में जिस पूजा को महत्व दिया गया है वह अधिकतर मानसिक है। सच्ची पूजा के स्वरूप को महत्व देते हुए धम्मपद में लिखा है—सहस्त्र दक्षिणायज्ञ से जो महीने महीने सौ वर्ष तक भजन करे और यदि परिशुद्ध मन वाले एक पुरुष को एक मुहूर्त ही पूजे तो वर्ष के हवन से यह पूजा ही श्रेष्ठ है। इसी प्रकार इसी ग्रन्थ में एक दूसरे स्थल पर लिखा है—यदि प्राणी सौ वर्ष तक बन में अग्नि परिचरण करे या पुण्य की अभिलाषा से यदि वर्ष भर लोक के सभी यज्ञ और हवन करे तो भी ऋजु भूत सन्त को किए एक प्रमाण का चौथा हिस्सा भी फल प्राप्त नहीं है।
—धम्म पद पृ० १०७-१०८

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट प्रकट होता है कि बौद्ध धर्म मे जिस पूजा को महत्व दिया गया था मानसिक अधिक थी वैधी बहुत कम थी। बौद्ध भक्ति के इस अंग का प्रभाव सन्त कवियों पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। सन्तों ने भी सर्वत्र मानसिक या भावार्थ पूजा को ही महत्व दिया है। कबीर आदि

— मानस पृ० १ और २
२— सूर सागर पृ० १

सन्तों की भाव भगति का आवश्यक अंग भावात्मक पूजा है। उन्होंने लिखा है—

सांच सील का चौका दीजै।
भाव भगति की सेवा कीजै॥[1]

इसी प्रकार उन्होंने भिन्न प्रकार से भावात्मक पूजा का वर्णन किया है-

ऐसी आरती त्रिभुवन तारै, तेज पुंज तहं प्रान उतारै।
पाती पंच पुहप करि पूजा, देव निरंजन और न दूजा॥
तन मन सीस समर्पन कीन्हा, प्रगट जोति तह आतम लीन्हा।
दीपक ग्यान सबद धुनि घंटा, परम जुक्ति तह देव अनन्ता॥
परम प्रकास सकल उजियारा, कहै कबीर मैं दास तुम्हारा॥

सन्तों की वानियों में इस प्रकार की भावात्मक पूजा से सम्बन्धित सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। कहना न होगा इस प्रकार की भावात्मक पूजा प्रणाली सन्तों को बौद्धों से मिली थी।

सूफी धारा के कवि लोग भावात्मक पूजा के ही समर्थक थे। इसका कारण इस्लाम कहा जाता है। इस्लाम में पूजा का स्वरूप कुछ भावात्मक ही है। उसमें बाहरी विधि विधान की मान्यता नहीं के बराबर है। हो सकता है सूफियों को बौद्धों से भी प्रेरणा मिली हो। हिन्दी की प्रेमाख्यान की धारा के कवियों में भावात्मक पूजा के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। इसका कारण यह है कि इस धारा के कवियों ने अधिकतर प्रेम कथाएं लिखी हैं। इन कथाओं के बीच पूजा आदि की चर्चा नहीं आई है। इसीलिए उनमें भावात्मक पूजा का रूप भी नहीं मिलता।

राम काव्य धारा के कवि लोग वैधी और भावात्मक दोनों प्रकार की भक्ति में विश्वास करते थे। इसीलिए उनकी रचनाओं में दो प्रकार की भक्तियों के रूप मिलते हैं। किन्तु प्रधानता वैधी भक्ति की है। तुलसी ने एक स्थल पर बौद्धों की सदाचरण प्रधान शैली का सुन्दर ढंग से अनुसरण किया। प्रसंग राम रावण युद्ध का है—जब राम रावण से पैदल ही युद्ध करने लगे तो विभीषण को शंका होने लगी। उन्होंने कहा महाराज न तो आपके पास रथ है और न पदत्राण। आप रावण से युद्ध में कैसे जीतेंगे? इस पर राम उत्तर देते हैं—

सुनहु सखा कह कृपा निधाना। जेहि जय होइ सो स्यन्दन आना॥

---

१ क० ग्रं० पृ० २४४

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल विवेक दम परहित घोरे। क्षमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजन सारथी सुजाना। विरति चर्म सन्तोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा। वर विग्यान कठिन कोदण्डा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद विप्र गुरु पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्म मय अस रथ जाके। जीतन कहं न कतहु रिपु ताके॥[1]

उपर्युक्त पंक्तियाँ राम के मुख से निकली हुई न मालुम होकर भगवान बुद्ध के मुख से निकली हुई प्रतीत होती हैं। कृष्ण काव्य धारा के कवियों में इस प्रकार के वर्णन बहुत कम है।

पापदेशना—बौद्ध भक्ति का तीसरा अंग पापदेशना है। पापदेशना एक प्रकार का आत्म निवेदन है। इसमें भक्त अपने पापों को पश्चात्तापपूर्वक ससार के सामने रखता और आत्म दैन्य का प्रदर्शन करता है। मध्ययुगीन साहित्य पर बौद्ध भक्ति के इस अंग का प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है।

हिन्दी की निर्गुण धारा के कवियों में पापदेशना के उदाहरण अपेक्षाकृत कुछ कम मिलते हैं। जो मिलते है वे अधिकतर कायानुपश्यना के रूप मे है। जैसे निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं 'हे गुरू आप मुझ पर कब कृपा करेंगे। इस शरीर पर काम क्रोध अहंकार आदि विकारों का प्रभुत्व है माया एक पल के लिए भी पिण्ड नही छोड़ती। जब से इस शरीर को धारण किया है तब से क्रोध मद मोह लोभ आदि पाँच विकार रूपी पाच चोर साथ कर दिए हैं। जन्म भर वे साथ मे रह कर भूसते रहे हैं, अज्ञान रूपी भयंकर सर्प ने शरीर और मन दोनों को डस लिया है। उसके विष के प्रभाव में पड़कर लहरे आती रहती हैं। उस विष को दूर करने के लिए गुरू रूपी गारुड़ी की बड़ी आवश्यकता है। अतः आप दया करके उस विष को दूर कर दीजिए।[2]

१—तुलसी दर्शन पृ० २१५ से उद्धृत

२—गुरू दयाल कब करिहो दाया।
काम क्रोध हुंकार बियापै नाहीं छूटै माया।
जो लगि उत्पत्ति बिन्दु रचो है सोच कबू नहीं।
पांच चोर संग लाय दियो है, तन संग जनू।
तन मन डस्यो भुजंगम भारी लहरें वार न पारा।
गुरू गारुड़ी मिल्यो नहि कबहू विष पसरयो विकारा।

कबीर शब्दावली पृ० ८

सन्तों में पापदेशना की अभिव्यक्ति कहीं कहीं आत्म निवेदन के रूप में मिलती है कबीर कहते है–हे भगवान मैं ऐसा अपराधी हूँ कि संसार में आकर तुम्हारी भक्ति तक नही की मेरा संसार में जन्म ही अकारथ है। जन्म लेकर भी कुछ नहीं किया।[१]

बौद्ध भक्ति के इस अंग का सबसे अधिक प्रभाव राम काव्य धारा के कवियों पर विशेषकर तुलसी पर दिखाई पड़ता है। तुलसी की विनय पत्रिका यों तो भक्ति के सभी अंगों से परिपूर्ण है किन्तु बौद्ध भक्ति की पापदेशना वाला अंग तो मानो मुखरित हो उठा है।

कृष्ण काव्य धारा के कवियों की रचनाएँ पाप देशना के उदाहरणों से भरी पड़ी हैं। यहाँ पर सूर के कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं। एक पद में सूर कहते हैं 'हे प्रभु मैं सब पतितों का स्वामी हूँ और तो केवल चार दिन के पापी होते हैं किन्तु मैं तो जन्म का ही पापी हूँ। आपने वधिक अजामिल गनिका और पूतना आदि का उद्धार किया है। मैं यह लकीर खींच कर कहता हूँ मेरे सदृश पाप करने वाला कोई नहीं है।[२] इसी प्रकार एक दूसरा पद है कि हे भगवान मेरे समान कोई पापी नही है। मैं बड़ा ही घातक कुटिल चवाई, कपटी, क्रूर ईर्षालू धूर्त, लोभी और विषयासक्त हूं। मैंने कभी खान पान आदि किसी का भी विचार नही किया सदैव कामिनियों की काम वासना में फंसा रहा। लोभ कभी छूटा ही नही। दूसरों से ऐसे कटु वचन कहता रहा जो सर्वथा असह्य हैं। जितने अधर्मियों का उद्धार किया है उन सब को मैं जानता हूँ वे मुझसे अधिक पातकी नही थे। मैं विकारों का सागर हूँ।

---

१ माधो मैं ऐसा अपराधी तेरी भगति हेत नहिं साधो।
कारन कवन आइ जग जनम्या जनमि कवन तनु पाया॥
क० ग्रं० पृ० १५२

२ प्रभु सब पतितनि को टीकौ।
और पतित सब दिवस चारि के, हौतो जनमत ही को।
बधिक अजामिल गनिका तारी, और पूतना ही को।
मोहिं छाडि तुम और उधारे, मिटै सूल क्यों जी को।
कोउ न समरथ उप करिबे कौं, खैंचि कहत हौं लीको।
मरियत लाज सूर पतितनि में मोहू तें को नीको।
सूर सागर पृ० ७२

जबकि अजामिल आदि पाप की दृष्टि में वापी के सदृश हैं।[1] इसी प्रकार का एक उदाहरण और दृष्टव्य है।

> प्रभु मेरे मोसौ पतित उधारौ।
> कामी कृपिन, कुटिल, अपराधी अधनि भरयो बहु भारौ।
> तीनो पन मैं भक्ति न कीन्ही काजर हू तैं कारौ।
> अब आयौ हौ सरन तिहारी, ज्यों जानो त्यौं तारौ।
> गीध व्याध गज गनिका उधरी लै लै नाम तिहारौ
> सूरदास प्रभु कृपावंत है, लै भक्तिनि में डारौ।

एक स्थल पर वे पाप दंशना करते हुए कहते हैं 'हे माधव जी ! मेरे समान कोई भी मूर्ख नहीं है। यद्यपि मछली और पतंगे मूर्ख कहे जाते हैं किन्तु मेरी बराबरी वे भी नहीं कर सकते मैं उनसे कहीं बढ़कर मूर्ख हूँ पतिंगे ने सुन्दर रूप देखकर दीपक को आग नहीं समझा मछली ने आहार के वश हो लोहे का कांटा नहीं जाना दोनों ही बिना जाने जले और फंसे। किन्तु मैं कष्ट देख देख कर भी विषय संग नहीं छोड़ता हूँ अतएव मैं उन दोनों से अधिक अज्ञानी हूँ। महा मोह रूपी अपार नदी में सदा बहा बहा फिरता हूँ भगवान् के चरण कमलों की जो नाव है उसे छोड़ कर बार बार फेन अर्थात क्षणिक विषय सुख पकड़ता हूँ। यह मूर्खता नहीं तो और क्या है। जैसा भूखा कुत्ता पुरानी पड़ी हुई हड्डी को मुख में भर कर पकड़ता है और तालु मे अटक जाने पर जो रुधिर बहता है उसे चाट चाट कर बड़ा प्रसन्न होता है। यह नहीं समझता कि यह रक्त तो मेरे ही शरीर का है। इसी प्रकार मैं अपने ही वीर पराक्रम को नाश कर झूठे सुख से सुखी होता हूँ। मैं संसार रूपी सर्प से डसे जाने के कारण बड़ा दुखी हूँ। तथापि

---

१ माधौ जू मोतैं और न पापी।
घातक, कुटिल, चवाई, कपटी, महा क्रूर संतापी।
लंपट धूत पूत दमरी को, विषय जाप को जापी।
भच्छि अभच्छ, अपान पान करि कबहू न मनसा धापी।
कामी विवस कामिनी कैं रस लोभ, लालसा थापी।
मन क्रम वचन दुसह सबहिनि सो कटुक वचन आलापी।
जेतिक अधम उधारे प्रभु तुम तिन की गति मैं नापी।

गरुड़गामी भगवान की शरण में न जाकर मेढक की शरण में जाता हूँ'।'[१]

इसी प्रकार एक दूसरा पद है 'हे माधव मेरे समान इस संसार में सब प्रकार से निस्सहाय पातकी दीन और भोग विलासों में लीन और कोई नहीं है। मैं सब से बढ़कर पापी हूँ। और तुम्हारे समान निष्काम कृपा करने वाला दीन दुखियों का हित् स्वामी एवं दानी कोई दूसरा नहीं है। मैं दुख शोक से व्याकुल हो रहा हूँ क्या कारण है कि आपने अभी तक मेरे ऊपर कृपा नहीं की।[२]

इस प्रकार के अनेक उद्धरण राम काव्य धारा के कवियों में मिलते हैं। विस्तार भय से यहाँ और उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं।

पुण्यानुमोदन—बौद्ध भक्ति की यह चौथी विशेषता है। जिस प्रकार पापदेशना में भक्त पापों का निर्देशन करता है उसी प्रकार पुण्यानुमोदन में भक्त दूसरों के पुण्यों के और सद्गुणों का अनुमोदन करता है। ढूंढने से संत कवियों में भी इसके बहुत से उदाहरण मिल सकते हैं किन्तु इसके उदाहरणों की भरमार हमें तुलसी की विनय पत्रिका में मिलती है। उसमें इसका सच्चा स्वरूप दिखाई पड़ता है। यहाँ पर उससे दो एक उदाहरण दे देना अनुचित न होगा। एक परम प्रसिद्ध पद का भावार्थ इस प्रकार है'— श्री जानकी वल्लभ रघुनाथ जी के शील और स्वभाव सुनकर जिसके मन में न तो प्रसन्नता है, न शरीर ही पुलकायमान होता है और जिसकी आँखों में प्रेमाश्रु ही भर आते हैं, वह मनुष्य गली गली में धूल फाँकता फिरे तो

१—माधव जू मो समान मन्द न कोऊ।
जद्यपि मीन पतंग हीन मति मोहि नहिं पूजं कोऊ।
रुधिर रूप आधार वस्य उन्ह पावक लोह न जान्यो।
देखत विपति विषय न तजत हो ताते अधिक अनस्यो।
महा मोह सरिता अहार मद संत फिरत बह्यो।
श्री हरि चरन कमल नौका तजि फिर फिर फॅन रह्यो।
अस्थि पुरातन छुदित स्वान अति ज्यों भरि मुख पकरो।
विनय पत्रिका पृ० ९२

२—माधव मो समान जग माही।
सब विधि हीन मलीन दीन अति लीन विषय कोऊ नाही।
तुम सम हेतु रहित कृपालु आरत हित इस न त्यारी।
विनय पत्रिका पृ० ११४

३—विनय पत्रिका पृ० २१६

अच्छा है। बचपन से ही पिता माता, भाई, गुरू नौकर चाकर, मन्त्री और मित्र कहते हैं कि किसी ने कभी रामचन्द्र जी का चन्द्रमा जैसा प्रफुल्लित मुख स्वप्न में भी क्रोधित नहीं देखा, सदा हंस मुख ही रहे। उनके साथ जो उनके भाई और दूसरे बालक खेलते थे, उनका अन्याय और हानि वे सदा देखते रहते थे और अपनी जीत पर भी स्वयं हार जाते थे। उन लोगों को पुचकार पुचकार कर प्रेम से आप दांव देते और दूसरो से भी दिलाते थे। चरण के स्पर्श से ही पाषाणमयी अहल्या को शाप के दुख से उद्धार कर दिया। आपको उसे मोक्ष देने का तो कुछ हर्ष न हुआ, और इस बात का दुःख ही हुआ कि ऋषि पत्नी को पैर से छू दिया। शिवजी का धनुष तोड़कर राजाओं का मान मर्दन कर दिया। परशुराम के क्रोधित होने पर उनका अपराध क्षमा करके और लक्ष्मण जी से माफी मंगवा कर उनके चरणों पर गिर पड़े। इतनी सामर्थ और किसमें है। राजा दशरथ ने जिन्हें राज्य देने का वचन दिया, पर कैकेयी के आधीन होकर वनवास दे दिया। इसी लज्जा के मारे बेचारे मर भी गए, उस कुमाता का मन हाथ में लिए रहे और उसके रुख पर चलते रहे। हनुमान जी की कृपा से उपकृत होकर आपने उनसे कहा---मेरे पास देने को कुछ नहीं है। मैं तेरा ऋणी हूं, तू धनी है। इसी बात की सनंद लिखा ले। यद्यपि सुग्रीव और विभीषण ने अपना कपट भाव नहीं छोड़ा पर आपने उन्हें भी अपनी शरण मे ले लिया। भरत जी की प्रशंसा करते करते आपकी तृप्ति नहीं होती। सभा में भी सदैव भरत जी की प्रशंसा करते हैं।

भक्तो पर आपने जो जो उपकार किया है, उसकी जब जब प्रसंगवश चर्चा आई, तब तब आप लज्जा से मानों गड़ से गए। अपनी प्रशंसा कभी अच्छी नहीं लगी और जिसने एक बार भी आपको प्रणाम कर लिया उसकी महिमा का सदा बखान किया, उसका यश सुना और उसका दूसरों से भी बार बार गान करवाया। ऐसे करुणा सिंधु श्री रघुनाथ जी की गुणावली सुन सुन कर हृदय मे प्रेम प्रवाह बढ रहा है। हे तुलसीदास तू सहज ही इस प्रेमानन्द के कारण भगवद् चरणारविन्दों को पायगा। इस प्रकार के विनय पत्रिका में अनेक पद मिलते है जिनमें पुण्यानुमोदन किया गया है। विस्तार भय से औरों का उल्लेख नहीं किया जा रहा है। सूर में भी इस प्रकार के उदाहरणों की कमी नहीं है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद ले सकते हैं—[१]

> वासुदेव की बड़ी बड़ाई।
> जगत-पिता, जगदीस, जगत गुरू, निज भक्तनि की सहत ढिटाई।

१—सूर सागर पृ० २

भृगु को चरन राखि उर ऊपर, बोले बचन सकल सुखदाई।
सिव विरंचि मारन को धाए, यह गति काहू देव न पाई।
बिनु बदलें उपकार करत हैं, स्वारथ बिना करत मिजाई।
रावन अरि को अनुज बिभीषन, ताकों मिले भरत की नाई।
बकी कपट करि मारन आई, सो हरि जू बैकुंठ पठाई।
बिनु दीन्हे देत सूर प्रभु, ऐसे हैं जदुनाथ गुसाई।

अनुत्तर पूजा के अन्य अंग

बौद्ध ग्रन्थों में अनुत्तर पूजा के उपयुक्त पांच अंगों के अतिरिक्त अन्य अंगों की भी चर्चा मिलती है जिनका मैं ऊपर संकेत कर चुकी हूं। उन अंगों का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव मध्ययुगीन साहित्य पर दिखाई नहीं पड़ता। अतएव यहाँ पर उनकी चर्चा नही की जा रही है।

मध्ययुगीन साहित्य पर बौद्ध पारमिताओं का प्रभाव

ऊपर मैं दिखा आई हूं कि बौद्ध भक्ति में पारमिताओं का बहुत बड़ा महत्व है। पारमिताओं का अर्थ उदत्त गुण होता है। बोधिचित ग्रहण करने के उपरान्त महायानी साधक के लिए पारमिताओं की विस्तृत चर्चा मैं ऊपर कर चुकी हूं इसलिए यहाँ पर पिष्ट पेषण नहीं करना चाहती। मध्य युगीन साहित्य पर केवल उनके प्रभाव का प्रदर्शन भर करूंगी।

दान पारमिता और मध्ययुगीन साहित्य पर उसका प्रभाव

समस्त प्राणियो के कल्याणार्थ निष्काम भाव से दान देना ही दान पारमिता है। बौद्ध धर्म मे विशेष करके महायान में दान को निष्काम दान को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। मध्ययुगीन साहित्य पर इस दान पारमिता का बहुत अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है हिन्दी की निर्गुण धारा के कवि लोग तो दान पारमिता के महत्व से पूर्णतया परिचित थे ही किन्तु मध्य युग की अन्य काव्य धारा के कवियों में यह पारमिता जैसे मूर्तिमान हो उठी है। सूफी काव्य धारा के कवियों में दान पारमिता के वर्णन कुछ अधिक सुन्दर दिखाई पड़ते हैं। हो सकता है कि इस्लाम की ज़कात से भी उन्हें थोड़ी बहुत प्रेरणा मिली हो। जायसी ने अपने पदमावत में दान पारमिता के वर्णन कई स्थानों पर दिए है। यहाँ पर उनका उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। शेरशाह की दान पारमिता का वर्णन करते हुए जायसी ने लिखा है:--राजा बलि, राजा विक्रम, कर्ण, हातिम आदि बड़े दानी प्रसिद्ध हैं। किन्तु शेरशाह के दान के आगे इनका दान फीका है। समुद्र और सुमेरू पर्वत शेरशाह के

भण्डारी थे। दान का डंका उसके दरबार में बजता रहता था। उसकी दान सम्बन्धी कीर्ति समुद्र तक पार कर गई है। दान के रूप में उसके स्वर्ण को पाकर सारा संसार धनी हो गया है। दरिद्रता देशान्तरों में भाग गई है। जिसने उससे एक बार भी याचना की है उसने उसको इतनी सम्पत्ति दे दी है कि उसे जन्म भर किसी बात का अभाव नहीं हुआ। जिन्होंने दशाश्वमेघ यज्ञ किए हैं वे भी उसके दान की बराबरी नहीं कर सकते। शेरशाह के सदृश न कोई दानी उत्पन्न हुआ, न उत्पन्न हुआ है और न उत्पन्न होगा।

भगवान ने इस प्रकार के महादानी शेरशाह को जन्म दिया है।[1] इसी प्रकार जायसी ने एक स्थल पर दान की महिमा का वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है---उस व्यक्ति का जीवन परम धन्य होता है और उसका हृदय बड़ा विशाल माना जाता है जो संसार में आकर दान दिया करता है। दान एक ऐसा पुण्य है जिसकी बराबरी जप तप जनित पुण्य नहीं कर सकते। दानी का मुख संसार में सभी जोहा करते हैं। दान दिए के सदृश प्रकाशित होता है। जिस प्रकार जहाँ दिया होता है वहाँ अंधकार नही रहता उसी प्रकार जहाँ दान को महत्व दिया जाता है वहाँ विकार और अज्ञान नहीं रहते। दान ही इस शरीर रूपी मन्दिर को दीपक के सदृश प्रकाशित करता है जो दान नहीं देता उसे काम क्रोध लोभ मोह आदि चोर घुसकर निर्धन कर देते हैं। हातिम और कर्ण ने दान देने का जो अभ्यास किया था उसी के फलस्वरूप धर्म क्षेत्र में उनकी ख्याति है। दान इसलोक और परलोक दोनों में साथ देता है। जो यहाँ देता है उसे वहाँ प्राप्त होता है। जो अपने हाथ से कुछ दान दे देता है वह अपने मार्ग को प्रशस्त कर देता है। परलोक में मनुष्य के साथ केवल दान ही जाता है और कुछ भी नहीं जाता।[2]

१—पुनि दातार दई जग कीन्हा। अस जग दान न काहू दीन्हा॥
बलि विक्रम दानी बड़ कहे। हातिम करन तियागी अहे॥
सेरसाहि सरि पूज न कोऊ। समुद्र सुमेर मंडारी दोऊ॥
दान डंका बाजै दरबारा। कीरति गई समुन्दर पारा॥
कंचन परसि सूर जग भयऊ। दारिद भागि दिसंतर गयऊ॥
दस अस मेघ जगत जेहि कीन्हा। दान पुन्य सरि सौंह न दीन्हा॥
ऐसे दानि जग उपजा सेरसाहि सुलतान।
ना अस भयऊ न होइहि, ना कोई देइ अस दान॥

जा० ग्रं० पृ० ७

२—जा० ग्रं० पृ० ६१

तुलसी आदि राम काव्य धारा के कवियों पर भी हमें बौद्धों की दान पारमिता का प्रभाव दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार बौद्धों ने बोधिसत्व में इस पारमिता की पराकाष्ठा दिखलाई उसी प्रकार तुलसी ने अपने शिव और राम आदि में इस पारमिता की चरम अवस्थिति चित्रित की है।

विनय पत्रिका में तुलसी ने शंकर के सम्बन्ध में लिखा है-शिवजी के समान कहीं कोई दानी नहीं है। वह दीनों पर दया करते हैं, उन्हें एक देना ही अच्छा लगता है भिखमंगे ही उन्हें सदा सुहाते हैं। योद्धाओं में अग्रगण्य कामदेव को भस्मकर उसकी स्त्री रति का विरह विलाप देखकर जिन शिवजी ने फिर उसे संसार में रहने दिया-उन स्वामी का प्रसन्न होकर कृपा करना मुझसे कैसे कहा जा सकता है। बड़े बड़े ऋषि मुनि अनेक प्रकार का योगाभ्यास कर विष्णु भगवान् से जिस मोक्ष के मांगने में संकोच करते हैं, वह परमगति त्रिपुर संहारक शिवजी की पुरी में कीट पतंग तक पा जाते हैं वह वेदों में भी प्रकट है ऐसे ऐश्वर्यवान् परमदानी पार्वती वल्लभ शिव को छोड़कर जो लोग इधर उधर मांगने के लिए दौड़ते हैं, उन मूर्ख भिखमंगों का पेट कहीं भी भली भांति नहीं भरता, सदा दाने दाने को मोहताज रहते हैं।[1]

राम काव्य धारा के कवियों के सदृश कृष्ण काव्य धारा के कवियों ने भी अपने इष्टदेव में दान पारमिता की प्रतिष्ठा की है। सूरदास ने जहाँ पर अपने वासुदेव के लोकोत्तर गुणों का वर्णन किया है वहाँ पर उन्होंने दान पारमिता की पराकाष्ठा भी दिखाई है उन्होंने लिखा है—सूर के इष्टदेव भगवान् कृष्ण ऐसे दानी हैं कि उन लोगों को भी कृपादान देते है जिन्होंने कभी

१—दानी कहु संकर सम नाही।

दीन दयाल दियोई भावै, जाचक सदा सोहाई।
मारि के मार थप्यो जग में, जाकी प्रथम रेख भट माही।
ता ठाकुर को रीझि निवाजिबो कह्यो क्यों परत मो पाही।
जोग कोटि करि जो गति हरिसों, मुनि मांगत सकुचाही।
वेद विदित तेहि पद पुरारि पुर कीट पतंग समाही।
ईस उदार उमापति परिहरि, अनत जे जाचन जाही।
तुलसीदास ते मूढ़ मागने, कबहु न पेट अघाही।

विनय पत्रिका पृ० ५५

कोई पुण्य नहीं किए है।[1] इस प्रकार मैं कह सकती हूं कि मध्ययुगीन साहित्य पर दान पारमिता का अच्छा प्रभाव पड़ा है।

शील पारमिताः—शील शब्द का प्रयोग यहाँ पर कुछ विशेष अर्थ में दिया गया है। वह अर्थ है कुत्सित कर्मों से विरक्ति रखनी और अच्छे कर्मों के प्रति सद्भाव रखना। मध्ययुगीन साहित्य पर दानपारमिता के सदृश शील पारमिता का भी अच्छा प्रभाव दिखाई पड़ता है। निर्गुण कवियों में शील पारमिता के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। उदाहरण के लिए हम कबीर का एक उद्धरण ले सकते हैं। कबीर कहते हैं—इस संसार का खेल अजब है, यह झूठ को पकड़कर उससे प्रेम करता है जब कि यह अनुचित है। इसके विपरीत सत्य से घृणा है। सत्य की चर्चा करते ही वह इस प्रकार तिलमिला उठता है जैसे कि सर्प जाग गया हो। ऐसे मूर्ख लोग भगवान को पहचानते नहीं हैं और पत्थर के भगवान कहते हैं। वे चैतन्य की उपासना छोड़ कर जड़ की पूजा में लगे रहते हैं[2] इत्यादि।

सूफी काव्य धारा के कवियों में हमें शील पारमिता के उदाहरण कुछ कम मिलते है। उसका कारण सम्भवतः यह था कि उन्होंने अधिकतर प्रेम कथाएँ ही लिखी हैं। प्रेम कथाओं में शील पारमिता की अभिव्यक्ति के लिए बहुत कम अवकाश रहता है।

शील पारमिता के सुन्दर उदाहरण हमें राम काव्य धारा के कवियों में मिलते हैं। तुलसी की विनय पत्रिका तो इस प्रकार के पदों से भरी पड़ी है। एक पद इस प्रकार है—क्या मैं कभी इस रहनी से रहूंगा। क्या कृपालु श्री रघुनाथ जी की कृपा से कभी मैं सन्तों का सा स्वभाव प्राप्त कर सकूंगा।

१—वासुदेव की बड़ी बड़ाई।
जगत पिता, जगदीस, जगत गुरू, निज भक्तनि की सहत ढिठाई।
बिनु दीन्हें ही देत प्रभु, ऐसे हैं जदुनाथ गुसाई।
सूर सागर पृ० २

२—अजब आचरण संसार का खेल है।
झूठ को थामि के प्रेम लागै।
साच के कहे कछु जात है तुरत ही।
उठै भिन्नाई ज्यों फनिक जागै।
पाथर को सुर कहै ईसुर नाहीं लखै।
जड़ को सेवै चैतन्य त्यागै।
क० सा० की ज्ञान गुदड़ी पृ० ४१

सन्तों के समान ही जो कुछ मिल जायगा उसी से सन्तुष्ट रहूंगा। सन्तों के सदृश ही दूसरों से कुछ पाने की इच्छा नहीं करूंगा। उनके समान ही सदैव भले कार्यों में तत्पर रहूंगा और नियमपूर्वक जीवन व्यतीत करूंगा। कानों से कठोर और असह्य वाणी सुनकर भी क्रोधाग्नि में नहीं जलूंगा। किसी से सम्मान की इच्छा नहीं करूंगा। दूसरों के दुर्गुणों को भी नहीं देखूंगा। संसार के समस्त दुःख सुखों को एक समान देखूंगा। हे भगवान् क्या कभी ऐसा दिन आयेगा जबकि मेरी संत जीवन व्यतीत करने की इच्छा पूरी होगी।[1]

कृष्ण काव्य धारा के कवियों में भी हमें शील पारमिता के उदाहरण मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए हम सूर का निम्नलिखित पद ले सकते हैं। वह अपने मन को सम्बोधित करते हुऐ कहते हैं-मन तू विषयों में अनुरक्त होना छोड़ दे। उनमें तेरा अनुरक्त होना सुए के सेमल के सदृश है जिस प्रकार सुआ सेंमल को देखकर खुश होता है किन्तु वहां उसके हाथ कुछ नहीं लगता। इसी प्रकार इस संसार के सुख प्रत्यक्ष देखने में मधुर लगते किन्तु परिणाम में सारहीन हैं। यहां के कनक और कामिनी आदि के आकर्षण सर्वथा निरर्थक हैं। सूरदास कहते हैं कि हमें सद्गुरु ने यही उपदेश दिया है कि संसार की समस्त विषय वासनाओं को त्याग कर राम नाम में मन को लीन कर दे।[2]

१—कबहुक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपाल कृपा ते संत सुभाव गहौंगो।
जथालाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरन्तर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान सम सीतल मन परगुन नहिं दोष कहौंगो।
परिहरि देह जनित चिन्ता दुख सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसीदास प्रभु यहिपथ रहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो।
विनय पत्रिका पृ० ३४१

२—रे मन छाड़ि विषय को रांचिबो।
कत तूं सुवा होत सेमर को, अंतहि कपट न बचिबो।
अन्तर गहत कनक कामिनि को हाथ रहैगो पचिबो।
तजि अभिमान राम कहै बौरे नतरूक ज्वाला तचिबो।
सतगुरू कह्यो, कहो तो सों हौं, राम रतन धन सांचिबो।
सूरदास प्रभु हरि सुमिरन बिनु जोगी कपि ज्यों नचिबो।
सूरसागर पृ० ३३

शील पारमिता की प्रतिष्ठा मध्ययुगीन कवियों ने केवल साधक पक्ष में ही नहीं की है। जैसा कि ऊपर के उद्धरणों में दिखाया गया है साध्य पक्ष में भी उसकी अवस्थिति दिखलाई पड़ती है। विस्तार भय से मैं उस पक्ष के उदाहरण नहीं दे रहीं हूं।

क्षांति पारमिता—इस पारमिता का अभ्यास राग द्वेष आदि के दमन के लिए किया जाता है। क्षांति का सामान्य अर्थ क्षमा होता है। इसके तीन भेद बतलाए गए हैं—दुःखादिवासना क्षांति, परापकार मर्षण क्षांति, धर्म निदयान क्षांति। पहली क्षांति वह है जहाँ पर बहुत बड़े अनिष्ट की संभावना होने पर भी मन में किसी प्रकार की विक्षिप्ति न पैदा हो। दूसरे प्रकार की क्षांति वह है जो दूसरे के द्वारा अपकार किए जाने पर भी मन को स्थिर बनाए रहती है ऐसी अवस्था में मन प्रसन्न रहता है। तीसरी क्षांति धर्माभ्यास या समाधि जनित है। मध्ययुगीन कवियों ने सन्तों के जहाँ लक्षण दिए हैं या उनकी समाधि या ब्रह्मानन्द की अवस्था का वर्णन किया है वहाँ पर क्षांति पारमिता के दर्शन होते है।

सन्तों ने क्षांति पारमिता को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया है। क्षांति के पर्याय क्षमा का उल्लेख करते हुए कबीर ने लिखा है—जिस सन्त में क्षमा होती है वह उसके क्रोध का संहार कर डालती है। उनका कहना है कि ऐसे क्षमाशील सन्त को कोई किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकता।[1] इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर उन्होने यहाँ तक लिखा है—जहाँ क्षमा होती है वहां पर परमात्मा स्वयं निवास करता है इसके विपरीत जहाँ पर क्रोध होता है वहाँ पर काल का वास रहता है।[2]

कहीं कहीं पर सन्तों में क्षांत पारमिता के भेदों से सम्बन्धित उदाहरण पाए जाते हैं। उदाहरण के लिए हम कबीर का निम्नलिखित उद्धरण दे सकते हैं। कबीर कहते हैं—सच्चा साधु आठों पहर ब्रह्मानुभूति में मस्त रहता है। हर समय वह संतोष और आनन्द का रसपान करता रहता है। सदैव

१—छिमा क्रोध को छम करै, जो काहू पै होय।
कह कबीर तह दास को, गंजि न सक्कै कोय॥
क० सा० सं० भाग १, २ पृ० १४७

२—जहां दया तहं धर्म है, जहां लोभ तहं पाप।
जहां क्रोध तहं काल है, जहां छिमा तहं आप॥
क० सा० सं० पृ० १४७

ब्रह्मानन्द में मग्न रहता है, वह सत्य ही बोलता है, सत्य को ही ग्रहण करता है, सब प्रकार से निर्भय रहता है। उसको जन्म मरण का भय नही सताता है।[१] सन्त का यह वर्णन धर्म निध्यान क्षांति का अच्छा उदाहरण है।

सूफी कवियों ने भी अपने साधकों में क्षांति पारमिता की प्रतिष्ठा की है। इसके उदाहरण में हम जायसी की निम्नलिखित पंक्तियाँ ले सकते हैं। इन पंक्तियों की कथात्मक पृष्ठभूमि इस प्रकार है। रत्न सेन तथा उसके साथी जब सिंहगढ़ में प्रविष्ट हुए तब गन्धर्वसेन बहुत क्रोधित हुआ और उसके दमन के लिए उसने एक लम्बी चौड़ी सेना भेजी। उस सेना को देखकर रत्नसेन के साथी क्रुद्ध होकर युद्ध के लिए तैयार होने लगे। इस पर रत्नसेन उनको समझाते हुए कहता[२] है—अय अनुगामियों तुम्हे सच्चा सिद्ध बनने की चेष्टा करनी चाहिए प्रेम मार्ग मे प्रवेश करने के बाद क्रोध करना अनुचित है[२] इत्यादि।

सन्तों और सिद्धों को यदि उनकी कोई गर्दन काटना चाहे तो अपनी

१—आठ हूं पहर मतवाल लागी रहै।
आठ हूं पहर की छाक पीवै।
आठ हूं पहर मस्तान माता रहै।
ब्रह्म को छौल में साध जीवै।
सांच ही कहतु औ सांच ही गहतु।
कांच को त्याग करि सांच लागा।
कहै कबीर यों साध निर्भय हुआ।
जनम और मरन का भर्म भागा।
कबीर साहब की शब्दावली भाग १ पृ० १०१

२—गुरू कहा चेला सिध होहू। पेम वार होइ करहु न कोहू।
जाकहं सीस नाइ कै दीजै। रंग न होइ ऊभ जो कीजै।
जेहि जिउ पेम पानि भा सोई। जेहि रंग मिलै ओहि रंग होई।
जो पै जाइ पेम सौं जूझा। कित तप मरहि सिद्ध जो बूझा।
एहि सेंति बहुरि जूझ नहिं करिए। खडग देखि पानी होइ ढरिए।
पानिहि कहा खडग कै धारा। लौटि पानि होइ सोइ जो मारा।
पानी सेंती आगि का करई। जाइ बुझाइ जो पानी परई।
पदमावत पृ० १०४

गर्दन झुका देनी चाहिए। जो सन्त इस प्रकार की क्षांति का परिचय नहीं देते हैं उनको शोभा नहीं होती है। जिसके हृदय में प्रेम जाग्रत हो जाता है वह जल के सदृश द्रवशील और शीतल रहता है। जैसी परिस्थिति होती है वह वैसा ही सब कुछ सहन करते हुए आचरण करता है। यदि प्रेम मार्ग में पदार्पण करने के बाद भी प्रतिहिंसा पूर्वक युद्ध करने की प्रवृत्ति बनी रहे तो सिद्धों का तपस्या करना व्यर्थ है। इसीलिए युद्ध कभी नहीं करना चाहिए। और जो युद्ध करने आवे उसकी तलवार के लिए जलरूप हो जाना चाहिए जिस प्रकार तलवार जल को काटने में असमर्थ रहती है उसी प्रकार सन्तों को मारने में भी असमर्थ रहती है। पानी का आग क्या बिगाड़ सकती है। यदि वह पानी पर आक्रमण करेगी तो वह स्वयं ही बुझ जायेगी।

राम काव्य धारा के कवियों में भी क्षांति पारमिता के उदाहरण मिलते हैं। तुलसी ने जहाँ पर अरण्यकाण्ड के अन्त में सन्तों के लक्षणों का उल्लेख किया है उनमें वहाँ क्षमा भी है। उन्होने लिखा है—सन्त जप, तप, व्रत, दम, संयम और नियम में रत रहते है और गुरू गोविन्द तथा ब्राह्मणों के चरणों में प्रेम करते हैं उनमें श्रद्धा, क्षमा, मैत्री मुदिता आदि गुण पाए जाते हैं।[1]

कृष्ण काव्य धारा के कवि भी क्षांति पारमिता के महत्व से परिचित थे। खोज करने पर उनमें भी उसके उदाहरण मिल जांयगें। किन्तु विस्तार भय से अब यहाँ पर उनके उद्धरण उद्धृत नही कर रही हूँ।

वीर्य पारमिता—वीर्य का अर्थ है कुशल कर्मों के प्रति उत्साह का होना, जब साधक की प्रवृत्ति सम्बोधि में प्रविष्ट हो जाती है तब उसमें स्वमेव कुशल कर्मों के प्रति आकर्षण पैदा हो जाता है। उस आकर्षण से उसके हृदय मे एक विचित्र उत्साह पैदा हो जाता है। मध्ययुगीन कवियों में वीर्य पारमिता की छाया भी मिलती है। उदाहरण के लिए मैं तुलसी का निम्नलिखित पद ले सकती हूँ।

कबहुक हौ येहि रहिनि रहौगों।
श्री रघुनाथ कृपाल कृपा ते संत स्वभाव गहौगों।
जथा लाभ संतोष सदा, काहू सो कछु न चहौगों।

१—जप तप व्रत दम संजम नेमा। गुरू गोविन्द विप्र पद प्रेमा।
श्रद्धा छमा मैत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया।
मानस पृ० ७५२

परहित निरत निरन्तर मन, क्रम वचन नेम निबहौगों।
पुरुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर गुन नहि दोष गहौगों।
परिहरि देह जनित चिन्ता, दुःख सुख समबुद्धि सहौगों।
तुलसी दास प्रभु यहि पन्थ रहि अविचल हरि भक्ति लहौगों।[१]

मध्ययुगीन कवियों से वीर्य पारमिता के और भी अनेक उदाहरण लिए जा सकते हैं। विस्तार भय से यहाँ उनको उद्धृत नही कर रही हूँ।

ध्यान पारमिता—समाधि में चित्त मन केन्द्रित करना ही ध्यान पारमिता है। सन्तों की रचनाओं में हमें ध्यान पारमिता के बहुत से उदाहरण मिलते हैं कबीर की बानी से एक उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है।

सील संतोष ते सबद जा मुख बसै, सन्त जन जौहरी सांच मानी।
बदन बिकसित रहै ख्याल आनन्द मे, अधर में मधुर मुसकात बानी।
साच डोले नही झूठ बोलै नही, सुरति में समति सोई श्रेष्ठ ज्ञानी।[२]

मध्ययुगीन कवियों मे इस प्रकार के बहुत से उदाहरण मिलते है।

प्रज्ञा पारमिता—चित्त के एकाग्र हो जाने पर प्रज्ञा का प्रादुर्भाव हो जाता है। प्रज्ञा अविद्या की विनाशिका है। दुःख और भय का कारण अविद्या ही हैं। उस अविद्या का निराकरण करने वाली प्रज्ञा है। प्रज्ञा अज्ञान का बोध भी कराती है। प्रज्ञा का उदय होने पर साधक को सब धर्मों का ज्ञान हो जाता है। इसी अवस्था में संसार स्वप्नवंत् मिथ्या और अलोक प्रतीत होता है।[३]

दूसरे शब्दों में मैं यह कह सकती हूँ कि प्रज्ञा ज्ञानोदय की अवस्था है। इस अवस्था का वर्णन करते हुए कबीर ने लिखा है—

कहै कबीर सुख साहबी सो करै, सरन और झूठ को भेद पावै।
चीन्ह अपनपो आप ही होइ रहै, मर्म ते मुक्त होइ विमल गावै।
फहमकरू फहमकरू फहमकरू माने यह, फहमबिनु फिकिर नही मिटे तेरी।
सकल उजियार दीदार दिल बीज है, सोक और जोक सब मौज तेरी।

१—विनय पत्रिका पृ० १७२
२—कबीर साहब की ज्ञान गुदड़ी पृ० ३८
३—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० १५६

बोलता अलमस्त मस्तान महबूब है, इनसे अब्बल कहू कौन केरी।
एक ही नूर दरियाव भर देखिए, फैल वह रहा सब सृष्टि मेरी।[1]

इसी प्रकार संसार के मिथ्यात्व के भी बहुत से वर्णन मिलते हैं। उनको मैं स्वप्नवाद के प्रसंग में उल्लेख कर चुकी हूँ अतः यहाँ पर पिष्ट पेषण नहीं करना चाहती हूँ।

जायसी आदि सूफी कवियों में प्रज्ञा का प्रभाव साक्षात्कार की अवस्था के रूप में भी दिखाई पड़ता है। जब साक्षात्कार होता है तभी सच्ची आस्तिकता का उदय होता है। यह सच्ची आस्तिकता प्रज्ञा की अवस्था में ही होती है। जायसी तो प्रज्ञा को इतना अधिक महत्व देते थे कि उन्होंने अपनी नायिका को बुद्धि प्रज्ञा का प्रतीक ही कहा है और उसके साक्षात्कार की अवस्था का निम्नलिखित पंक्तियों मे सुन्दर वर्णन मिलता है।

कहा मान सर चाह सो पाई।
पारस रूप इहाँ लगि आई॥
भा निरमल तिन्ह पायन्ह परसे।
पावा रूप रूप के दरसे॥
मलय-समीर बास तन आई।
भा सीतल गै तपन बुझाई॥
न जनौ कौन पौन लेइ आवा।
पुन्य दसा भै पाप गंवावा॥
ततखन हार बेगि उतराना।
पावा सखिन्ह चंद विहंसाना॥
बिगसा कुमुद देखि ससि रेखा
भै तहं ओप जहां जोइ देखा
नयन जो देखा कंवल भा, निरमल नीर सरीर।
हंसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर॥[2]

इसी प्रकार एक दूसरा उदाहरण इस प्रकार है—
देखि मानसर रूप सुहावा। हिय हुलास पुरइन होइ छावा॥
गा अंधियार रैन मसि छूटी। भा भिनसार किरनि रवि फूटी॥

१—कबीर साहब की ज्ञान गुदड़ी पृ० ४३
२—पदमावत पृ० २५

अस्ति अस्ति सब साधी बोले। अन्ध जो अहै नैन विधि खोले ॥
कंवल विगस तस विहंसी देही। भौंर दसन होइ कै रस लेही ॥
हंसहिं हंस और करहिं किरीरा। चुनहिं रतन मुक्ताहल हीरा ॥
जो अस आव साधि तप जोगू। पूजै आस मान रस भोगू ॥
भौंर जो मनसा मानसर लीन्ह कंवल रस आई।
धुन जो हियाव न कै सका झूर काठ तस खाई ॥[१]

यह सब वर्णन प्रज्ञा पारमिता की अवस्था के हैं।

गीता में स्थितप्रज्ञ के जो वर्णन मिलते हैं वह बौद्धों की प्रज्ञा पारमिता के ही प्रतीक हैं। मध्ययुगीन कवियों ने सन्तों के जो वर्णन दिए हैं उनमें प्रज्ञा पारमिता या स्थितप्रज्ञ के लक्षण मिलते हैं। तुलसी ने भक्तों और सन्तों के जो वर्णन लिखे हैं उन पर प्रज्ञा पारमिता का प्रभाव भी मिलता है। तुलसी की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

गावहि सुनहि सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला
मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहि सारद श्रुति जेते।[२]

इस प्रकार के बहुत से उदाहरण तुलसी की रचनाओं में मिलते हैं एक दूसरा उदाहरण इस प्रकार है—

विषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुःख दुःख सुख सुख देखे पर ॥
सम अभूत रिपु विमद विरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी ॥
कोमल चित्त दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया ॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी ॥
बिगत काम मम नाम परायन। साति विरति बिनती मुदितायन ॥
सीतलता सरलता मयत्री। द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री ॥[३]

ऊपर संत के जो लक्षण दिए है वह स्थितप्रज्ञ या प्रज्ञा पारमिता का पहुँचे हुए संत के है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्धों की भक्ति का मध्ययुगीन हिन्दी का भक्ति धाराओं पर पूरा पूरा प्रभाव पड़ा है।

१—पदमावत पृ० ६७
२—मानस पृ० ७५२
३—मानस पृ० १०६४

बौद्ध धर्म में तप और वैराग्य का महत्व

बौद्ध धर्म में तप और वैराग्य की विशेष चर्चा मिलती है।[1] दुःखवाद बौद्ध धर्म की मूल भित्ति है। इस दुख का निराकरण करने के लिए जिस मार्ग का निर्देश इस धर्म में किया गया था उसमें तप की अपेक्षा वैराग्य की महत्ता अधिक थी। हम पीछे कह चुके हैं कि बौद्ध धर्म मध्यमार्गीय है। बौद्ध धर्म में जहाँ एक ओर भौतिक सुखवाद के प्रति उपेक्षा प्रकट की गई है वहीं कठोर काया क्लेश के प्रति भी उनकी कोई आस्था नहीं दिखाई पड़ती। वे लोग दोनों को ही दुख रूप मानते थे। बौद्ध लोग आतिशय्य को ही दुख का कारण बताते थे। तप भी एक प्रकार का आतिशय्य ही है। अतः वे उसको भी दुख रूप मानते थे। मज्झिम निकाय[2] में जहाँ पर पुरुषों की चर्चा की गई है वहां तीन प्रकार के पुरुष बताए गए हैं। एक वे जो अपनी आत्मा को कष्ट देते हैं, दूसरे वे जो दूसरों को कष्ट देते हैं और तीसरे वे जो न तो अपने को कष्ट देते हैं और न दूसरों को ही कष्ट देते हैं। बौद्ध लोग इस तीसरे को ही महत्त्व देते हैं। मज्झिम निकाय[3] में एक स्थल पर वैराग्य के लिए बनवास करने की प्रवृत्ति के प्रति कटाक्ष किया है। संयुक्त निकाय[4] में एक छोटी सी कविता है। उसमें भगवान बुद्ध की उस प्रसन्नता की अभिव्यक्ति की गई है जिसकी अनुभूति उन्होने अपनी प्रारम्भिक घोर तपस्या के त्याग के बाद की थी। सम्बोधि प्राप्त करने के पूर्व उन्होंने अत्यन्त कठिन तपस्या की थी। किन्तु उस तपस्या से उन्हें सम्बोधि नही प्राप्त हुई थी। सम्बोधि की प्राप्ति उन्हें तपस्या के पश्चात् शान्त भाव से विचार करने पर हुई थी। इस कविता में भगवान् बुद्ध ने कठिन तपस्या की कटु निन्दा की है। इसी प्रकार महावग्ग[5] में भी काया क्लेश की उग्र निन्दा की गई है। बौद्ध विहारों और मठों की व्यवस्था का यदि अध्ययन किया जाय तो पूर्ण स्पष्ट हो जायगा कि उनकी सारी व्यवस्था इस ढंग पर की गई थी कि बौद्धभिक्षुओं को किसी प्रकार का शारीरिक कष्ट न हो। महावग्ग में तो एक स्थल पर यहां तक लिखा है कि बौद्ध भिक्षुओं का नंग धड़ंग घूमना और अकारण शरीर को कष्ट देना बहुत

१—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग २ पृ० ७०
२—मज्झिम निकाय पृ० १।१४१, ४१; तथा २।१५९
३—मज्झिम निकाय पृ० १।४६९
४—संयुक्त निकाय पृ० ३।१०३
५—महावग्ग पृ० ५।१।१६
६—महावग्ग पृ० ६।११।१४

बड़ा अपराध है। इस प्रकार बौद्ध धर्म में कठोर तपस्या को किसी प्रकार भी उपादेय नहीं बतलाया गया है।

तपस्या के प्रति इतना अधिक उपेक्षाभाव प्रकट करते हुए भी बौद्ध धर्म सन्यास और वैराग्य प्रधान ही बना रहा। धम्मिकसुत[1] में भगवान बुद्ध ने स्पष्ट लिखा है कि गृहस्थ को यदि वह बहुत उत्तम स्वभाव का हुआ तो स्वप्रकाशादि उत्तम लोकों की भी प्राप्ति हो सकती है किन्तु निर्वाण की प्राप्ति तभी होगी जब वह गृहस्थ आश्रम को परित्याग करके भिक्षु धर्म स्वीकार करेगा। इसी प्रकार तेविज्जसुत[2] में वैदिक ब्राह्मणों से तर्क करते हुए अपने सन्यास मार्ग की प्रतिपादना करते हुए भगवान बुद्ध कहते हैं कि भाई जब तुम्हारे ब्रह्म के बालबच्चे नहीं हैं तो तुम क्यों बालबच्चों के चक्कर में पड़े रहते हो। तुम्हें उसकी प्राप्ति कैसे होगी? भगवान बुद्ध ने सन्यास का उपदेश ही नहीं दिया था। उन्होंने स्वयं सन्यास लेकर सन्यास मार्ग को चरितार्थ भी कर दिया था। आगे चल कर भगवान बुद्ध की यह सन्यास वाली धारणा थोड़ी शिथिल पड़ चली। मिलिन्दप्रश्न[3] में नागसेन ने मिलिन्द से कहा था कि गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी निर्वाण पद को प्राप्त कर लेना बिल्कुल असम्भव नहीं है क्योंकि इसके बहुत से उदाहरण प्राप्त हैं।

जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट कर चुके हैं कि बौद्ध लोग गृहस्थ आश्रम में रहना श्रेयस्कर नहीं समझते। साथ ही वे घोर तपस्या के भी विरोधी थे। अतएव उन्होंने अधिकतर बन में निवास करने का निषेध किया। फिर भी कहीं कहीं पर सन्यास मार्ग को बल देने के लिए उन्होंने भिक्षुओं के लिए बन में एकान्त निवास की आज्ञा दी है। सुत्तनिपाद[4] के खग्गविसाण सुत्त के ४१वें श्लोक में उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं के संबन्ध में लिखा है कि उन्हें बन में इसी प्रकार एकाकी विचरण करना चाहिए जिस प्रकार गेंडा बन में एकाकी विचरण करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म में यद्यपि सन्यास को विशेष महत्व नहीं दिया गया है फिर भी वह मूलतः सन्यास धर्म है।

मध्ययुगीन कवियों पर बौद्धों के वैराग्य भाव का प्रभाव

बौद्ध धर्म प्रारम्भ में निवृत्तिमार्गीय धर्म था किन्तु उसकी निवृत्ति धारणा वैदिकों के निवृत्ति भाव से सर्वथा भिन्न थी वैदिक धर्म के संसार को त्यागकर जंगल जाकर तपस्या करने को ही वैराग्य का सच्चा स्वरूप मानते थे। किन्तु

१—धम्मिक सुत्त पृ० १७।२९
२—तेविज्ज सुत्त पृ० १।३५ तथा ३।५
३—मिलिन्द प्रश्न पृ० ६।२।४
४—सुत्तनिपात् तथा खग्गविसाण सुत्त का ४१ वां श्लोक

बौद्धों का दृष्टि कोण सर्वथा..मध्यममार्गीय था। वे न तो शरीर से संसार त्यागने में विश्वास करते थे और न शरीर से उसका उपभोग करने में ही औचित्य मानते थे। उनके इस दृष्टिकोण को मैं ऊपर सम्यक् रूप से स्पष्ट कर आई हूँ। उनके इस दृष्टिकोण का प्रभाव मध्ययुगीन हिन्दी कवियों पर विशेषकर सन्तों पर प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है।

सन्तों की वैराग्य सम्बन्धी धारणा बिल्कुल बौद्धों के सदृश थी। बौद्धो के सदृश ही सन्तों की भी यही धारणा थी कि यदि मन से विकार दूर नही हों तो फिर बन में रहना व्यर्थ है। कबीर का एक कथन बिल्कुल इसके अनुरूप है। वे लिखते है-यदि मन विकारों से विमुक्त नही हुआ है तो फिर बन में जाकर तपस्या करना व्यर्थ है। वास्तव में सच्चे वैरागी वे होते है जो घर में उसी प्रकार की विरक्ति से जीवन यापन करते हैं जिस प्रकार की विरक्ति के लिए वे बन में जाते हैं। किन्तु इस प्रकार के वैरागी बहुत कम होते है।[1] सन्त लोग विवेकहीन ढंग से स्त्री घरवार छोड़कर बन में जाकर समाधि लगाने को व्यर्थ समझते थे। कबीर कहते हैं जो स्त्री तथा घरवार को छोडकर बन वैराग्य ग्रहण कर वन में जाकर समाधि लगाते हैं और इंगला पिंगला की साधना करते हैं और तीर्थों में भ्रमित होते फिरते हैं और द्वारिका आदि में जाकर देह को दग्ध करते हैं उनके हाथ कुछ नहीं लगता।" इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर कबीर ने ही लिखा है—बाहर से तो वैरागी बने हुए हैं किन्तु मन वैरागी नहीं हुआ है। राग सदैव सताता रहता है। काम क्रोधादि में पंच विकारों में फंसकर सत्य को त्याग बैठे हैं अपनी इन्द्रियों के स्वार्थ में फंसे रहते हैं ऊपर से तो निर्गुण राम का नाम लेते हैं किन्तु अन्दर से मूर्ति पूजादि में पड़े रहते है तथा शिष्य और पंथ प्रवर्तन के चक्कर में पड़े रहते हैं। सन्त कबीर कहते है कि

१—बनह बसे का कीजिए जो मन नहि तजै विकार।
घर बन ततसम जिनि किया ते बिरला संसार॥

क० ग्र० पृ० १९०

दारा गृह छोडि उदास फिरै बन खण्ड में जाय समाधि लगावै।
इंगला पिंगला सुषमना ध्यान झिलमिल ज्योति मध्य पागै॥
तीरथ मे नित भरमि फिरे द्वारिका जाइ कर देह दागै।
कबीर कहै के विवेक बिना कछु नहि बन्दे हाथ लगै॥

क० सा० की ज्ञान गुदड़ी पृ० ५९

ऐसे लोगों की क्या गति होगी वह 'ईश्वर ही जानता है'[१]। कबीर के शब्दों में सच्चा वैरागी वही है जिसने बन और गेह की वासना नष्ट कर दी है[२] और सब प्रकार दुविधा त्याग दी है।[३] वे तन वैरागी करने के कट्टर विरोधी थे[४] उनका कहना था वैरागी साधु को संसार में पद्मपत्र इवाम्भसा रहना चाहिए।[५] उनकी दृष्टि में सच्चे वैरागी का स्वरूप इस प्रकार का होता है—

> ऐसी रहनि रहो वैरागी।
> सदा उदास रहे माया से सत नाम अनुरागी ॥
> छिमा की कंठी सील सरोनी सुरति सुमरिनी जागी ॥
> टोपी अभय भक्ति माथे पर काल कल्पना त्यागी ॥
> ज्ञान गुदरी मुक्ति मे खला सहज सुई तागी ॥
> जुगति जमाति कबरि करनी अनहद धुनि लौ लागी ॥
> सब्द अधार अधारी केहि मखि दया की मांगी ॥
> कहै कबीर प्राप्ति सत गुरू से सदा निरन्तर तागी ॥[६]

१—कहत वैराग्य और राग छूटै नही।
पांच को राचिकर सांच खोया।
इन्द्री स्वारथ को सबक अनुभव कथै।
पंथ को थाव करिजबि छोया।
नाम निरगुन कहै रहै सरगुन महो।
तिष्य साखी को मूल घेरी।
कहै कबीर जब काल गढ घेरि है।
कौ है जीव की गति तेरी।
क० सा० की ज्ञान गुदड़ी पृ० १७

२—बन गेह की वासना नास करै, कबीर सोइ वैरागी है।

३—सोइ वैरागी जिन दुविधा खोई।
कबीर शब्दावली भाग ३ पृ० ३१

४—तन वैरागी न करो मन हाथ न आवै।

५—है साधु संसार न करो कवला जल माही।
सदा सर्वदा संगर है जस परसत नाही॥
कबीर शब्दावली भाग ३ पृ० ३१

६—कबीर ग्रन्थावली भाग ३ पृ० ३९

इस प्रकार हम देखते हैं सन्त लोग जिस वैराग्य भाव के समर्थक थे वह बहुत कुछ सदाचार मूलक और मानसिक था।

जिस प्रकार सन्त लोग वाह्य और आडम्बरी वैराग्य में विश्वास नहीं करते थे उसी प्रकार वे अकारण शरीर को कष्ट देने में भी विश्वास नहीं करते थे। कबीर की स्पष्ट घोषणा थी कि मैं शरीर को कष्ट देकर और भूखे रहकर पूजा और उपासना नहीं कर सकता आपकी माला यह रखी है[1]। सन्तलोग व्यर्थ की तपस्या के भी विरोधी थे। यह बात कबीर के उन उद्धरणों से स्पष्ट व्यंजित है जिसमें उन्होंने अपने युग के उन साधुओं की खिल्ली उड़ाई है जो मिथ्या तपस्या से अपने शरीर को कष्ट देते थे। एक उदाहरण इस प्रकार है:—

जटाधारी घने जती जोगी बने, मुदरा पहिरि के कानफारी।
नग्न नागा रहे सब लज्जा तजे अज कछोट कसि काम जारी।
एकै। छेदि अजूज तन घूंघरू बाँधि कै स्वांग केते कहूं गर्वधारी।
एकै। अकास मौनी मुखी उर्धबाहू नखी, भये थाने स्वरी दमकारी।
एकै। बाँधि पग खम्भ में अधोमुख झूलिया, धूम घूंटै तन कष्ट कारी।
एकै। लोन छाड़ि के भये हे अलोनिया, गड़ि रहे गुफा मे लाइतारी।
एकै। तिलक माला धरै मूरति पूजा करैं संख धुनि आरती जोतिवारी।
सेवा कीन्हा सही देव चीन्हा नहीं, आत्मा राम तजि जड़ पूजाकारी।
पुजि पाषान अभिमान अंधा हुआ चित्त चैतन्य ते बचि दारी[2]। इत्यादि

इस प्रकार के वर्णनों से स्पष्ट प्रमाणित है कि सन्त लोग बौद्धों के सदृश निवृति मार्गीय होते हुए भी कठोर वाह्याडम्बर प्रधान साधना और तपस्या में विश्वास नहीं करते थे।

सूफी धारा के कवियों की वैराग्य साधना बौद्धो से प्रभावित न होकर सूफियोंमे प्रभावित थी। उन्होने अपने साधक पात्रों को घरबार छोड़कर जोगी बनकर अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिए निकलते हुए चित्रित किया है। वे अपने साधना मार्ग में अनेक कष्टों का सामना भी करते हैं। यह सब बातें बौद्ध विचार धारा के विरुद्ध हैं।

१—भूखे भगति न कीजे, यह माला अपनी लीजे।

क० ग्रं० पृ० ३२४

२—क० सा० की ज्ञान गुदड़ी पृ० १३

बौद्धों के वैराग्य भाव की छाया राम काव्य धारा के कवियों पर भी दिखाई पड़ती है। राम बौद्धों के वैराग्य भाव से तुलसी आदि कवियों से बहुत अधिक पहले ही प्रभावित हो चुके थे। योग वशिष्ठ के राम पूर्ण बौद्ध प्रतीत होते हैं। तुलसी आदि के सामने योग वशिष्ठ के राम वर्तमान थे। अतएव उनका उनसे प्रभावित होना बड़ा स्वाभाविक था।

राम काव्य धारा के कवियों ने भी वैराग्य को महत्व दिया है। तुलसी ने वैराग्य धर्मानुरक्ति का-कारण बताया है—मानस में वे लिखते हैं—विप्र पूजा से विषयों के प्रति वैराग्य होता है वैराग्योदय होने पर ही मेरे धर्म में प्रेम उत्पन्न होता है। तब श्रवण आदि नौ प्रकार की भक्ति दृढ़ होती है और मन से मेरी लीलाओं के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है।[1] एक दूसरे स्थल पर तुलसी ने विविध साधनों के अन्तर्गत वैराग्य की भी गणना की है—उत्तरकाण्ड में उन्होने एक स्थल पर लिखा है—जप तप मख सम दम व्रत दान विरति विवेक जोग विज्ञान सब का फल रघुनाथ जी के चरणों में भक्ति होना है। भगवद्भक्ति सब कल्याणों की जड़ है।[2]

तुलसी वैराग्य को इतना अधिक महत्व देते थे कि उन्होंने अपने भक्ति पथ को भी विरति विवेक से विशिष्ट किया है। उनकी "श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ संयुत विरति विवेक" अर्धाली इसका प्रमाण है। इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट प्रगट है कि तुलसी पर भी बौद्धों के विराग भाव का थोड़ा प्रभाव पड़ा था

वैराग्य के महत्व से कृष्ण काव्य धारा के रसिक कवि भी अपरिचित न थे। सूर ने जहाँ हरि के जन की ठकुराई का रूपक बाँधा है वहाँ वैराग्य को छरा दार कहा है। वह उद्धरण दृष्टव्य है।

> हरि के जन की अति ठकुराई।
> महाराज रिषिराज, राजमुनि देखत रहे लजाई।
> बुद्धि विवेक विचित्र पौरिया समय कबहू न पावै।

१—एहि कर फल पुनि विषय विरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा।
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाही। मम लीला रति अति मन माही।
मानस पृ० ७०९

२—जप तप मख सम दम व्रत दाना। विरति विवेक जोग विज्ञाना।
सब कर फल रघुपति पद प्रेम। तेहि बिनु कोइ न पावहि छेम।
मानस पृ० ११२३

अष्ट महा सिद्धि द्वारे ठाढ़ी, कर जोर डर लीन्हे।
छरी दरी वैराग विनोदी फिरकि बाहिरे कीन्हे।[1]

इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर सूरदास जी ने लिखा है कि गृह, दारा, सुत और सम्पत्ति संसार में किसके सगे होते हैं उनसे प्रेम करना व्यर्थ है।

काको गृह दारा सुत संपति जासों कजि हेत
सूरदास प्रभु दिन उठि मारे यत जस को लेखो देत।।[2]

इसी प्रकार अन्य सन्तों में हमें वैराग्य के प्रति श्रद्धा भाव मिलता है। मध्य युग के कृष्ण काव्यधारा के रसिक कवियों तक में वैराग्य भाव के महत्व और प्रश्रय का कारण बौद्ध प्रभाव ही माना जायगा। सच तो यह है कि बौद्ध निवृत्यात्मकता मध्ययुगीन विचारधारा में प्राण रूप से प्रतिष्ठित हो गई थी। घोर तपस्या वाली बात तो बिलकुल लुप्त हो गई थी।

बौद्ध धर्म में योग साधना

योग साधना बहुत प्राचीन है। जिस समय भगवान बुद्ध का उदय हुआ था, उस समय देश के कोने कोने में योग साधना की प्रतिष्ठा थी। स्वयं भगवान बुद्ध ने भी बोध गया के निर्जन बन में जाकर आस्फानक समाधि[3] का अभ्यास करते हुए अपने शरीर को कष्ट दिया था। यद्यपि बाद में वे उस कष्ट साधना से सहमत नहीं हुए किन्तु इतना अवश्य है कि वे योग के महत्व से अवश्य परिचित हो गए। उन्होंने कष्टसाध्य योग के स्थान पर ध्यान योग को महत्व दिया था। इस ध्यान योग साधना को विज्ञानवादियों ने और भी अधिक विकसित किया। विज्ञानवादी चित्त को ही एकमात्र सत् रूप मानते थे। उसी के अन्दर भव की स्थिति बताते थे। इसीलिए ध्यान के सहारे वे चित्त के अन्दर ही दृश्यमान जगत का साक्षात्कार करते थे। योगाचार के अनुसार साधक को सब से पहले अर्हत शब्द पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ता था। यह शब्द एक बीजाक्षर है। इसके तीनों शब्द

१—सूर सागर पृ० २३

२—सूर सागर पृ० १११

३—'कल्याण' के योगांक में डा० विनयतोष भट्टाचार्य द्वारा लिखित "बौद्ध धर्म में योग" नामक लेख देखिए।

धर्म, बुद्ध और संघ बौद्ध धर्म के इन तीनों रत्नों के वाचक हैं। एक लम्बी ध्यान साधना के पश्चात कहते हैं मन में दो रूप-चित्रों का उदय होता है। एक चित्र कुछ धूमिल होता था और दूसरा उससे स्पष्ट होता था। स्पष्ट चित्र के उदय होने का अर्थ यह था कि साधक का सारा व्यक्तित्व प्रोत्भासित हो उठा। यह स्पष्ट चित्र और कुछ नहीं तेज धातु का ही साक्षात्कार होता था। ब्रह्म वेला में उदय होने वाले शुक्र तारे के सदृश इसकी कान्ति बताई जाती है। इसके बाद आप धातु का उदय होना बताया जाता है। यह आप धातु पूर्ण चन्द्र के सदृश प्रतीयमान होती है। इसके बाद वायु की उत्पत्ति बताई गई। इसका वर्ण दोपहर के सूर्य के सदृश देदीप्यमान होता था। पुनश्च आकाश धातु का उदय दिखाई पड़ता था। इसकी छवि चमेली और कमल की भांति होती थी। साधक नासिका के अग्रभाग से लेकर नाभि तक इन सब का स्थिरीकरण करता था। नाभि के नीचे पृथ्वी तत्व का उदय बताया जाता था। उसके साक्षात्कार के लिए वह हठयोग की साधना करता था। इस प्रकार ध्यान के द्वारा साधक पांचों तत्वों का साक्षात्कार कर उनके तेज को ऊर्ध्वोन्मुखी करके चक्रों में स्थापित करता था।[1] संक्षेप में विज्ञानवादियों की योग साधना का स्वरूप यही है।

'गुह्य समाज तन्त्र' में दिया हुआ योग साधना का स्वरूप

बौद्धों की योग साधना का सर्व प्रथम स्पष्ट स्वरूप हमें 'गुह्य समाज-तन्त्र' में मिलता है। डा० विनयतोष भट्टाचार्य के मतानुसार यह ग्रन्थ तीसरी शताब्दी का है। इस ग्रन्थ के १८वें अध्याय में बौद्ध योग साधना के स्वरूप पर विस्तार से विचार किया गया है। डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने कल्याण के योगांक में लिखित "बौद्ध धर्म में योग" शीर्षक लेख में इसी ग्रन्थ के आधार पर बौद्धों के योग के स्वरूप का निरूपण किया है। यहाँ पर हम उसका उल्लेख कर देना चाहते हैं।

बौद्ध योग का प्रधान लक्ष्य किसी देवता का साक्षात्कार करना बताया गया है। देवता के साक्षात्कार की इसमें चतुर्विध प्रक्रियाएँ बताई गई हैं। उनके नाम क्रमशः शून्यता प्रत्यय, शून्यता का बीज मन्त्र के रूप में परिणाम, बीज मन्त्र का देवता के रूप में बन जाना और देवता का विग्रह के रूप में प्रकट होना है। यह चार भेद सामान्य सेवा के बताए जाते हैं। सामान्य सेवा के अतिरिक्त इसमें उत्तम सेवा की भी चर्चा की गई है। इस उत्तम सेवा में

१—सिद्ध साहित्य पृ० २०८

षडंग योग का विधान किया गया है। इस प्रकार सेवा के इस ग्रन्थ में दो भेद बताए गए हैं। सेवा स्वयं उपाय का एक भेद है। उपाय के अन्य तीन भेदों के नाम क्रमशः उपसाधन, साधन एवं महासाधन हैं।[1]

षडंग योग का स्वरूप

'गुह्य समाज तन्त्र' में जिस षडंग योग की चर्चा की गई है, यहां पर उसका संक्षेप निर्देश कर देना अनुपयुक्त न होगा। षडंग के ६ अंग क्रमशः इस प्रकार हैं[2] —

१—प्रत्याहार
२—ध्यान
३—प्राणायाम
४—धारणा
५—अनुस्मृति
६—समाधि।

प्रत्याहार—जिस क्रिया के द्वारा इन्द्रियों का निग्रह किया जाता है उसे प्रत्याहार कहते हैं। प्रत्याहार के लिए पहले साधक को अष्टांगिक मार्ग जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं, करना पड़ता है। अष्टांगिक मार्ग के अतिरिक्त इस साधना की अवस्था में साधक को जितने भी कुशल कर्म हैं, उनका आचरण और जितने भी अकुशल कर्म हैं उनका बहिष्कार या त्याग करना पड़ता है।

समाधि—समाधि की अवस्था को समझाते हुए विनयतोष भट्टाचार्य ने लिखा है[3] 'प्रज्ञा और उपाय इन दो तत्वों के संयोग से सृष्टि में स्थित समस्त पदार्थ एक पिण्ड के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। उस एक पिन्ड के समस्त बाह्य प्रपंच का ध्यान करने से समाधि रूप अलौकिक ज्ञान की अविलम्ब उपलब्धि हो जाती है।'

यह तो हुई चर्चा उपाय के सेवा नामक भेद के उत्तम सेवा नामक उपभेद की। अब उपाय के दूसरे भेद उपसाधन का भी थोड़ा सा संकेत कर देना चाहते हैं।

१—बौद्ध धर्म में योग—डा० विनयतोष भट्टाचार्य, कल्याण योगांक पृ० २८१
२—वही।
३—वही।

उपसाधन—'गुह्य समाज तन्त्र' के अठारहवें अध्याय में षडंग योग के पश्चात् उपसाधनों की चर्चा की गई है। इन उपसाधनों का लक्ष्य किसी देवता का साक्षात्कार करना बतलाया गया है। इन उपसाधनों के सम्बन्ध में यह भी लिखा है कि इनके लिए किसी प्रकार के खान पान आदि के निरोध की कोई आवश्यकता नहीं है। छः महीने तक इनका अभ्यास करने से देवता की सिद्धि हो जाती है। यदि इन उपसाधनों से देवता की सिद्धि न हो तो हठयोग का अनुसरण करना चाहिए। हठयोग के सहारे सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है, ऐसा तन्त्रकारों का मत है। इससे यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि बौद्ध तन्त्रों में भी हठयोग को विशेष महत्व दिया गया है। इसी तन्त्र में एक स्थल पर यह भी लिखा है कि तन्त्रों के रहस्य को समझने से पहले साधक को हठयोग और राजयोग के अंगों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। यदि हठयोग और राजयोग की साधना करने पर भी साधक को सफलता न प्राप्त हो, तो फिर समझना चाहिए कि शरीर में कुछ विकार शेष रह गए हैं। अतएव शरीर का शोधन करना चाहिए और फिर योग साधना में प्रवृत्त होना चाहिए।[1]

साधन—उपाय का तीसरा भेद साधन बताया गया है।[2] यह तन्त्र का प्रमुख अंग माना जाता है। साधन का अर्थ उस क्रिया से लिया जाता है जिसके द्वारा साधक अपने इष्टदेव का दर्शन करने के लिए प्रयत्न करता है। उस इष्टदेव से ही उसे वांछित फल की प्राप्ति होती है।

साधक किसी एकान्त स्थल में जाकर धर्म ग्रंथों में बताई गई विधियों के अनुकूल अपने इष्टदेवता का ध्यान करते हैं। उस ध्यान से उस देवता की सिद्धि हो जाती है। कहते हैं कि जब साधक साधन ग्रन्थों में निर्दिष्ट प्रक्रिया से श्रद्धापूर्वक शून्य पर मन को केन्द्रित करके इष्टदेव का ध्यान करता है, तो उसका इष्टदेव प्रत्यक्ष होने लगता है। सर्वप्रथम उस देवता का बीज मन्त्र सामने आता है। वह बीज मन्त्र थोड़े समय बाद धुंधला सा आकार धारण कर लेता है, फिर वह तेजोमय हो जाता है। फिर वह साक्षात्कार रूप में अवतरित हो जाता है। इस प्रकार के देवता सिद्धि से अनेक प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं। इन सबकी चर्चा बौद्ध योग ग्रन्थों में विस्तार से की गई है।[3]

---

१ बौद्ध धर्म में योग—डा० विनयतोष भट्टाचार्य, कल्याण योगांक पृ० २८२
२ वही पृ० २८३
३ वही।

'गुह्य समाज तन्त्र' के अतिरिक्त बौद्ध योग के विविध रूपों और प्रतिक्रियाओं का वर्णन हमें मंजुश्री मूलकल्प, श्री चक्र सम्वर, सद्धर्म पुन्डरीक, सुखावती व्यूह सूत्र आदि ग्रन्थों में भी मिलता है। इसके अतिरिक्त बुद्ध घोष द्वारा लिखित शमथयान अर्थात् समाधि योग शीर्षक ग्रन्थ भी बड़ा महत्वपूर्ण है। इन ग्रन्थों में मन्त्र, तन्त्र, सम्बन्धी अनेक यौगिक प्रक्रियाओं का वर्णन मिलता है। उन सब का यहां पर वर्णन करना बड़ा कठिन है। हम विनयतोष भट्टाचार्य के इन शब्दों को उद्धृत करके ही संतोष कर लेते हैं—[1]

"बौद्ध योग के परिशीलन के लिए आजीवन अध्ययन करने की आवश्यकता है क्योंकि वह समुद्र की भांति अगाध है।"

आगे हम सिद्धों में पाये जाने वाले मन्त्र, तन्त्र योग की थोड़ी विस्तृत चर्चा करेंगे। क्योंकि हिन्दी का मध्यकालीन साहित्य इन्हीं बौद्ध सिद्धों की साधना पद्धति से ही अधिक प्रभावित प्रतीत होता है। यहां पर एक बात हम कह देना आवश्यक समझते हैं। वह यह कि बौद्ध योग नाथपंथियों से भी बहुत प्रभावित रहा है। इसका प्रमाण यही है कि ध्यानी बुद्धों की जो प्रतिमाएं मिलती हैं, वे सब नाथपंथी आचार्यों से मिलती जुलती प्रतीत होती हैं। सच तो यह है कि बौद्धों की योग साधना पातंजलि योग, नाथपंथी योग तथा कुछ विदेशी योग पद्धतियों का समन्वित रूप है जिसको बौद्ध योगियों ने अपनी प्रयोगशाला में टेस्ट करके एक अभिनव रूप दे दिया है जिसके कारण वह उनका लगने लगा है।

ध्यान[2]—जब साधक पांच ध्यानी बुद्धों के माध्यम से पांच इष्ट विषयों पर मन को केन्द्रित करता है, तब उस प्रक्रिया को ध्यान की संज्ञा दी जाती है। पांच ध्यानी बुद्ध क्रमशः रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के अधिष्ठाता माने जाते हैं। इनसे उपर्युक्त तत्वों के आत्मसात् करने का आभास मिलता है। इस ध्यान के भी इस ग्रन्थ में पांच भेद बतलाए गए हैं। उनके नाम क्रमशः वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता हैं।

प्राणायाम[3]—प्राणवायु के निरोध का नाम ही प्राणायाम है। इस प्राणायाम को पंचविध ज्ञान का स्वरूप माना गया है। पंचविध ज्ञान को पंचभूतात्मक ज्ञान भी कह सकते हैं। इन पंचभूतों का नासिका के अग्रभाग पर

---

१ बौद्ध धर्म में योग—डा० विनयतोष भट्टाचार्य, कल्याण योगांक पृ० २८३

२—वही पृ० २८१-८२

३—वही पृ० २८१-८२

स्थित एक पिन्ड के रूप में ध्यान किया जा सकता है। फिर पंचवर्ण ज्योति को प्रकीर्ण करने वाले एक रत्न के रूप का ध्यान किया जाता है। इस ध्यान से साधक धारणा और समाधि में सरलता से अग्रसर होता है।

धारणा[1]— धारणा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा साधक अपने इष्टदेव का हृदय कमल में ध्यान करता है। धारणा से इन्द्रिय निग्रह में बड़ी सहायता मिलती है। धारणा का बहुत दिनों तक अभ्यास करने से चमत्कार पूर्ण चिन्ह दिखाई देने लगते हैं। यह चिन्ह पाँच रूपों में व्यक्त होते हैं। सबसे पहिले चित्ताकाश के सामने मरीचिका का चिन्ह दिखाई पड़ता है। दूसरी अवस्था में धुएं जैसा रूप दिखाई पड़ता है। तीसरी अवस्था में जुगनुओं जैसा रूप दिखाई देता है। चौथी अवस्था में प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। पांचवी अवस्था में निरभ्र गगन के सदृश प्रकाश दृष्टिगत होता है।

अनुस्मृति[2]—अनुस्मृति बौद्ध योग का पाँचवाँ अंग बताया जाता है। जिस लक्ष्य को लेकर योग साधना प्रारम्भ की जाती है उसी पदार्थ के अविच्छिन्न ध्यान को अनुस्मृति कहते हैं। अनुस्मृति का बहुत दिनों तक अभ्यास करते रहने से प्रतिभास का उदय होता है। प्रतिभास अनुभूति की वह दैविक अवस्था है, जिसमें ज्ञात अज्ञात की सभी बातें दृष्टिगोचर होने लगती हैं।

बोल कल्लोल योग—धर्मवीर भारती ने अपनी सिद्ध साहित्य नामक थीसिस में बौद्ध सिद्धों के योग के स्वरूप का विश्लेषण किया है। उन्होंने लिखा है।[3] कि बौद्ध सिद्धों ने विज्ञानवादी योग साधना को संशोधित करके बोल कल्लोल योग के रूप में ग्रहण किया था। उनके मतानुसार सिद्धों का प्रमुख संशोधन साधना को प्रज्ञोपायात्मक रूप देने में दिखाई पड़ता है। उनके मतानुसार सिद्धों ने विज्ञानवादियों के अर्हत शब्द के स्थान पर एवं बीज को ग्रहण करने का प्रयास किया था। एवं के आध्यात्मिक रहस्य का उद्घाटन गोपीनाथ कविराज ने किया है।[4] उन्हीं के आधार पर आचार्य बलदेव

---

१ बौद्ध धर्म में योग—डा० विनयतोष भट्टाचार्य, कल्याण योगांक पृ० २८१-८२

२ वही।

३ सिद्ध साहित्य पृ० २०८

४ दी मिस्टिक सिग्निफिकेन्स आफ रिलीजन—डा० गंगानाथ झा—रिसर्च इन्सटीट्यूट जरनल, वाल्यूम २ भाग १, १६४४

उपाध्याय ने भी उसकी चर्चा की है। यहां पर हम उन्हीं लोगों के आधार पर उसके स्वरूप की मीमांसा कर देना चाहते हैं।

वज्रयानी साधकों ने प्रज्ञा और उपाय के युगनद्ध रूप की अभिव्यक्ति के लिए एवं बीज का अनुसन्धान किया था। यह बीज बुद्ध रत्न को सुरक्षित रखने के लिए करन्डक अर्थात् सन्दूक रूप माना गया है। इसकी सिद्धि से महासुख की उपलब्धि होती है। इसीलिए इसे समस्त सुखों का आगार कहा जाता है। इस बीज मन्त्र में ए माता रूप का प्रतीक है। उसे हम चन्द्र या प्रज्ञा का प्रतिरूप भी कह सकते हैं। वं पिता का परिचायक है। सूर्य और उपाय रूप भी उसे कहा जा सकता है। बिन्दु अनाहत् ज्ञान का रूप है। इस प्रकार एवं प्रज्ञा और उपाय के युगनद्ध रूप का प्रतीक है। जिस प्रकार दो बैल एक ही जुए के नीचे आकर एक सूत्र में बंध जाते हैं, उसी प्रकार एवं में प्रज्ञा और उपाय की एकात्मता स्थापित हो जाती है। इसके सम्बन्ध में कर्णपाद ने लिखा है—[४]

"साधक को पहिले वैराग्य का दमन करना चाहिये। ऐसा करने से उसे वीर पदवी प्राप्त होती है। तब वह इस एवं बीज मन्त्र को लेकर अपने चित्त में अच्युत महाराग सुख को उसी प्रकार अनुभव करने लगता है, जिस प्रकार खिले हुए कमल के पराग का भ्रमर पान करता है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्धों ने शैव, शाक्त तन्त्रों की शिव-शक्ति के सम्मिलन के भाव को एवं के द्वारा सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है।

बौद्ध धर्म में ध्यान योग

सुत्तपिटक में हम कई स्थलों पर देखते है कि भगवान् बुद्ध ने योग साधना क्षेत्र में ध्यान योग को भी बहुत अधिक महत्व दिया था किन्तु ध्यान योग को सुव्यवस्थित रूप देने का श्रेय आचार्य बुद्ध घोष को ही है। इनके विशुद्ध मग्ग नामक ग्रंथ में हीन यानी ध्यानयोग का विस्तृत विवेचन किया गया है। महायानी ध्यान योग की चर्चा महायान सूत्रालंकार आदि ग्रन्थों में की है।

३—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ४५२-५३

४—दोहा कोष—बागची, दोहा नम्बर ६

बौद्ध ध्यान योग के अंग

बौद्ध ध्यान योग के पांच भाग बतलाए गए हैं:—

१–गुरू
२–शिष्य
३–योगान्तराय
४–समाधि विषय
५–योगभूमि

१ गुरू—ध्यान योग या समाधियोग की दीक्षा प्राप्त करने के लिए किसी सुयोग्य गुरू की तलाश करनी पड़ती है। योग गुरू के लिए कल्याण मित्र[1] शब्द का प्रयोग किया गया है, कल्याण मित्र उस गुरू को कहते हैं जिसने स्वयं उच्चतम ध्यान योग का अभ्यास कर लिया है तथा जिसकी आंतरिक दृष्टि जागृत हो गई है और जिसने अर्हत पद प्राप्त कर लिया है। यदि इस प्रकार का अर्हत गुरू न मिले तो फिर अनागामी, सकृतागामी, स्त्रोतापन्न, ध्यानाभ्यासी में से कोई गुरू ही बना लेना चाहिए।[2]

२ शिष्य:—साधक को अपने गुरू के प्रति परम भक्ति रखनी चाहिए। उसके साथ ही विहार में रहना चाहिए और उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिये। मध्यान्ह में उसे भोजन करना चाहिए और साधक या शिष्य के अनुकूल ही स्थान का निर्देश करना चाहिए। आचार्य बुद्धघोष ने शिष्य[3] की प्रवृत्ति के अनुकूल पांच कर्म स्थानों का निर्देश किया है।

राग प्रधान शिष्य के लिए दस अशुभ तथा कायगतासति द्वेष प्रधान शिष्य के लिए चार ब्रह्मविहार तथा चार वर्ण। वर्णकसिण, मोह और वितर्क प्रधान शिष्य के लिए आनायान सति। प्राणायाम। श्रद्धा प्रधान शिष्य के लिए ६ प्रकार की पहली अनुस्मृतियों बुद्धि चरित मरणसति, उपसमानुस्सति, चतुर्धानुववहान तथा आहारे पटिकूल सञ्ञा।

कर्म स्थानों का विशेष विवेचन—

बौद्ध दर्शन में कर्म स्थान शब्द पारिभाषिक है उसका अर्थ होता है ध्यान का विषय। कर्म स्थानों के अन्तर्गत वे बातें और विषय बताए जाते

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ४०९
२—वही पृ० ४१०
३—वही पृ० ४१०

हैं जिन पर बौद्ध साधक अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं आचार्य बुद्ध घोष ने इस प्रकार के ४० कर्म स्थानों की सूची दी है। ४० कर्म स्थानों के वर्ग क्रमशः इस प्रकार हैं:–

१-दस कसिण (कृत्स्न)
२--दस अशुभ (अशुभ)
३--दस अनुस्सति (अनुस्मृति)
४--चार ब्रह्मविहार,
५--चार आरूप्य
६–एक संज्ञा,
७–एक ववत्थान[1]

यहाँ पर इन सबकी विस्तृत चर्चा करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती क्योंकि मध्यकालीन हिन्दी कवियों पर इनका प्रभाव दिखाई नहीं पड़ता।

३ योगान्तराय:––अन्तराय का अर्थ होता है विघ्न। योग साधना में आने वाले विघ्नों को ही योगान्तराय कहते हैं। इन योगान्तरायों की चर्चा आचार्य बुद्धघोष ने की है। उन्होंने दस अन्तरायो और योगान्तरायों का वर्णन किया है। उनके नाम क्रमशः १-आवास, २-कुल, ३-लाभ, ४-गण, ५-मम्मू, ६-अद्धान, ७-ञाति, ८-अवाध, ९-गंठ, और १०-इध्द हैं।[2]

४–समाधि विषय—इनका संकेत हम शिष्य के प्रसंग में कर्मपद्धान की चर्चा करते हुए कर चुके हैं। अतएव अब यहाँ पिष्ट पेषण करना नहीं चाहती।

५--योग भूमि—समाधि का अभ्यास करते समय साधक को बहुत सी योगभूमियों में से होकर विचरना पड़ता है। सामान्यतया दो भूमियों और चार ध्यानों की चर्चा इस प्रसंग में की जाती है। दो भूमियों के नाम क्रमशः उपचार और अप्पना हैं।

१--उपचार[3]—इस अवस्था में चित्त की अवस्था बालक की तरह रहती है। उस प्रयत्न में कभी सफल होता है और कभी असफल।

१—इन सबकी विस्तृत विवेचना के लिए देखिए—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ४०२ से ४०९ तक

२—वही पृ० ४००

३—वही पृ० ४११

२-अप्पना[1]-यह एक प्रौढ़ व्यक्ति की जैसी अवस्था है। जिस प्रकार प्रौढ़ व्यक्ति दृढ़ता से अपने कार्य सम्पादन में समर्थ होता है उसी प्रकार अप्पना अवस्था में पहुंचा हुआ योगी दृढ़ समाधि में समर्थ होता है।

चार ध्यान[2]-हीनयानी ग्रन्थों में चार ध्यानों का भी उल्लेख मिलता है, विशुद्धिमग्ग में इन ध्यानों की विस्तृत चर्चा मिलती है।

प्रथम ध्यान— इसमें पांच चित्त वृत्तियों की प्रधानता रहती है, उनके नाम क्रमशः वितर्क, विचार प्रीति, सुख तथा एकाग्रता हैं।

द्वितीय ध्यान—इस अवस्था में वितर्क और विचार का लोप हो जाता है। और प्रीति सुख तथा एकाग्रता नामक वृत्तियाँ ही शेष रह जाती हैं।

तृतीय ध्यान—इस अवस्था मे प्रीति का भी अभाव हो जाता है। केवल चित्त तथा एकाग्रता की वृत्तियाँ ही शेष रह जाती हैं।

चतुर्थ ध्यान—इस अवस्था में केवल एकाग्रता मात्र शेष रह जाता है। अन्य वृत्तियों का लोप हो जाता है। तभी समाधि की प्राप्ति हो जाती है।

१-आवास—आवास का अर्थ है मठ आदि बनवाना। जो योगी मठ आदि बनवाने में दत्तचित्त हो जाते हैं उनका चित्त समाधि मार्ग पर नही जाता अतएव मठ बनवाना आदि योग के लिए विघ्न रूप है।

२-कुल—अपने शिष्य के कुल और परिवार के सम्बन्ध में सोचने से भी योग में विघ्न उपस्थित हो जाता है। इसीलिए कुल को भी योगान्तराय कहा गया है।

३-लाभ—जो ध्यान योगी किसी प्रकार के लाभ में दत्तचित्त हो जाते है उनका भी योग भ्रष्ट हो जाता है।

४-गण—अनेक भिक्षुओं को सुत्त या अभिधम्म पढाने से भी योग मे बाधा उत्पन्न होती है।

५-कम्म—विविध प्रकार के कामों में जैसे मकान की मरम्मत करना, मकान बनवाना आदि में लगे रहने से भी समाधि मे बाधा पहुंचती है।

१—बौद्ध धर्म मीमांसा पृ० ४११
२ वही पृ० ४१२

६-अद्धानम—इसका अर्थ है मार्ग चलना। योगी को कभी-कभी कार्यवश दूर तक आना जाना पड़ता है इससे भी योग में विघ्न पड़ता है।

७-ञाति—अपने किसी सम्बन्धी गुरु या शिष्यादि की अस्वस्थता से भी चित्त विक्षिप्त होता है और समाधि मे बाधा पड़ती है।

८-आबाध—मानी बीमारी से सम्बन्धित उपाधियाँ। साधक कभी स्वयं भी बीमार हो जाता है जिसके फलस्वरूप उसकी योग साधना में विघ्न पड़ जाता है।

९-ग्रंथः—कुछ भिक्षु धर्म ग्रंथों के पढ़ने में इतना अधिक व्यस्त हो जाते हैं कि वह अध्ययन उनकी योग साधना के लिए विघ्नरूप हो जाता है।

१०-ऋद्धि—समाधि मार्ग में साधना करने वाले साधक को बहुत सी सिद्धियां प्राप्त होती हैं। कुछ साधक लोग इन सिद्धियों से इतना अधिक प्रभावित हो जाते हैं कि अपने लक्ष्य को भूल जाते हैं। संक्षेप में ध्यान योग मे विघ्न डालने वाले अंतराय यही हैं। ध्यान योगी को इनसे सदैव बचने का उपाय करना चाहिए।[1]

बौद्ध योग मार्ग की दस भूमियाँ:—

महायान सम्प्रदाय के अनुसार बोधिसत्व को बोधिचित्त की अवस्था का उत्पाद करना पड़ता है। बोधिचित्त की अवस्था ज्ञान की अवस्था कही जा सकती है। इस ज्ञान की अवस्था के दस स्तर बतलाए गए हैं उन्हीं को दस भूमियों का अभिधान दिया गया है। बोधिसत्व ज्ञान की दो भूमियो को उत्तरोत्तर पार करता हुआ अंत में ज्ञान की पूर्णावस्था या दशम भूमि को प्राप्त होता है इन भूमियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं।

१—प्रमुदिता
२—विमला या अधिशिला
३—प्रभाकरी या अधिचित्त विहार
४—अर्चिस्मती या बोधिपक्ष्य प्रति संयुक्ताधिप्रज्ञाविहार
५—सुदुर्जया या सत्य प्रति संयुक्ताधिप्रज्ञाविहार
६—अधिमुखी या प्रतीत्य समुत्पाद प्रतिसंयुक्ताधिविहार
७—दूरंगमा या सामितसंस्कार समोग निर्निमित्तविहार

१—इन सब अन्तरायों के लिए देखिए बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ४०० से लेकर ४०१ तक

८--अचला या अनाभोग निर्निमित्तविहार
९--साधुमती या प्रतिसंविद विहार
१०--धर्ममेघा या परम विहार [1]

१--प्रमुदिता----पूर्वजन्म के पुण्यों के फलस्वरूप साधक के हृदय में समबोधि प्राप्ति की अभिलाषा उत्पन्न होती है। सम्बोधि या बुद्धत्व प्राप्ति का ही दूसरा नाम बोधचित का उत्पाद है। इस सम्बोधि प्राप्ति की भावना का उदय होते ही मनुष्य साधारण कोटि के मनुष्यों की श्रेणी से निकलकर तथागत के परिवार में प्रवेश करता है बुद्ध और बोधिसत्वों के गौरवपूर्ण आचरणों का स्मरण करके उसका हृदय प्रमुदित रहता है।[2]

इस अवस्था में साधक के हृदय में महा करुणा का उदय होता है और वह दश महाप्रणिधान के आचरण का निश्चय करता है। वे दसों महा-प्रणिधान इस प्रकार हैं:--

१--प्रत्येक स्थान और प्रत्येक प्रकार से बुद्ध की पूजा में रत रहना।

२--जहां कहीं और जब भी भगवान बुद्ध का उदय हो तो उनकी शिक्षाओं में श्रद्धा रखना और आचरण करना।

३--तुषित स्वर्ग का परित्याग करके इस मर्त्य भूमि में आकर निर्वाण प्राप्त करने का प्रयास करना तथा उन समस्त क्षेत्रों का निरीक्षण करना जहाँ भगवान बुद्ध का उदय हुआ है।

४--संसार के समस्त भेदों का सही ज्ञान प्राप्त करना। समग्र प्राणियों को सब प्रकार से सुखी बनाने का प्रयत्न करना। बोधिसत्वों के हृदय में एक प्रकार की भावना जागृत करना।

५--बोधिसत्व की चर्या के अनुकूल चलना। संसार के समस्त प्राणियों को सर्वज्ञता प्रदान करना। संबोधि प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहना।[3]

इसी भूमि में पहुँचे हुए साधक के लिए दस गुणों के आचरण की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है। उन गुणों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं----

---

१--देखिए बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन--भरतसिंह, पृ० ६२०
२--बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० १६८
३--वही पृ० १६९

श्रद्धा, दया, मैत्री, दान, शास्त्रज्ञान, लोकज्ञान, नम्रता, दृढ़ता और सहिष्णुता।[१] इस प्रकार महायानियों की मुदितावस्था में हम देखते हैं कि नैतिकता और आचरण पर विशेष बल दिया गया है।

विमला[२]—मुदिता भूमि को पार करने के पश्चात् साधक विमलाभूमि में पहुंचता है। इस अवस्था में वह काय, मन और वचन से पापों से बचने का प्रयास करता है। उसे इसके लिए निम्नलिखित आचरणों का आश्रय लेना पड़ता है—ऋजुभाव, मृदुभाव, कर्मण्यभाव, दम, शम, कल्याण, असंसृष्ट, अनापेक्ष, उदार और महात्म्।[३] इनका आचरण करने पर ही साधक विमला भूमि में दृढ़ होता है।

प्रभाकरी—इस अवस्था में पहुंच कर साधक को संसार के समस्त संस्कृत पदार्थ अनित्य प्रतीत होने लगते हैं। वह आठ प्रकार की समाधि चार ब्रह्म विहार, तथा सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है। उसकी तृष्णा और काम वासना नष्ट हो जाती है, उसका स्वभाव निर्मल हो जाता है। वह विशेष कर धैर्यपारमिता के अभ्यास में लगा रहता है।[४]

आर्चेष्मती—इस भूमि में पहुँचकर साधक बोध्यंगों और अष्टांगिक मार्ग की साधना में स्वतः प्रवृत्त होने लगता है। उसके मन में दया तथा मैत्री जैसे उदात्त भाव उत्पन्न होने लगते हैं। उसे संसार से पूर्ण विरक्ति हो जाता है। वीर्य पारमिता में वह स्वयं प्रवृत्त हो जाता है।[५]

सुदुर्जया—इस अवस्था में पहुँचकर साधक ध्यानपारमिता का अभ्यास करने लगता है। लोक कल्याण की भावना उसमें बलवती हो जाती है। जिसके फलस्वरूप वह उपदेशक बन बैठता है।[६]

अभिमुक्ति—इस प्रकार के समत्व भाव का अभ्यास करने से साधक को यह अवस्था प्राप्त होती है। अज्ञान में पड़े हुए प्राणियों के लिए उसमें

---

१ बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० ६, .६८, १६९

२—आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म—एन० दत्त० पृ० २६०-६१

३—वही

४—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० १६९

५—वही

६—वही पृ० १७०

विशेष दयाभाव उत्पन्न हो जाता है। जगत के कल्याणार्थ वह शून्य पदार्थों को भी सत्य समझता है।[१]

७—दूरंगमा-इस अवस्था में पहुंचकर बोधिसत्व सर्वज्ञ होने लगता है। वह दस प्रकार के उपायों से पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने लगता है।[२]

८—अचला-इस अवस्था में पहुंचा हुआ बोधिसत्व साधक वस्तुओं की निःस्वाभाविकता का अनुभव करने लगता है। दैहिक, वाचिक और मानसिक दुखों में उसे कोई आनन्द नहीं मिलता और सब से उदासीन हो जाता है। उसकी अवस्था सोकर जगे हुए मनुष्य के सदृश हो जाती है। जिस प्रकार सोकर उठा हुआ मनुष्य स्वप्नावस्था में देखे हुए स्वप्नों को जागने पर अनित्य और नश्वर समझने लगता है, उसी प्रकार अचला भूमि में पहुँचे हुए बोधिसत्व को सारा प्रपंच भ्रांतिपूर्ण, असत्य और मिथ्या प्रतीत होने लगता है।[३]

९—साधुमती-इस अवस्था में पहुँचकर साधक के हृदय में लोक कल्याण की भावना और भी अधिक बलवती हो जाती है। वह लोक के उद्धार के अनेकानेक उपाय सोचा करता है। लोक को अनेक प्रकार से उपदेश करता है। वह चार प्रकार के विषय पर्यालोचन के अभ्यास से भी निरत रहता है। ये चार प्रकार के विषय पर्यालोचन के अभ्यास क्रमशः इस प्रकार हैं—शब्दों के अर्थ का विवेचन, धर्म का विवेचन, व्याकरण की विश्लेषण पद्धति, तथा विषय के प्रतिपादन की शक्ति।[४]

१०—धर्ममेधा-इसे कुछ लोग अभिषेक भी कहते हैं। इस अवस्था में पहुँचा हुआ साधक सब प्रकार की समाधियों के अभ्यास में निपुण हो जाता है। इस अवस्था में पहुँचकर साधक पूर्ण बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है।[५]

१—वही
२—वही
३—आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिस्म पृ० २८१
४—वही पृ० २८२
५—वही पृ० २८३

गुह्य समाज तन्त्र में वर्णित योग साधना का मध्ययुगीन कवियों पर प्रभाव

जैसा कि मैं अभी स्पष्ट कर आई हूँ कि गुह्य समाज तन्त्र में किसी देवता की सेवा के प्रकार बताए गए हैं—सामान्य सेवा और उत्तम सेवा। सामान्य सेवा के चार अंग और उत्तम सेवा के ६ अंग कहे गए हैं।

सामान्य सेवा के चार अंग हैं–शून्यता प्रत्यय, शून्यता का बीज मन्त्र के रूप में परिणाम, बीज मन्त्र का देवता के रूप परिणत हो जाना तथा देवता का विग्रह के रूप में प्रगट हो जाना है। यह वास्तव मे ध्यान योग साधना के विकास के चार पक्ष है। बौद्ध साधक किस प्रकार शून्यता में देवता के विग्रह का निर्माण करते थे यह ऊपर के क्रम से प्रगट है।

मध्ययुगीन साहित्य की निर्गुण काव्य धारा के कवियों पर बौद्धों के ध्यान योग की उपयुक्त सामान्य सेवा का पूरा पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। निर्गुणियां सन्तों ने बौद्ध योगियों की उपयुक्त साधना का सहजीकरण कर डाला था।

सहजीकरण की प्रक्रिया हमें दो रूपों मे क्रियमाण मिलती है। एक शब्द साधना के रूप में दूसरे सुमिरन के रूप में।

सन्त लोगों ने मन्त्र चैतन्य सिद्धान्त के सहज रूप शब्द ज्ञान को महत्व दिया है। कबीर कहते हैं—

'जन्त्र मन्त्र सब झूठ है किसी को उनमें भ्रमित नही होना चाहिए सार शब्द को जाने बिना काग हंस नही होता'[1]। एक स्थल पर उन्होने स्पष्ट कह दिया है 'सहज योग यही है कि शब्द को खोज कर मन को वश में कर ले'[2]।

इस शब्द साधना से सम्बन्धित निम्नलिखित विवरणो में मन्त्र चैतन्य या ध्यानयोग के सामान्यपक्ष का सहजी कृत रूप ही दिखाई पड़ता है—

१—जंत्र मंत्र सब झूठ है मत भरमो जग कोय।
सार सबद जाने बिना कागा हंस न होय॥

क० सा० सं० पृ० १०१

२—सबद खोजि मन बस करे सहज जोग है येहि।

क० सा० सं० पृ० १०१

साधक को अहंकार को त्याग कर शब्द रूपी आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है। अहंकार का त्याग न करने पर साधक शब्द रूपी आत्मा की साधना के स्थान पर अहंकार रूपी शत्रु की साधना में संलग्न हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य के अन्तर में शत्रु और मित्र दोनों हैं। सच्चा साधक अहंकार रूपी शत्रु को चैतत्य न कर आत्मा देवता को चैतन्य करता है।[१] सन्तों के मन्त्र चैतन्य का सिद्धान्त यही है। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि शब्द चैतन्य कैसे किया जाय ? इसका उत्तर देते हुए कबीर कहते हैं— शब्द से ही शब्द अचेतन होता है। जिस शब्द से शब्द चेतन होता है उसका उपदेश गुरु करता है।[२]

बौद्ध तांत्रिकों के मन्त्र चैतन्य के सिद्धान्त को सन्तों ने एक दूसरे ढंग से अपनाने की चेष्टा की थी वह है जप के द्वारा प्रभु के स्वरूप को उपलब्ध करना। इसकी चर्चा सन्तों ने सुमिरन के प्रसंग में की है। कबीर कहते हैं—

> तू तू करता तू भया, तुझ में रही न हूं।
> वारी तेरे नाम पर जित देखो तित तू ॥[३]

इसको कबीर सहज का मार्ग कहते थे।

> सुमिरन मारग सहज का सद्गुरू दिया बताय।
> स्वास उस्वास जो सुमिरता एक दिन मिलसी आय।[४]

इस प्रकार सन्तों ने मन्त्र चैतन्य प्रक्रिया का सहजीकरण किया है। यह सहजीकरण बौद्धों के मन्त्र चैतन्य सिद्धान्त का है। इसी दृष्टि से वे उससे प्रभावित कहे जाते हैं।

१—सीतल सबद उचारिए अंह आनिए नाहिं।
तेरा प्रीतम तुझ में शत्रु भी तुझ माहि॥
कबीर सा० सं० भाग १-२ पृ० १०१

१—सबदै सबद प्रगट भया दूजा सोवे नाहिं।
सोइ सबद निज सार है जो गुरू दिया बताय॥
वही पृ० १०१

३—वही पृ० १०१

४—वही पृ० १०१।

पडंग योग का प्रभाव—

गुह्य समाज तंत्र में उत्तम सेवा के अन्तर्गत पडंग योग की चर्चा की गई है। पडंग योग का पहला अंग प्रत्याहार है। जिन क्रियाओं के द्वारा इन्द्रियों का निग्रह किया जाता है उन्हें प्रत्याहार कहते हैं। इसके अन्तर्गत अष्टांगिक मार्ग की साधना आती है। इसके अतिरिक्त और अनेक प्रकार के सदाचरणों का विधान किया गया है। जहां तक अष्टांगिक मार्ग और सदाचरण वाली बात है मध्ययुगीन कवियों ने उसको बहुत अधिक महत्व दिया था। सहज अंग के अन्तर्गत सन्तों ने यह बात स्पष्ट कर दी है। संत कबीर लिखते हैं—सहज सहज सब लोग चिल्लाते हैं किन्तु सहज साधना का रहस्य कोई नहीं जानता है। सहज साधना वही है जिससे विषय वासनाएं सरलता से छूट जाती हैं।[1] इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार से सदाचरणों पर बल दिया गया है। कबीर ने एक स्थल पर साधु की परिभाषा देते हुए लिखा है- 'साधु के कोई वैरी नहीं होता। उसका अपने स्वामी से प्रेम होता है। वह विषय वासनाओं से दूर रहता है। यही साधुओं का स्वरूप है।[2] इसी प्रकार तुलसी आदि राम काव्य धारा के कवि भी सदाचरण को जीवन साधना का प्रधान अंग मानते थे। तुलसी ने राम के मुख से सदाचार रूपी रथ का सुन्दर वर्णन किया है। इस प्रसंग को मैं पीछे किसी दूसरे प्रसंग में उद्धृत कर आई हूं। अतः यहां पर उसे फिर से उद्धृत नहीं कर रही हूं।

इस प्रकार मैं देखती हूं कि जहां तक पडंग योग के प्रत्याहार पक्ष की बात है, मध्ययुगीन कवि उससे पूर्णतया प्रभावित हैं।

बौद्ध पडंग योग का दूसरा पक्ष ध्यान है। बौद्ध धर्म में ध्यान की चर्चा स्वतन्त्र योग के अभिधान से की गई है। ध्यान योग के द्वारा पंच तत्वों या पंच स्कन्धों को वश में करने का उपदेश दिया गया है। पांच ध्यानी बुद्ध एक एक स्कन्ध के ध्यान से सम्बन्धित हैं। क्रमशः प्रत्येक स्कन्ध पर ध्यान करने से वह

१—सहज सहज सब कोई कहै सहज न चीन्हे कोय।
जो सहजै विषया तजै सहज कही जे सोय॥

क० सा० सं० पृ० ८०

२—निरबैरी निःकामता साईं सेती नेह।
विषया सूं न्यारा रहै सन्तन का अंग एह॥

क० ग्रं० पृ० १२५

तत्व वश में हो जाता है। बौद्धों ने ध्यान के भी पांच भेद या स्तर माने हैं। ये वितर्क, विचार, प्रतीति, सुख और एकाग्रता हैं।

हिन्दी के मध्ययुगीन कवियों पर विशेषकर निर्गुणियां सन्तों पर ध्यान योग का हल्का प्रभाव दिखाई पड़ता है। सन्त कबीर ने पांचों पर स्वतन्त्र रूप से ध्यान न करके शून्य में ध्यान केन्द्रित करने का उपदेश दिया है और बताया है कि पांचों उसी शून्य ध्यान से वश में हो जाते हैं। कबीर कहते हैं—ब्रह्म रन्ध्र में अनहद नाद रूपी निशान गड़ा हुआ है। सुरति को उलटि कर उसी में ध्यान द्वारा केन्द्रित करना चाहिए। जिस प्रकार दूध को मथ कर घृत न्यारा कर लेते हैं उसी प्रकार जो सार तत्व में अपनी सुरति को लोम कर लेते हैं उनका पुनरागमन नहीं होता। इस सुरति को उल्टी करके साधक पांचों स्कन्धों को अपने अधीन कर लेता है।[1]

सन्तों में हमें कहीं-कहीं ध्यान के अंगों की झांकी भी मिल जाती है। देखिए निम्नलिखित उद्धरण में एकाग्रता और सुख नामक ध्यान के अंगों की झलक दिखाई पड़ती है।

सील सन्तोष में सबद जा मुख बसै।
संत जन जो हरी सांच मानी॥
बदन विकसित रहें ख्याल आनन्द में।
अधर में मधुर मुस्कात बानी॥
सांच बोले नहीं झूठ बोले नहीं।
सुरति में सुमति सोइ श्रेष्ठ ज्ञानी॥

इस प्रकार मैं कह सकती हूं कि सन्तों पर षडंग[2] योग ध्यान का भी अच्छा प्रभाव पड़ा है।

धारणा षडंग योग का तीसरा अंग है। धारणा वह अवस्था है जिसमें

१—गड़ा निसान तंह सुन्न के बीच में,
उलटि के सुरति फिर नांहि आवै।
दूध को मथ कर घृत निमारा किया,
बहुरि फिर तत्त में न समावै।
माहि मत्थान तंह पांच उलटा किया,
नाम नौनाति लै सुरति फेरो।
क० सा० की ज्ञान गुदड़ी पृ० ९७

२—कबीर साहब की ज्ञान गुदड़ी पृ० ३८

साधक अपने इष्टदेव के विग्रह से धीरे धीरे साक्षात्कार करने लगता है। उस साक्षात्कार के क्रम के पांच स्तर बताए गए हैं। सबसे पहले त्रिकाश में मरीचिका का चिन्ह दिखाई पड़ता है। उसके बाद धुआं का साक्षात्कार होता है। तीसरी अवस्था में जुगुनुओं जैसा रूप दिखाई पड़ता है। चौथी अवस्था में धुंधला प्रकाश दिखाई पड़ता है। पांचवी अवस्था में निरभ्र गगन के सदृश स्वच्छ प्रकाश दिखाई पड़ता है।

धारणा के उपर्युक्त प्रभाव सन्तों की रचनाओं पर भी दिखाई पड़ते हैं। ज्योति के साक्षात्कार वाली बात तो सन्तों ने सैकड़ों बार कही है, जैसे दरिया साहब लिखते हैं—

घना मोती झरै जोति जगमग बरै।[1]

उन्हीं सन्त ने एक दूसरे स्थल पर लिखा है—

होरी खेलिए संतों चलहु अमरपुर धाम।
काया महल में जोति विराजै सुन्दर सुख धाम॥[2]

अनुस्मृति बौद्ध षडंग का पांचवा अंग है। जिस लक्ष्य को लेकर योग साधना प्रारम्भ की जाती है उस पदार्थ के अनविच्छिन्न ध्यान को अनुस्मृति कहते हैं। बौद्ध योग का प्रभाव भी निर्गुणियां सन्तों पर दिखाई पड़ता है। उनकी 'लौ' बौद्धों की अनुस्मृति ही है। निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट प्रगट है कि लौ और अनुस्मृति में कोई मौलिक भेद नहीं है। वास्तवमें अनुस्मृति का दूसरा नाम ही लौ है। कबीर लौ का वर्णन करते हुए कहते हैं—लौ लगी हुई तभी समझना चाहिए जो कभी क्षीण न पड़े। मरने पर भी साधक की सुरति उसी ध्यान में लीन हो जाती है।[3] सुरति का अपने ध्यान में इसी प्रकार अनवरत रूप से लगा रहना ही लौ है। अब प्रश्न यह कि इस लौ का केन्द्र विन्दु कहां है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कबीर कहते हैं गंगा और यमुना के बीच सहज शून्य रूप लौ का केन्द्र बिन्दु है वही लौ लगानी चाहिए?[4]

१—दरिया साहब के चुने हुए पद पृ० १६

२—वही पृ० २९

३—लौ लागी तब जानिए छूट कबहू नहिं जाय।
जीवत लौ लागी रहे मुए तेहा समाय॥
क० सा० सं० पृ० ३६

४—गंग जमुन उर अंतरे सहज सुन्न लौ घाट।
जहां कबीरा मठ रचा मुनि जन जोवे बाट॥
क० सा० सं० पृ० ३६

समाधि:— बौद्ध साधना का छठा अंग समाधि है। बौद्ध तंत्रों में प्रज्ञा और उपाय के योग से समाधि की अवस्था की प्राप्ति बताई गई है। समाधि को अलौकिक ज्ञान की उपलब्धि की अवस्था व्यंजित किया गया है। बौद्धों की समाधि का प्रभाव भी सन्तों की बानियों पर दिखाई पड़ता है। संत कबीर के निम्नलिखित उद्धरण में समाधि का अच्छा वर्णन मिलता है-

> गगन की गुफा तहं गैब का चांदना,
> उदय औ अस्त का नाव नाही।
> दिवस और रैन तहं नेक नहि पाइए,
> प्रेम परकाश के सिंध माही।
> सदा आनन्द दुःख दुन्द व्यापे नहीं,
> पूरनानन्द भरपूर देखा।
> भर्म और भ्रान्ति तहं नेक आवे नहीं,
> कहै कबीर रस एक पेखा।
> देख दीदार मस्तान मैं होइ रह्यो,
> सकल भरपूर है नूर तेरा।
> सभग दरियाव तंह हंस मोती चुगें,
> काल का जाल तंह माहि नेरा।
> अज्ञान का थाल और सहज मनि बाति हैं,
> अधर आसन किया अगम डेरा।
> कहै कबीर तंह भर्म भाजै नहीं,
> जन्म औ मरन का मिटा फेरा॥[1]

इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं जिनमें बौद्धों की समाधि की छाया दिखाई पड़ती है।

बौद्धों का ध्यानयोग:—

ऊपर जिस षडंग योग का वर्णन किया गया है उसमें थोड़ी सी चर्चा ध्यान योग की भी की गई है। वहां ध्यान षडंग योग का अंग मात्र है। किन्तु बहुत से बौद्धों ने ध्यान को ही एक मात्र योग कहा है और उसका उन्होंने विस्तार से विवेचन किया है। ध्यान योग के प्रसंग में बौद्ध ग्रन्थों में पांच बातें विचारणीय बताई गई हैं—

१-गुरु २-शिष्य ३-योगान्तराय ४-समाधि विषय और ५-योग भूमियां। सन्तों

१—कबीर साहब की ज्ञान गुदड़ी पृ० १०२

पर बौद्धों के योग के उपर्युक्त पांचो अंगो का थोड़ा बहुत प्रभाव दिखाई पड़ता है।

पहला विचारणीय तत्व गुरू है। ध्यान योग की दीक्षा के लिए किसी सुयोग्य गुरू की आवश्यकता है। बौद्धों का कहना है कि किसी सुयोग्य योगी को गुरु बनाकर उससे योग की दीक्षा लेना चाहिए।

सन्तों पर बौद्ध योगियों के सद्‌गुरुवाद का प्रभाव दिखाई पड़ता है। कबीर ने सद्‌गुरुवाद की बड़ी महिमा बताई है। कबीर कहते हैं--जिस परमात्मा का रूप किसी ने नही देखा है गुरू उसका रूप दिखा देता है।[1] इसी प्रकार एक दूसरी साखीहै--जो निराकार निर्गुण अमूर्त तत्व है उसको किसी ने देखा नहीं है। उसके दर्शन गुरू ही करा देता है।[2]

इसी प्रकार और भी सैकड़ो प्रकार से सन्तों ने यह व्यंजित किया है कि सद्‌गुरू ही योगज्ञान और भक्ति का दाता है।

शिष्य की सुपात्रता बौद्ध ध्यान योग की दूसरी आवश्यक विशेषता है। जिस प्रकार गुरु का सद् होना आवश्यक है। उसी प्रकार शिष्य का सुपात्र होना भी आवश्यक है। कबीर कहते हैं गुरू को शिष्य खोजते हुए इधर उधर नहीं घूमना चाहिए, जिज्ञासु शिष्य तृषावन्त के सदृश गुरु रूपी सरोवर के पास स्वयं आवेगा।[3]

सन्तों ने इस प्रकार गुरू और शिष्य दोनों को सुयोग्य और सुपात्र होना व्यंजित किया है। कबीर ने लिखा है जिसका गुरू अयोग्य और शिष्य अन्धानुसरण प्रिय होता है तो फिर दोनों ही कुएं में डूब जाते हैं।[4]

१—जिन गुरु आंखि न देखि आ। सो गुरु दिया दिखाय॥

क० सा० सं० पृ० १

२—अबरन बरन अमूर्त जो कहौ ताहि किन पेख।
गुरु दया तो पेखई सुरति निरति का देख॥

क० सा० सं० पृ० ४

३—नीर पियावत क्या फिरै घर घर सायर बारि।
तृषावंत जो होयगा पीवैगा झक मारि॥

क० सा० सं० पृ० १४

४—जा का गुरु है आंधरा चेला निपट निरन्ध।
अन्धे अन्धा ठेलिया दोऊ कूप परन्त॥

क० सा० सं० पृ० १३

इस प्रकार एक दूसरे स्थल पर उन्होंने फिर लिखा है—जब गुरू भी अयोग्य होता है और शिष्य कुपात्र होता है तो ठीक वैसी ही हालत होगी जैसी कि अन्धों की होती है।' इस प्रकार सन्तों ने बौद्ध योग साधकों के सदृश गुरू की सुयोग्यता और शिष्य के सुपात्रत्व को महत्व दिया है।

ध्यान योग के प्रसंग में बौद्ध योगियों ने ४० कर्म स्थानों का उल्लेख किया है। कर्म स्थान का अर्थ होता है ध्यान का केन्द्र विन्दु। सन्त लोग इन ४० कर्म स्थानों से या तो परिचित नहीं हैं और यदि परिचित भी होंगे तो उन्होंने उनकी कोई आवश्यकता नहीं समझी। उन्होंने या तो 'सुनि मंडल वासी' पुरुष मे या फिर 'राग जमुन पिच सुन्निसहज घाट' में ध्यान लगाने का उपदेश दिया है।

जहाँ तक योगान्तरायों आदि की बात है सन्तों ने इस दिशा में बौद्धों का अनुगमन नहीं किया है। अन्तरायों का संकेत सन्तों की बानियों मे मिलता है किन्तु वे बौद्धों के अन्तरायों से साम्य रखते नही प्रतीत होते। सन्तों में बौद्ध ध्यान योग समाधि विषयो का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता है। अतः यहाँ पर उनकी चर्चा नही कर रही हूँ।

योग मार्ग दस भूमियों का प्रभाव

मैं ऊपर योग मार्ग की दस भूमिकाओ का स्पष्टी करण कर आई हूँ। उनके नाम क्रमशः प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिस्मती, सुदुंजया, अभिमुखी, दूरंगमा, अचला, साधुमती और धर्म मेधा हैं। यद्यपि इन सबके व्यापक और प्रत्यक्ष प्रभाव मध्ययुगीन साहित्य पर नही दिखाई पड़ते किन्तु फिर भी खोज करने से कुछ प्रभावो का पता अवश्य लग जाता है। यहाँ पर उन प्रभावो का सक्षेप में निर्देश कर रही हूँ।

प्रमुदिता—यह वह अवस्था है जिसमें साधक के हृदय में सम्बोधि प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। जिज्ञासु साधक की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं। उसमे महाकरुणा, श्रद्धा, दया, मैत्री, दान, शास्त्र, ज्ञान, लोक-ज्ञान, नम्रता, दृढ़ता आदि उदात्त गुणों का उदय हो जाता है।

१—जानन्ता बूझा नहीं बूझि कियो नहि गौन।
अन्धे को अन्धा मिला राह बतावे कौन॥

क० ग्रा० सं० पृ० १३

सन्तों की वानियों में इस अवस्था के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कबीर का एक पद इस प्रकार है—कबीर अपने मन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि बावले मन तू दुविधा छोड़ दे। अब मैंने हाथ मे प्रियतम से मिलने की प्रतीक्षा का प्रतीक रूप सिंधौरा ले लिया है। गुरू से सच्चा प्रेम करना प्रारम्भ कर दिया है।

अनहद नाद का श्रवण करना प्रारम्भ कर दिया है। अर्थात् योग साधना में प्रवृत्त हो गया हूँ। निसंक होकर भगवद् ध्यान में मग्न होकर थिरकने लगा हूँ। लोभ, मोह, भ्रम, आदि छोड़ दिए हैं। योग मार्ग में प्रवृत्त हुआ साधक रूपी सूर मरने से नहीं डरता। वह सती के सदृश सांसारिक वैभवों के माया मोह में नहीं फँसता। उसके लिए लोक लाज, कुल मर्यादा यही घोर बन्धन का कारण होते हैं[1] इत्यादि। उपर्युक्त उद्धरण में प्रमुदिता की अवस्था की अच्छी झाँकी दिखाई पड़ती है।

इस प्रमुदिता की अवस्था का वर्णन सन्तों ने रहस्यात्मक शैली में भी किया है। वह इस प्रकार है—साधकात्मा रूपी पत्नी कहती है कि परमात्मा रूपी प्रियतम के मिलन की आशा में खड़ी हुई अधिक ऊँचे चढ़ा नहीं जाता मन लज्जा से दोलायमान है। पांव मार्ग में ठहरते नही।[2]

प्रमुदिता के उदाहरण राम काव्य धारा के कवियों में भी ढूँढ़े जा सकते हैं। तुलसी से एक उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है—

गुन सार संसार दुःख रहित विगत संदेह।
तजि मम चरन सरोजप्रिय तिन्ह कहु न देह न कोह ॥
निज गुन श्रवन सुनत सकुचाही। पर गुन सुनत अधिक हरषही ॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाव सबहि सन प्रीती ॥

१—छाड़ि दे मन बौरा डगम ।टेक।
अब तो जर मरे बनि आवै लीन्हो हाथ सिंधौरा।
प्रीति प्रतीत करो दृढ़ गुरू की सुना सब्द घनघोरा।
होय निसंक मगन होय नाचै लोभ मोह भ्रम छाड़ै।
सूरा कहा मरन सों डरपै सती न संचय माड़ै।
लोक लाज कुल की मर्यादा यही गले में फांसी।
आगे है पग पाछे धरिहो होय जगत में हांसी।
अगिन जरे न सती कहावै रन जूझे नहिं सूरा।
क० सा० सं० पृ० ३०

२—क० सा० सं० भाग ४ पृ० १

अर्चिस्मती —जब साधक को बोध्यङ्गों और अष्टांगिक मार्ग का अभ्यास करते करते संसार से विरक्ति हो जाती है तब उस अवस्था को अर्चिस्मती कहते हैं। सन्तों की रचनाओं में अर्चिस्मती से प्रभावित वर्णन भी मिलते हैं। उदाहरण के लिए कबीर का निम्नलिखित उदाहरण ले सकती हूँ। कबीर कहते हैं- सच्चा साधु संसार में रहते हुए भी संसार से इसी प्रकार विरक्त रहता है जिस प्रकार कमल जल में रहता है। वह जल में रहते हुए भी जल से अलग रहता है।[1] इसी अवस्था से प्रभावित कबीर का एक वर्णन इस प्रकार है—हे वैरागी ऐसी रहनी रहो कि संसार में रहते हुए भी संसार से विरक्ति बनी रहे। माया से उदास रहना चाहिए और संत नाम अनुराग बनाए रखना चाहिए।[2] क्षमा की कण्ठी बनानी चाहिए। सील की सिरौनी कान में लगाने की डाट और सुरति की सुमरनी बनानी चाहिए इत्यादि। इसी प्रकार का कबीर का एक पद और है उससे वैराग्य के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है यह वर्णन अर्चिस्मती अवस्था से साम्य रखता है।

सोइ वैरागी जिन दुविधा खोई। टेक॥
टोपी तंत सुमिरनी चितवे सेली अनहद होई।
नाम निरंजन चोरना पहिरे, सो ले सुरति समोई।
छिमा भाव सहज की चोवी झोरी ज्ञान की डोरी।
दिल मार्गे तो सौदा कीजै ऊंच नीच न कोई॥[3]

सुदुर्जया—इस अवस्था में पहुंच कर साधक लोक कल्याण के लिए अनेक प्रकार के उपाय सोचता है और उपदेशक बन बैठता है। मध्ययुगीन कवियों पर इस दशा का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। कबीर के निम्नलिखित उदाहरण पर सुदुर्जया नामक अवस्था का प्रभाव दिखाई पड़ता है। कबीर कहते हैं—कोई विरला संत ही सद्गुरू कहलाने का अधिकारी होता है। ऐसा गुरू समाधिस्थ हो जाता है। ऐसा गुरू दूसरों को समाधि का

१—है साधु संसार में कंवला जल माही।
सदा सर्वदा संग रहे जल परसत नाही।
कबीर शब्दावली भाग ३ पृ० १३

२—ऐसी रहनि रहो वैरागी।
सदा उदास रहै माया से सत्त नाम अनुरागी।
छिमा की कंठी सील सिरौनी सुरति सुमरिनी लागी।
कबीर शब्दावली भाग ३ पृ० ३१

३—क० सा० सं० पृ० ३९

उपदेश देता है। इस प्रकार का गुरू लोक कल्याण में निरत रहता है। वह प्राणों से पूजने योग्य होता है। ऐसा गुरू हठ योग का उपदेश नहीं देता बल्कि उसे मन साधना का उपदेश करता है। उसी के सहारे परमात्मा की प्राप्ति करा देता है[1]। इस प्रकार के और भी अनेक वर्णन मध्ययुगीन कवियों में मिलते हैं।

अभिमुक्ति—यह साधना जनित विरक्ति की पराकाष्ठा की अवस्था है। इस अवस्था में पहुँचकर साधक समस्त पदार्थों को शून्यरूप समझने लगता है। उसमे अनन्त करुणा का भाव प्रधान रहता है। शेष भाव गौड़ पड़ जाते हैं। इस अवस्था से प्रभावित वर्णन निर्गुणयां कवियों में तो ढूंढे जा सकते हैं किन्तु मध्ययुग की अन्य धारा के कवियों मे नही मिलते।

दूरंगमा—दूरंगमा की स्थिति में पहुँच कर साधक सर्वज्ञ हो जाता है इस अवस्था के वर्णन सन्त कवियों में बहुत कम मिलते हैं।

अचला—वस्तुओं की निस्वभावता के बोद्ध की अवस्था है। इस अवस्था मे पहुँचकर साधक संसार में रहते हुए भी संसार से उदासीन रहते है। इस अवस्था का भी अधिक प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता है। सन्तों की बानियों में केवल कुछ वर्णन ऐसे मिलते है जिन पर इस अवस्था का थोड़ा बहुत प्रभाव दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए कबीर का निम्नलिखित सबद ले सकते हैं। इस अवतरण पर अचला नामक स्थिति का थोड़ा सा प्रभाव परिलक्षित होता है। कबीर कहते हैं—हे सद्गुरू रूपी फकीर तुमने मेरी उस परमात्मा में ऐसी लगन लगा दी है कि संसार के और सब पदार्थ

१—माई कोई सद्गुरू सन्त कहाव,
नैनन अलख लखावै।
डोलत डिग न बोलत बिसरै,
जब उपदेश हृदावै।
प्राह पूज्य किरिया ते न्यारा,
सहज समाधि सिखावै।
द्वार न रूंध पवन न रोके,
नहिं अनहृद अरू झाव।
यह मन जाय तां सगि जबही,
परमातम दरसावै।
क० श० भा० १ पृ० ३

जप तप व्रत दम संजम नेमा। गुरु गोविन्द विप्र पद प्रेमा॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥
बिरति विवेक विनय विज्ञाना बोध जथारथ वेद पुराना॥
दम मान मद करहि न काऊ, भूलि न देहि कुमारग पाऊ।
मानस पृ० ७५२

विमला—दूसरी अवस्था है विमला। इस अवस्था में साधक वचन और मन के पापों को दूर करता है। सन्तो की वानी में इस अवस्था के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कबीर का एक पद है जिसमें कबीर कहते हैं—जबसे मन में ईश्वर का विश्वास हो गया है तबसे सब विकार छूटे जा रहे हैं और भगवान् के प्रति नित नई प्रीति बढ़ रही है, इत्यादि।[1] इसी प्रकार कबीर का एक पद और है। वह इस प्रकार है—नेत्रों को अन्तर्मुखी करके देखो इस शरीररूपी महल में परमात्मा रूपी प्रियतम है। उसे प्राप्त करने के लिए काम, क्रोध, मद, लोभ, आदि का परित्याग कर देना चाहिए। शील, सन्तोष और क्षमा आदि का अभ्यास करना चाहिए। मद्य, मांस और मदिरा का भी परित्याग कर देना चाहिए। सब प्रकार के भ्रमों का निराकरण करके ज्ञान के घोड़ों पर सवार होना चाहिए।[2]

इस अवस्था से प्रभावित वर्णन अन्य धाराओं के कवियों मे भी मिलते हैं। कृष्ण काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि सूर का निम्नलिखित पद इससे प्रभावित प्रतीत होता है।

प्रभु जू यों कीन्हो हम खेती।
बंझर भूमि गाऊ हर जोते अरु जेती की तेती॥
काम क्रोध दोउ बैल बली मिलि रजता मस सब कीन्हों।

१—जब ते मन परतीति भई।
तब ते अवगुन छूटन लागे, दिन दिन बाढ़त प्रीति नई।
क० सा० सं० पृ० ४

२—कर नैनो दीदार महल मे प्यारा है।
काम क्रोध मद लोभ बिसारो।
सील सतोष छिमा सत धारो।
मद्य मांस मिथ्या तजि डारो।
हो ज्ञान घोड़े असवार भरम से न्यारा है।
क० सा० स० पृ० ७६

अति कुबुद्धि मन हांकन हारे, माया जुआ दीन्हों ॥
इन्द्रिय मूल किसान महा तुन अग्रज बीज बई।[1] इत्यादि

इसी स्थिति से प्रभावित सूर का एक पद इस प्रकार है:—

मन रे माधव सो कर प्रीति।
काम क्रोध मद लोभ मोह, तू छाड़ि सबै विपरीति ॥[2]

क्रोध—इस अवस्था को प्राप्त साधक की तृष्णा क्षीण हो जाती है। उसका स्वभाव निर्मल हो जाता है। मध्ययुगीन कवियों में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। कबीर कृत यह वर्णन देखिए। इसमें प्रभाकरी अवस्था का ही चित्रण किया गया है। कबीर कहते हैं--जब साधक की तृष्णा क्षीण हो जाती है तब उसको सांसारिक वैभव से कोई प्रेम नहीं रह जाता है। उसकी बुद्धि में दुविधा नहीं रहती है। इस स्थिति में सेवक को वह सरलता प्राप्त हो जाती है जो ब्रह्मादि भी नहीं पाते हैं।

इस प्रकार का साधक अपने को तो नीचा समझता है, दूसरे को ऊंचा स्थान प्रदान करता है। कबीर कहते हैं--हे अवधू मैं सच कहता हूं इस प्रकार का साधक मुझे पसन्द है।[3]

प्रभाकरी अवस्था की छाया मध्ययुग की अन्य धाराओं के कवियो में भी मिल जाती है। उदाहरण के लिए हम संत सूरदास के निम्नलिखित पद को ले सकते हैं:—

ऐसा कब करिहौ गोपाल।
मनसा नाथ मनोरथ दाता, हो प्रभु दीन दयाल ॥
चरननि चित्त निरन्तर अनुरत रसान चरित रसाल।
लोचन सजल प्रेम पुलकित तन, गर अचल कर माला ॥
सूर सागर पृ० ९९

१—सूर सागर पृ० ९९
२—सूर सागर पृ० १८०
३—जन को दीनता जब आवै।
रहै अधीन दीनता भावै दुरमति दूर बहावै।
सो पद देवदास अपहे को ब्रह्मादिक नहिं पावै।
औरन की ऊंचो करि मानै आपुन नीच कहावै।
तुम से अवधू सांच कहत हों, सो मेरे मन भावै।
कबीर शब्दावली. भाग १ १०६

अचिस्मती —जब साधक को बोध्यङ्गों और अष्टांगिक मार्ग का अभ्यास करते करते संसार से विरक्ति हो जाती है तब उस अवस्था को अर्चिस्मती कहते हैं। सन्तों की रचनाओं में अर्चिस्मती से प्रभावित वर्णन भी मिलते हैं। उदाहरण के लिए कबीर का निम्नलिखित उदाहरण ले सकती हूँ। कबीर कहते हैं- सच्चा साधु संसार में रहते हुए भी संसार से इसी प्रकार विरक्त रहता है जिस प्रकार कमल जल में रहता है। वह जल में रहते हुए भी जल से अलग रहता है।[1] इसी अवस्था से प्रभावित कबीर का एक वर्णन इस प्रकार है—हे वैरागी ऐसी रहनी रहो कि संसार में रहते हुए भी संसार से विरक्ति बनी रहे। माया से उदास रहना चाहिए और संत नाम अनुराग बनाए रखना चाहिए।[2] क्षमा की कण्ठी बनानी चाहिए। सील की सिरौनी कान में लगाने की डाट और सुरति की सुमरनी बनानी चाहिए इत्यादि। इसी प्रकार का कबीर का एक पद और है उससे वैराग्य के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है यह वर्णन अर्चिस्मती अवस्था से साम्य रखता है।

सोइ वैरागी जिन दुविधा खोई। टेक ॥
टोपी तंत सुमिरनी चितवे सेली अनहद होई।
नाम निरंजन चोरना पहिरे, सो ले सुरति समोई।
छिमा भाव सहज की चोवी झोरी ज्ञान की डोरी।
दिल मागें तो सोदा कीजे ऊंच नीच न कोई ॥[3]

सुदुर्जया—इस अवस्था में पहुंच कर साधक लोक कल्याण के लिए अनेक प्रकार के उपाय सोचता है और उपदेशक बन बैठता है। मध्ययुगीन कवियों पर इस दशा का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। कबीर के निम्नलिखित उदाहरण पर सुदुर्जया नामक अवस्था का प्रभाव दिखाई पड़ता है। कबीर कहते हैं—कोई विरला संत ही सद्गुरू कहलाने का अधिकारी होता है। ऐसा गुरू समाधिस्थ हो जाता है। ऐसा गुरू दूसरों को समाधि का

१—है साधु ससार में कंवला जल माही।
सदा सर्वदा संग रहे जल परसत नाही।
कबीर शब्दावली भाग ३ पृ० १३

२—ऐसी रहनि रहो वैरागी।
सदा उदास रहै माया से सत्त नाम अनुरागी।
छिमा की कंठी सील सिरौनी सुरति सुमरिनी जागी।
कबीर शब्दावली भाग ३ पृ० ३९

३—क० सा० सं० पृ० ३९

उपदेश देता है। इस प्रकार का गुरू लोक कल्याण में निरत रहता है। वह प्राणों से पूजने योग्य होता है। ऐसा गुरू हठ योग का उपदेश नहीं देता वल्कि उसे मन साधना का उपदेश करता है। उसी के सहारे परमात्मा की प्राप्ति करा देता है[1]। इस प्रकार के और भी अनेक वर्णन मध्ययुगीन कवियों में मिलते हैं।

अभिमुक्ति—यह साधना जनित विरक्ति की पराकाष्ठा की अवस्था है। इस अवस्था में पहुँचकर साधक समस्त पदार्थों को शून्यरूप समझने लगता है। उसमें अनन्त करुणा का भाव प्रधान रहता है। शेष भाव गौड़ पड़ जाते हैं। इस अवस्था से प्रभावित वर्णन निर्गुणयां कवियों में तो ढूंढे जा सकते हैं किन्तु मध्ययुग की अन्य धारा के कवियों में नहो मिलते।

दूरंगमा—दूरंगमा की स्थिति में पहुँच कर साधक सर्वज्ञ हो जाता है इस अवस्था के वर्णन सन्त कवियों में बहुत कम मिलते हैं।

अचला—वस्तुओं की निस्वभावता के बोद्ध की अवस्था है। इस अवस्था में पहुँचकर साधक संसार में रहते हुए भी संसार से उदासीन रहते हैं। इस अवस्था का भी अधिक प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता है। सन्तों की बानियों में केवल कुछ वर्णन ऐसे मिलते हैं जिन पर इस अवस्था का थोड़ा बहुत प्रभाव दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए कबीर का निम्नलिखित सबद ले सकते हैं। इस अवतरण पर अचला नामक स्थिति का थोड़ा सा प्रभाव परिलक्षित होता है। कबीर कहते हैं—हे सद्गुरू रूपी फकीर तुमने मेरी उस परमात्मा में ऐसी लगन लगा दी है कि संसार के और सब पदार्थ

१—माई कोई सद्गुरू सन्त कहाव,
नैनन अलख लखावै।
डोलत डिग न बोलत बिसरै,
जब उपदेश हृढावै।
प्राह पूज्य किरिया ते न्यारा,
सहज समाधि सिखावै।
द्वार न रूध पवन न रोके,
नहि अनहद अरु झावे।
यह मन जाय तां लगि जबही,
परमातम दरसावै।
क० ग्र० भा० १ पृ० ३

निस्वभाव प्रतीत होने लगे हैं। मैं अज्ञान की नींद में निमग्न था किन्तु गुरु ने हमें जगा दिया। मैं भवसागर में डूबा जा रहा था तुमने बाँह पकड़ कर हमारा उद्धार कर दिया[1]।

धर्ममेघ—यह वास्तव में पूर्ण समाधि की अवस्था है। इससे सम्बन्धित वर्णन निर्गुणियाँ सन्तों में बहुत मिलते हैं। उदाहरण के लिए सन्त कबीर का निम्नलिखित उद्धरण दे सकती हूँ।

छका सो छका फिर देह धारै नहीं।
करम और कपट सब दूर किया।।
जिन स्वास उस्वास का प्रेम पियाला पिया।
नाव दरियाव तहं पैसि जीया ।।
चढी मतवाल और हुआ मन सैविता ।।
फटकि ज्यों फेर नहि फूरि जावै ।।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर मैं यह कह सकती हूँ कि मध्ययुगीन साहित्य पर विशेष कर हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा पर बौद्ध योग साधना का व्यापक प्रभाव पड़ा है।

तांत्रिक सिद्धों की प्रज्ञोपाय साधना तथा मध्ययुगीन साहित्य पर उसका प्रभाव :

यह मैं पहले भी कह चुकी हूँ कि सिद्धों की साधना की आधार भूमि प्रज्ञोपाय का युगनद्ध रूप है। सिद्धों का कहना है कि इन दोनों के तादात्म्य के बिना महासुख या दिव्य आनन्द की उपलब्धि नही होती। इनके इस सिद्धान्त की अभिव्यक्ति मध्यकालीन साहित्य मे नाना रूपों में मिलती है जैसे नाद विन्दु साधना, शिव शक्ति साधना, शून्य अतिशून्य साधना, मन उन्नन साधना सुरति निरति साधना आदि, आदि। इनमें हिन्दी के निर्गुणियां कवियों मे सुरति निरति साधना विशेष उल्लेखनीय है

मैं सन्तो की सुरति निरति साधना को बौद्ध सिद्धों की प्रज्ञोपाय साधना का रूपान्तर मानती हूँ। जिस प्रकार बौद्ध सिद्ध लोग प्रज्ञा और

१ सोहि मोरि लगन लगाइ रे फकिरवा,
सोवत ही मैं अपने मदिर में शब्दन मारिजगाये रे।
बूड़त हो भवसागर में बहिया पकरि समुझाये रे।
क० ग्र० भा० १ पृ० ६

२—क० श० भाग १ पृ० १००

उपाय के योग से महासुख की उत्पत्ति मानते हैं उसी प्रकार सन्त लोग सुरति और निरति के सुहाग से शम्भु की प्राप्ति बताते हैं। कबीर ने लिखा है—

सुरति समानी निरति में निरति रही निरधार।
सुरति निरति पाचा भया तब खुल शम्भु दुवार।[1]

सन्तों की नाद बिन्दु और मनोमनी साधना भी प्रज्ञोपाय साधना का ही रूपान्तर है। दोनों की साधनाओं में अन्तर केवल इतना है कि बौद्धों की प्रज्ञोपाय साधना में तामसिकता प्रवेश करने लगी थी जबकि सन्तों की साधना पूर्ण सात्विक थी।

बौद्ध सिद्धों की प्रज्ञोपाय साधना का दूसरा रूप हमें कृष्ण धारा के कवियों में दिखाई पड़ता है।

कृष्ण धारा के कवियों ने प्रज्ञा और उपाय को क्रमशः राधा और कृष्ण बनाकर प्रस्तुत किया है। बौद्धों की प्रज्ञोपाय साधना की तामसिकता उनमें राजसिक बाना पहन कर आई। यही तीनों धाराओं में अन्तर है।

१—क० ग्रं० पृ० १४

अध्याय

बौद्ध धर्म का विश्वास और पुराण पक्ष :६:

(१) बौद्धों के परलोक सम्बन्धी विश्वास
(२) मध्यकालीन साहित्य पर उनका प्रभाव
(३) शरीर के सम्बन्ध में बौद्धों की धारणा
(४) मध्यकालीन साहित्य पर उनका प्रभाव
(५) इह लोक के प्रति बौद्धों की धारणाएँ
(६) मध्यकालीन साहित्य पर उनका प्रभाव
(७) बौद्धों की पाप पुण्य सम्बन्धी धारणाएँ
(८) मध्यकालीन साहित्य पर उनका प्रभाव
(९) बौद्धों के शुभाशुभ सम्बन्धी विश्वास
(१०) मध्यकालीन साहित्य पर उनका प्रभाव
(११) मृत्यु के सम्बन्ध में बौद्धों के विश्वास
(१२) मध्यकालीन साहित्य पर उनका प्रभाव
(१३) मूर्ति पूजा की भावना का विकास
(१४) मध्यकालीन साहित्य पर उनका प्रभाव।

बौद्धों के परलोक संबंधी विश्वास:—

अन्य धर्मानुयाइयों की भांति बौद्ध लोग भी अचिरंतन और चिरंतन दो प्रकार की सृष्टियों में विश्वास करते हैं।[1] वह लोग हिन्दुओं के सदृश जन्मान्तर भी मानते हैं। किन्तु इनकी जन्मान्तर संबंधी धारणा हिन्दुओं से भिन्न है। इनका कहना है कि मृत्यु के अवसर पर व्यक्ति संबंधी जितने स्कन्ध हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं। किन्तु उस व्यक्ति के अपने जीवनकाल में किए गए कर्म तुरन्त ही नये स्कन्धों को जन्म दे देते हैं।

१—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ११ पृ० ८२९

जिससे तुरन्त ही नया जन्म प्राप्त हो जाता है।[1] वह जन्म देवता का मनष्य का, पशुका, प्रेतका, तथा नारकीय भी हो सकता है। नारकीय प्रेत और पशुयोनियां अपाय अथवा विशेष दुखदायनी होती है। कुछ बौद्ध सम्प्रदायों के मतानुसार प्रेतावस्था से भी निकृष्ट एक असुरावस्था होती है। किन्तु हीनयानी लोग इस अवस्था में विश्वास नहीं करते।[2]

ऊपर जिस जन्मान्तर प्रक्रिया का संकेत हमने किया है। वह पूर्ण अनात्मवादी है। वैदिकों के मतानुसार पुनर्जन्म का कारण आत्मा का नए शरीर रूपी वस्त्र का आधार मात्र है। गीता[3] में लिखा भी है:—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नवोपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्रों का परित्याग करके नए वस्त्रों को धारण कर लेता है। उसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीर का परित्याग करके नए शरीर को धारण कर लेती है। कठोपनिषद में भी जन्मान्तरवाद की चर्चा की गई है।[4] उसके अनुसार भी यथा कर्म यथा श्रुतं के अनुसार नई योनि को प्राप्त होता है। वैदिक जन्मान्तरवाद में जैसा कि ऊपर के उदाहरण से प्रकट है। कि कर्मवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी वैदिक आर्य लोग आत्मा की अक्षुणता में विश्वास करते थे। इसके विपरीत बौद्धों में आत्मा जैसी कोई वस्तु न मानकर प्राचीन स्कन्धों के विनाश पर नवीन स्कन्धों के जन्म को ही व्यक्ति का पुनर्जन्म कहा है।[5] कहना न होगा कि बौद्धों का जन्मान्तरवाद सही अर्थ में पुनर्जन्मवाद नहीं कहा जा सकता। यह तो वास्तव में प्रतीतिसमुत्पाद अथवा कार्य कारण की अनवरत शृंखला कही जा सकती है। एक कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। वह कार्य कारण रूप बन कर दूसरे कार्य को जन्म देता है।

१—डिक्शनरी आफ पाली अंग्रेज संस्करण १८७५ में स्कंध की व्याख्या

२ इन्साक्लोपेडिया आफ रिलीजन एन्ड एथिक्स भाग ११ पृ० ८२९

३—गीता २।२२

४—कठोपनिषद् २।२।७

५—इन्साक्लोपेडिया आफ रिलीजन एन्ड ऐथिक्स भाग ११ में स्टेट्स आफदी डेजूस नामक लेख देखिए पृ० ८२९

६—इन्साक्लोपेडिया आफ रिलीजन एन्ड एथिक्स भाग ११ पृ० ८२९

कार्य कारण की यह श्रृंखला अनवरत रूप से चला करती है। बौद्धों के जन्मान्तरवाद का स्वरूप यही है।

यद्यपि बौद्धों का पुनर्जन्मवाद हिंदुओं के पुनर्जन्मवाद से नही मिलता किन्तु उनकी नरक संबंधी धारणाएं हिन्दुओं की पौराणिक धारणाओं के बहुत मेल में हैं।[1] जिस प्रकार पुराणों में अनेक प्रकार के नरक का वर्णन किया गया है। उसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थों में भी बहुत से नरकों की चर्चा मिलती है, किंतु यहां पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है। कि नरक संबंधी विश्वासों का समावेश परवर्ती बौद्ध धर्म में ही है। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में नरक का कहीं पर भी स्पष्ट वर्णन नही किया गया है।

यद्यपि प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में नरक की चर्चा स्पष्टरूप से कहीं पर भी नहीं मिलती है किन्तु ऐसे वर्णन अवश्य मिल जाते हैं। जिन्हें हम नरक कल्पना की आधार भूमि कह सकते हैं।[2] अंगुत्तर निकाय[3] में एक वर्णन आया है। वह इस प्रकार है:—

नरक के राजा यम पापियों को नरक के संरक्षकों को सौंप देते हैं। ये संरक्षक जलते हुए लोहे की शलाका से पापी के चारों हांथपैरों का तथा हृदय का भेदन करते हैं। वे कुदाल से उसका सिर काट डालते हैं। वे उसके सिर को जलती हुई कुंभी में फेंक देते हैं। वे उसे महा नरक में डाल देते हैं। इस अवतरण मे नरक संबंधी धारणा की स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है। इस धारणा का विकसित रूप हमें पेतवत्थु की टीका में मिलता है।[4] इसमें पांच प्रकार की ग्रन्थियों का उल्लेख है। वे क्रमश: खौलते हुए ताम्र का सिंचन, जलते हुए कोयलों के पहाड़ का आरोहण, लोह कुंभी मे पतन, तलवार की पत्तियों के वृक्षों के जंगल में प्रवेश, वैतरणी का संतरण, और महान नरक का पतन है।

ऊपर जिस अंगुत्तर निकाय के अवतरण को उद्धृत किया गया है वह मज्झिम निकाय में भी आया है। मज्झिम निकाय में उपर्युक्त अवतरण के बाद महानिरप या महान नरकों का वर्णन भी मिलता है। जातक ग्रन्थों मे

१—इन्साक्लोपेडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ११ पृ० ८२९

२—अंगुत्तर निकाय ३।२४८

३—इन्साइक्लोपेडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ११ पृ० ८२९, ३१

४—मज्झिम निकाय ३ १८३

नरक सम्बन्धी धारणा और भी स्पष्ट हो गई है। पाँच सौ तीसवीं जातक की टीका[1] में आठ भयानक नरकों का वर्णन किया गया है। उनके नाम क्रमशः संजीव, कालसुन, संघट्ट, रौरव, अग्नि का रौरव, धूमवाला, पपन और अवीचि हैं इन आठों नरकों की भयंकरता का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। इनके अतिरिक्त टीकाकार के अनुसार सोलह और भी छोटे छोटे नरक होते हैं। इनकी चर्चा महावस्तु में की गई है। पंचगतिदीपदान नामक पालि ग्रन्थ में जिसका पता केवल स्यामी साहित्य से चलता है। उपर्युक्त आठों नरकों से सम्बन्धित चार चार उपनरक भी बतलाए गए हैं।[2] इन सब की भयंकरता का वर्णन उसी ढंग पर किया गया है। जिस ढंग पर हिन्दु पुराणों में मिलता है। इनके अतिरिक्त जातकों में और भी बहुत से नरकों का वर्णन मिलता है। जैसे काकोल, अंधकाल, शीतोदक, असिच्छेद, संवर आदिक इन सब में दी जाने वाली भयंकर यातनाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। दीर्घनिकाय[3] में एक लोकतारिक नरक का वर्णन भी मिलता है। यह तीन ब्रह्माण्डों के मध्य में स्थित है। जो लोग अपने सम्बन्धियों और सत्पुरुषों के प्रति दुर्व्यहार करते हैं उन्हें नर्क में जाना पड़ता है।

सुत्त निकाय[4] नामक ग्रन्थ में भी नरकों का वर्णन किया गया है। भगवान बुद्ध से पूछा गया कि पदुम नामक नरक मे लोगों को कितने दिन निवास करना पड़ता है, इस पर उन्होंने उत्तर दिया कि इसकी कोई निश्चित सीमा नहीं है। इस ग्रन्थ में नो नरकों का वर्णन मिलता है। ये नरक जातक ग्रन्थ में वर्णित आठ नरको से भिन्न हैं। उनके नाम क्रमशः—निर्बुद्ध, अबाब, अहजह, अतत, कुमुद, सौगन्धिक, उप्पलक, पुण्डरीक और पदुम हैं।[5] इन नरकों के सम्बन्ध मे टीकाकारों का कहना है कि ये नरक जातकों में वर्णित नरकों से भिन्न नहीं है। इनका नामकरण जितने समय तक व्यक्ति को इनमें रहना पड़ता है उसी समय के अनुसार हुआ है। इसी प्रकार अन्य बौद्ध ग्रन्थों में अनेक प्रकार के अनिर्वचनीय यातनामय नरकों के विस्तृत वर्णन किए गए हैं। यहाँ पर उन सब का विस्तार से वर्णन नहीं

१—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ११ पृ० ८३०
२—वही
३—दीर्घ निकाय २।१२
४—सुत्त निपाक ३।१०
५—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ११ पृ० ८३०

किया जा सकता। और उन सबकी आवश्यकता भी नहीं है। यहां पर इतना ही कहना अभीष्ट है कि बौद्धों की नरक सम्बन्धी धारणाएं लगभग वैसी ही हैं जैसी हिन्दू पुराणों में वर्णित हैं। भेद केवल नाम और यातनाओं के वर्णन में है।

प्रेतलोक—निकृष्टता की दृष्टि से दूसरा स्थान प्रेतलोक का माना जाता है। जिस प्रकार बड़े बड़े पापों के लिए व्यक्तियों को विविध प्रकार के नरकों में जन्म लेकर यातनाएँ भुगतनी पड़ती हैं उसी प्रकार साधारण कोटि के पाप करने वालों को प्रेतलोक में जन्म लेना पड़ता है।[१] जो लोग दान देने में हिचकते हैं उन्हें शूचिमुखी होना पड़ता है। और जो दान देकर पछताते हैं उन्हें विष्टा भक्षी होना पड़ता है। जो लोग क्रोध के आवेश में दूसरों को अपशब्द कहते हैं वे लोग प्रेत होते हैं और उनके कण्ठ में ज्वाला जलती रहती है।[२] प्रेतलोक में कुछ अर्द्ध देव ढंग की योनियाँ भी हैं इस योनि में जन्म लेने वालों को पंचगति दीपन कहते हैं।[३] यह लोग एक प्रकार की देवजाति से ही सम्बन्धित माने जाते हैं। इनको स्वर्ग में रहने का अधिकार नहीं है।[४] इसी प्रकार प्रेतों की और भी कई जातियों का उल्लेख मिलता है।

मानव रूप में पुनर्जन्म—बौद्ध विश्वास के अनुसार अच्छे कर्म करने वाले व्यक्ति को मनुष्य का जन्म भी मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों में इसकी भी एक विस्तृत व्यवस्था दी गई है।[५] विस्तार भय से उनकी चर्चा नहीं की जायगी।

देवलोक—बौद्ध लोग देवलोक[६] की कल्पना में भी विश्वास करते थे। इनका कहना है कि जो लोग सद्कर्म करते हैं वे देवलोक को प्राप्त होते हैं। देवलोक में ही सम्बन्धित स्वर्गों की कल्पना है। स्वर्गों को बौद्धों ने तीन कोटियों में विभाजित कर दिया है[७]—कामलोक, रूपलोक और अरूप-

---

१—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ११ पृ० ८३२
२—वही
३—वही
४—वही
५—मझिम निकाय ६।२०२-२०६
६—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ११ पृ० ८३?
७—वही

लोक। कामलोक से सम्बन्धित सात स्वर्ग बताए गए है।[1] उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं--१=-चतुरमहाराजक देव[2] - यह चार महाराजाओं का लोक माना जाता है। ये चार महाराज चार दिग्पाल हैं। इनके नाग क्रमशः धृतराष्ट्र, विरुद्धक, विरूपाक्ष और वैश्वानर है। इन दिक्पालों के सेवक क्रमशः गन्धर्व, कुम्बन्ध, नाग और यक्ष बताए गए हैं। इनका स्थान मेरुपर्वत माना जाता है।

तेंतीस देवलोक[3]—इस लोक का स्थान मेरुशिखर बताया गया है। इसके निवासी तेंतीस देवता हैं। उन सबके अधिपति शक्र बताए गए है।

यमदेवता का लोक[4]—इसमें निकृष्ट कोटि के व्यक्ति जन्म पाते हैं। हिन्दुओं की भांति बौद्ध लोग भी यम को मृत्यु का देवता मानते हैं।

४—तुषित देव लोकः[5]—यह तुष्ट देवताओं का लोक माना जाता है। बौद्धों का विश्वास है कि बोधिसत्व बुद्ध का अवतार यहीं से धारण करते हैं। इसके अधिष्ठाता संतुषित नामक देवता बताएजाते है।

५—निमान आरती देवलोक[6]—इनमें वह देवता रहते है जो पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। विमानवथ्थु की टीका में इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है। कि काम रूपधारी और इच्छाचारी देवलोक को ही निमान आरती देवलोक कहते हैं।

६—परनिमित्तवासवत्ति देव लोकः[7] —इस लोक के देवता वासवत्ति माने जाते है। दीर्घनिकाय के अनुसार इस लोक के देवता दूसरों के द्वारा उद्भूत वासनाओं पर आत्माधिकार स्थापित रखते है। संक्षेप में कामलोक से संबंधित स्वर्ग या देवलोक यही है।

७—रूपलोक से संबंधित स्वर्गः—बौद्ध ग्रन्थों में रूप लोक से संबन्धित स्वर्गों की चर्चा भी मिलती है। मझिमनिकाय[8] में इस प्रकार

१—मझिम निकाय १।२८९
२—वही
३—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ११ पृ० ८३२
४—वही
५—वही
६—वही
७—वही
८—मझिम निकाय १।२८९

के १३ स्वर्गों का वर्णन किया गया है। कुछ दूसरे ग्रन्थों में इससे सम्बन्धित लोकों की संख्या १६ से १८ तक पहुंचा दी गई है।[१] स्थूल रूप से इसके चार प्रधान भेद बताए गए हैं। उन्हीं का आगे चलकर उपलोकों में वर्गीकरण किया गया है। इन चारों लोकों के नाम प्रथमध्यान द्वितीयध्यान तृतीयध्यान और चतुर्थध्यान हैं। बौद्ध ग्रन्थों मे इन सबके सम्बन्ध में बहुत विस्तार से विचार किया गया है।

अरूपलोक से सम्बन्धित स्वर्ग[२]:—बौद्ध ग्रन्थों में अरूपलोकों से सम्बन्धित भी स्वर्गों की चर्चा की गई है। उन सब का उल्लेख करना यहां पर आवश्यक नहीं प्रतीत होता।

बौद्धों की पाप पुण्य सम्बन्धी धारणा

बौद्ध लोग भी पाप और पुण्य में विश्वास करते थे। वे पूर्ण रूप से कर्मवादी थे।[३] उनकी दृढ़ धारणा थी कि जो जैसे कर्म करता है उसे दूसरे जन्म में वैसे ही फल मिलते हैं। उन फलों की प्राप्ति से किसी की मुक्ति नहीं हो सकती। बौद्ध लोग कार्य कारण का अविच्छिन्न संबंध मानते रहे।[४] अतएव बुरे कर्म का फल बुरा होना स्वाभाविक ही नहीं उनकी दृष्टि में अनिवार्य भी है। इसी प्रकार अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि कौन कर्म अच्छे हैं और कौन बुरे। बौद्धों की धारणा है कि सृष्टि की एक विशेष नैतिक व्यवस्था है।[५] इस नैतिक व्यवस्था का उल्लंघन करते ही मनुष्य पाप का भागी बन जाता है। इसी प्रकार इस नैतिक व्यवस्था में योगदान देने वाले पुण्य के भागी बताये जाते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि अखण्ड नैतिक व्यवस्था का क्या स्वरूप है? इस संबंध में बौद्धों की धारणा बहुत स्पष्ट नहीं है। उनका कहना है कि जो कर्म निर्वाण प्राप्ति मे सहायक होते हैं वे ही पुण्य कर्म हैं और जो निर्वाण प्राप्ति में सहायक नहीं होते वे ही पाप कर्म हैं। उनकी दृष्टि मे प्रत्येक मनुष्य का परम कर्तव्य चार आर्यसत्यों

१—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ११ पृ० ८३२
२—वही
३—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स में "कर्म" नामक लेख देखिए।
४—बौद्ध धर्म और दर्शन—आचार्य नरेन्द्र देव
५—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ११ पृ० ५३१

का अनुसंधान कर उनके अनुकूल आचरण करके निर्वाण के मार्ग में अग्रसर होना है। चार आर्यसत्यों में एक आर्यसत्य दुःखनिरोध है। दुःखनिरोध के लिए बौद्ध ग्रन्थों में दुखनिरोधगामिनी प्रतिपद की संज्ञा दी गई है।[1] इस प्रतिपद को कुछ लोग अष्टांगिक मार्ग भी कहते हैं। बौद्ध धर्म में प्रज्ञाशील और समाधि साधना के मुख्य आधार बताए गए है। अष्टांगिक मार्ग इन्हीं से संबंधित हैं। अष्टांगिक मार्ग के अंग क्रमशः सम्यक्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यक्वाक, सम्यक्कर्मान्त, सम्यक्आजीविका, सम्यक्व्यायाम, सम्यक्स्मृति और सम्यक्समाधि हैं। प्रथम दो का संबंध प्रज्ञा से, उसके बाद के तीन का संबंध शील से और अंतिम तीन का संबंध समाधि से बताया जाता है। यहाँ पर हम सम्यक् शब्द का भी अर्थ स्पष्ट कर देना चाहते हैं। बौद्ध ग्रन्थों में सम्यक् शब्द मध्यमार्गीय के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।[2] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बौद्ध धर्म में उन्ही कर्मों को पुण्य रूप कहा गया है जो निर्वाण की प्राप्ति में सहायक होते हैं। इनके विरोधी कर्मों को पाप कहा गया है।

बौद्धों की जन्म और पुनर्जन्म सम्बन्धी धारणा

व्यक्ति का जन्म कैसे होता है? इस सम्बन्ध में बौद्ध धर्म मे कोई व्यापक व्यवस्था नही मिलती। मझिमनिकाय[3] मे अवश्य एक स्थल पर इस संबंध में थोड़ा सा प्रकाश डाला गया है। उसके अनुसार किसी व्यक्ति का जन्म तीन कारणों से हुआ करता है। १-माता पिता के संयोग से २-माता के नियमित समय तक गर्भ धारण करने पर ३-तथा मातृ गर्भ में गंधर्व के प्रवेश पर। यहां पर प्रश्न उठता है कि गधर्व क्या वस्तु है। पहली दो बात ब्राह्मण धर्म से साम्य रखती है। तीसरी बात भी कुछ साम्य रखती है। अन्तर केवल इतना है कि ब्राह्मण धर्म में जीव के प्रवेश की बात कही गयी है और बौद्ध धर्म में गधर्व के प्रवेश की बात कही गई है। तो क्या गन्धर्व और जीव एक ही हैं? या परस्पर भिन्न हैं वास्तव में बौद्ध दर्शन के आधार पर दोनों में बड़ा भेद दिखाई पड़ता है। बौद्ध दर्शन में गंधर्व के लिए अन्तर्भाव का नाम भी दिया गया है। बौद्धों के एक सम्प्रदाय के अनुसार स्कन्धों के मरण भाव के पश्चात् एक अन्तर्भाव

१—बौद्ध धर्म मीमांसा—बलदेव उपाध्याय पृ० ६९

२—वही

३—मझिम निकाय २।१५६

उदय होता है। यह अन्तर्भाव ही जीवभाव को जन्म देता है। यहां पर फिर प्रश्न उठ सकता है कि अन्तर्भाव कैसे अपने अनुरूप जीवभाव को प्राप्त होता है? इसके उत्तर में बौद्ध लोग कर्मवाद के सिद्धांत का उल्लेख करते हैं। उनका कहना है कि अन्तर्भाव स्कन्धों के मरणाभाव कर्मजन्य संस्कार उपलब्ध करता है और इन कर्मजन्य संस्कारों के अनुरूप ही यह जीवभाव या पुनर्जन्म को प्राप्त होता है।

कुछ बौद्धों को उपर्युक्त धारणा मान्य नहीं है। वे अन्तर्भाव के सिद्धांत को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि स्कन्ध मरण भाव को प्राप्त होते ही तुरन्त ही अपने अपने कर्म के अनुसार पुनर्जीव भाव को प्राप्त हो जाते हैं।[1] इसी अर्थ में बौद्ध लोग पुनर्जीववादी कहे जाते हैं।

भगवान बुद्ध का कर्मवादी सिद्धान्त:—

बौद्ध लोग ईश्वरवाद में विश्वास नहीं करते। वह इस संसार में सब कुछ कर्मज मानते हैं। कर्म दो प्रकार के होते हैं। चेतना और चेतयित्वा।[2] चेतना मानस कर्म को कहते हैं और चेतयित्वा चेतना कृत कर्म को कहते हैं। चेतयित्वा कर्म भी दो प्रकार के होते हैं। १-कायिक २ वाचिक। आश्रय स्वभाव और समुत्थान से उपर्युक्त तीनों प्रकारों के कर्मों की सिद्धि मानी जाती है। आश्रय की दृष्टि से कर्म एक ही ठहरता है। स्वभाव की दृष्टि से भी वाक् कर्म ही अकेला कर्म ठहरता है। समुत्थान की दृष्टि से केवल मानस कर्म मात्र ठहरता है। इस प्रकार काय, वाक् और मन् इन तीनों दृष्टि से स्वतन्त्ररूप से विचार करने से कर्म का आश्रय क्रमशः इनमें से प्रत्येक अलग और निरपेक्ष दिखाई पड़ता है।

जैसे मनुष्य के चित्त और कर्म होते हैं वैसे ही फल उसे मिलता है। जो व्यक्ति वैचित्र हमें दिखाई पड़ता है वह सब कर्मज है। व्यक्ति वैचित्र्य ही क्या विश्व में जहां कहीं भी वैचित्र्य दिखाई पड़ता है उस वैचित्र्य का कारण कार्यकारण की अनवरत शृंखला ही है अकुशल कर्मों से मनुष्य को दुःख वेदना आदि भोगने पड़ते हैं। नरक की प्राप्ति इन्हीं अकुशल कर्मों का फल है। इसी प्रकार कुशल कर्मों के फल स्वरूप स्वर्गादि की प्राप्ति इन्हीं अकुशल कर्मों का फल है। इसी प्रकार कुशल कर्मों के

१—अभिधम्म कोष भाष्य—अनुवाद—लन्दन १९१४ पृ० ६

२—बौद्ध धर्म और दर्शन—आचार्य नरेन्द्र देव। त्रयोदश अध्याय ५। प्रारम्भिक भाग।

फलस्वरूप स्वर्गादि की प्राप्ति होती है।[1] कर्मों के स्वरूप फल और प्रकारों पर भिन्न भिन्न बौद्ध दर्शनों में भिन्न भिन्न प्रकार से विचार किया गया है। यहाँ पर हम कर्मविपाक के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न बौद्ध दर्शन पद्धतियों में जो प्रचलित मतवाद हैं उनका संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं। सर्वास्तिवादियों[2] की धारणा है कि कर्म का विपाक कर्म सम्पादन के बहुत दिन पश्चात होता है। सौतान्त्रिक[3] कर्मविपाक को प्रत्युत्पन्न मानने के साथ ही साथ वे उसे चैत भी मानते हैं। अर्थात् कर्मविपाक की प्रतीति केवल चित्त में आहित करके होती है। इसी प्रकार और दर्शन पद्धतियों में भी कर्मविपाक के सम्बन्ध में थोड़ा मतभेद है।

कर्मविपाक को सक्रिय रखने वाली कौन शक्ति है यह प्रश्न बड़ा जटिल है। ईश्वरवादी उसके लिए ईश्वरनामक शक्ति की कल्पना करते हैं। और अनीश्वरवादी बौद्ध तृष्णा को ही कर्मविपाक[4] की प्रवर्तिका समझते हैं।

मध्ययुगीन सन्तों पर बौद्धों के परलोक सम्बन्धी विश्वासों की छाया

जहां तक बौद्धों के विश्वास पक्ष का सम्बन्ध है, मध्ययुगीन साहित्य पर उसका प्रभाव बहुत कम दिखाई पड़ता है। फिर भी प्रयत्न करने पर थोड़े बहुत प्रभाव परिलक्षित हो ही जाते है।

ऊपर मैंने बौद्धों के परलोक सम्बन्धी विश्वासों की चर्चा की है। उनमे निम्नलिखित तत्व उल्लेखनीय हैं।

१--जन्मान्तर में विश्वास

२- पाप पुण्य तथा स्वर्ग और नरक आदि में विश्वास

३--नरक के राजा में विश्वास

जन्मान्तरवाद में विश्वास—हिन्दुओं के सदृश बौद्ध लोग भी जन्मान्तरवाद में विश्वास करते थे। दोनों के जन्मान्तरवाद में अन्तर है। हिन्दू लोग आत्मा का जन्मान्तर मानते हैं। बौद्ध लोग संस्कारों का संतरण मानते हैं।

मध्ययुगीन कवियों पर बौद्धों के जन्मान्तरवाद का प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिन्दुओं के जन्मान्तर के सिद्धान्त ने उनके इस विश्वास को और

१—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स

२—बौद्ध धर्म और दर्शन—आचार्य नरेन्द्र देव पृ० २७३

३—वही पृ० २७४

४—वही २७३

दृढ़ कर दिया। बौद्धों का विश्वास है कि मनुष्य बुरे कर्मों के फलस्वरूप ८४ लाख योनियों में भ्रमित होता है। बौद्धों के इस सिद्धान्त से सन्त. लोग प्रभावित थे। संत कबीर ने कर्म के दो भेद बताए हैं—

एक कर्म है बोवना, उपजै बीज बहुत।
एक कर्म है मूंजना, उदय न अंकुर सूत॥[1]

बुरे कर्मों के फलस्वरूप ही जीव को ८४ लाख योनियों में भ्रमित होना पड़ता है। कबीर कहते हैं—

चौरासी भरमत फिरै, भोगै नाना सोक।[2]

इसी प्रकार एक स्थल पर कबीर ने लिखा है—

पूरब जनम करम भूमि बीजु नहि बोया।
वारिक ते विरघ भया होना सो होया॥[3]

सन्तों ने बौद्धों के सदृश जन्मान्तर को दुःख का कारण भी कहा है। कबीर कहते हैं—

धावत जोनि जनमि भ्रमि थाक्यो अब दुःख कर हम हारयो रे।[4]

इस प्रकार मैं कह सकती हूँ कि संत लोग भी बौद्धों के सदृश जन्मान्तरवाद में विश्वास करते थे और जन्मान्तर को बौद्धों के सदृश ही दुःख का कारण मानते थे।

जहाँ तक अन्य धाराओं के कवियों की बात है उनमें तो जन्मान्तरवाद की प्रतिष्ठा निर्विवाद रूप से थी। अतः उसकी चर्चा नहीं की जा रही है।

नरकवाद—जिस प्रकार हिन्दू लोगों की धारणा थी कि पापों का परिणाम बुरा होता है और उसके प्रतिफल रूप नरक भुगतने पड़ते हैं उसी प्रकार बौद्ध लोगों का भी विश्वास था कि मनुष्य के बुरे कर्मों के परिणामस्वरूप उसको नरक भुगतने पड़ते हैं। यहां पर एक प्रश्न उठता है कि इस प्रकार की धारणाएं मूलतः हिन्दू हैं या बौद्ध ? इस सम्बन्ध में मेरी अपनी धारणा यह है कि हिन्दू पौराणिकता का विकास और विस्तार बौद्ध पौराणिकता की पृष्ठभूमि पर हुआ है। मेरी इस धारणा के कई आधार हैं। पहली बात यह

१—क० सा० स० पृ० १८४
२—वही
३—कबीर ग्रन्थावली पृ० २१०
४—वही।

है कि वैदिक साहित्य में जिस देवतावाद का स्वरूप दिखाई पड़ता है, पौराणिक साहित्य में उस रूप से नहीं मिलता। हिन्दू पुराणों का बौद्ध पौराणिकता से बड़ा साम्य दिखाई पड़ता है। बौद्ध पौराणिकता का विकास हिन्दू पुराणों से पहले हो गया था। हिन्दू पुराणों का काल पहली शताब्दी के बाद का है जब कि बौद्ध पौराणिकता हमें स्वयं बुद्ध वचनों में मिलती है। बुद्ध वचनों का समय ईसवी पूर्व है।

अपनी इस धारणा की पुष्टि में मैं एक तर्क और प्रस्तुत कर सकती हूं। वह यह कि नरक स्वर्ग की प्राप्ति का श्रेय अच्छे बुरे कर्म को दिया गया है। जो अच्छे कर्म करता है उसे स्वर्ग प्राप्त होता है। जो बुरे कर्म करता है उसे नरक प्राप्त होता है। कर्म के सिद्धांत की सर्वाधिक मान्यता बुद्धधर्म ही में प्रतिष्ठित की गई है। ब्राह्मण धर्म में कर्मवाद को बौद्ध प्रभाव के फलस्वरूप ही महत्व दिया गया है। बौद्धों के कर्मवाद के प्रभाव के साथ ब्राह्मण धर्म पर स्वर्ग नरकवाद का भी प्रभाव पड़ा है। उसमें आकर उसका और भी अधिक विस्तार हुआ है। जो भी हो इतना निश्चित सत्य है कि नरकवाद और स्वर्गवाद की धारणा हिन्दुओं और बौद्धों को समान रूप से ग्राह्य है।

मध्यकालीन साहित्य पर इस स्वर्गनरकवाद की धारणा का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। निर्गुणियां सन्तों पर बौद्धों के नरकवाद का ही प्रभाव दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार बौद्ध लोग कुकर्म के फलस्वरूप नरक की प्राप्ति होना बताते थे उसी प्रकार सन्तों ने भी घोषणा की है कि कुकर्म के फलस्वरूप ही नरक भोगने पड़ते है। कबीर ने एक स्थल पर लिखा है—कर्मों का अच्छा और बुरा फल मनुष्य को अवश्य भुगतना पड़ता है। बुरे कर्मों के फलस्वरूप पापियों को नरक भुगतने पड़ते हैं।[1] सुकर्म और कुकर्म ही क्रमशः पुण्य और पाप का कारण होते थे। संत लोग बौद्धों के सदृश ही पाप और पुण्य में भी विश्वास करते है। कबीर ने पाप और पुण्य की चर्चा करते हुए लिखा है—पाप और पुण्य के दो बीज है जिनसे भव का जन्म होता है। अतः मोक्ष प्राप्त करने के लिए पाप और पुण्य रूपी भव के बीजों का विज्ञान की अग्नि में जलाना बड़ा आवश्यक होता है।[2]

१—यही आकर्म से नर्क पार्वी पड़ै।
करम चंडाल की राह न्यारी॥
कबीर शब्दावली भाग १ पृ० ४२

२—पाप पुन्य के बीज दोऊ।
विज्ञान अगिनि में जारिए जो॥
कबीर साहब की ज्ञान गुदड़ी पृ० ८७

इस प्रकार मैं कह सकती हूँ कि सन्त लोग बौद्धों के सुकर्म और कुकर्मवाद तथा पाप और पुण्य और स्वर्ग और नरक सम्बन्धी विश्वासों में आस्था रखते थे।

बौद्ध और ब्राह्मणों की स्वर्ग और नरक सम्बन्धी पौराणिकता में एक मौलिक अन्तर है। वह है कर्म सम्बन्धी। बौद्धों ने सब प्रकार से कर्मों को ही महत्व दिया है। किन्तु ब्राह्मण धर्म मे कर्मों के स्थान पर कर्मकाण्डों पर जोर दिया गया है। बौद्ध लोग जहाँ स्वर्ग और नरक की प्राप्ति जीव कृत सुकर्म और कुकर्म के फलस्वरूप मानते हैं उसी जगह ब्राह्मण लोग स्वर्ग और नरक की प्राप्ति ज्योतिष्टोमादि अनेक यज्ञ योगादिकों का परिणाम बताते हैं।

मध्ययुग की अन्य काव्य धाराओं पर भी हमें उपर्युक्त बौद्ध प्रभाव दिखाई पड़ता है। उनके कवियों ने भी व्यक्ति द्वारा किए गए आचरणों को ही महत्व दिया है। तुलसी का—

कर्म प्रधान विश्व रचि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा।

वाला सिद्धान्त तो भारत के बच्चे बच्चे की जिव्हा पर रहता है। किन्तु यह सिद्धान्त है बौद्धों का, जिसको बाद मे ब्राह्मणों ने अपना लिया था। सूर आदि कृष्ण काव्य धारा के कवियों मे भी हमें नरकवाद की झलक मिलती है। जैसे सूर ने एक स्थल पर लिखा है—

भाजे नरक नाम सुनि मेरो जम दीन्यो हठि तौरो।[१]

नरकवाद और स्वर्गवाद में विश्वास करते हुए भी इनकी इस धारणा को मैं बौद्ध नहीं मानती। इसका कारण यह है कि इस धारा के कवियों पर वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग का प्रभाव है। पुष्टि मार्ग में स्वर्ग की प्राप्ति पुष्टि की प्राप्ति से और नरक की प्राप्ति पुष्टि की अप्राप्ति से बनाई गई है। इस धारा के कवियों को बौद्धों का कर्मवाद का सिद्धान्त स्वीकार नहीं है।

नरक के राजा में विश्वास

हिन्दुओं के सदृश बौद्ध लोग भी नरक के राजा धर्मराज या यमराज में विश्वास करते हैं। उनके इस विश्वास की झलक भी मध्ययुगीन कवियों पर दिखाई पड़ती है। कबीर आदि सन्तों ने भी धर्मराय में अपना विश्वास

१—सूर सागर पृ० ६९

प्रकट किया है। कबीर ने इन धर्मराय का निवास स्थान तृतीय शून्य में बताया है।

तीजै प्रकास रहे धर्म राई।
नर्क स्वर्ग जिन्ह लीन बनाई॥

इस उद्धरण से प्रगट है कि संत लोग धर्मराय को केवल नरक का अधिष्ठाता ही नहीं स्वर्ग का दाता और अधिष्ठाता भी मानते हैं। यम के अस्तित्व में तुलसी भी विश्वास करते हैं। यम के प्रति मान्यता कृष्ण काव्य धारा के कवियों ने भी प्रगट की है।

सूरदास ने एक स्थल पर लिखा है कि मेरा नाम सुनकर नरक तो सब भागने लगे और यमराज ने ताला बन्द कर लिया।[1] इस प्रकार मैं कह सकती हूँ कि सुकर्म और कुकर्म के फलस्वरूप प्राप्त स्वर्ग और नरक के अस्तित्व में बौद्धों के सदृश मध्ययुगीन संत लोग भी विश्वास करते थे और उन्ही के सदृश वे नरक के अधिष्ठाता यमराज या धर्मराय में भी विश्वास करते थे।

कहना न होगा कि बौद्धों के परलोकवाद सम्बन्धी सिद्धांतों की हल्की झलक हिन्दी के मध्ययुगीन कवियों पर दिखाई पड़ती है। किन्तु यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि इस प्रकार के विश्वास सगुणवादी कवियों में हिन्दू पौराणिकता से भी प्रेरित हैं।

इहलोक के प्रति बौद्धों की धारणाएं

बहुत से विद्वानों की धारणा है कि बौद्ध लोग निरीश्वरवादी थे। इहलोक से उदासीन होकर निर्वाण की प्राप्ति करना ही उनका लक्ष्य था। इस धारणा से प्रभावित बौद्ध भिक्षु लोग संसार से मुक्ति पाने का उपाय ढूंढ़ा करते थे। उनकी धारणा थी कि जिस प्रकार भी इस संसार से शीघ्रातिशीघ्र मुक्ति मिल जाय उतना ही अच्छा है। इस प्रकार की धारणाओं का परिणाम यह होने लगा कि लोग कायर और किंकर्तव्यविमूढ होने लगे। वे इस संसार का सामना करने की अपेक्षा आत्महत्या करके भी मुक्ति पाना उचित समझने लगे।[2] इस सम्बन्ध मे मज्झिमनिकाय[3] मे एक कथा दी हुई

१—सूर सागर पृ० ६९

२—इन्साक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ११ पृ० २५ में इस विषय से सम्बन्धित कुछ कहानियां देखिए।

३—मज्झिम निकाय २।१०९

है। उसमें लिखा है कि एक बार एक व्यक्ति को अपनी पत्नी के भावी वियोग की भावना ने इतना अधिक किंकर्तव्यविमूढ़ कर दिया कि उसने इस भावना से कि अगले जन्म में वह और उसकी पत्नी स्त्रीपुरुष के रूप में ही पुनर्जीवित हों, अपनी पत्नी का वध कर डाला और तुरन्त ही आत्महत्या भी कर ली। संसार से पलायन की यह प्रवृत्ति यद्यपि बौद्धों में बहुत अधिक पनपती जा रही थी।[1] किन्तु बौद्ध धर्म की मूलशिक्षा इससे मेल नहीं खाती है। एक प्रामाणिक बौद्ध ग्रंथ में आत्महत्या या संसार से पलायन की प्रवृत्ति को बहुत अनुचित और हेय बताया गया है। उसमें लिखा है—जो लोग संसार की घोर प्रत्यक्षताओं से डर कर आत्महत्या कर लेते हैं अथवा दूसरों को इस दुख और पापमय संसार से डर कर आत्महत्या करने का उपदेश देते हैं, वे किसी प्रकार भी साधु या भिक्षु नहीं कहे जा सकते। ऐसे लोग आत्महत्या का उपदेश देने के कारण हत्या के भागी कहे जायँगे। दीर्घ निकाय[2] में भी एक स्थल पर इसी प्रकार का भाव प्रतिध्वनित किया गया है। उसमें लिखा है— मनुष्य संसार से भाग कर अथवा आत्महत्या करके अपने दुखों और पापों से मुक्ति नहीं पा सकता। उसे पुण्य के फल भी नहीं मिल सकते। मनुष्य को जीवन के दुख सुख सहर्ष भोगने चाहिए। इसी में उसका कल्याण निहित है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बौद्ध धर्म निवृत्तिमार्गी होते हुए भी हमें पलायन का उपदेश नहीं देता।

मध्ययुगीन कवियों पर बौद्धों की इहलोक सम्बन्धी विश्वासों की छाया

इहलोक के प्रति बौद्धों के विश्वासों की जो मीमांसा ऊपर की गई है। उसका निष्कर्ष है कि बौद्ध निवृत्ति मार्गी होते हुए भी पलायनवादी नहीं थे। बौद्धों का यह दृष्टिकोण निर्गुणियां कवियों को भी स्वीकार था। उनकी वाणी में हमें सर्वत्र निवृत्ति मार्ग की प्रवृत्ति मिलती है। किन्तु उनसे कहीं पर भी पलायन का उपदेश नहीं मिलता है। उनमें मन शोधन का उपदेश है, वन में जाने का नहीं। कबीर ने स्पष्ट घोषणा की है–

> बनह बसे क्या कीजिए,
> जे मन नहि तजे विकार।

१—इसके प्रमाण स्वरूप में इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स में प्रो० डीलावेली प्रोसीन के "स्वीसाइड" नामक लेख में "बुद्धिस्ट स्वीसाइड" नामक अंश देखिए।

२—दीर्घ निकाय २।३३९

सन्त का निवृत्ति मार्ग ब्राह्मणों के निवृत्ति मार्ग से बहुत भिन्न है। ब्राह्मण लोगों ने जिस निवृत्ति मार्ग का उपदेश दिया था उसके अनुसार साधक के लिए वन में जाकर घोर तपस्या करना अपेक्षित था। किन्तु बौद्ध लोग इस प्रकार के निवृत्ति मार्ग से सहमत नहीं थे। उनका कहना था कि मन की निवृत्ति करनी चाहिए शरीर की नहीं। जगत के एक एकान्त कोने में जाकर शरीर को तपाने और कष्ट देने में बौद्ध विश्वास नहीं करते थे। बौद्धों का सिद्धांत था कि ज्ञानोदय होना चाहिए चाहे जिस प्रकार हो घर में रह कर या वन में रह कर। उस सिद्धान्त को सन्तों ने ज्यों का त्यों ग्रहण किया था। कबीर ने लिखा है—

कबीर जाग्या ही चाहिए,
क्या गृह क्या बैराग।[1]

इसी प्रकार सन्तों ने सर्वत्र मन के निग्रह पर बल दिया है, शरीर के निग्रह पर नहीं। बौद्धों के इस दृष्टिकोण से सूफी कवि लोग भी प्रभावित थे। जायसी मन निग्रह या मन साधना को इतना अधिक महत्व देते थे कि उन्होंने मन को शिव शक्ति के रूप में कह डाला है। उन्होंने लिखा है—

यह मन सक्ती यह मन सीव।
यह मन पंच तत्व का जीव॥[2]

जायसी की उपर्युक्त पंक्तियो से मिलती जुलती कबीर की भी पंक्ति है—

कहु कबीर जो जानै भेव।
मन मधुसूदन त्रिभुवन देह॥[3]

सन्तों के मनोवाद पर मैं पीछे प्रकाश डाल चुकी हूँ। अतः यहाँ विस्तृत रूप से विचार नहीं कर रही हूँ। कहने का अभिप्राय यह है कि निर्गुणियाँ कवि और सूफी कवि मन निग्रह को ही अधिक महत्व देते थे। वे मन निवृत्ति को ही असली निवृत्ति मानते थे। कहीं जंगल के कोने में जाने की पलायनवादी प्रवृत्ति इन्हें मान्य नहीं थी।

तुलसी आदि राम काव्य धारा के कवियों पर भी बौद्धों के मन

१—कबीर ग्रन्थावली

२—जायसी ग्रन्थावली पृ० ५९

३—कबीर ग्रन्थावली पृ० ३१५

सम्बन्धी निवृत्ति मार्ग का अच्छा प्रभाव पड़ा है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित पद ले सकते हैं—

माधव मोह पास क्यों टूटै।
बाहर कोटि उपाय करिय अभ्यंतर ग्रन्थि न छूटै॥
घृत पूरन करहि अंतर गत ससि प्रतिबिम्ब दिखावै।
ईंधन अनल लगाय कल्प सत औटत नास न पावै॥
तरु कन्दर यह बस विहंग तरु काटै मरै न जैसे।
साधन करिय विचार हीन मन सुद्ध होइ नहि तैसे॥
अंतर मलिन विषय मन अति तन पावन करिय पखारे।
मरइ न उरग अनेक जतन बलमीकि विविध विधि मारे॥
तुलसिदास हरि गुरु करना बिनु विमल विवेक न होई।
बिनु विवेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई॥

उपर्युक्त पद में मन के परिष्करण की बात कह कर महात्मा जी ने बौद्धों का अनुगमन किया है। इस प्रकार के अवतरण सूर आदि कृष्णकाव्य धारा के कवियों में भी मिलते हैं। उपर्युक्त उद्धरणों के प्रकाश में मैं निस्संकोच कह सकती हूँ कि बौद्ध इहलोक सम्बन्धी निवृत्ति मार्गीय दृष्टिकोण से प्रभावित होते हुए भी पलायनवादी नहीं थे।

देवी देवताओं और प्रेतात्माओं में बौद्धों के विश्वास

बौद्धधर्म यद्यपि सुधारवादी धर्म था किन्तु वह भारतीय परम्पराओं से मुक्त न हो सका। भारत में प्रायः सभी धर्म पद्धतियों में देवी देवताओं और प्रेतात्माओं से सम्बन्धित विश्वासों का प्रचार किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है। बौद्धों पर हिन्दू पौराणिकता का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक रहा है और उनसे संबंधित विश्वासों को उन्होंने उसी से प्राप्त किया था। कुछ लोगों की तो यहाँ तक धारणा है[1] कि भगवान बुद्ध स्वयं इस प्रकार के देवी देवता संबंधी विश्वासों से प्रभावित थे। अपने इस कथन के प्रमाण में उन्होंने एक प्राचीन ग्रंथ से एक उद्धरण भी दिया है जिसमें भगवान बुद्ध कहते हैं कि—*मैं तैंतीस देवताओं के स्थान से मनुष्य जाति का उद्धार करने के लिए अवतरित हुआ हूँ।*[2] बहुत सी जातकों में भी इस प्रकार के भाव

१—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ११ पृ० ५७१ में आई० ए० थॅमस साहब का मत देखिए।

२—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ४ पृ० १७१

व्यक्त किए गए हैं कि बोधिसत्व अपने पूर्व जन्म में चार बार ब्रह्मा थे, बीस बार शक्र हुए थे और तैंतालीस बार वृक्ष देवता हुए थे तथा एक बार किन्नर देवता हुए थे३। मार सम्बन्धी धारणा से तो बौद्ध धर्म के सभी ज्ञाता परिचित हैं। मार देवता ने भगवान बुद्ध के साधना मार्ग में अनेक विघ्न उपस्थित करने का प्रयत्न किया था। इस पर उनकी जीवनी लिखने वाले लेखकों ने विविध प्रकार से प्रकाश डाला है। आगे चल कर जब बुद्ध धर्म जन-धर्म बना तो देवी देवता सम्बन्धी विश्वासों का प्रचार और भी अधिक बढ़ा। विविध प्रकार की मनुष्येतर जातियों की चर्चा भी हमें बौद्ध ग्रथों में मिलती है। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—१ स्वर्गीय बोधिसत्व लोक जिसमें अवलोकित और वज्रपाणि विशेष उल्लेखनीय हैं। २–नाग और महोरग यह दुष्ट प्रवृत्ति वाले मनुष्येतर लोग थे। ३–यक्ष, यह भी एक मनुष्येतर जाति थी। वर्धन नाम का यक्ष बुद्ध के परिवार और कपिलवस्तु का रक्षक समझा जाता था। ४–असुरलोग, इसमें राहु की चर्चा विशेष रूप से की जाती है। ५–राक्षसलोग इनके अन्तर्गत ही दैत्य पिशाच और प्रेत आते हैं। बौद्ध ग्रंथों में इन सभी मनुष्येतर जातियों के लोगों के वर्णन आए हैं४। उन सबके अस्तित्व में वे लोग विश्वास करते थे।

बौद्धों के देवी देवतावाद का मध्ययुगीन साहित्य पर प्रभाव

जिस प्रकार हिन्दू लोग अनेक देवी-देवता आदि में विश्वास करते हैं उसी प्रकार बौद्ध लोग भी विविध कोटि के देवी देवताओं में आस्था रखते हैं। इस दृष्टि से बौद्धों और ब्राह्मणों में कोई मौलिक अन्तर नही है।

मध्ययुगीन कविलोग भी देवी-देवतावाद में विश्वास करते थे। किन्तु उनके प्रति उनका दृष्टिकोण बहुत श्रद्धापूर्ण नही था। सन्तों को जहाँ कहीं भी अवसर मिला उन्होने देवतावाद का खण्डन किया है या उसकी खिल्ली उड़ाई है। उदाहरण के लिए हम कबीर का निम्नलिखित उद्धरण ले सकते हैं—

> गुरु की नारि हरिलई चन्द्रमा,
> कुन्ती ने क्वारे ही करन कीन्हा।
> सुग्रीव की नारि तो छीन लई बालि ने,
> मोहिनी देखि सिव भए दीना।
> अहिल्या बाम्हनी से इन्द्र छल किया,

१—इन्साइक्लोपेडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ४ पृ० ५७१
२—वही पृ० ५७२

द्रौपदी पंच भरतार कीन्हा ।
पारा ऋषि महोदरी ते काम क्रीडा करी,
कृष्न गोपिन के रंग भीना ।
ब्रह्मा पुत्री ते भोग बरवस कीन्हा,
पाप और पुन्न दोई घोरि पीना ।
कहै देव सब अन्याई भयऊ,
इनही का कहा सृष्टि कीन्हा ।[1]

उपर्युक्त अवतरण में कबीर ने देववाद और ब्राह्मणवाद की खिल्ली उड़ाई है । उपर्युक्त उद्धरण से यह तो प्रगट होता है कि वे देवता आदि के अस्तित्व में आस्था रखते थे। उनकी इस आस्था की अभिव्यक्ति निम्नलिखित पंक्तियों से प्रगट है—

नाम औषधी अधर कटोरी, पियत अघाय कुमति गइ मोरी ।
ब्रह्मा विष्नु पिए नहि पाए, खोजत संभू जनम गवाए ।
आदि जोति नहि गौरि गनेसवा, ब्रह्मा विष्नु महेस न सेसवा ।

इन उद्धरणों में उन्होने देववाद के प्रति आस्था तो प्रगट की है किन्तु वह आस्था है निम्न कोटि की ही । वे देववाद का स्थान प्रतिष्ठित नहीं मानते थे ।

सन्तो मे देवताओं के प्रति एक विशिष्ठ प्रकार की आस्था भी मिलती है । वे लोग विविध चक्रो के अधिष्ठाता रूप देवताओं में श्रद्धापूर्ण आस्था रखते हैं। निम्नलिखित उद्धरण मे यह बात स्पष्ट प्रगट है । कबीर कहते हैं—मूल कवल मे चार दल है । उसमें कलिंग जाप रहता है तथा उसका रंग लाल है । गणेश देवता उसके अधिष्ठाता हैं । उसकी साधना मे ऋद्धि, सिद्धि नामक सिद्धियों की प्राप्ति होती है । दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान है, उसमे छः चक्र हैं । उसके अधिष्ठाता ब्रह्म और सावित्री देवता हैं । नाभि मे अष्ट दल कवल है । वहां श्वेत सिंहासन पर विष्णु शोभायमान रहते हैं । हृदय में द्वादस कंवल

१—कबीर साहब की ज्ञान गुदड़ी पृ० ५.

हैं। उसके अधिष्ठाता शंकर पार्वती हैं। कंठ में दो दल कंवल हैं। इसके अधिष्ठाता हरि हर और ब्रह्मा तीनों है। इस प्रकार योग के प्रसंग में देवताओं के प्रति सन्तों ने श्रद्धापूर्ण भाव भी प्रगट किया है।[1]

यहां पर एक प्रश्न विचारणीय है। वह है कि देववाद के विरोध की प्रवृत्ति उन्हें कहां से मिली थी? इस प्रवृत्ति को भी मैं बौद्ध ही मानती हूं। सहजयानी और वज्रयानी सम्प्रदायों में ब्राह्मण धर्म के देवताओं के विरोध की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। उसी प्रवृत्ति का प्रभाव सन्तों पर दिखाई पड़ता है।

अन्य धारा के कवि लोग भी देवीदेवताओं में विश्वास करते थे किन्तु उनकी उनके प्रति बहुत श्रद्धापूर्ण आस्था नहीं थी। राम काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि तुलसी ने देवताओं के प्रति आस्था तो प्रगट की है किन्तु

१—मूल कंवल दल चतुर बखानो।
कलि जाप लाल रंग मानो॥
देव गनेस तंह रोपा थानो।
ऋध सिध चंवर दुलारा है॥
स्वाद चक्र षट दल विस्तारो।
ब्रह्म सावित्री रूप निहारो।
उलटि नागनी का सिर मारो।
तहं सब्द ओंकारा है॥
नाभी अष्ट दल साजा।
सन्त सिंहासन विस्नु विराजा॥
हिरिंग जाप तासु मुख गाजा।
लक्ष्मी सिव आधारा॥
द्वादस कंवल हृदय के माहीं।
जंगू गौर सिव ध्यान कराहीं॥
सोई सब्द तहां धुन छाई।
गने करै जै जै कारा है॥ इत्यादि

क० श० भा० १ पृ०

उन्हें प्रतिष्ठित स्थान नहीं दिया है। उन्हें उच्च कोटि की योनि का बताते हुए भी स्वार्थी कहा है—

हम देवता परम अधिकारी।
स्वारथ बस तव भगति बिसारी ॥[1]

देव योनि के अतिरिक्त तुलसी ने बौद्धों के सदृश और कई योनियां मानी हैं। जैसे असुर, मानव, किन्नर, प्रेत, पशु, पक्षी, कीड़े मकोड़े आदि। निम्नलिखित पंक्ति में इन सबका संकेत किया गया है—

देव मनुज नर किन्नर व्याला।
प्रेत पिशाच भूत बैताला ॥
इनकी दसा न कहेऊ बखानी।
सदा काम के चर जानी ॥[2]

बौद्ध लोग भी इन सब योनियों में विश्वास करते हैं। अब प्रश्न यह है कि इन्हें बौद्ध माना जाय या हिन्दू ? यह निर्णय करना वास्तव में बड़ा कठिन है, किन्तु इतना अवश्य है कि मूलतः यह विश्वास हिन्दू है। उनका विकास पुराणों में अपनी पराकाष्ठा में मिलता है। तुलसी आदि मध्ययुगीन कवियों को हिन्दू और बौद्ध दोनों ही विचार धाराओं से प्रेरणा मिली होगी। मैं तुलसी पर भी हिन्दू प्रभाव की अपेक्षा बौद्ध प्रभाव की सम्भावना अधिक मानती हूं। देवताओं के प्रति अप्रतिष्ठा की भावना इन सन्तों को बौद्ध तांत्रिकों से ही मिली थी। हिन्दू पुराणों में देवताओं के प्रति अश्रद्धा का सुख कहीं नहीं व्यक्त किया गया है। जो भी हो, यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि मध्ययुगीन सन्तों की देवतावाद में अश्रद्धापूर्ण आस्था की उत्तरदायक बौद्धों का सहजयानी सम्प्रदाय है।

शरीर के संबंध में बौद्धों की धारणा:—

शरीर के संबंध मे बौद्धों की धारणा है कि यह एक अपवित्र वस्तु है। इसकी उपयोगिता धर्माचरण में ही है। इसकी नश्वरता और अपदस्थता का बौद्ध ग्रन्थों मे शत् शत् प्रकार से संकेत किया गया है।[3] निर्वाण की प्राप्ति के लिए शरीर की वास्तविकता का ज्ञान बड़ा आवश्यक है। बौद्ध

१—तुलसी दर्शन पृ० १२३ से उद्धृत

२—मानस पृ० ९६। मोटा टाइप, गीता प्रेस

३—मिलिन्द प्रश्न बुक ३ चेप्टर ६ ए० बी० ई० भाग ३५ तथा सुत्तनिपात १७ स० बो० ई० १०

लोग किसी सद्चिन्तन के लिए कीड़ों मकोड़ों से भक्षण किए जाते हुए घृणास्पद शव का चिंतन करते हैं।[१] इतना होते हुए भी बौद्ध साधना में शरीर का बड़ा महत्व बताया जाता है। किसी प्रकार की शारीरिक अस्वस्थता अथवा विकार साधना में बाधक हो सकता है।

बौद्ध साधना में शरीर का क्या स्थान है। इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि बौद्ध ग्रन्थों में निर्वाण की न प्राप्ति का प्रमुख कारण असंयम और शरीरोद्भूत तृष्णादि बताए गए हैं। सुत्तनिपाद में एक स्थल पर लिखा है—सब प्रकार की घृणाएं और आसक्तियां इस शरीर से ही उत्पन्न होती हैं। सब प्रकार के कष्ट, सुख और भय इस शरीर से ही उत्पन्न होते हैं। संशय इस शरीर को उसी प्रकार दुःख देते रहते हैं जिस प्रकार बच्चे कौओं को दुःखी किया करते है।[२] बौद्धों की धारणा रही है कि इन प्रकार के समस्त विकारों के केन्द्रभूत शरीर और भौतिक तत्वों से और उपाधियों से मुक्त और विरक्त होने पर ही निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए बौद्ध साधना का सबसे प्रमुख लक्ष्य शरीर और उसकी उपाधियों से मुक्ति प्राप्ति करना है।[३]

शरीर के प्रति इतना जुगुप्सात्मक और वैराग्यपूर्ण दृष्टिकोण रखते हुए भी उसको नियमित और नियंत्रित करने की बात उपेक्षित नहीं की गई है। आत्महत्या को बौद्ध धर्म में बहुत जघन्य पाप बताया गया है।[४] भोजन के संबंध में भी बौद्ध ग्रन्थों में बड़ी संयमपूर्ण व्यवस्था दी गई है।[५] सुरापान को बहुत हेय कहा गया है।[६] शरीर को जानबूझ कर किसी प्रकार का कष्ट पहुंचाना बौद्ध भावना के बिल्कुल विपरीत है।[७]

मध्ययुगीन कवियों पर बौद्धों के शरीर संबंधी धारणाओं का प्रभाव

शरीर के संबंध में बौद्धों की धारणाओं का ऊपर जो उल्लेख किया गया है उसका निष्कर्ष है कि वे लोग जहां एक ओर शरीर को नश्वर और

१—अंगुत्तर निकाय ५।१४

२—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग २ पृ० ७५९

३—विजय सुत्त पृ० १०५६

४ मिलिन्द प्रश्न ४।४, १३

५—धम्मपद ११८

६—सुत्त निपाद पृ० २४४ और २६३ एम० बी० ई०

७—धम्मपद २०१२८१

अपदस्थ मानते हैं वहीं वे साधना में उसका परम महत्व भी स्वीकार करते हैं।

बौद्धों की उपर्युक्त धारणा का प्रभाव मध्य युगीन सन्तों पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। सन्तों ने शरीर की नश्वरता, अपदस्था और अपवित्रता आदि का वर्णन बड़े उत्साह के साथ किया है। कबीर ने एक स्थल पर उसका वर्णन करते हुए लिखा है –

> तखत बना हाड चाम का जी,
> दाना पानी का भोग लगवाता है।
> मल मूत्र झरै लोइ मांस बढ़े,
> आप अपनों अंस बढावता है ।[1]

उसको वे लोग क्षणिक और नश्वर भी मानते थे। कबीर कहते हैं—

> पांच तत का पूतला मानुस धरिया नाव,
> दिन चार के कारने फिर फिर राकै ठाम ।[2]

उनकी दूसरी साखी इस प्रकार है–

> कबीर गर्व न कीजिए देही देख सुरंग,
> बिछुड़े पै मेला नही, ज्यों केंचुली भुजंग ।[3]

सन्त लोग शरीर को इतना अपदस्थ और नश्वर मानते हुए भी साधना में उसका बहुत बड़ा महत्व मानते थे। उस महत्व का कारण कबीर कहते हैं.

> या घट भीतर बाग बगीचे, याही मे सिरजन हारा।
> या घट अन्तर सात समुन्दर, या ही में नव लख तारा।
> या घट अन्दर हीरा मोती, या ही में परखन हारा।
> या घट अन्तर अनहद गरजै, याही में उठत फुहारा।
> कहत कबीर सुनो भाई साधो, याही में गुरू हमारा ।[4]

इसी प्रकार अन्य सन्त भी शरीर को नश्वर और अपदस्थ बताते हुए उसको वे साधना की दृष्टि से बड़ा महत्वमय मानते थे। इसका कारण बौद्ध प्रभाव है।

मृत्यु के सम्बन्ध में बौद्धों के विश्वास

बौद्धों की दृष्टि में मृत्यु अनिवार्य और दुखद वस्तु है। इसके भय

१—कबीर ज्ञान गुदड़ी पृ० ५४
२—क० सा० सं० भाग १-२ पृ० ६१
३—वही
४—क० श० भाग १ पृ० ८४

से मुक्ति पाने के लिए अरहत पद की प्राप्ति एकमात्र उपाय है। अरहत को मृत्यु का भय नहीं रहता है।[1] वह उसका निर्भय होकर स्वागत करता है,[2] क्योंकि वह जानता है कि वर्तमान जीवन ही उसका अन्तिम जीवन है। इसके अतिरिक्त उसे कोई दूसरा जीवन नहीं धारण करना है।[3] उसके लिए मृत्यु केवल समुच्छेद रूप होती है। मृत्यु की अवस्था के सम्बन्ध में बौद्धों की धारणाएँ कुछ अपनी अलग हैं। उनका विश्वास है कि मृत्यु में भौतिक तत्व जिन्हें वे स्कन्द कहते हैं अपने अपने रूपों में मिल जाते हैं। और विज्ञानमात्र शेष रह जाता है।[4] मृत्यु की अवस्था में जिन भौतिक तत्वों की अवस्था का समुच्छेद होता है वे जीवनकाल में संतान रूप में ही जीवित कहे जाते हैं। मूलतः वह क्षणिक ही होते हैं। मृत्यु के समय या मृत्यु होने पर भूतों की यह संतान प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। उनका कार्यकारण सम्बन्ध छिन्न भिन्न होकर नष्ट हो जाता है। विज्ञान से उनका सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है।[5] यह विज्ञान भी नष्ट होकर प्रातिसंधिविज्ञान को जन्म देता है। यह प्रातिसंधिविज्ञान नए भाव को जन्म देता है जो पुनः नए स्कन्धों से मिलकर नई संतान प्रक्रिया परिचालित करता है। इसी को पुनर्जन्म कहते हैं। बौद्ध लोग आत्मा मे विश्वास नहीं करते थे। इनके यहां आत्मा का पुनर्जन्म नही होता। विज्ञान का ही पुनर्जन्म होता है। यह विज्ञान आत्मा की तरह शाश्वत नही होता। कुछ ग्रन्थों में विज्ञान को आयु और उष्मा रूप भी कहा गया है।[6] इतना होते हुए भी बौद्धों का हिन्दुओं से एक बात में साम्य है, जिस प्रकार हिन्दुओं का विश्वास है कि मृत्यु के समय जैसे विचार होते हैं वैसा ही दूसरा जन्म होता है उसी प्रकार बौद्ध लोगों की भी धारणा है कि जिस प्रकार के अन्तिम विभाव और संस्कार होते हैं प्रातिसंधिविज्ञान वैसा ही होता है और प्रातिसंधिविज्ञान के अनुरूप ही पुनर्जन्म होता है। यदि अन्तिम समय में शून्य का ध्यान किया जाय तो प्रातिसंधिविज्ञान नहीं उत्पन्न होगा, जिससे कि निर्वाण की प्राप्ति हो

१—मज्झिम निकाय २।२२३
२—थेरगाथा पृ० १९६
३—धम्म पद ३९
४—दीर्घ निकाय १।५५
५—दीर्घ निकाय १।२०५
६—संयुक्त निकाय ३।१४३

जायगी। इसीलिए माध्यमिकवृत्ति में मृत्यु के समय शून्य पर ध्यान केन्द्रित करने का उपदेश दिया गया है।[1]

बौद्धों की इस धारणा ने कि मृत्यु के समय जैसे विचार होते है वैसा ही पुनर्जन्म होता है, उन्हें मृत्यु के लिए तैयारी करने की बात सुझा दी थी। उनके यहां प्रथा है कि मरणासन्न व्यक्ति के पास जाकर भिक्षु ज्ञानोपदेश करता है और शून्य पर ध्यान लगाने का उपदेश देता है। महावग्ग[2] में स्पष्ट लिखा है कि भिक्षु का कर्तव्य है कि वर्षा ऋतु में भी वह मरणासन्न व्यक्ति के निकट रहकर उसे ज्ञानोपदेश करता रहे। विशुद्धवग्ग[3] में तो मरणासन्न के लिए कुछ संस्कारों का भी विधान किया है, उसमें लिखा है कि मरणासन्न व्यक्ति से उसके सम्बन्धी कहते हैं कि हम लोग बुद्ध की पूजा करने जा रहे हैं ताकि तुम लोग अपने भाव को बुद्ध में परिवर्तित कर सको। इसी प्रकार मरणासन्न व्यक्ति के विचारों को पवित्र करने को विविध प्रयत्न किए जाते थे। इस प्रकार के प्रयत्नों का कभी कभी बड़ा सुन्दर परिणाम निकलता था। इस सम्बन्ध में हार्डी ने अपने मेनुवल आफ बुद्धिज्म में एक कथा दी है।[4] वह कथा इस प्रकार है—एक बार एक मछुए ने जीवन भर बहुत से पाप किए थे। सहस्रों मछलियों को पकड़ा था जब उसकी मृत्यु समीप आने लगी तो वह बहुत भयभीत होने लगा। वह एक बौद्ध भिक्षु के पास गया। उसके पास जाकर सारी कथा कह सुनाई और कहा कि मेरा किसी प्रकार उद्धार करो। उस भिक्षु ने उसे बड़ी सान्त्वना दी और मृत्यु के समय जाकर उसने उसे भगवान बुद्ध का उपदेश दिया तथा विविध प्रकार के बौद्ध सिद्धान्तों को समझाने की चेष्टा की। इसका परिणाम यह हुआ कि मरने के बाद उस पापी मछुए को दिव्य जीवन की प्राप्ति हुई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्धों की मृत्यु सम्बन्धी धारणाएँ केवल आत्मा के पुनर्जन्म के सिद्धान्त को छोड़ कर लगभग सभी बातों में हिन्दुओं से साम्य रखती हैं।

१—माध्यमिक वृत्ति पृ० ५१

२—महावग्ग का विवरण "सेक्रेड बुक आफ दि ईस्ट" वाल्यूम १३ पृ० ३०४

३—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग ४ पृ० ४१४

४—मेनुवल आफ बुद्धिज्म—से० हार्डी पृ० ४३८

बौद्धों के मृत्यु सम्बन्धी विचारों का मध्यकालीन सन्तों पर प्रभाव

बौद्धों के मृत्यु सम्बन्धी विश्वासों की ऊपर जो मीमांसा की गई है उसके अनुसार दो बातें विशेष विचारणीय हैं—

१–जीवन मरण की अनवरत श्रृंखला की मृत्यु एक कड़ी है।

२–मृत्यु के समय जैसे विचार होते हैं दूसरा जन्म या निर्वाण उसी के अनुरूप मिलता है।

मध्यकालीन कवियों पर उपर्युक्त दोनों बातों की छाया ढूंढ़ी जा सकती है। पहली बात है कि मृत्यु एक विराम नहीं जन्म मरण की श्रृंखला की एक कड़ी है। इस भाव की अभिव्यक्ति जन्मान्तरवाद के उदाहरणों में मिलती है। कबीर ने स्पष्ट घोषणा की है कि कर्म के जाल में फंसा हुआ जीव सदैव दिन रात आवागमन में फंसा रहता है।

करम का बाध्या जो मरा
अहनिसि आवै जाय[1]

इस अवतरण से स्पष्ट प्रगट है सन्त कि लोग भी मृत्यु को आवागमन की अनवरत श्रृंखला का एक अनिवार्य अंग मानते थे।

बौद्धों की मृत्यु सम्बन्धी धारणा की दूसरी बात का प्रभाव भी मध्यकालीन सन्तों पर दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए मैं कबीर का निम्नलिखित उद्धरण ले सकती हूँ। कबीर कहते हैं कि जिसको मरना मधुर लगता है, गुरु प्रसाद से मरण का रहस्य उन्होंने ही जान लिया है। और सब लोग वास्तव में मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं किन्तु जो राम के नाम में रम कर मरते हैं वे अविनाशी हो जाते हैं।[2]

१—क० ग्रं० पृ० २५४

२—जे को मरै मरन है मीठा।
गुरु प्रसादि जिनही मरि डीठा।
राम रमे रमि जे जन मुआ।
कहै कबीर अविनासी हुआ॥

कबीर ग्रन्थावली पृ० १०२

अध्याय

उपसंहार :७:

(१) बौद्ध धर्म की कुछ अन्य विशेषताएँ
(२) मध्यकालीन साहित्य पर उनका प्रभाव
(३) मध्यकालीन साहित्य पर पड़े हुए प्रभाव का सिंहावलोकन
(४) अपना दृष्टिकोण

बुद्धिवादिता—बुद्धिवादिता बौद्ध धर्म की प्राणभूत विशेषता है। भगवान् बुद्ध ने स्वयं इस विशेषता पर अत्यधिक बल दिया था। उन्होंने एक बार केशपुत्र नामक ग्राम के कालाम नामक क्षत्रियों से बुद्धिवादिता के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा था—कालामों, तुम श्रुत के कारण किसी बात को मानो, न तर्क के कारण, न नये हेतु से, न वक्ता के आकार के विचार से, न अपने चिर विचारित मत के अनुकूल होने, न वक्ता के भव्य रूप होने से और न इसलिए कि श्रमण हमारा गुरु है। यह सोच कर बल्कि कालामों जब तुम स्वयं ही जानों कि यह बातें अच्छी, अदोष, विशोद से आनन्दित हैं, यह ग्रहण पर हित, सुख के लिए होगी, तो कालामो जब तुम स्वयं ही जानो और और उन्हें स्वीकार करो[1]। इसके अतिरिक्त और भी कई स्थलों पर हमें अन्ध विश्वास की निन्दा और आत्मानुभव की प्रशंसा मिलती है। भगवान् बुद्ध यह सदैव ध्यान रखते थे कि उनके शिष्य कहीं अन्धानुसरण तो नहीं कर रहे हैं। इसलिए उन्होंने भिक्षुओं से एक बार कहा था—भिक्षुओं क्या तुम शास्ता के गौरव से तो हाँ नहीं कह रहे हो. . .. 'भिक्षुओं, जो तुम्हारा अपना देखा हुआ, अपना अनुभव किया हुआ क्या, उसी को कह रहे हो।' इसी प्रकार और भी अनेक स्थलों पर भगवान् बुद्ध ने बुद्धिवादिता के स्वानुभव से तत्वज्ञान प्राप्त करने वाली बात पर बल दिया है।[2]

१—अंगुत्तर निकाय ३।७।५

२—मज्झिम निकाय १।४।८

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में बौद्ध धर्म की बुद्धवादिता और स्वानुभववाद की अभिव्यक्ति

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर बौद्धों की बुद्धिवादिता एवं स्वानुभववाद की अच्छी छाप दिखाई पड़ती है। हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा के कवियों की तो यह प्राणभूत विशेषता थी। सन्त कबीर ने स्पष्ट घोषणा की थी कि और लोग तो उलझन मे डालने वाली बात कहते हैं। वे दूसरे की कही हुई बात को दोहराते है, किन्तु मैं वह बात कहता हूँ जो मैंने अपनी आंखों देखी है, तथा जिसका मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है।[1] सन्त सुन्दरदास ने भी बुद्धिवादिता और विचारात्मकता को महत्व देते हुए लिखा है कि जो साधक आत्मानुभव करना चाहता है,उसे विचारात्मकता और बुद्धिवादिता का आश्रय लेना चाहिए। उसे देखने में, बोलने में, सुनने में, कार्य करने में, यहां तक कि खाने पीने और सोने में भी विचार का आश्रय लेना चाहिए।[2] दैनिक जीवन की उपर्युक्त बातें भी विचारपूर्वक ही की जानी चाहिए। इसी प्रकार इन्हीं सन्त ने दूसरे स्थल पर लिखा है कि—सच्चा सन्त सदैव विचारात्मकता में ही लीन रहता है। सन्त पलटू साहब[3] ने भी लिखा है कि बिना विचार और विवेक के संसार में बहुत दुख उठाना पड़ता है। सन्त कबीर[4] का तो यहाँ तक निश्चय था कि आत्मविचार से ही आनन्द की प्राप्ति होती है।

विचारात्मकता के सदृश ही सन्तों ने स्वानुभव को ही महत्व दिया था। सन्त सुन्दरदास[5] ने लिखा है कि—अनुभव और ज्ञान के कारण साधू सिंह के

१—कबीर वचनावली पृ०

२—देखे तो विचार करि, सुने तो विचार करि।
बोलें तो विचार करि, सुने तो विचार करि॥
भक्षय तो विचार करि, पोर्य तो विचार करि।
सोवें तो विचार करि, जागें तो विचार करि॥

सुन्दर विलास पृ० १०१

३—तीन लोक घेरा गया बिना विचार विवेक।

पलटू साहब की वानी, भाग १ पृ० ५१

४—आप ही आप विचारिए तब केता होय अनन्द रे।

क० ग्रं० पृ० १८९

५—सन्त दयाबाई की बानी पृ० ६

सदृश निर्भय होकर बोलता है। इन्हीं सन्त ने अनुभव ज्ञान को प्रलय की अग्नि के सदृश्य कहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तों ने बुद्धिवादिता के साथ ही साथ स्वानुभव को भी महत्व दिया है।

बौद्ध धर्म में जहां बुद्धिवादिता की आधारभूमि प्रज्ञा को महत्व दिया गया है वहीं उसमें श्रद्धा के महत्व को भी पहिचाना गया है। बौद्धों की इस विशेषता का प्रभाव सन्तों पर भी दिखाई पड़ता है। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने बुद्धिवादिता और स्वानुभव के साथ ही साथ विश्वास को भी महत्व दिया है।[1] सन्त सुन्दरदास ने एक स्थल पर लिखा है कि—लोग विश्वास के बिना व्यर्थ ही साधना और भगवद्भजन करते हैं। इसी प्रकार और भी बहुत से सन्तों ने बुद्धिवादिता और स्वानुभव के साथ साथ श्रद्धा और विश्वास को महत्व दिया है।

कृष्ण काव्य धारा के कवि और बुद्धिवादिता

कृष्ण काव्य धारा के कवि अधिकतर वल्लभाचार्य के मर्यादाविहीन भक्ति मार्ग के अनुयायी थे। जिस भक्ति में मर्यादा को विधेय नहीं ठहराया गया, भला उसमें बुद्धिवादिता के लिए क्या स्थान हो सकता था? किन्तु बौद्धों का प्रच्छन्न प्रभाव भारतीय विचारधारा पर पड़ चुका था। उसी प्रभाव से कृष्ण काव्य धारा के कवि भी अज्ञात रूप से प्रभावित हो गए थे। सूरदास जैसे महान् भक्त को भी बुद्धि और विवेक का महत्व स्वीकार करना पड़ा। अपने एक पद में उन्होंने हरि के जन की ठकुराई का एक सुन्दर रूपक बांधा है। उस रूपक की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

हरि के जन की अति ठकुराई।

....

बुद्धि विवेक विचित्र पौरिया, समय न कबहूँ पावै।
अष्ट महा-सिधि द्वारें ठाढ़ी कर जोरे, डर लीन्हें।
छरीदार वैराग विनोदी, झिरकि बाहिरें कीन्हें।

उपर्युक्त पंक्ति में हमें बौद्धों की बुद्धिवादिता का प्रभाव दिखाई ही पड़ता है। साथ ही साथ उसके निवृत्ति मार्ग तथा योग साधना का प्रकाश भी दिखाई पड़ता है।

१—सन्त बानी संग्रह भाग २ पृ० १०८

२—सूर सागर पृ० २३

यह सही है कि भक्त कवियों को ही सर्वाधिक महत्व दिया है। बौद्धों की विचारात्मकता के प्रभाव से वे भी नहीं बच सके हैं। भक्ति के महत्व के साथ साथ सूर को विचारात्मकता का महत्व भी स्वीकार करना पड़ा। यह बात उनकी निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट है—

रे मन, समुझि सोचि-विचारि।[1]

इसी प्रकार सूर में हमें और भी अनेक स्थलों पर बुद्धिवादिता और विचारात्मकता की छाया दिखाई पड़ती है। जहाँ पर वे आत्मनिवेदन करते हैं, वहाँ उन्होने मन और बुद्धि का विकृत भाव व्यंजित करते हुए अपनी दीनदशा का प्रकटीकरण किया है। निम्नलिखित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

सोइ कछु कीजै दीनदयाल।[2]
जातें जन छन चरन न छाड़ैं करुना-सागर, भक्त रसाल।
इंद्री अजित, बुद्धि बिषयारत, मन की दिन दिन उल्टी चाल।

इसी प्रकार और भी अनेक स्थलों पर सूर में हमे विचारात्मकता और बुद्धिवादिता के प्रति लगाव दिखाई पड़ता है।

सूफी काव्यधारा और बुद्धिवादिता

सूफी काव्य धारा के कवि प्रेमवादी थे। प्रेम मार्ग में किसी प्रकार के सोचने विचारने का अवसर नहीं रहता है। जायसी ने लिखा भी है—

प्रेम पंथ दिन घरि न देखा। जब देखे तब होए सेरेखा॥[3]

जिस काव्य धारा में केवल प्रेम पंथ की ही चर्चा है, उस प्रेम पंथ की जिसमें किसी प्रकार के सोच विचार के लिए अवकाश नहीं होता है, बुद्धिवादिता का पाया जाना थोड़ा कठिन होता है। यही कारण है कि सूफी काव्य धारा मे हमें विचारात्मकता का उतना प्रभाव नही दिखाई पड़ता जितना प्रेम और श्रद्धा का। किन्तु फिर भी बौद्ध धर्म की बुद्धिवादिता इस काव्य धारा के कवियों मे प्रच्छन्न रूप से प्रविष्ट हो गई है। इसके फलस्वरूप जायसी जैसे प्रेमवादी कवि को भी 'जागे भेट न सोए होई" जैसी उक्ति लिखनी पड़ी थी। प्रत्यक्षानुभव के महत्व से भी इस धारा के कवि परिचित थे। यह बात जायसी की आगे दी जाने वाली पंक्ति से प्रकट है—

१—सूर सागर पृ० १६३
२—वही पृ० ६७
३—जायसी ग्रन्थावली भूमिका पृ० ५९

देखि मानसर रूप सोहावा । हिय हुलास पुरइनि होइ छावा ।
गा अंधियार, रैन मसि छूटी । भा मिनसार किरिन-रवि फूटी ॥
अस्ति अस्ति सब साथी बोले । अन्ध जो अहे नैन विधि खोले ॥[१]

प्रत्यक्षानुभव के प्रति यह लगाव बुद्धिवादिता का ही प्रभाव है। स्वानुभव के महत्व से भी इस धारा के कवि परिचित थे। यह बात जायसी की निम्नलिखित पंक्ति से प्रकट है—

हिय कै जोति दीप वह सूझा । यह जो दीप अंधियारा बूझा ॥
उलटि दीठि माया सों रूठी । पलटि न फिरी जानि कै झूठी ॥[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफी धारा के कवियों पर बौद्धों की बुद्धिवादिता और प्रत्यक्षानुभववाद का प्रच्छन्न प्रभाव पड़ा है—

राम काव्य धारा और बुद्धिवादिता

राम काव्य धारा के कवियो में भक्ति तत्व की प्रधानता है। भक्ति तत्व की आधारभूमि श्रद्धा और पवित्र प्रेम हैं। श्रद्धा और प्रेम के क्षेत्र में बुद्धिवादिता के लिए बहुत स्थान नही रहता है फिर भी बिना ज्ञान के श्रद्धा, प्रेम और भक्ति तीनों ही अधूरी हैं। ज्ञान की आधारभूमि विचारात्मकता है। विचारात्मकता बुद्धिवादिता की सहचरी है। तुलसी जैसे भक्त कवियों को भी विचारात्मकता के महत्व को स्वीकार करना पड़ा है। उन्होंने दोहावली मे एक स्थल पर स्पष्ट घोषणा की है कि—जो बिना सोचे हुए बिना समझे हुए कार्य करते हैं, उन्हे पल पल दुखी होना पड़ता है।

अनसमुझे अनसोचनो, अवसि समुझिये आपु ।
तुलसी आपु न समुझिये, पल पल पर परितापु ॥[३]

इसी प्रकार और भी कई स्थलों पर उन्होने प्रत्यक्षानुभव के महत्व की ओर संकेत किया है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित दोहा ले सकते हैं—

बिनु आंखिन की पानही, पहिचानत लखि पांय ।
चारि—नयन के नारि नर, सूझत मीचु न माय ॥[४]

१—जायसी ग्रंथावली
२—वही
३—दोहावली दोहा पृ० ४८६
४—वही पृ० ४८२

एक दूसरे स्थल पर उन्होंने विचारात्मकता के महत्व की ओर और संकेत किया है—

> अनहित-भय परहित किये, पर अनहित हितहानि।
> तुलसी चारु विचार भल, करिय काज सुनि-जानि ॥[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राम काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि तुलसी भी कुछ अन्श में बौद्धों की बुद्धिवादिता, विचारात्मकता, स्वानुभववाद आदि की छाया से प्रभावित हुए हैं।

समाज सुधार की प्रवृत्ति

बौद्धधर्म सामाजिक पक्ष शून्य नहीं था। जिस प्रकार धर्म के अन्य पक्षों के विकृतांगों की प्रतिक्रिया के रूप में बौद्धों का बुद्धिवादी दृष्टिकोण विकसित हुआ था, उसी प्रकार तत्कालीन सामाजिक विकृतियों के विरोध में बौद्धधर्म के सामाजिक तत्वों का विकास हुआ था।

बुद्धकालीन समाज में नैतिकता का पूर्ण ह्रास हो चला था। भोगवाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया था। समाज में विकृत प्रवृत्तियों का बोलबाला था। इस बात का परिचय हमें चक्रवर्ती सीहिनाद सुत्त[2] से चलता है। इस सुत्त में चोरी और लूटमार करके जीविकोपार्जन करने वालों का चित्रात्मक वर्णन किया गया है। तत्कालीन समाज में विलासिता अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच चुकी थी। उसका संकेत हमें भगवान बुद्ध के निम्नलिखित शब्दों में मिलता है[3]—

"कामान्ध लोगों की दशा मछलियों जैसी है। जिस प्रकार मछलियाँ अपनी जिह्वा की तृष्णा से आच्छादित होकर जाल में फंसती हैं और कटिया में बिध जाती है, उसी प्रकार कामान्ध लोग जाल में फंसे हुए हैं। वे तृष्णा के आच्छादन से आच्छादित हैं और प्रमत्त बन्धुओं द्वारा जाल मे बांध दिए गए हैं।"

वेश्यावृत्ति का भी अच्छा प्रचलन था। इस संबंध में पिटक में एक कथा दी हुई है। उसमें लिखा है कि—राजगृह का एक नैगम श्रावस्ति

१—वही पृ० ४६७
२—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० १९
३—वही पृ० २०

गया। वहाँ वह ग्रम्बपाली नामक वेश्या के नृत्य वाद्य से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने आकर मगध के राजा बिम्बसार से उसी प्रकार की गणिका रखने का आग्रह किया। राजा की आज्ञा पाकर उसने एक परम सुन्दरी कुमारी सालवती को वेश्या में परिणत किया।[१] भगवान बुद्ध का हृदय निश्चय ही इस प्रकार की भोगवादी प्रवृत्ति के प्रति प्रतिक्रिया कर उठा होगा जिसके फलस्वरूप उनमें हमें दो तत्वों का विशेष रूप से समावेश मिलता है—१. प्रवृत्ति मार्ग के प्रति उपेक्षा और निवृत्ति मार्ग के प्रति आस्था। २. सदाचार और संयम की प्रतिष्ठा।

भगवान बुद्ध के उदयकाल में पुरोहितवाद का अच्छा बोलबाला था। छान्दोग्योपनिषद् की सत्यकाम और जाबाली की कथा से स्पष्ट प्रकट होता है कि पुरोहितवाद के पैर तत्कालीन समाज में जमने लगे थे। पुरोहितवाद के फलस्वरूप ही ब्राह्मणवाद की प्रतिष्ठा हो चली थी। लोग सभी ब्राह्मणों की भक्तिभाव से पूजा करते थे। भगवान बुद्ध को इस पुरोहितवाद और ब्राह्मणवाद के प्रति भी विरोध भाव प्रकट करना पड़ा। उन्होंने ब्राह्मण की नई परिभाषा प्रस्तुत की है। धम्मपद में लिखा है[२]—

"अलङ्कृत रहते भी यदि वह शान्त, दान्त, नियम तत्पर, ब्रह्मचारी तथा सारे प्राणियों के प्रति दण्डत्यागी है तो वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है, वही भिक्षु है।"

इसी ग्रन्थ में फिर एक दूसरे स्थल पर ब्राह्मण की परिभाषा देते हुए लिखा गया है[३]—

"जिसके पास अर्थात आँख, कान, नाक, जीभ, काया, मन अर्थात रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श, धर्म तथा पारापार अर्थात मैं और मेरा नहीं है, जो निर्भय और अनासक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।"

इसी प्रकार इसी ग्रन्थ में एक दूसरे स्थल पर ब्राह्मण की परिभाषा इस प्रकार दी गई है[४]—

१—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० २०

२—धम्म पद पृ० ६०

३—वही पृ० १५८

४—वही पृ० १६१

"न जटा से, न गोत्र से, न जन्म से ब्राह्मण होता है, जिसमें सत्य और धर्म है, वही ब्राह्मण है।"

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर लिखा है[1] कि ब्राह्मण पिता से उत्पन्न होने के कारण मैं किसी को ब्राह्मण नहीं कहता। मैं तो ब्राह्मण उसे कहता हूं जो अपरिग्रही और त्यागी है। इसी प्रकार वह भी ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी है जो सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त है, जिसे किसी का भय नहीं सताता है और जो संग और आसक्ति से विरत है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म में सुधार की प्रवृत्ति काम कर रही थी।

साम्यवाद---भगवान बुद्ध एक महान् साम्यवादी नेता थे। उनका साम्यवाद बहुत-कुछ वर्ण व्यवस्था मूलक था। मज्झिम निकाय[2] में भगवान् बुद्ध ने ब्राह्मणों को साम्यवाद का उपदेश देते हुए कहा था-ब्राह्मणों की स्त्रियाँ भी अन्य स्त्रियों के समान ऋतुमती और गर्भवती होती हैं, जनन करती हैं, दूध पिलाती हैं और जैसे अन्य पुरुष स्त्रियों के गर्भ से उत्पन्न होते हैं वैसे ही ब्राह्मण होते हैं, फिर वे कैसे दावा करते हैं कि वे ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए थे, वे ही श्रेष्ठ है, अन्य नहीं। इसी प्रकार की उक्ति सरहपाद की भी है। ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए थे। जब हुए होंगे तब हुए होंगे, इस समय तो वे भी वैसे ही पेट से पैदा होते हैं जैसे दूसरे लोग।[3] इसी प्रकार भगवान् बुद्ध ने एक बार कहा था जाति मत पूछो आचरण पूछो।[4]

बौद्धों के इस वर्ण व्यवस्थागत साम्यवाद का प्रभाव सम्पूर्ण मध्यकालीन विचारधारा पर दिखाई पड़ता है। हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा पर तो इसका सबसे अधिक गहरा प्रभाव दिखाई पडता है। सूफी कवि तो मुसलमान ही थे। उनके यहाँ वैसे ही वर्ण व्यवस्था को हेय मानते थे। बौद्धों के प्रभाव से वह और भी अधिक दृढ़ हो गई थी। श्रुतिसम्मत धर्म का ढिंढोरा पीटने वाले राम काव्यधारा के कवि भी इस प्रभाव से नहीं बच सके। कृष्ण काव्य धारा के रसिक कवियों ने भी बहुत स्थलों पर जातिवाद का खण्डन कर डाला है।

१--धम्म पद पृ० १६२

२—मज्जिम निकाय २।५।३

३—बौद्ध धर्म तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० १०५८

४—वही पृ० १०५९

तुलसी पर बौद्धों के अर्हतों के साम्यवाद का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। सन्तों के लक्षणों का उल्लेख करते हुए लिखा है---

निंदा अस्तुत उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रान प्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥[1]

यह लक्षण बौद्ध अर्हतों से बहुत मिलते जुलते हैं और आध्यात्मिक समता के सूचक हैं।

वर्ण व्यवस्थागत भेदभाव को भक्ति क्षेत्र में सूर भी विधेय नहीं मानते थे। सूर ने कृष्ण के स्वभाव का वर्णन करते हुए लिखा है--कृष्ण इतने भक्त वत्सल हैं कि वे भक्त की जाति, गोत्र, कुल, नाम धन, सम्पति आदि से सम्बन्धित भेदभाव पर ध्यान नहीं देते।[2] इसी प्रकार का एक पद और उल्लेखनीय है--

"कह्यो सुक श्री भागवत विचार जाति पाति कोऊ पूछत नाही श्रीपति के दरबारी"[3] इसी प्रकार और भी अनेक स्थलो पर वर्ण व्यवस्थागत भेदभाव के प्रति उपेक्षा भाव प्रगट किया है।

जिस प्रकार भगवान बुद्ध ने वर्ण व्यवस्था की भावात्मक व्याख्या की है उसी प्रकार सन्तों ने भी वर्णों की भावात्मक व्याख्या की है। सन्त कबीर लिखते हैं--

संतों ने चारो वर्णों का वर्णन इस प्रकार किया है जो ब्रह्म को पहचानता है वही ब्राह्मण है। वह विचार का जनेऊ पहनता है। साधु के सौ गुण होते हैं किन्तु जनेऊ केवल नौ गुणों वाला ही होता है। ब्राह्मण उसी जनेऊ को पहनता है।[4] क्षत्री उसी को कहते हैं जो पाप का विनाश करता है और ज्ञान की तलवार बांधे रहता है। उसके हृदय मे दया होती है। वह कभी शुभ कर्म करने मे निरुत्साहित नही होता। वैश्य उसी को कहना चाहिए जो विषयवासना और परस्त्री का परित्याग कर देता है। वह ममता को

१--मानस पृ० १०६४

२ राम भक्त वत्सल निज बानो।
जाति गोत, कुल नाम गनत नहि रंक होय के रानो॥

सूर सागर पृ० ६

३ सूर सागर पृ० १२०

४ सन्त सुधा सार--वियोगी हरि--पृ० ६३०

मार कर भाजन बना लेता है और प्राणों का दान या बलिदान कर डालता है।[1]

संत लोग केवल वर्ण व्यवस्था के ही विरोधी नही थे वरन् हिन्दू, मुसलमान आदि भेदों में भी विश्वास नहीं करते थे। संत दादू ने लिखा है— इस कलियुग में न मालूम कितने हिन्दू और न मालूम कितने मुसलमान हो गए हैं। दादू कहते हैं—केवल भगवान् की वन्दना करना ही सत्य है। बाकी जातिगत, धर्मगत आदि अहंकार सब व्यर्थ हैं।[2] इसी प्रकार इन्होने एक दूसरे स्थल पर लिखा है—मैं हिन्दू और इस्लाम यह दो धर्म नही जानता। वह परमात्मा ही दोनों का स्वामी है और कोई दूसरा मुझे नही दिखाई पड़ता है।[3]

विज्ञानवादी बौद्धों ने मनगत साम्य पर भी बल दिया था। सन्त लोग विज्ञान सम्बन्धी समता से भी प्रभावित थे। सन्त दादू लिखते हैं—मैंने मन को देखा है मन ही सबमें समान रूप से व्याप्त है। उस मन के सिद्धांत से ही मन संतुष्ट है। मन के सिद्धान्त के अतिरिक्त और मुझे कोई सिद्धान्त मान्य नहीं हैं।[4]

बौद्धों के साम्यवाद का एक रूप अर्हंत के रूप में मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों में अर्हंत का जो रूप चित्रित किया गया है वह साम्यवादी सन्त का है। बौद्ध ग्रन्थों में अर्हंत भिक्षु के जो लक्षण बताए गए हैं उनमें समदुःख-सुख, समनिन्दा, स्तुति, मान, अपमान, लाभ, अलाभ को समान मानने वाला आदि[5] जो

---

५ संत सुधासार—वियोगी हरि।

१ इस कलि केते है गए हिन्दू मुसलमान।
दादू सच्ची वन्दगी झूठा सब अभिमान॥
दादू साहब की बानी पृ० १२७

२—हिन्दू तुरक न जाणौ कोय।
साईं सबन का सोई है रे और न दूजा कोय॥
दादू साहब की बानी पृ० १६९

३ दादू देख्या एक मन मन से मन सबही माँहि।
तेहि मन सो मन मानिया, दूजा भावै नाँहि॥
दादू साहब की बानी पृ० ६६

४—इन सबके विस्तृत विवेचन के लिए धम्मपद श्लोक ३६०-४२३ तथा सुत्त निकाय के मुनिसुत्त १।७ और १४ तथा द्वैतानुपस्सनसुत्त ३१-३३ आदि मे वर्णित अर्हंत की अनेक विशेषताएं देखिए।

के लिए उन्हें बहुत कम अवकाश मिल पाया है। कथा के प्रवाह में वे साम्यवाद आदि की अभिव्यंजना नहीं कर सकते हैं।

बौद्ध साम्यवाद के प्रभाव से मध्ययुग का कोई भी कवि नहीं बच सका था। ऐसी मेरी दृढ़ धारणा है। यहाँ तक कि मध्ययुग के आचार्यों को भी थोड़े बन्धन ढीले करने पड़े थे। भक्त कवियों ने भक्ति क्षेत्र में सब प्रकार के बन्धनों को अनावश्यक और निरर्थक ठहराया है। श्रुति सम्मत हरि भक्ति पंथ को लेकर चलने वाले तथा ब्राह्मणों के गौरव का ढिंढोरा पीटने वाले महात्मा तुलसी दास इस प्रभाव से बच नहीं पाए हैं। उन्होंने अनेक स्थलों पर भक्ति क्षेत्र में वर्णगत भेद भाव को अस्वीकार कर दिया है। तभी तो उन्होंने निषाद जैसे नीच शूद्र का और वशिष्ट जैसे महान ब्राह्मण का निःसंकोच मिलन दिखाया है—

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू । कीन्ह दूरि ते दण्ड प्रनामू ।
राम सखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा।
रघुपति भगति सुमंगल भूला । नभ सराहि सुर बरसहि फूला।
एहि सम निपट नीच कोऊ नाहीं, बड़ बशिष्ट सम को जग माहीं।
जेहि लखि लखनहुं ते अधिक, मिले मुदित मुनि राउ ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ ॥[1]

मध्यकालीन साहित्य पर बौद्धों की बाह्याचार विरोध की प्रवृत्ति का अच्छा प्रभाव पड़ा है। सन्त कवियों पर यह प्रभाव अपेक्षा कृत और भी अधिक व्यापक रूप में दिखाई पड़ता है।

सन्तों में बाह्याचार विरोध की जो प्रवृति पाई जाती है उसका बहुत बड़ा श्रेय बौद्ध विचार धारा को है।

तीर्थ व्रत की निन्दा—

सन्तों ने तीर्थों आदि की निन्दा उस ढंग पर की है जिस ढंग पर बौद्धों ने की है।[2] कबीर की कुछ उक्तियाँ इस प्रकार है—'तीर्थ और व्रत आदि

१—रामचरित मानस पृ० ६०२, ६०३

२—मासे मासे कुशाग्रेण बालो भुंजति भोजनम् ।
नेसा सड्खात धर्माणां कलामर्हति षोडशीम ॥
धम्म पद ७०

समता सम्बन्धी विशेषताएँ बताई गई है, वे सन्तों में प्रतिबिम्बित मिलती हैं।

सन्त पलटू साहब ने लिखा है—

काम क्रोध जिन के नहीं लगै न भूख पियास।
लगै न भूख पियास रहै तिरगुन से न्यारा ॥
लोभ मोह हंकार नींद को गर्दन मारा।
शत्रु मित्र सब एक एक है राजा रंका ॥
दुःख सुख जीवन मरन तनिक न व्यापै शंका।
कंचन लोहा एक एक है गरमी पाला ॥
अस्तुति निंदा एक, एक है नगन दुसाला।
पलटू उनके दरस से होत पाप का नास ॥
काम क्रोध जिनके नही लगैं न भूख पियास ॥[1]

इन्हीं महात्मा की एक दूसरी कुण्डलिया और है। वह इस प्रकार है—

ना काहू से दुष्टता ना काहू से रोच।
ना काहू सो रोच दोऊ को एक रस जाना ॥
बैर भाव सब तजा रूप अपना पहिचाना।
जो कंचन सो कांच दोऊ की आसा त्यागी ॥
हारि जीत कछु नहि प्रीति इक हरि से लागी।
दुःख सुख सम्पत्ति विपति भावना यह से दूजा ॥
जो बाम्हन सो सुपच दृष्टि सम सबकी पूजा।
ना जितने की खुशी है पलटू मुए न सोच ॥
ना काहू से दुष्टता ना काहू सो रोच।[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में समदर्शी सन्त का जो चित्र खींचा गया है वह अर्हत भिक्षु के लक्षणों से बहुत मिलता जुलता है।

सूफी काव्यधारा के कवियों पर साम्यवाद का प्रभाव पाया जाना स्वाभाविक था। बात यह है कि वे मुसलमान लोग किसी वर्ण व्यवस्था में विश्वास नहीं करते थे। सूफी कवि अधिकतर मुसलमान ही थे। अतः उनमें वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी साम्यवाद का पाया जाना स्वाभाविक था। किन्तु इसकी अभिव्यक्ति

१—सन्त पलटू साहब की बानी भाग १ पृ० २४

२—वही

के लिए उन्हें बहुत कम अवकाश मिल पाया है। कथा के प्रवाह में वे साम्यवाद आदि की अभिव्यंजना नहीं कर सकते हैं।

बौद्ध साम्यवाद के प्रभाव से मध्ययुग का कोई भी कवि नहीं बच सका था। ऐसी मेरी दृढ़ धारणा है। यहाँ तक कि मध्ययुग के आचार्यों को भी थोड़े बन्धन ढीले करने पड़े थे। भक्त कवियों ने भक्ति क्षेत्र में सब प्रकार के बन्धनों को अनावश्यक और निरर्थक ठहराया है। श्रुति सम्मत हरि भक्ति पंथ को लेकर चलने वाले तथा ब्राह्मणों के गौरव का ढिंढोरा पीटने वाले महात्मा तुलसी दास इस प्रभाव से बच नहीं पाए हैं। उन्होंने अनेक स्थलों पर भक्ति क्षेत्र में वर्णगत भेद भाव को अस्वीकार कर दिया है। तभी तो उन्होंने निषाद जैसे नीच शूद्र का और वशिष्ट जैसे महान ब्राह्मण का निःसंकोच मिलन दिखाया है—

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि ते दण्ड प्रनामू।
राम सखा रिषि बरबस भेटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा।
रघुपति भगति सुमंगल भूला। नभ सराहि सुर बरसहि फूला।
एहि सम निपट नीच कोऊ नाहीं, बड़ वशिष्ट सम को जग माहीं।
जेहि लखि लखनहुं ते अधिक, मिले मुदित मुनि राउ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ॥[1]

मध्यकालीन साहित्य पर बौद्धों की वाह्याचार विरोध की प्रवृत्ति का अच्छा प्रभाव पड़ा है। सन्त कवियों पर यह प्रभाव अपेक्षा कृत और भी अधिक व्यापक रूप में दिखाई पड़ता है।

सन्तों में वाह्याचार विरोध की जो प्रवृति पाई जाती है उसका बहुत बड़ा श्रेय बौद्ध विचार धारा को है।

तीर्थ व्रत की निन्दा—

सन्तों ने तीर्थों आदि की निन्दा उस ढंग पर की है जिस ढंग पर बौद्धों ने की है।[2] कबीर की कुछ उक्तियां इस प्रकार है—'तीर्थ और व्रत आदि

१—रामचरित मानस पृ० ६०२, ६०३

२—मासे मासे कुशाग्रेण यालो भुंजति भोजनम्।
नेता सख्यात धर्माणों कलामर्हति षोडशीम॥

धम्म पद ७०

सब विश्व की बेल रूप है। उस बेल ने सारे संसार को आक्रान्त कर रक्खा है। कबीर ने मूल की खोज की है। अतः वह हलाहल के सदृश बेल के प्रभाव से बचे हुए हैं।[१] संसार तीर्थ व्रत आदि करके व्यर्थ ही ठण्डे पानी का स्नान करके मरा जा रहा है।' वे सत् नाम को ही मानते हैं युग[२] युग काल का शिकार बनते रहते हैं।' नहाने धोने से क्या होता है जब तक मन का मैल दूर नहीं होता। यदि तीर्थ में नहाने से ही मुक्ति मिलती होती तो तीर्थ के सरोवरों और सरिताओं में रहने वाली मछलियों की दुर्गन्धि तक नहीं गई।[३] इसी प्रकार सन्त सुन्दर दास ने भी लिखा है—'जोग यज्ञ तप तीरथ व्रतादिकनि तिनहू को फल सोऊ मिथ्याई बखानिए। सकल उपाइ तजि एक राम राम भजि याही उपदेश सुनि हृदै माही आनिए। ताही तै समुझि करि सुन्दर विश्वास धरि,[४] और कोऊ कछू कहे ता की नहि मानिए।'

माला और भेष का खण्डन—

सन्तों ने बौद्धों के सदृश माला जप आदि का खण्डन किया है। इससे सम्बन्धित दो एक उदाहरण इस प्रकार हैं। 'काठ की माला बार बार माला फेरने वाले को यही उपदेश देती है कि तू मुझे फेरता है अपने को फेर तभी तेरा उद्धार होगा।'[५] माला तो हाथ में फिरा करती है और मन चारों ओर दौड़ा करता है। जिसको फेरने से भगवान मिलता है वह काठ की माला से ही अटक कर रह गया है।[६]

१—तीरथ व्रत विष बेलरी सब जग राखा छाय।
कबीर मूल निकंदिया कौन हलाहल खाय ॥

२—तीरथ व्रत करि जग मुआ दूजे पानी न्हाय।
सत्त नाम जस बिना काल जुगत जुग खाय ॥

३—न्हाय धोए क्या भया जो मन का मैल न जाय।
मीन सदा जल मे रहे धोए बास न जाय ॥
क० ग्रा० सं० पृ० १७७

४—सुन्दर बिलास पृ० २३

५—कबीर माला काठ की कहि समुझावै तोहि।
मन न फिरावे आपना कहा फिरावे मोहि ॥

६—कर पकरे अंगुरी गिने मन धावे चहूं ओर।
जाहि फिराया हरि मिलै सो भया काठ की ठौर ॥

सिर मुड़ाने पर कटाक्ष

जिस प्रकार तान्त्रिक बौद्धों ने सिर मुड़ाने आदि पर कटाक्ष किया है उसी प्रकार सन्तों ने भी सिर मुड़ाने पर कटाक्ष किया है। कबीर कहते हैं कि केशों ने क्या बिगाड़ा है जिनको तू बार बार मूड़ता है। मन क्यों नही मूड़ता, मन के मूड़ने से ही उद्धार होगा।[1]

वेषाडम्बर पर कटाक्ष—

सन्तों ने वेषाडम्बर पर भी कटाक्ष किया है कबीर कहते हैं,

वैस्नो भया तो क्या भया बूझा नहीं विवेक।
छापा तिलक बनाय करि दग्ध्या लोक अनेक॥
तन को जोगी सब करै मन को विरला कोय।
सब सिद्धि सहजे पइए, जे मन जोगी होय॥[2]

वाह्य पूजा विधि—

कबीर ने वाह्याडम्बर प्रधान पूजा विधि पर कटाक्ष किया है—

ठाकुर ले पाटै पौढ़ावा, भोग लगाइ अरु आपै खावा।[3]

वाह्य छूत-छात का खण्डन—

हिन्दुओं में छूत-छात सम्बन्धी आडम्बर भी बहुत हैं। सन्तों ने उस पर कुठाराघात किया है—

एकै पवन एक ही पाणी करी रसोई न्यारी जानी।
धरती लीपि पवित्र कीन्हा छोति उपाय लोक विचि दीन्हा॥

राम और कृष्ण धारा के कवियो पर भी बौद्धों की वाह्याचार विरोध की प्रवृत्ति की हलकी छाया दिखाई पडती है। तुलसी 'श्रुति प्रामाण्यवादी' थे और रूढ़िवादी सनातन धर्म के कट्टर अनुयायी थे। किन्तु उन्हें भी बौद्धों के मनशुद्धि वाद ने प्रभावित करके ही माना। विनय पत्रिका में उन्होंने एक स्थल पर लिखा है—हे भगवन मेरी मोह फांस कैसे नष्ट हो सकती है। बाहर चाहे करोड़ों साधन क्यों न किए जाय किंतु भीतर की गांठ उन साधनों से किसी भी प्रकार नही छूटती। भावार्थ यह

१—कबीर ग्रन्थावली पृ० ४६
२—वही
३—वही पृ० २४४

है कि जब तक अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता है तब तक कर्मकाण्ड आदि, बाहरी साधन जीव को मुक्त नहीं कर पाते हैं। घी से लबालब भरे हुए कढ़ाह में जो चन्द्रमा की परिछाई दिखाई देती है वह सौ कल्प तक भी कड़ाह के नीचे अग्नि जलाकर नष्ट नहीं की जा सकती है। इसी प्रकार जब तक मोह रहेगा तब तक भेद बुद्धि भी रहेगी जिस प्रकार पेड़ के खोखले में रहने वाला पक्षी पेड़ काट डालने से मरता नहीं, है उसी प्रकार चाहे लाखों साधन क्यों न किए जांय किन्तु बिना सुबुद्धि के यह मन शुद्ध नहीं किया जा सकता है। भावार्थ यह है कि तुम इस मन रूपी पक्षी के रहने के शरीर रूपी स्थान को चाहे कठोर तपस्या से छिन्न भिन्न कर दो किन्तु उसको सताने से मन रूपी पक्षी नहीं मरता है। वह सूक्ष्म रूप से ज्यों का त्यों बना रहेगा। जैसे बांबी पर अनेक प्रकार से प्रहार करने पर और नाना उपायों से भी उसमें रहने वाला सांप नहीं मरता वैसे ही शरीर को जप, तप, व्रत, तीर्थ आदि से सताने से मन पवित्र नहीं हो सकता। बिना उसको पवित्र किए मोह फांस नष्ट नहीं हो सकती।[1] मोह फांस के बिना टूटे हुए मुक्ति नहीं मिल सकती।[2]

कृष्ण धारा के कवि भी बौद्धों की इस प्रवृत्ति से थोड़ा बहुत प्रभावित हो गये हैं। बाह्याचार और बाह्य वेषाडम्बर के विरोध की प्रवृत्ति के दर्शन सूर के निम्नलिखित पद से मिलते हैं।

किते दिन हरि सुमिरन बिनु खोए।
पर निंदा रचना के रस करि, केतिक जन्म बिगोए।
तल लगाई कियो रुचि मर्दन, वस्तर मलि मलि धोए॥
तिलक लगाइ चले स्वामी बनविषयिनि के मुख जोए।[3] इत्यादि,

बौद्धों की बाह्याचार विरोध की प्रवृत्ति का प्रभाव मध्यकाल की अन्य धाराओं पर भी पड़ा है। किंतु यह प्रभाव बहुत क्षीण है।

सूफी कवियों का लक्ष्य हिन्दू और मुसलमान दोनों में लोक प्रिय होना था। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने कटु कटाक्ष नहीं किए हैं। फिर भी एक

१—विनय पत्रिका पृ० २३८
२—वही पृ० ११५
३—सूर सागर पृ० ३०

प्राय स्थानों पर खण्डन की प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति हो ही गई है। मूर्ति पूजा का विरोध करते हुए जायसी लिखते हैं—[1]

अरे मलिछ बिसवासी देवा। कित मैं आइ कीन्ह तोरि सेवा।
आपन नाव चढ़ै जो देई। सो तो पार उतारै सेई॥
सुफल लागि पग टेकेऊ तेरा। सुआ क सेंवर तुआ मोरा॥
पाहन चढ़ि जो चहै पा पारा। सो ऐसे बूढ़े मझ धारा॥
पाहन सेवा कहा पसीजा। जन मन मोद होइ जो भीजा॥
बाउर सोई जो पाहन पूजा। सकल को मार लेइ सिर दूजा॥

इसी प्रकार ब्राह्मणों पर व्यंग करते हुए उन्होंने लिखा है-ब्राह्मण जहां दक्षिणा मिलनी होती हैं वहां पर बुलाने पर स्वर्ग से भी आ जाता है।[2]

किन्तु इस प्रकार के व्यंग जहां बौद्धों से अनुप्रेरित हैं, वहीं इस्लाम से भी प्रभावित है।

इसी प्रसंग में एक बात और बता देना चाहती हूँ। वह यह कि सूफी कवि प्रेम मार्गी थे। प्रेम मार्गी कवि लोग खण्डन मण्डन में विश्वास नहीं करते थे। उन्हें जो कुछ कहना होता था उसको वे किसी न किसी शैलीगत आवरण के सहारे व्यन्जना भर कर देते थे।

साधना मूलक एकान्तिकता और लोकसंग्रहात्मकता का समन्वय

भगवान् बुद्ध द्वारा प्रवर्तित बुद्ध धर्म की सबसे बड़ी विशेषता साधना मूलक एकान्तिकता और लोकसंग्राहात्मकता के सामञ्जस्य विधान की चेष्टा है। भगवान् बुद्ध ने एक ओर तो यह आदेश दिया था—भिक्षुओ समाधि की भावना करो।[3] बहुत से स्थलों पर उन्होंने शून्य स्थलों में जाकर एकान्त ध्यान करने का उपदेश दिया है। किन्तु इस एकान्त ध्यान के उपदेश से यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि वे लोक संग्रह के विरोधी थे। इसके विपरीत मैं तो यह कह सकती हूं कि वे लोकसंग्रहक पहले थे एकान्त साधक बाद में। यही कारण है उन्होने जहां गेंडे की तरह[4] एकान्त

१—जायसी ग्रन्थावली पृ० ८७

२—ब्राह्मन जहां दच्छिना पावा। सरग जाइ जो होय बोलावा॥
जायसी ग्रन्थावली पृ० २०१

३—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ६०८

४—सुत्त निपात खग्गविषाणसुत्त इतिवुद्द तक २।२।१

चारी बनने की इच्छा प्रगट की है वहाँ वे सदैव ही लोक कल्याणार्थ अधिक-तर जनता के बीच में रहते थे। एक स्थल पर उन्होंने अपनी इस विरोधी प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए लिखा है 'भिक्षुओं, दो संकल्प तथागत भगवान सम्यक् सम्बुद्ध को बहुधा हुआ करते हैं-एकान्त ध्यान का संकल्प और प्राणियों के हित का संकल्प।'[१] इसी भावना से प्रेरित होकर वे अपने शिष्यों को एक ओर तीर्थ उपदेश दिया करते थे कि 'भिक्षुओं एकान्त ध्यान में सुख के लिए विहरो दूसरी ओर यह आग्रह भी करते थे कि-भिक्षुओं बहुजनों के हितार्थ घूमो, उनके सुख के लिए प्रयत्न करो।'[२] भगवान बुद्ध के इन दो विरोधी संकल्पों ने बुद्ध धर्म में दो विरोधी धाराओं को जन्म दे दिया। एक धारा को स्थविरवादियों ने शक्ति प्रदान की और दूसरी धारा को बल प्रदान करने का श्रेय महायानियों को है।

उपर्युक्त दोनों धाराएं क्रमशः हीनयानियों का निवृत्ति मार्ग और महायानियों का लोकसंग्रहात्मक मार्ग के अभिधान से प्रसिद्ध हैं।

हीनयानियों का निवृत्ति मार्ग

हीनयानियों ने सर्वत्र संसार से उदासीन होकर साधना करने का उपदेश दिया है। उदासीन से उनका तात्पर्य ब्रह्मचर्यपूर्वक ध्यान योग और सन्यास धर्म का पालन करने से था। उनके निवृत्ति मार्ग की आधारभूमि निम्नलिखित उद्धरण है—

"चारों वेद वेदाङ्ग, व्याकरण, ज्योतिष, इतिहास और निघंटु आदि विषयों में प्रवीण सत्व शील, गृहस्थ ब्राह्मणों तथा जटिल तपस्वियों व गौतम बुद्ध ने वाद कर उनको अपने धर्म की दीक्षा दी।[३] गृहस्थ को उत्तम शील के द्वारा बहुत हुआ तो स्वयं प्रकाश देव लोक की प्राप्ति हो जायगी परन्तु जन्म मरण से पूर्णतया छुटकारा पाने के लिए तथा लड़के, बच्चे, स्त्री आदि को छोड़कर अन्त में उसको भिक्षु धर्म ही स्वीकार करना चाहिए।[४] इसी प्रकार एक स्थल पर भिक्षुओं को ध्यान करने का उपदेश किया गया है—भिक्षुओ ध्यान करो।[३]

३—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ६११

४—वही

१—वत्थु गाथा ३०—४५

२—धम्मिक सुत्त १७।२९

३—धम्म पद २५।१२

उपर्युक्त उद्धरणों का आधार लेकर स्थविरवाद ने जिस निवृत्ति मार्ग का प्रवर्तन किया था उसका एक बार इतना अधिक बोलबाला दिखाई पड़ा कि भारत की एक तिहाई जनता भिक्षु के रूप में दिखाई देने लगी। किन्तु यह स्थिति अधिक दिन नही टिक सकी और इसकी प्रतिक्रिया के रूप में महायान का प्रवर्तन हुआ। उसमें लोक कल्याण साधना को सर्वाधिक महत्व दिया गया है।

महायानियों का लोक कल्याण मार्ग

जिस प्रकार हीनहानियों के निवृत्ति मार्ग की आधारभूमि बुद्ध वचन थे, उसी प्रकार महायानियों के लोक कल्याण मार्ग का प्रेरणास्थल भी बुद्ध वचन थे। भगवान् बुद्ध ने जहां आत्म कल्याण पर बल दिया, वहीं लोक कल्याण को भी परमावश्यक बताया है। सच तो यह है कि वे आत्म-कल्याण और लोक कल्याण में कोई भेद नही मानते थे। उनकी दृष्टि में दोनों साधना के दो प्रमुख अंग हैं। इनमें से एक का भी परित्याग नहीं किया जा सकता है। दोनों में से किसको महत्व दिया जाय इससे सम्बन्धित अन्तर्द्वन्द की अवस्था का सुन्दर चित्रण परिनिर्वाण के बाद की स्थिति में बताया गया है। कहते हैं जब भगवान् ने निर्वाण प्राप्त कर लिया तो मार ने उनसे आकर कहा—आपने निर्वाण प्राप्त कर लिया है, अब आपकी इच्छा पूर्ण हो गई है—परिनिर्वाण में प्रवेश करें। किन्तु भगवान् बुद्ध के अन्तर से आवाज आई, लोक दुःखी है। हे समन्त चक्षु ! दुखी जनताओं को देखो। भगवान् ने इस आवाज को सुनते ही लोक का शास्ता बनना स्वीकार कर लिया। उन्होंने चिरन्तन समाधि सुख का परित्याग कर लोक कल्याण करने का संकल्प कर बहुत बड़ा त्याग किया। महायान सम्प्रदाय की आधार भूमि भगवान् बुद्ध का यही दृढ़संकल्प है।[1] निदान कथा मे दी हुई बोधिसत्व की यह प्रतिज्ञा मुझे शक्तिशाली पुरुष के लिए अकेले तर जाने से क्या लाभ ? मैं तो सर्वज्ञता को प्राप्त कर देवताओं सहित इस सारे लोक को तारूंगा।[2] बोधिसत्व की यह प्रतिज्ञा बुद्ध धर्म का प्राण है।

महायान सम्प्रदाय में सेवा लोक कल्याण भावना को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। आचार्य शान्तिदेव इस भावना को महत्व देते हुए कहते हैं कि प्राणियों की विमुक्ति के समय जो आनन्द के सागर उमड़ते हैं वही पर्याप्त है

१—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ६१०

२—वही पृ० ६१०

रसविहीन मोक्ष का क्या करना।[1] सेवा के द्वारा दूसरों को दुःख विमुक्ति करने का आनन्द निर्वाण के आनन्द से बड़ा है।[2] शिक्षा समुच्चय नामक ग्रन्थ में बोधिसत्व की प्रतिज्ञा का उल्लेख करते हुए लिखा है—मैं सब प्राणियों को मुक्ति दिलवाऊंगा। जब तक एक भी प्राणी बाकी है मैं बिना निर्वाण प्राप्त किए ठहरा रहूँगा।[3] एक दूसरे स्थल पर शान्तिदेव ने बोधिसत्व के संकल्प का उल्लेख करते हुए कहा है-मैं अनाथों का नाथ बनूंगा, रक्षक बनूंगा। दीपक चाहने वालों के लिए मैं दीपक बनूंगा, जिन्हें शैय्या की आवश्यकता है उनकी मैं शैय्या बनूंगा, जिनको दास की आवश्यकता है, उनके लिए मैं दास भी बनूंगा। इस प्रकार मैं सब प्राणियों की सेवा करूंगा।[४]

महायान धर्म मे लोकसेवा को कितना अधिक महत्व दिया गया है, यह बात बोधिचर्यावतार के निम्नलिखित कथन से प्रगट है-स्वार्थ का त्याग कर लोकसेवा करना तथागत की अराधना करना है। लोक के दुःख का निराकरण करना ही सबसे बड़ा व्रत है।

उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट है कि बुद्ध धर्म मे एकान्तिकता के साथ लोकसेवा को भी महत्व दिया गया है।

मध्यकालीन साहित्य पर उपर्युक्त विशेपता का प्रभाव

बौद्ध धर्म की उपर्युक्त विशेपता ने सम्पूर्ण मध्यकालीन विचारधारा को प्रभावित कर रक्खा है। निर्गुणियां कवि लोग जहां एक ओर एकान्तिक साधना को महत्व देते हैं वही उन्होने लोक सग्रह करने की भी चेष्टा की है।

सन्तो ने अपनी रचनाओं में बौद्धों के सदृश ही एकान्तिक साधना को महत्व दिया है। एकान्तिक साधना के रूप मे सन्तो ने एक ओर तो हठयोग की चर्चा अधिक की है और दूसरी ओर रहस्य लोक मे पहुचने की कामना प्रगट की है। कबीर ने रहस्य लोक में पलायन की कामना प्रगट करते हुए लिखा है--

अमर पुरी की सकरी गलियां, अड़बड़ है चलना।

१—बौद्ध दर्शन तथा भारतीय दर्शन से उद्धृत पृ० ६१०

२—वही

३—वही

४—वही

५—तथागत रापन मेत देव स्वार्थस्य समाधागमत देव लोकस्य दुःखा पहमे देव तस्मान्यमारतु व्रत मेत देव बोधिचर्यावतार ६।१२७

ठोकर लगी गुरू ज्ञान सबद की, उधर गए झपना ॥
वोहि रे अमर पुरू लागि रे बजरिया, सौदा है करना।
वाहि रे अमर पुर संत बसुत है, दरसन है लहना ॥
संत समाज सभा जहं बैठी वही पुरुप अपना।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, भव सागर है तरना ॥[1]

पलायन की इस भावना ने सन्तों को फक्कड़ और संसार से उदासीन बना दिया था। कबीर कहते है—

हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या।
रहें आजाद या जग में हमन दुनिया से यारी क्या ॥
जो बिछुड़े है पियारे से, भटकते दर वदर फिरते।
हमारा यार है हममें हमन को इंतिजारी क्या ॥
खलक सब नाम अपने को, बहुत कर सिर पटकता है।
हमन गुरू नाम साँचा है, हमन दुनिया से भारी क्या।
न पल बिछुड़े पिया हम से न हम बिछुड़े पियारे से।
उन्ही से नेह लागी है हमन को बेकरारी क्या ॥
कबीर इश्क का माता, दुई को दूर कर दिल से।
जो चलना राह नाजुक है हमन सिर बोझ भारी क्या ॥[2]

एकान्तिक साधना के फलस्वरूप सन्तों को एकान्तिक समाधि के सुख की अनुभूति होती थी। उस एकान्तिक समाधि सुख का वर्णन सन्तों ने बड़े विस्तार से किया है। एकान्तिक समाधि जनित आनन्द का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं—

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।
हीरा पायो गांठि गठियायो, बार बार वाको क्यो खोले।
हल्की थी जब चढी तराजू, पूरी भई तब क्यों तौले।
सुरत कलारी भई मतवारी, मदवा पी गई बिन तोले ॥
हंसा पाए मानसरोवर ताल तलैया क्यों डोले।
तेरा साहब है घट माही बाहर नैना क्यों खोले ॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो साहेब मिल गए तिल ओले।[3]

१—कबीर शब्दावली पृ० १४
२—कबीर शब्दावली पृ० १६
३—कबीर शब्दावली पृ० ८

इसी प्रकार का कबीर का एक वर्णन और उद्धृत किया जा सकता है—

देख दीदार मस्तान मैं होइ रह्यो,
सकल भरपूर है नूर तेरा।
सुभग दरियाव तहं मोती चुगं,
काल का जाल तहं नाहिं नेड़ा।
ज्ञान का थाल और सहज मतबाति है,
अधर आसन किया अगम डेरा।
कहै कबीर तहं मर्म भासै नहीं,
जन्म औ मरन का मिटा फेरा।[१]

इसी प्रकार की एक उक्ति संत गुलाल साहब की है—

सुन्न सहज महि सहज धुनि लागई।
इंगल पिंगल को खेल अमी तब पागई॥
पुलकि पुलकि करि प्रेम अनंद छबि छाजई,
कह गुलाल कोउ संत ताहि पंथ लागई।[२]

इसी प्रकार के सैकड़ों वर्णन सन्तों की बानियों में मिलते हैं, जिनमें एकान्तिक साधना और तज्जनित आनन्द की अभिव्यक्ति की गई है।

महायानियों के लोक संग्रह के भाव ने भी हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा को कम प्रभावित नहीं किया था। हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा प्रत्यक्ष देखने में सर्वथा एकान्तिक और लोक बाह्य प्रतीत होती है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। उसको जहां हीनयानियों की निवृत्यात्मकता ने प्रभावित किया था वहीं उसे महायानियों के लोक संग्रह के भाव ने अभिभूत कर रक्खा था। सन्तों में इस लोक संग्रह के भाव की अभिव्यक्ति कई प्रकार से और कई रूपों में मिलती है।

जिस प्रकार महायानी लोग भगवान् बुद्ध का उदय लोक संग्रह और लोकसेवा के हेतु मानते थे, उसी प्रकार सन्तों ने भी अपने उदय का कारण समाज सुधार ही बताया है। जिस प्रकार महायानी लोग सुधार और समाज सेवा का श्रेय भगवान् बुद्ध के निर्माणकाय को देते हैं, उसी प्रकार सन्तों ने

२—कबीर साहब की शब्दावली पृ० १०३
३—गुलाल साहब की बानी पृ० ६४

अपने अवतारी रूप को ही सुधार का कारण बताया है। कबीर ने लिखा है कि—भगवान् ने यह विचार किया कि कबीर साखी कहे, ताकि भवसागर में डूबते लोगों का उद्धार हो जाए।[1] इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर भी कबीर ने अपने को सन्देशवाहक कहा है—कबीर उस अमरपुर से सार शब्द का संदेश लाए हैं। वह अमर देश कैसा है इसको स्पष्ट करते हुए कबीर कहते है कि—वहां न जल है, न हवा है, न प्रकाश है, न पृथ्वी है। वहाँ चांद सूरज भी नहीं है। वहाँ दिन रात भी नहीं होते। वहां ब्राह्मण, क्षत्री, शूद्र आदि की वर्णगत व्यवस्थाएं भी नही हैं। इत्यादि इत्यादि।[2]

इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर कबीर ने लिखा है—मैं प्रत्येक युग में आ आकर लोगों को सार शब्द का उपदेश दिया करता हूं।[3] उपर्युक्त उद्धरणों का यदि मनोयोग के साथ अध्ययन किया जाय तो प्रत्यक्ष रूप से ऐसा प्रतीत होगा कि सन्त लोग इस्लामी पैगम्बरवादी से प्रभावित थे। किन्तु मेरी समझ में यह बात ठीक नहीं है। मेरी अपनी धारणा यह है कि सन्तों के इस प्रकार के कथन महायानियों के त्रिकायवाद और लोकसेवावाद से प्रभावित हैं। त्रिकाय के अनुसार भगवान् बुद्ध का धर्मकाय लोककल्याणार्थ निर्माणकाय के रूप में अवतरित होता है। उनका यह निर्माणकाय युग युग में अवतरित होता है। त्रिकायवाद के प्रसंग में यह बात मैं बहुत विस्तार से स्पष्ट कर चुकी हूं। अतः यहाँ अब उसका विस्तार नहीं करना चाहती हूं।

सन्तों में लोक संग्रह के भाव की अभिव्यक्ति उनके सन्त स्वरूप में

१—साईं यहै विचारियो साखी कहै कबीर।
मव सागर के बीच में कोई पकड़े तीर।

कबीर ग्रं० पृ० ३७

२—जहवा से आयो अमर वह देसवा।
पानी न पौन न धरती अस्तवा।
चांद न सूरज न रैन दिवसवा।
दास कबीर ले आए सन्देसवा।
सार सब्द गहि ले चलो वहि देसवा।

कबीर शब्दावली भाग १, पृ० ४९

३— जुगन जुगन आए चिताए, सार सब्द उपदेशा।

क० श० भाग १, पृ० ५

मिलती है। सन्त कबीर ने लिखा है कि—वृक्ष, सरोवर, बादल, और सन्त का जीवन परोपकारार्थ ही होता है।[१]

इसी प्रकार उनकी एक दूसरी साखी है-साधु लोग बड़े परमार्थी होते हैं। वे अपने त्याग और तपस्या रूपी पारस से दूसरों की तपन बुझाते हैं।[२] इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों में उनके लोक संग्रह के रूप का संकेत किया गया है—

> दुख सुख एक समान है हरष सोक नहि व्याप।
> उपकारी निःकामता, उपजै छोह न ताप॥
>
> क० सा० सं० पृ० १२५
>
> ज्ञानी अभिमानी नही सब काहू से हेत।
> सत्यवान परस्वारथी, आवरे भाव सहेत॥
>
> क० सा० सं० पृ० १२५
>
> वृच्छ कबहुं नहि फल भखें नदी न संचय नीर।
> परमारथ के कारने साधुन धरा सरीर॥
>
> क० सा० सं० पृ० १२६

इस प्रकार मैं देखती हूं कि सन्तों के स्वरूप की सबसे प्रमुख विशेषताएं परोपकार, लोक संग्रह और लोक सेवा की भावनाएं हैं। यह भावनाएं उन्हें महायानियों से ही मिली थी।

बौद्ध लोक संग्रह और लोक सेवा की भावनाओं का थोड़ा बहुत प्रभाव मध्ययुग की अन्य काव्य धाराओं पर भी दिखाई पड़ता है। यहां पर संक्षेप में उसका भी निर्देश कर देना चाहती हू।

सूफी काव्य धारा के कवियों में साधनागत एकान्तिकता अधिक है। लोक संग्रह की भावना कम है। यद्यपि उनके काव्य का लक्ष्य लोक कल्याणार्थ किन्हीं आध्यात्मिक सिद्धान्तो की व्यन्जना करना था। किन्तु मैं उस लक्ष्य को महायानियो के लोकसंग्रहात्मक भावों से बहुत कम प्रभावित समझती हूं।

१—तरुवर सरवर संत जन चौथे बरसे मेह, परमारथ के कारने चारो धारे देह।
क० सा० संग्रह पृ० १७८

२—साध बड़े परमारथी घन ज्यों बरसो आय।
तपन बुझावें और की। अपनो पारस लाय।
क० सा० संग्रह पृ० १२४

राम काव्य धारा के कवियों पर हमें बौद्ध धर्म की एकान्तिकता और संग्रहात्मकता दोनों का सुन्दर समन्वय मिलता है। राम काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि महात्मा तुलसीदास हैं। उनमें हमें साधना जनित एकान्तिकता और लोकसंग्रहात्मकता दोनों का सुन्दर समन्वय दिखाई पड़ता है। यहां पर उस समन्वय साधना पर थोड़ा सा विचार कर लेना चाहती हूं।

तुलसी के मानस की रचना जहां एक ओर भक्ति के एकमात्र आधार ग्रन्थ के रूप में हुई है वहीं उसका प्रमुख लक्ष्य समाज में आदर्श और मर्यादा की स्थापना करना था। उनकी रचनाओं में हमें निवृत्योन्मुखी एकान्ति साधना संबंधी उक्तियों के साथ लाकसंग्रहात्मक उक्तियां भी मिलती हैं।

एकान्तिक साधना से सम्बन्धित एक उद्धरण इस प्रकार है—

जप तप व्रत दम संजम नेमा, गुरु गोविन्द विप्र पद प्रेमा।
श्रद्धा क्षमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया।
विरति विवेक विनय विज्ञाना, बोध जथारथ वेद पुराना।
दंभ मान मद करिहिं न काउ, भूलि न देहि कुमारग पाऊ।[1]

इसी प्रकार लोक संग्रह की भावना की व्यञ्जना करने वाली कुछ उक्तियां उद्धृत की जा सकती हैं—

पर उपकार वचन मन काया। संत सहज सुभाय खगराया॥
संत सहहिं दुःख परहित लागी। पर दुःख हेतु असंत अभागी॥
मानस पृ० ११६५

इन उक्तियों के अतिरिक्त तुलसी ने अपने पात्रों के चरित्रों में भी उपर्युक्त दोनों प्रकार की विचारधाराओं का सामञ्जस्य दिखाया है। उनके भरत का चित्र एकान्तिक साधना का प्रतिरूप है। राम बुद्ध के सदृश लोक कल्याण और लोक रक्षा के लिए बन बन मारे फिरते हैं। भरत का चित्र देखिए—

नित पूजत प्रभु पावरी, प्रीति न हृदय समाति।
मांगि मांगि आयसु करत, राज काज बहु भांति॥
पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। जीह नाम जपु लोचन नीरू॥
लखन राम सिय कानन बसहीं। भरत भवन बसु तप तनु कसहीं॥
मानस पृ० ६८२

१—मानस पृ० ७५२

इसके विपरीत राम का रूप लोक संग्रह का और लोक सेवक है। उनके अवतार का लक्ष्य ही यही था।

विप्र धेनु सुर संत लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपार।।

मानस पृ० २०२

अपने इस लक्ष्य की पूर्ति उन्होने जी खोलकर की थी। उनका सारा चरित्र उनके इन्हीं गुणों से प्रकाशित है। इस प्रकार स्पष्ट है कि तुलसी में भी बौद्धों की एकान्तिकता और लोकसंग्रहात्मकता का सुन्दर समन्वय हुआ है।

कृष्ण काव्य धारा के कवि मूलतः एकान्तिक साधना के कवि थे। किन्तु जन हित की उपेक्षा वे भी नहीं कर सके हैं। सूर का निम्नलिखित पद इसका प्रमाण है :—

का न कियो जन हित जदुराई।
प्रथम कह्यो जो वचन दयारत तेहिवस गोकुल गाइ चराई।
भक्त बछल वपु धरि नर केहरि, दनुज दलो, उर दरि सुरसाई।
बलि बल देखि अदिति सुन कारन त्रिपद व्याज तिहुं।

सूरदास का सूरसागर

इसी प्रकार के और भी पद दिए जा सकते हैं जिनमें भगवान् बुद्ध के सदृश भगवान् कृष्ण के जन हित कार्यों का वर्णन किया गया है।

समस्त प्रभावों का सिंहावलोकन

ऊपर मैंने धर्म के चार पक्षों को आधार बनाकर बौद्ध धर्म के उन पक्षों से सम्बन्धित विविध अंगो, प्रत्यङ्ग का जो प्रभाव मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य पर दिखाई पड़ता है, उनका निर्देश किया है।

बौद्ध धर्म के विचार पक्ष का विश्लेषण करते समय उसके दार्शनिक विचारों की मीमांसा की गई है। बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धान्तो की आधारभूमि प्रतीत्य समुत्पादवाद का सिद्धान्त है। प्रतीत्य समुत्पादवाद का सिद्धान्त कार्य कारण श्रृंखला का शाश्वत भाव से प्रवाहित होने वाला रूप है। संसार में जो कुछ था, जो कुछ है, जो कुछ होगा, वह प्रतीत्य समुत्पाद से ही नियन्त्रित है। प्रतीत्य समुत्पाद का ही दूसरा नाम भव है। उसका पूर्ण विरोध निर्वाण है। प्रतीत्य समुत्पाद रूपी यन्त्र को सदैव क्रियाशील रखने की मूल प्रेरिका तृष्णा है। इसीलिए बौद्ध धर्म मे सबसे पहले तृष्णा के

निराकरण का ही उपदेश दिया जाता है। तृष्णा की उत्पत्ति कर्म से होती है। दूसरे शब्दों में मैं यह कह सकती हूं कि प्रतीत्य समुत्पाद का प्रमुख कारण कर्म है। इसीलिए बौद्ध धर्म में कर्म का बहुत बड़ा महत्व है। बौद्ध धर्म में ईश्वर को कोई मान्यता नहीं दी गई है। कर्म ईश्वर का स्थानापन्न है। प्रतीत्य समुत्पाद ने आत्मा की मान्यता की सम्भावना भी समाप्त कर दी है। उसमें कर्मजनित संस्कारों को ही आत्मा का स्थानापन्न व्यंजित किया गया है। इस प्रकार प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त ने बौद्ध धर्म और दर्शन में अनीश्वरवाद और अनात्मवाद को दृढ़ भूमिका पर प्रतिष्ठित कर दिया।

मध्यकालीन साहित्य में प्रतीत्य समुत्पाद की प्रत्यक्ष मान्यता तो अवश्य थी। क्योंकि मध्ययुगीन कवि लोग आस्तिक और आत्मवादी पहले थे, प्रतीत्य समुत्पादवादी बाद को। यहां पर यह प्रश्न उठता है कि आस्तिक आत्मवादी कवियों में प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त का सामञ्जस्य कैसे बिठाया जायगा? मेरी अपनी धारणा यह है कि आस्तिकता प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त की स्वीकृति में बाधक नहीं हो सकती। प्रतीत्य समुत्पाद की मूल प्रेरिका तृष्णा मानी गई है। तृष्णा का कारण कर्मजनित संस्कार हैं, इसके आगे बौद्ध मौन हो जाते हैं। संत लोग बौद्धों के साथ गीता से भी प्रभावित थे। गीता में समस्त कर्मों का नियन्ता ईश्वर माना गया है। भगवान् ने लिखा है—

ईश्वर सर्वे भूताना हृद्देशे तिष्ठति अर्जुन।
भ्रामयन सर्व भूतानि यंत्रारूढानि मायया॥

बौद्धों और वेदान्तियों में इतना ही अन्तर है। बौद्धों ने यंत्रारूढ़ प्रतीत्य समुत्पाद तक ही विचार किया है। वेदान्तियों ने उसका भी नियन्ता ढूंढ़ निकाला है।

मध्ययुगीन कवि लोग जहाँ बौद्धों से प्रभावित थे, वहीं वेदान्तियों से भी प्रभावित थे। उन्होंने सर्वत्र दोनों में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। यही कारण है कि उनमें जहां तक तृष्णा जो समस्त विकारों का कारणभूत कहा गया वहीं उस तृष्णा के नियन्ता ईश्वर को महत्व दिया गया है। ईश्वर की कृपा से तृष्णा और कर्मों आदि का क्षय हो जाता है। प्रसिद्ध श्रुति वाक्य है—

भिद्यते हृदय ग्रंथि, छिद्यते सर्व संशयः।
क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावेर॥

बौद्धों ने तृष्णा का क्षय सदाचार से व्यञ्जित किया है। इससे उनके मत में व्यावहारिकता और बुद्धिवादिता अधिक आ गई है। वैदिक धर्म में ईश्वरवाद के कारण आदर्शात्मकता और अन्ध आस्था का भाव अधिक आ गया है। मध्ययुगीन कवि बहुत कुछ सामञ्जस्यवादी थे। अतः उन्होंने ईश्वरवाद और सदाचारवाद दोनों को समान महत्व देकर आस्था मूलक आस्तिकता तथा कर्ममूलक व्यावहारिकता और बुद्धिवादिता दोनों को महत्व दिया था। इस प्रकार मैं कह सकती हूं कि मध्ययुगीन कवियों ने प्रतीत्य समुत्पाद को स्वीकार करते हुए भी अपनी आस्तिकता पर आघात नहीं आने दिया है।

विचार पक्ष के अंतर्गत ही बौद्धों के परमार्थ सम्बन्धी विचारों की मीमांसा की गई है। लोगों की धारणा है कि भगवान् बुद्ध कट्टर नास्तिक थे। वे किसी पारमार्थिक सत्ता में विश्वास नहीं करते थे। किन्तु असलियत में बात ऐसी नहीं है। भगवान् बुद्ध आस्तिक थे। हां इतना अवश्य है कि उन्होंने अपनी आस्तिकता को प्रगट नहीं होने दिया है। परमार्थ तत्व के सम्बन्ध में वे मौन रहे। वे ही क्या वेदों ने भी नेति नेति लिखकर भगवान् बुद्ध के मौनावलम्बन का ही समर्थन किया है।

भगवान् बुद्ध के मौन भाव के भिन्न भिन्न अर्थ लगाए गए है। उनके विरोधियों ने उन्हें नास्तिक होने का सर्टिफिकेट दे डाला और उनके अनुयायियों ने शून्यवाद, विज्ञानवाद, क्षणिकवाद, सहजवाद, वज्रवाद, कालचक्रवाद और अनेक मतों और सम्प्रदायों को विकसित किया। उपर्युक्त सभी मतों और सम्प्रदायों में परमार्थ तत्व के प्रति आस्था ही प्रकट की गई है। भगवान् बुद्ध के मौनवाद की व्याख्या और विस्तार के रूप में उदय हुए इन सम्प्रदायों को देखने के बाद यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि बुद्ध कट्टर आस्तिक हैं, और कट्टर नास्तिक। वास्तव में परमार्थ के सम्बन्ध में भी वे मध्यमार्गीय हैं। वे परमार्थ सत्ता को न तो अस्तिरूप कह सकते थे, और न नास्ति रूप। इसीलिए उन्होंने मौनावलम्बन किया था।

मध्ययुगीन साहित्य की निर्गुण काव्य धारा पर बौद्धों के परमार्थ चिन्तन का शत प्रतिशत प्रभाव पड़ा है। उन्हीं के सदृश उन्होंने मौनावलम्बन सम्बन्धी शैलियों को अपनाया है। यही नहीं परवर्ती परमार्थ चिन्तन की सभी धाराओं से भी वे बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। उनकी रचनाओं में हमें परमार्थ तत्व के रूप शून्य, विज्ञान और सहज इन सबकी पूरी पूरी चर्चा मिलती है। यह मैं सब स्पष्ट कर आई हूं। इन सबके वर्णन की इनसे संबंधित

सम्प्रदायों में जो शैलियाँ प्रयोग में लाई गई हैं उन सबका उपयोग संतों ने किया है।

मध्ययुगीन साहित्य की अन्य धाराओं पर बौद्धों के परमार्थ चिन्तन का अधिक गहरा प्रभाव न होकर कायवाद के सिद्धान्त का प्रभाव अधिक है। इस बात को सिद्ध करने के लिए बौद्धों ने द्विकायवाद, त्रिकायवाद और चतुर्थकायवाद के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया है। द्विकायवाद के सिद्धान्त ने यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि मध्ययुगीन साहित्य में सगुण और निर्गुण का जो भेद दिखाई पड़ता है वह द्विकाय का रूपान्तर है। इसी प्रकार सगुण धाराओं में ब्रह्मवाद, देववाद और अवतारवाद क्रमशः त्रिकाय का रूपान्तर हैं।

विचार पक्ष के अन्तर्गत ही बौद्धों के संसार के सम्बन्ध में जो पौराणिक और दार्शनिक सिद्धान्त हैं उनका स्पष्टीकरण करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि बौद्धों के जगत सम्बन्धी विचार के दोनों ही पक्षों ने मध्ययुगीन कवियों को प्रभावित किया है। बौद्धों ने दार्शनिक दृष्टि से जगत के सम्बन्ध में कई मत प्रकट किए हैं। एक मत शून्यवादियों का है। वे लोग शून्य से ही संसार की उत्पत्ति बताते हैं। दूसरा मत विज्ञानवादियों का है। उनके मतानुसार संसार मन या चित्त की सृष्टि है। सहजवादी संसार का विकास सहज तत्व से हुआ है। संत लोग जगतोत्पत्ति संबन्धी इन सभी सिद्धान्तों से प्रभावित हुए थे। उन्होंने कहीं पर शून्य से, कहीं विज्ञान से, या कही सहज से जगत का उदय होना बताया है। इस प्रकार यह सप्रमाणित कर दिया गया है कि संतों पर बौद्धों के परमार्थ चिन्तन का ही प्रभाव नहीं पड़ा था, बल्कि वे बौद्धों के संसार सम्बन्धी विचारों से भी पूर्णतया प्रभावित थे।

बौद्धों की निर्वाण सम्बन्धी धारणा अपनी एक बहुत बड़ी विशषता रखती है। आश्चर्य यह है कि निर्वाण के सम्बन्ध में बौद्ध धर्म के सभी सम्प्रदाय सहमत नहीं। इस मतभेद की ऐसी अवस्था में प्रभाव प्रदर्शन की प्रक्रिया थोड़ी कठिन हो जाती है। अतएव मैंने भगवान् बुद्ध के निर्वाण सम्बन्धी सिद्धान्तों का विश्लेषण कर मध्ययुगीन कवियों पर उनका प्रभाव प्रदर्शित किया है। भगवान् बुद्ध के निर्वाण सम्बन्धी सिद्धान्तों की जितनी विशेषताएं हैं उन सब का मध्ययुग पर स्पष्ट प्रभाव दिखा दिया गया है। बौद्ध लोग निर्वाण की प्राप्ति इस लोक में ही बताते हैं। जिसे वेदान्त में जीवमुक्ति कहा गया है, उसी को बौद्धों ने निर्वाण की संज्ञा दी है। वेदान्त की मुक्ति

बौद्धों ने तृष्णा का क्षय सदाचार से व्यञ्जित किया है। इससे उनके मत में व्यावहारिकता और बुद्धिवादिता अधिक आ गई है। वैदिक धर्म में ईश्वरवाद के कारण आदर्शात्मकता और अन्ध आस्था का भाव अधिक आ गया है। मध्ययुगीन कवि बहुत कुछ सामन्जस्यवादी थे। अतः उन्होंने ईश्वरवाद और सदाचारवाद दोनों को समान महत्व देकर आस्था मूलक आस्तिकता तथा कर्ममूलक व्यावहारिकता और बुद्धिवादिता दोनों को महत्व दिया था। इस प्रकार मैं कह सकती हूं कि मध्ययुगीन कवियों ने प्रतीत्य समुत्पाद को स्वीकार करते हुए भी अपनी आस्तिकता पर आघात नहीं आने दिया है।

विचार पक्ष के अंतर्गत ही बौद्धों के परमार्थ सम्बन्धी विचारों की मीमांसा की गई है। लोगों की धारणा हैकि भगवान् बुद्ध कट्टर नास्तिक थे। वे किसी पारमार्थिक सत्ता में विश्वास नहीं करते थे। किन्तु असलियत में बात ऐसी नहीं है। भगवान् बुद्ध आस्तिक थे। हां इतना अवश्य है कि उन्होंने अपनी आस्तिकता को प्रगट नहीं होने दिया है। परमार्थ तत्व के सम्बन्ध में वे मौन रहे। वे ही क्या वेदों ने भी नेति नेति लिखकर भगवान् बुद्ध के मौनावलम्बन का ही समर्थन किया है।

भगवान् बुद्ध के मौन भाव के भिन्न भिन्न अर्थ लगाए गए है। उनके विरोधियों ने उन्हें नास्तिक होने का सर्टिफिकेट दे डाला और उनके अनुयायियों ने शून्यवाद, विज्ञानवाद, क्षणिकवाद, सहजवाद, वज्रवाद, कालचक्रवाद और अनेक मतों और सम्प्रदायों को विकसित किया। उपर्युक्त सभी मतों और सम्प्रदायों में परमार्थ तत्व के प्रति आस्था ही प्रकट की गई है। भगवान् बुद्ध के मौनवाद की व्याख्या और विस्तार के रूप में उदय हुए इन सम्प्रदायों को देखने के बाद यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि बुद्ध कट्टर आस्तिक हैं, और कट्टर नास्तिक। वास्तव में परमार्थ के सम्बन्ध में भी वे मध्यमार्गीय हैं। वे परमार्थ सत्ता को न तो अस्तिरूप कह सकते थे, और न नास्ति रूप। इसीलिए उन्होने मौनावलम्बन किया था।

मध्ययुगीन साहित्य की निर्गुण काव्य धारा पर बौद्धों के परमार्थ चिन्तन का शत प्रतिशत प्रभाव पड़ा है। उन्हीं के सदृश उन्होंने मौनावलम्बन सम्बन्धी शैलियों को अपनाया है। यही नहीं परवर्ती परमार्थ चिन्तन की सभी धाराओं से भी वे बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। उनकी रचनाओं में हमें परमार्थ तत्व के रूप शून्य, विज्ञान और सहज इन सबकी पूरी पूरी चर्चा मिलती है। यह मैं सब स्पष्ट कर आई हूं। इन सबके वर्णन की इनसे संबंधित

सम्प्रदायों में जो शैलियाँ प्रयोग में लाई गई हैं उन सबका उपयोग संतों ने किया है।

मध्ययुगीन साहित्य की अन्य धाराओं पर बौद्धों के परमार्थ चिन्तन का अधिक गहरा प्रभाव न होकर कायवाद के सिद्धान्त का प्रभाव अधिक है। इस बात को सिद्ध करने के लिए बौद्धों ने द्विकायवाद, त्रिकायवाद और चतुर्थकायवाद के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया है। द्विकायवाद के सिद्धान्त ने यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि मध्ययुगीन साहित्य में सगुण और निर्गुण का जो भेद दिखाई पड़ता है वह द्विकाय का रूपान्तर है। इसी प्रकार सगुण धाराओं में ब्रह्मवाद, देववाद और अवतारवाद क्रमशः त्रिकाय का रूपान्तर हैं।

विचार पक्ष के अन्तर्गत ही बौद्धों के संसार के सम्बन्ध में जो पौराणिक और दार्शनिक सिद्धान्त हैं उनका स्पष्टीकरण करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि बौद्धों के जगत सम्बन्धी विचार के दोनों ही पक्षों ने मध्ययुगीन कवियों को प्रभावित किया है। बौद्धों ने दार्शनिक दृष्टि से जगत के सम्बन्ध में कई मत प्रकट किए हैं। एक मत शून्यवादियों का है। वे लोग शून्य से ही संसार की उत्पत्ति बताते हैं। दूसरा मत विज्ञानवादियों का है। उनके मतानुसार संसार मन या चित्त की सृष्टि है। सहजवादी संसार का विकास सहज तत्त्व से हुआ है। संत लोग जगतोत्पत्ति संबन्धी इन सभी सिद्धान्तों से प्रभावित हुए थे। उन्होंने कहीं पर शून्य से, कहीं विज्ञान से, या कहीं सहज से जगत का उदय होना बताया है। इस प्रकार यह सप्रमाणित कर दिया गया है कि संतों पर बौद्धों के परमार्थ चिन्तन का ही प्रभाव नहीं पड़ा था, बल्कि वे बौद्धों के संसार सम्बन्धी विचारों से भी पूर्णतया प्रभावित थे।

बौद्धों की निर्वाण सम्बन्धी धारणा अपनी एक बहुत बड़ी विशेषता रखती है। आश्चर्य यह है कि निर्वाण के सम्बन्ध में बौद्ध धर्म के सभी सम्प्रदाय सहमत नहीं। इस मतभेद की ऐसी अवस्था में प्रभाव प्रदर्शन की प्रक्रिया थोड़ी कठिन हो जाती है। अतएव मैंने भगवान् बुद्ध के निर्वाण सम्बन्धी सिद्धान्तों का विश्लेषण कर मध्ययुगीन कवियों पर उनका प्रभाव प्रदर्शित किया है। भगवान् बुद्ध के निर्वाण सम्बन्धी सिद्धान्तों की जितनी विशेषताएं हैं उन सब का मध्ययुग पर स्पष्ट प्रभाव दिखा दिया गया है। बौद्ध लोग निर्वाण की प्राप्ति इस लोक में ही बताते हैं। जिसे वेदान्त में जीवमुक्ति कहा गया है, उसी को बौद्धों ने निर्वाण की संज्ञा दी है। वेदान्त की मुक्ति

को उन्होंने परिनिर्वाण की संज्ञा दी है। सन्तों पर बुद्ध के निर्वाण की सम्पूर्ण विशेषताओं का प्रभाव दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार भगवान् बुद्ध सब प्रकार की वासनाओं के बुझ जाने को निर्वाण मानते थे उसी प्रकार सन्तों ने भी निर्वाण में लोक परलोक की समस्त वासनाओं के क्षय को निर्वाण कहा है। सन्तों के स्वरूप वर्णन में तथा समाधि की अवस्था के वर्णन के प्रसंगों में निर्वाण की विशेषताएं प्रदर्शित की गई हैं। इस प्रकार संक्षेप में मैं कह सकती हूं कि बौद्धों के दार्शनिक विचारों का पूरा-पूरा प्रभाव सन्तों की विचारधारा पर दिखाई पड़ता है। मध्ययुग की अन्य काव्यधाराओं पर भी बौद्धों के विचार पक्ष के बहुत से प्रभाव परिलक्षित होते हैं। किन्तु मात्रा की दृष्टि से यह प्रभाव निर्गुण काव्य धारा पर अधिक प्रतीत होते हैं।

धर्म का दूसरा पक्ष आचार पक्ष होता है। बौद्ध धर्म का आचार पक्ष प्रारम्भ से ही बड़ा सम्पन्न रहा है। भगवान् बुद्ध की सबसे बड़ी खोज चार आदि सत्यों और ३७ बोध्यांगों की रही है। इन दोनों के अन्तर्गत सदाचार सम्बन्धी सभी बातें अपने चरम सौंदर्य के साथ प्रस्फुटित हुई हैं। मेरी अपनी धारणा यह है कि मध्ययुग की विचारधारा में सदाचार को जो सर्वाधिक महत्व दिया गया है उसका श्रेय बौद्ध सदाचार को ही है। संस्कृत का सम्पूर्ण धार्मिक साहित्य इस दृष्टि से बौद्ध प्रभावों से ही प्रभावित है। श्रीमद्भागवत का सदाचार पक्ष बौद्धों के सदाचार पक्ष का नवीन संस्करण है। हिन्दी के मध्ययुगीन कवियों पर सदाचार मार्ग का जो इतना अधिक प्रभाव मिलता है वह वैष्णवों के माध्यम से आया है किन्तु यह मूलतः बौद्ध ही है। बौद्धों के आचार मार्गीय कुछ प्रभाव दूसरे माध्यमों से भी आए हैं। इन माध्यमों में तंत्र, मत और नाथपथ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन दोनों सम्प्रदायों में लगभग चालीस फीसदी तत्व बौद्ध ही हैं। जब इन सम्प्रदायों ने मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया तो उनमें सन्निविष्ट बौद्ध तत्व भी हिन्दी साहित्य में आ गए। इस प्रकार मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य को बौद्ध-धर्म ने प्रभाव रूप से तीन माध्यमों से प्रभावित किया—वैष्णव धर्म, नाथपथ और तंत्रमत। इन सम्प्रदायों ने बौद्ध धर्म को आत्मसात करते हुए उसके आचार पक्ष को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया था। विचार और साधना पक्ष को अवश्य इन्होंने अपनी अपनी इच्छा के अनुरूप परिवर्तित कर लिया था। आचार पक्ष के बहुत से तत्व भी विकृत नाम धारण करके प्रचलित हो गए थे। जैसे बौद्ध स्मृति के लिए सन्तों में सुरति और सुमिरन दोनों का प्रयोग मिलता है।

बौद्धों के आचार पक्ष की सबसे बड़ी देन उनका मध्यमा-प्रतिपदा का सिद्धान्त है। प्रतिपदा का अर्थ होता है मार्ग। आचार पक्ष में भगवान् बुद्ध मध्यम मार्ग के अनुयायी थे। मध्यम मार्ग से उनका अर्थ अष्टांगिक मार्ग से था। यह अष्टांगिक मार्ग प्रज्ञा, शील, और समाधि इन तीन तत्वों पर आधारित है। इनके समावेश से बौद्ध आचार पक्ष में सर्वांगीणता आ गई और संसार के किसी भी धर्म का आचार पक्ष इसकी बराबरी करने में असमर्थ है। बौद्धों की मध्यमा-प्रतिप्रदा का पूरा पूरा प्रभाव हिन्दी के संत कवियों पर दिखाई पड़ता है। मैं पीछे दिखा आई हूँ कि सम्पूर्ण अष्टांगिक मार्ग को मध्ययुगीन कवियों ने किस प्रकार अपनी सम्पूर्णता में स्वीकार किया था।

धर्म का तीसरा पक्ष साधना और उपासना है। बौद्ध धर्म में साधना और उपासना क्षेत्र मे सदाचार को ही सबसे अधिक महत्व दिया गया है। बाद में महायान सम्प्रदाय में भक्ति मार्ग का सांग स्वरूप विकसित हुआ। महायान सम्प्रदाय का उदय तीसरी चौथी शताब्दी के आस पास हुआ था। उस समय तक वैष्णव भक्ति का शास्त्रीय स्वरूप विकसित नहीं हो पाया था। अतएव यह कहने में संकोच नहीं है कि भारत में भक्ति का सांग और शास्त्रीय स्वरूप सबसे पहले बौद्धों में ही दिखाई पड़ा। मेरी अपनी दृढ़ धारणा है कि मध्यकालीन वैष्णव भक्ति आन्दोलन को बल प्रदान कर विकसित करने का श्रेय बौद्ध भक्ति भावना को है। वैष्णव भक्ति के माध्यम से बौद्ध भक्ति के तत्व मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में आए होंगे, ऐसा मेरा अनुमान है। मेरी अपनी दृढ़ धारणा है कि प्रपत्ति का सिद्धान्त जो बाद में वैष्णव भक्ति से अत्यधिक महत्व को प्राप्त हो गया था बौद्धों के त्रिशरण के सिद्धान्त का ही रूपान्तर है। शरणागति के रूप में बौद्ध भक्ति में यह सिद्धान्त बहुत प्रतिष्ठित रहा। सम्पूर्ण भक्ति क्षेत्र में प्रपत्ति या शरणागति को जो महत्व है उसका श्रेय बौद्धों के त्रिशरण सिद्धान्त को ही है।

बौद्धों की अनुत्तर पूजा के अंग ही बौद्ध भक्ति के अंग है। उन सबका पूरा पूरा प्रभाव मध्ययुगीन साहित्य पर दिखाई देता है।

योग साधना का प्रारम्भिक रूप हमें श्रौत साहित्य में मिलता है। श्रौत साहित्य में उपलब्ध योग साधना को ही महायानी और तांत्रिक बौद्धों ने अपने ढंग पर ढालने की चेष्टा की थी। नाथपंथियों की योग साधना ने बौद्ध योग को बहुत बल प्रदान किया था किन्तु यहां एक बात स्मरण रखने की है वह है कि मध्ययुगीन साहित्य पर बौद्धों की योग साधना का प्रभाव

कम है नाथपंथी योग साधना का अधिक है। वास्तव में बौद्ध तन्त्र योग, शैवशक्ति तान्त्रिक योग तथा नाथपंथी योग एक दूसरे से इतना मिले जुले हैं कि उन्हें परस्पर अलग करना कठिन हो जाता है। हिन्दी कवियों का सीधा सम्बन्ध नाथपंथियों से था। अतः उनका उससे प्रभावित होना स्वाभाविक था। उस पर कुछ बातों के अतिरिक्त बौद्ध योग का सांग प्रभाव ढूंढ़ना हठधर्मी होगा।

पूजा पद्धति के सम्बन्ध में बौद्धों ने बाह्य उपचारों के स्थान पर मानसिक उपचारों पर अधिक बल दिया है। बौद्ध पूजा की इस विशेषता को शैव शक्ति तांत्रिकों ने ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया था। उन्हीं के माध्यम से पूजा की यह विशेषता निर्गुणियां सन्तों में आई है। भावात्मक या मानसिक पूजा विधि जो सन्तों में पाई जाती है वह शुद्ध बौद्धों की देन है। तन्त्र मत को मैं माध्यम अवश्य मान सकती हूँ।

धर्म का एक चौथा पक्ष भी होता है जिसे पुराण या विश्वास पक्ष भी कहते हैं। वैसे तो बौद्ध धर्म बुद्धिवादी सदाचार मार्ग है किन्तु सामान्य जनता की रुचि के अनुकूल बनाने के प्रयास में उसके विश्वास पक्ष को भी विकसित किया गया उसका अपना पुराण पक्ष भी विकसित हुआ। मैं तो यहाँ तक सोचने के लिए कायल हूँ कि हिन्दू पौराणिक के विकास को बौद्ध पौराणिकता ने ही प्रेरणा दी थी। बहुत सी हिन्दू और बौद्ध कथाएं परस्पर इतना मिलती जुलती हैं कि यह अनुमान किए बिना नहीं रहा जा सकता कि उनमें से किसी एक पर दूसरे का प्रभाव अवश्य है। ऐतिहासिकता की दृष्टि से बौद्ध पौराणिकता का उदय बीसवीं शताब्दी के आस-पास हो चुका था। स्वयं त्रिपटक ग्रन्थों में बहुत से पौराणिक तत्व मिलते हैं। हिन्दू पुराणों की रचना उस समय तक हो पाई थी यह विवादास्पद है। मैं समझता हूँ कि बौद्ध धर्म में पौराणिकता को विकसित होते देख कर ही ब्राह्मणों ने अपने पुराणों की रचना की होगी। जो भी हो बौद्ध पौराणिक विश्वास हिन्दू पुराणों के माध्यम से तथा स्वतन्त्र रूप से भी मध्ययुगीन साहित्य में प्रतिबिम्बित हुआ है किन्तु मध्ययुगीन सन्तों में पौराणिकता बहुत कम है। पौराणिकता अन्धविश्वासों को जन्म देती है, मध्ययुगीन संत मत अन्ध विश्वासों का कट्टर विरोधी था। राम और कृष्ण काव्य धाराओं में प्रतिबिंबित पौराणिकता अधिकतर हिन्दू ही है। फिर भी बौद्ध पौराणिकता और विश्वास पक्ष का प्रभाव अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

बौद्ध धर्म के कुछ ऐसे भी तत्व हैं। जिनका स्वतन्त्र रूप से ही प्रभाव दिखाना उचित समझा गया है। ऐसी विशेषताओं में वर्णाश्रम धर्म विरोध, बाह्याचार, विरोध, बौद्ध साम्यवाद, करनी कथनी की एकता आदि है। मध्ययुगीन सन्तों में बौद्ध धर्म की ये विशेषताएं ज्यों की त्यों ग्रहण कर ली गई हैं। इन सबके प्रभावों का स्पष्टीकरण इसी अध्याय के प्रारंभ में अच्छी तरह से कर दिया गया है।

अपना दृष्टि कोण — मध्य युगीन साहित्य पर पड़े हुए बौद्ध प्रभावों का ऊपर जो सिंहावलोकन किया गया है उसको देखने के बाद दो चार बातें अपनी ओर से कहने को बाध्य हो गई हूं। पहली बात यह है कि मध्ययुगीन साहित्य पर हमें बौद्धों के तीन प्रकार के प्रभाव दिखाई पड़ते हैं--

१—वे प्रभाव जो स्वतंत्र रूप से बौद्ध धर्म से आए हैं।
२—वे प्रभाव जो किसी माध्यम से आए हैं।
३—वे प्रभाव जो विचार साम्य के कारण दिखाई पड़ते हैं।

पहली कोटि के प्रभावों पर विचार करते समय में यह स्पष्ट कर देना चाहती हूं कि बौद्ध धर्म भारत का सबसे अधिक सम्मान्य धर्म रहा है। भारत का ही क्यों वह विश्व का सबसे अधिक प्रतिष्ठित धर्म रहा है। सत्य के खोजी मध्ययुगीन संत कवि इतने बड़े महान् धर्म की उपेक्षा कैसे कर सकते थे। उन्होंने अवश्य ही उस धर्म के पण्डितों से उस धर्म के मूल सिद्धान्तों को जानने की चेष्टा की होगी। इस चेष्टा के फलस्वरूप बहुत से बौद्ध प्रभाव उनमें प्रत्यक्ष और ज्ञात रूप से प्रविष्ट हो गए होंगे। मेरी अपनी धारणा है कि संतों पर जो बौद्धों के परमार्थ चिंतन सम्बन्धी प्रभाव दिखाई पड़ते है वे प्रत्यक्ष रूप से आए थे और जानबूझकर उनको उन्होंने ग्रहण किया था। बौद्धों के आचार पक्ष के कुछ तत्वों का प्रभाव जैसे मध्यमा-प्रतिपदा, कथनी-करनी की एकता, वाह्याचार-विरोध उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से ही स्वीकार न किए थे। बौद्ध धर्म की सदाचार प्रियता उन्होने ज्ञात रूप से स्वीकार की थी।

बौद्धों के बहुत से प्रभाव मध्ययुगीन कवियों मे दूसरी विचार धाराओं के माध्यम से आए थे। मैं प्रभाव की सम्भावना शीर्षक के अन्तर्गत सप्रमाण सिद्ध कर चुकी हूं कि सातवीं शताब्दी के आस पास बौद्ध धर्म का शैवीकरण और वैष्णवीकरण होना प्रारम्भ हो गया था। बौद्ध धर्म के अधिकांश तत्व वैष्णव और शैव धर्मों में इस प्रक्रिया के फलस्वरूप थोड़ा सा रूप बदल कर समाविष्ट हो गये थे। मध्ययुगीन संतों में बहुत से बौद्धों

तत्व इन्हीं के माध्यम से आए थे। ऐसे तत्वों में भक्ति और योग के अधिकांश तत्व निर्दिष्ट किए जा सकते हैं। भक्ति के तत्व तो वैष्णवों के माध्यम से आए थे और योग के तत्व शैवों के माध्यम से। कुछ तत्व शैव शक्ति तान्त्रिक के माध्यम से भी आए थे। इन सबका यथास्थान निर्देश किया जा चुका है।

तीसरे प्रकार के प्रभाव वे हैं जो प्रकृति साम्य के कारण दोनों में समान रूप से पाए जाते हैं। बौद्धों का उदय वैदिक कर्मकांड की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था जिसके कारण उनमें वाह्याचार विरोध, वर्णाश्रम धर्म विरोध तथा साम्यवाद के प्रति आग्रह आदि तत्व प्रतिष्ठित हो गए थे। बौद्धों के सदृश ही मध्यकालीन सन्तों का उदय भी ब्राह्मण धर्म के अन्ध विश्वासपूर्ण पाखण्डों के विरोध में हुआ था। इसलिए उनमे बौद्धों की उपर्युक्त विशेषताएं प्रकृति साम्य के कारण स्वयमेव आ गई हैं।

इसी प्रकार मैं कह सकती हूं कि मध्ययुगीन कवियों पर बौद्ध धर्म के त्रयोन्मुखी प्रभाव पड़े थे। इसी प्रसंग में एक दूसरी बात भी स्पष्ट कर देना चाहती हूं। वह यह कि बौद्ध धर्म के प्रभाव की मात्रा मध्यकालीन सभी काव्य धाराओं पर एक सी नहीं थी। बौद्ध धर्म का सबसे अधिक प्रभाव हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा पर दिखाई पड़ता है। इसके कई कारण थे। पहला कारण दोनों की उदयकालीन परिस्थितियों का साम्य है। जिन परिस्थितियों में बौद्ध धर्म का उदय हुआ था उनसे ही मिलती जुलती स्थितियों में ही निर्गुण काव्य धारा का उदय हुआ था। इसीलिए दोनों की विचारधारा मे बहुत बड़ा साम्य दिखाई पड़ता है। निश्चय ही निर्गुण कवियों को बौद्धों से बहुत बड़ी प्रेरणा मिली थी। दूसरा कारण यह है कि निर्गुण काव्य धारा उस प्रतिक्रियावादी परम्परा की जिसका प्रवर्तन वैदिक ब्राह्मणों ने किया था और जिसको भगवान् बुद्ध ने व्यापक और शास्त्रीय रूप दिया था एक भव्य मध्यकालीन लड़ी है। एक ही परम्परा की दो लड़ी होने के कारण दोनों में इतना अधिक पारस्परिक साम्य होना स्वाभाविक है। मध्ययुग की अन्य काव्य धाराओं पर भी बौद्ध प्रभावों की मात्रा कम नहीं है किन्तु निर्गुण काव्य धारा की तुलना में वे प्रभाव आधे भी नहीं कहे जा सकते।

अन्त में यह निसंःकोच कह सकती हूं कि मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य के स्वरूप निर्माण में बौद्ध धर्म का बड़ा सक्रिय और व्यापक योग रहा है। यदि उसे बौद्ध धर्म से इतनी अधिक प्रेरणा और बल न मिला होता तो उसका

स्वरूप इतना भव्य न होता जितना भव्य आज दिखाई पड़ता है। मध्यकालीन सन्तों के जीवन दर्शन की झांकी के बीच बौद्ध विचार धारा हा अधिष्ठात्री के रूप में प्रतिष्ठित है। उसकी महा करुणा ने ही मध्ययुग के लड़खड़ाते हुए भारत को हाथ पकड़ कर खड़ा किया था। उसके मुर्झाते हुए मानस में आशा का संचार करने का श्रेय उसी देवी को है। उसके म्लान मुख पर जीवनज्योति भी उसी ने विकीर्ण की थी। उस जीवनज्योति के संबल को पाकर ही तत्कालीन दलित मानवता उस अन्धकार पूर्ण युग में अपने लड़खड़ाते हुए अस्तित्व की रक्षा कर सकी थी। आज भी भारत लगभग वैसी ही निराशापूर्ण परिस्थितियों से गुजर रहा है। यदि हम उसका कल्याण चाहते हैं तो हमें बौद्ध विचारधारा रूपी देवी को अपने जीवन और साहित्य में पुनर्प्रतिष्ठ, करनी होगी। इसी में हमारा, हमारी जाति का, हमारे देश का, हमारे धर्म का, हमारी संस्कृति का और हमारे साहित्य का, किंबहुना सारे विश्व का कल्याण है।

बुद्धं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।
धर्मं शरणं गच्छामि।

संकेत सूची

क० ग्रं०	कबीर ग्रन्थावली सन् १९२८ का संस्करण
सू० सा०	सूर सागर द्वितीय खण्ड नागरी प्रचारिणी सभा
मानस	रामचरित मानस गीता प्रेस मोटा टाइप
का० श०	कबीर साहब की शब्दावली वेलवेडियर प्रेस
क० ज्ञा० गु०	कबीर साहब की ज्ञान गुदड़ी रेखता और झूलने
सं० वा० सं०	संत बानी संग्रह वेलवेडियर प्रेस
जा० ग्रं०	जायसी ग्रन्थावली द्वितीय संस्करण

सहायक ग्रन्थों की सूची

१ बुद्धिज्म आफ तिब्बत	ऐ० वैडेल
२ बुद्धिज्म	मोनियर विलियम
३ बुद्धिज्म	रायस डेविड्स
४ लाइफ आफ बुद्ध	राकहिल
५ मैनुवल आफ बुद्धिज्म	आर० एस० हार्डी
६ मैनुवल आफ बुद्धिज्म	कर्न
७ ए मैनुवल आफ बुद्धिज्म	रायस डेविड्स
८ बुद्ध	ओल्डेन वर्ग अंगरेजी अनुवाद
९ सीलोनीज बुद्धिज्म	जोगरली
१० बुद्धिज्म एण्ड रिलीजन	एच० हैकमैन
११ बुद्धिस्ट इंडिया	रायस डेविड्स
१२ इसेन्स आफ बुद्धिज्म	पी० लक्ष्मी नरासू
१३ चाइनीज बुद्धिज्म	एडकिन्स
१४ अर्ली बुद्धिज्म	रायस डेविड्स
१५ बुद्धिस्ट आर्ट इन इंडिया	गुन्ड वेल
१६ डाइलाग्स आफ दि बुद्ध	रायस डेविड्स
१७ बुद्धिज्म इन मगध एण्ड सीलोन	आर० एन० कोरलैंसटन
१८ आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म	एन० दत्त
१९ अर्ली हिस्ट्री आफ मोनास्टिक बुद्धिज्म	एन० दत्त
२० लाइफ आफ बुद्ध	इ० जे० थामस
२१ बुद्धिस्ट फिलासफी	ए० बी० कीथ
२२ सेंट्रल कनसेप्शन आफ बुद्धिज्म	चेर्बात्स्की

२३ लिट्रेरी हिस्ट्री ग्राफ संस्कृत बुद्धिज्म	नारीमैन
२४ नेपालीज बुद्धिज्म	ग्रार० मित्रा
२५ ग्राउटलाइन्स ग्राफ बुद्धिज्म	रायस डेविड्स
२६ ह्वाट वाज दि ग्रोरीजिनल गौसपिल इन बुद्धिज्म	रायस डेविड्स
२७ गौतम दि मैन	रायस डेविड्स
२८ दि डोक्ट्रिन ग्राफ बुद्धा	जार्ज ग्रिम
२९ दि क्रीड ग्राफ बुद्धा	ऐडमन्होम्स
३० दि स्प्रिट ग्राफ बुद्धिज्म	हरीसिंह गौड़
३१ दि साईकोलोजिकल एटीच्यूड ग्राफ ग्रर्ली बुद्धिष्ट फिलासफी	गो० बी० ग्रांगरिक
३२ हिस्टोरिकल स्टडी ग्राफ दि टर्मस हीनयान एण्ड महायान एण्ड दि ग्रोरीजिन ग्राफ महायान बुद्धिज्म	ग्रार० किमुरा
३३ एन इन्ट्रोडकशन टु महायान बुद्धिज्म	मैकगवर्न
३४ ग्राउट लाइन्स ग्राफ महायान बुद्धिज्म	डी० टी० सुजुकी
३५ ग्रर्ली हिस्ट्री ग्राफ दि स्प्रैड ग्राफ बुद्धिज्म एण्ड दि बुद्धिष्ट स्कूल	एन० दत्त
३६ कन्सेप्शन ग्राफ बुद्धिष्ट निर्वाण	चेर्वोवास्की
३७ ऐन इन्ट्रोडक्शन टु बुद्धिष्ट इसोटेरिज्म	विनयतोष भट्टाचार्य
३८ स्टडीज इन तंत्राज	पी० सी० बाग्ची
३९ संस्कृत बुद्धिज्म इन बर्मा	निहार रंजन राय
४० दि पिलिग्रीमेज ग्राफ बुद्धिज्म	जे० बी० प्रैट
४१ एसेज इन जेन बुद्धिज्म	डी० डी० टी० सुजुकी
४२ ए रिकार्ड ग्राफ दि बुद्धिष्ट रिलीजन	इतसिंग
४३ बुद्धिष्ट कासमोलाजी	मैकगवर्न
४४ इण्डियन एन्टीक्वेरी	हरप्रसाद शास्त्री लिखित शान्तिदेव नामक लेख
४५ बुद्धिष्ट इकनोग्रफी	डा० विनयतोष भट्टाचार्य
४६ गाडस ग्राफ नदर्न बुद्धिज्म	गेटी
४७ हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म	सी० इलियट
४८ इण्डियन पंडितस इन दि लेंडस ग्राफ स्नो	एस० सी० दास
४९ माडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फालोग्रर्स इन उरीसा	एन० एन० बोस

५० ओब्सक्योर रिलीजस कल्टस — एस० बी० दास गुप्ता
५१ इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स में दिए गए बुद्ध धर्म सम्बन्धी निम्नलिखित लेख :—
(१) सौतांत्रिक पृ० २१३ भाग ११ ।
(२) सालवेशन भाग ११ पृ० १०९ ।
(३) स्टेटस आफ दि डेड भाग ११ पृ० ८२९ ।
(४) बुद्धिष्ट तांत्रिज्म भाग १२ पृ० १९५ ।
(५) वज्रयान भाग १३ पृ० १९६ ।
(६) तथागत भाग १२ पृ० २०२ ।
(७) ट्रांसमाईग्रेशन पृ० ४२९ भाग १२ ।
(८) त्रिपटक भाग ८ पृ० ८५ ।
(९) कौंसिलन एण्ड सैकटस भाग ४ पृ० १७९ ।
(१०) डेमन्स एण्ड स्पीरिट् भाग ४ पृ० ५७१ ।
(११) इमेजेज एण्ड आईडिएल्स भाग ७ पृ० ११९ ।
५२ इण्डियन फिलासफी — राधाकृष्णनन्
५३ हिस्ट्री आफ पाली लिट्रेचर — विमला चरण ला
५४ बुद्धिष्ट एसेज — दाल के (अंग्रेजी अनुवाद)
५५ दि बोधिसत्व डाक्ट्रिन इन संस्कृत बुद्धिष्ट लिटरेचर — लाला हरदयाल
५६ ट्वन्टी फाइव ईयरस आफ बुद्धिज्म — गवर्नमेन्ट आफ इन्डिया पब्लीकेशन
५७ इण्डिया थ्रू दि एजेज — जे० सरकार
५८ योग वशिष्ठ एण्ड इट्स फिलासफी — बी० एल० आत्रेय
५९ सिस्टम्स आफ बुद्धिस्ट फिलासफी — रोजेन
६० मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ — लामा तारानाथ
६१ निर्वाण एकार्डिग टु तिब्बतन ट्रेडिशन — डा० ओवर मिलर
टू० एच० थयू० वैलूम १० । नं० २ । पृ० २११—२५७

हिन्दी में लिखे गए बौद्ध धर्म सम्बन्धी सहायक ग्रन्थ

१ बौद्ध धर्म — बाबू गुलाब राय
२ बौद्ध दर्शन मीमांसा — प० बलदेव उपाध्याय
३ बौद्ध धर्म और दर्शन — आचार्य नरेन्द्र देव

४ बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन — भरत सिंह
५ दर्शन दिग्दर्शन — राहुल सांकृत्यायन
६ पुरातत्व निबंधावली में राहुल सांकृत्यायन के लेख
७ तिब्बत में बौद्ध धर्म — राहुल सांकृत्यायन।

हिन्दी की पत्र पत्रिकाएँ

१ कल्याण के निम्नलिखित विशेषांक:—
(क) वेदान्तांक
(ख) योगांक
(ग) संतांक
(घ) शक्तिक अंक
(ङ) संस्कृति अंक
२ विश्व भारती पत्रिका
३ हिन्दुस्तान साप्ताहिक—बौद्ध धर्म का विशेषांक
४ आज कल का बौद्ध विशेषांक
५ सरस्वती

हिन्दी के अन्य सहायक ग्रन्थ

१ कबीर — आचार्य हजारी प्रसाद
२ कबीर की विचारधारा — डा० गो० त्रिगुणायत
३ कबीर ग्रन्थावली — डा० श्याम सुन्दर दास
४ गोरख बानी — डा० पीताम्बर दत्त
५ नाथ सम्प्रदाय — आचार्य हजारी प्रसाद
६ मध्यकालीन धर्म साधना — आचार्य हजारी प्रसाद
७ योग प्रवाह — डा० पीताम्बर दत्त बड्थवाल
८ हिन्दी काव्य धारा — राहुल सांकृत्यायन
९ उत्तरी भारत के सन्तों की धर्मसाधना — परशुराम चतुर्वेदी
१० हिन्दी साहित्य की भूमिका — आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
११ हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि — डा० त्रिगुणायत की अप्रकाशित डी० लिट०की थीसिस

१२ भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएं	पं० परशुराम चतुर्वेदी
१३ गोरख सिद्धान्त संग्रह	राहुल सांस्कृत्यायन
१४ तुलसी दर्शन	डा० बलदेवप्रसाद मिश्र
१५ सूरदास	डा० हरवंशलाल शर्मा
१६ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय	दीनदयाल गुप्त
१७ सिद्ध साहित्य	धर्मवीर भारती

अध्ययन के आधारभूत ग्रन्थ

१ कबीर साहब की साखी संग्रह	वैलवेडियर प्रेस
२ कबीर साहब की शब्दावली भाग १ से लेकर–४ तक	"
३ कबीर साहब की ज्ञान गुदड़ी, रेखते और झूलने	"
४ दादू दयाल की बानी भाग १, २	"
५ सुन्दर विलास	"
६ पलटू साहब की बानी भा० १, २, ३	"
७ चरनदास जी की बानी भाग १, २	"
८ दरिया साहब का दरिया सागर	"
९ दरिया साहब के चुने हुए पद और साखी	"
१० भीखा साहब की शब्दावली	"
११ गुलाल साहब की बानी	"
१२ मलूक दास की बानी	"
१३ यारी साहब की रत्नावली	"
१४ बुल्ला साहब का शब्दसार	"
१५ सहजो बाई का सहज प्रकाश	"
१६ दयाबाई की बानी	"
१७ संतबानी संग्रह भाग १,२	"
१८ संत सुधासार	वियोगी हरि
१९ जायसी ग्रन्थावली द्वितीय संस्करण	रामचन्द्र शुक्ल
२० जायसी का पद्मावत	वासुदेव शरण अग्रवाल
२१ रामचरित मानस	गीता प्रेस मोटा टाइप
२२ विनय पत्रिका	वियोगी हरि की टीका

ग्रन्थ	लेखक / प्रकाशक
२३ सूरसागर	नागरी प्रचारणी सभा
२४ कबीर का रहस्यवाद	डा० रामकुमार वर्मा
२५ हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल
२६ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डा० रामकुमार वर्मा
२७ गुरु ग्रन्थ साहब	
२८ दोहा कोष	डा० पी० सी० बागची
२९ बीजक	कबीरदास-विचारदास का संस्करण
३० सूफी काव्य संग्रह	परशुराम चतुर्वेदी

बौद्ध दर्शन सम्बन्धी मूल ग्रन्थ

ग्रन्थ	लेखक / टिप्पणी
१ अष्ट साहसिका प्रज्ञा पारमिता २ सद्धर्म पुण्डरीक ३ ललित विस्तार ४ लंकावतार सूत्र ५ सुवर्ण प्रभास सूत्र ६ गण्ड व्यूह ७ तथागत गुह्यक ८ समाधिराज सूत्र ९ दशभूमिका सूत्र	नव धर्म या महायान के नौ महान ग्रन्थ नेपाल में जिनकी मान्यता है।
१० प्रज्ञा पारमिता सूत्र ११ सुखावती व्यूह	ग्रन्थ महत्वपूर्ण महायानी ग्रन्थ
१२ परमार्थ सप्तति वसुबन्धु १३ तर्क शास्त्र १४ अभिधर्म कोष	वैभाषिक आचार्य
१५ अभिधर्म कोष व्याख्या	यशोमित्र
१६ महायान सूत्रालंकार	मैत्रेय
१७ महायान सूत्रालंकार	असंग
१८ योगाचार भूमि शास्त्र	असंग
१९ सप्तदश भूमि सूत्र	असंग
२० विज्ञप्ति मात्रता सिद्धि (त्रिंशिका)	वसुबन्धु
२१ अभिधर्म कोष	वसुबन्धु
२२ परमार्थ सप्तति	वसुबन्धु
२३ रत्न त्रय	वसुबन्धु
२४ विशुद्ध मार्ग	बुद्ध घोष
२५ शिक्षा समुच्चय	शान्ति देव
२६ बोधिचर्यावतार	शान्तिदेव
२७ तत्व संग्रह	शान्ति रक्षित
२८ ईश्वर भंग कारिका	कल्याण मित्र

त्रिपिटक साहित्य

ग्रंथ	
१ दीर्घ निकाय २ मज्झिम निकाय ३ संयुक्त निकाय ४ अंगुत्तर निकाय ५ खुद्दक निकाय	सुत्तपिटक के अन्तर्गत आने वाले ग्रंथ
६ खुद्दक पाठ ७ धम्मपद ८ उदान ९ इतिवुत्तक १० सुत्तनिपात ११ विमान वत्थु १२ पेतवत्थु	ये खुद्दक निकाय के अंग हैं। खुद्दक निकाय सुत्त पिटक का अंग है।
१३ थेरगाथा १४ थेरीगाथा १५ जातक १६ निद्देश १७ पटिसम्भिदा मग्ग १८ अपदान १९ बुद्ध वंस २० चरिया पिटक	ये खुद्दक निकाय के अंग हैं। खुद्दक निकाय सुत्त पिटक का अंग है।
२१ पाराजिक २२ पाचित्तिय २३ महावग्ग २४ चुल्लवग्ग २५ परिवार	ये विनय पिटक के अंग हैं।
२६ धम्म संगणि २७ विभग २८ धातु कथा २९ पुग्गल पञ्ञत्ति ३० कथा वत्थु ३१ यमक ३२ पठान	ये अभिधम्म पिटक के अंग हैं।